स्वामी सहजानन्द सरस्वती

From
Swami Sahajanand Commemorative Volume Project
C/o Mr. Hira Mani Pandey,
Khazanchi Road, Nayatola,
PATNA - 800004

To
____
____

Swami Sah... the ...ortant and dominating public le... ...mensional aspect of our na... ...eglected ignorantly or ig... ...ral and by historians ... ...d and dispassionat... ...come out. In our ... ...hetic attitude tow... ...cally from the co... ...te of feudal, rea... ...who being patri... ...acy, simply supp... ...ue to their own cl... ...asant movement an...

Under ... Swami Sahajanand is o... ...cts such as, social reform n... ...movement etc., ------ themes whic... ...ne versatile personality of Swami Sahaj... ...ll hinge on or revolve round the life of Swa...

We, therefore, requ... ...article, preferably in Hindi, on any of the them... ...choice, closely befitting to the broader categories ... earlier. Your article will be a valuable contribution to bo... ...i Sahajanand and the society as well.

You are further requ... send us the proposed title of your article latest by ....our article in final shape latest by ...., 1989 on t... ...s given above.

An early response ... solicit...
...gards.

उदबोधन
आन्दोलन
प्रगतिशीलता
उपेक्षा

ओंकार से हुँकार तक

Si... ...urs,
Sd/- B. ... JHA

प्रकाशकीय

बौद्धिक जगत् को ऐतिहासिक शोध-शृंखला की आठवीं पुस्तक प्रस्तुत कर हम एक विशेष आनन्द, संतोष एवं उपलब्धि की अनुभूति कर रहे हैं। इसका विशिष्ट कारण यह है कि स्वामी सहजानन्द सरस्वती की शत्वार्षिकी लगभग उपेक्षित सी हो रही थी और हमारी ऐतिहासिक शोध-शृंखला की इस कड़ी ने उस उपेक्षाजन्य रिक्तता की पूर्ति कर एक महत्त्वपूर्ण रचनात्मक भूमिका निभायी है। जैसा कि इस संकलन से भी स्पष्ट होगा, इस रहस्यपूर्ण चुप्पी में प्रगतिशील राजनीतिज्ञ एवं बुद्धिजीवी दोनों इसके साझीदार हो गये हैं। हमारे इस कथन का अभिप्राय यह कदाचित् नहीं है कि वर्णित दोनों तबकों में इस मुद्दे पर कोई खानगी समझौता था, किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि भारत के सामाजिक और राजनैतिक जगत् की यह एक बड़ी दुर्घटना है।

प्रसन्नता की बात है कि यह संकलन हिन्दी में प्रकाशित हो रहा है। फलतः स्वामीजी जैसे महान जननायक की विचारधारा और संदेश को सामान्य जन-समुदाय तक पहुँचाने का यह एक सशक्त माध्यम बन सकेगा। इसके साथ-साथ इस संकलन में उनकी उपेक्षा के वर्गाधार को रेखांकित करते हुए उसके विरुद्ध आहूत संघर्षों को भी आम जनता के समक्ष प्रस्तुत करने का उत्कृष्ट प्रयास किया गया है। हमें विश्वास है कि स्वामीजी के साथ-साथ सामाजिक-आर्थिक इतिहास पर काम करने वाले शोधकर्त्ताओं के लिये यह संकलन चिरकाल तक मार्ग-दर्शन का कार्य करता रहेगा।

12.3

स्वामी सहजानन्द सरस्वती
:
ओंकार से हुँकार तक

मुख्य सम्पादक
विजय चन्द्र प्रसाद चौधरी

संयुक्त मुख्य सम्पादक
ब्रज नारायण झा

सम्पादक
क. अस्फाक अंजुम
ग. महेश राय
ख. प्रभाकर प्रसाद सिंह
घ. दिनेश नारायण मल्लिक
च. अमरेन्द्र कुमार ठाकुर

राहुल प्रेस
पटना
1990

प्रकाशक :
राहुल प्रेस,
C/12, पत्रकार नगर,
कंकड़बाग, पटना-20.

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन.

मूल्य—एक सौ पचास रुपये

ऐतिहासिक शोध-शृंखला—VIII.

मुद्रक :
नवयुग प्रिन्टिंग प्रेस, भिखना पहाड़ी,
पटना-4.

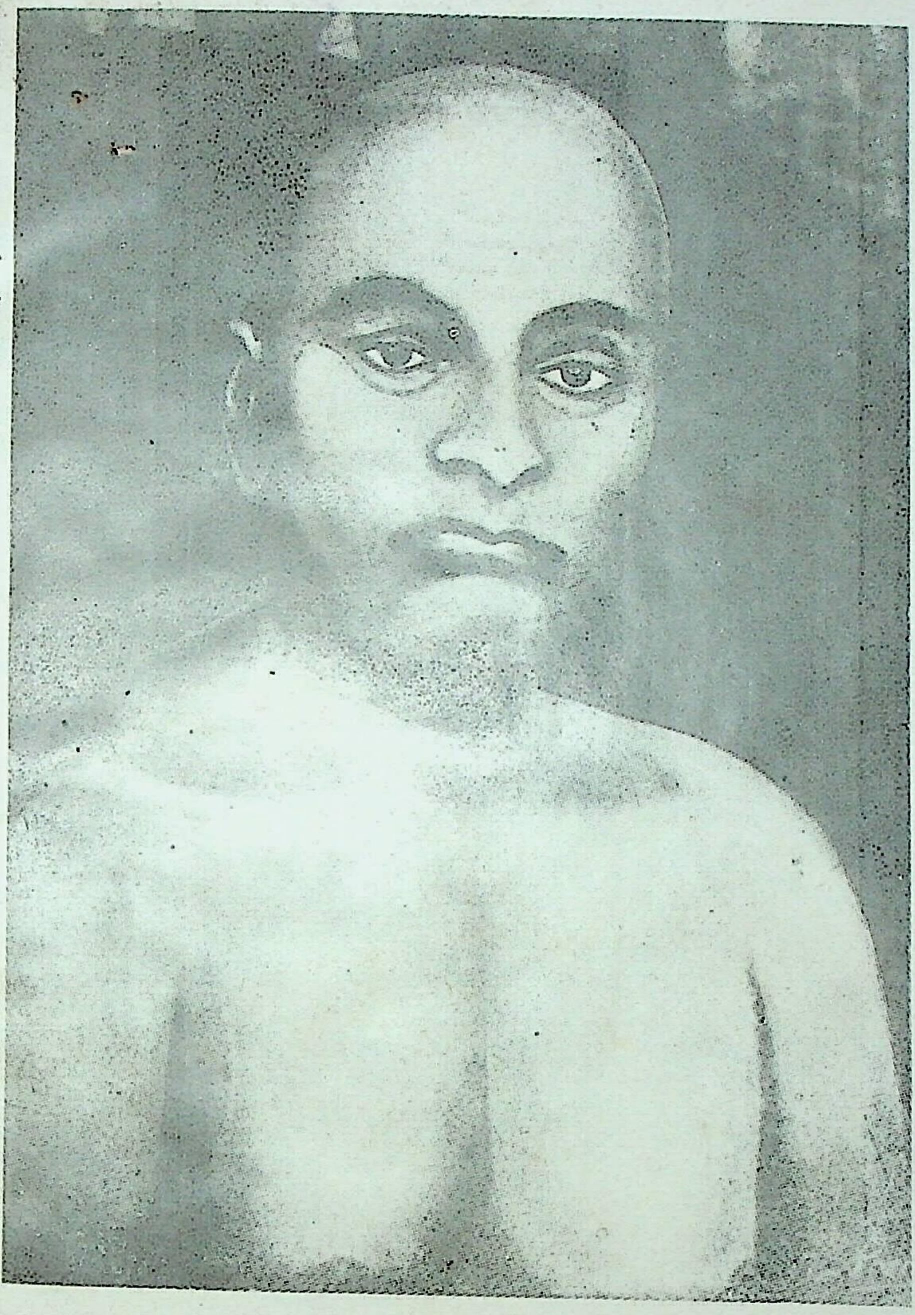

स्वामी सहजानन्द सरस्वती
(फरवरी, 1889—जून, 1950)

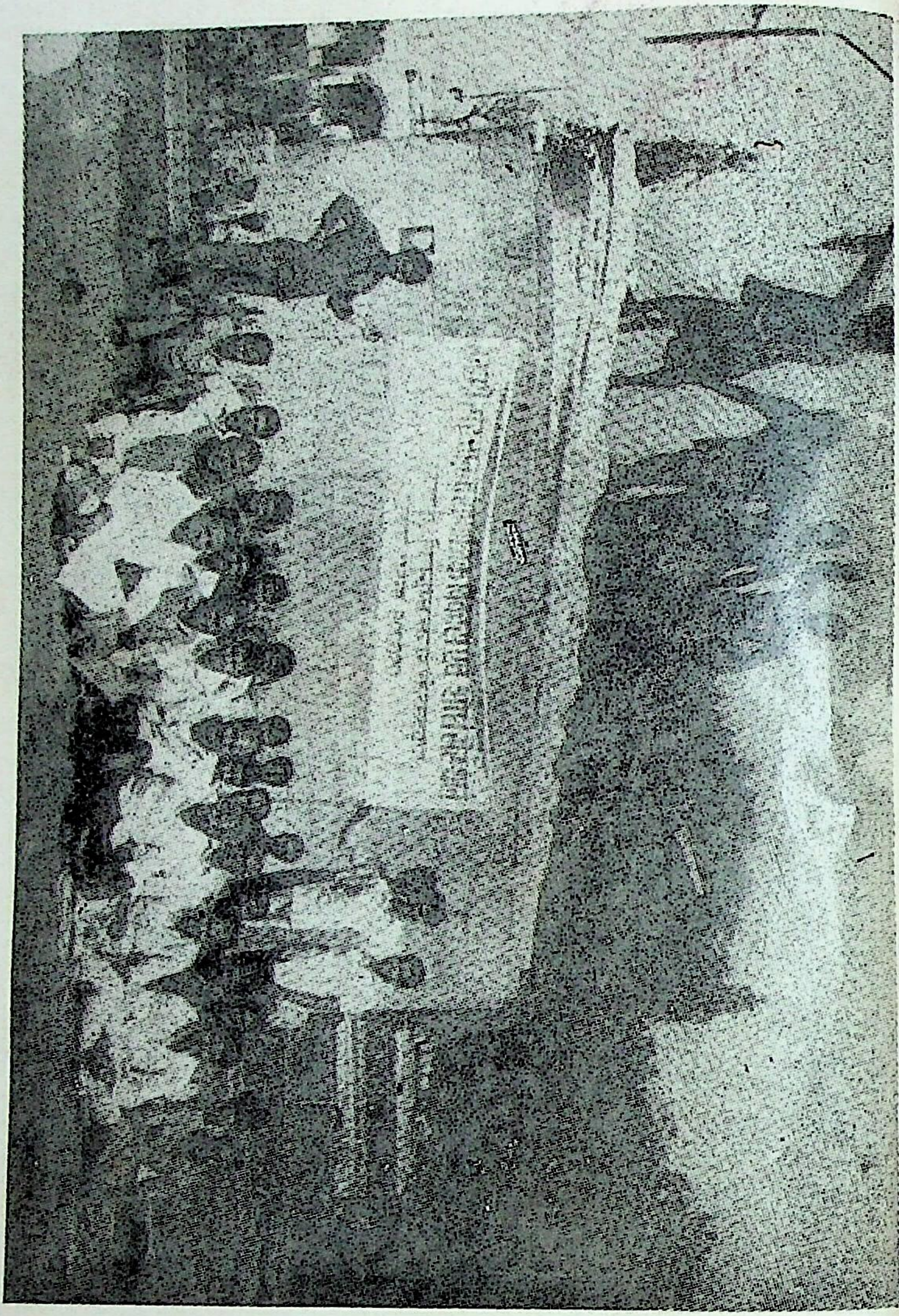

स्वामीजी की उपेक्षा के विरोध में जनसंघर्ष—11 नवम्बर, 1989 को पटना के शहीद-स्मारक के समीप सांकेतिक भूख हड़ताल।

समर्पण

मधुबनी के खिरहर निवासी
शहीद अलीजान कवारी
एवं रामप्रीत राय जो
क्रमशः 1.7.1971 तथा
28.2.1988 को सामन्ती
शोषण के खिलाफ
लड़ते शहीद
हुए !

बेटा, क्या बिगाड़ के डर से ईमान की बात न कहोगे ?

हमारे सोये हुए धर्म-ज्ञान की सम्पत्ति लुट जाए, तो खबर नहीं होती; परन्तु ललकार सुनकर वह सचेत हो जाता है। फिर उसे कोई जीत नहीं सकता।

बेटा, दोस्ती के लिए कोई अपना ईमान नहीं बेचता। पंच के दिल में खुदा बसता है। पंचों के मुख से जो बात निकलती है, वह खुदा की तरफ से निकलती है।

अपने उत्तरदायित्व का ज्ञान बहुधा हमारे संकुचित व्यवहारों का सुधारक होता है। जब हम राह भूलकर भटकने लगते हैं, तब यही ज्ञान हमारा विश्वसनीय पथ-प्रदर्शक बन जाता है।

—पंच-परमेश्वर, प्रेमचन्द.

आभारोक्ति

इस शोध-योजना के स्रोत-संकलन, सम्पादन एवं प्रकाशन में सैकड़ों लोगों का सक्रिय सहयोग भिन्न-भिन्न रुपों में हमें प्राप्त हुआ है। उनके प्रति आभार व्यक्त करना हमारा कर्त्तव्य है। बहुत सारे पुस्तकालयों, अभिलेखागारों तथा सरकारी विभागों से दुर्लभ एवं गुप्त दस्तावेज उपलब्ध कराने का यथेष्ट सहयोग मिला जिसके कारण प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन सम्भव हो सका। वैसे भी सबों का नाम देना सम्भव नहीं था तथा कुछ अधिकारियों ने अपने को गुमनाम ही रखवाने का अनुरोध किया था। हम उन सबों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं। इनके अतिरिक्त इस ज्ञापन-सूची में घनेरो लोग हैं जिनका नाम गिनाना तक भी सम्भव नहीं हो पा रहा है; फिर भी निम्नांकित व्यक्तियों का विशेष उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है :—

अनुक्रमणिका तैयार करने के लिये जे० जे० कॉलेज, बिहटा के अंग्रेजी विभाग की व्याख्याता डा० प्रतिमा कुमारी, परिशिष्ट तैयार करने के लिये ब्रज नारायण झा, श्यामानन्द झा तथा विमल कुमार सिंह और आर्थिक सहयोग के लिये मुजफ्फरपुर के सुरेश शर्मा, डा० विवेका शुक्ला एवं रवीन्द्र कुमार, धर्मेन्द्र प्रसाद चौधरी, सीतामढ़ी के प्राचार्य डा० रामचन्द्र ठाकुर, दयालपुर के प्रधानाध्यापक देवनाथ सिंह एवं शिक्षक-समुदाय, हाजीपुर के डा० डी० सिंह तथा बूबना, बी० एम० डी० कॉलेज, दयालपुर के प्रधानाचार्य नन्द किशोर प्रसाद शर्मा एवं प्राध्यापक-समुदाय, परसा (छपरा) के चन्द्रभूषण प्रसाद सिंह, रत्नेश्वर प्रसाद सिंह तथा चन्द्रदेव सिंह एवं बीसाही (छपरा) के महेश प्रसाद यादव तथा जामिया मिल्लिया विश्वविद्यालय के जी० शर्मा के प्रति हम विशिष्ट रुप से आभारी हैं।

पुनः के० एस० आर० कॉलेज, सरायरंजन की प्रबन्ध-समिति के सचिव परमानन्द ईश्वर, प्रधानाचार्य रवीन्द्र नारायण झा तथा व्याख्याता इन्द्रमोहन झा, विनोद कुमार ठाकुर, मिहिर कुमार मिश्र, विजय कुमार एवं भारतीय थल सेना के कैप्टन आर० के० सिंह, विजय कुमार झा, राघवेन्द्र कुमार मिश्र, रामलक्षण राय, राजेश्वर साहू, हीराकान्त झा, नन्द किशोर ईसर तथा राम विशेष पासवान, पटना के श्माम पवित्र सिंह, विकास कुमार सिंह, विनय कुमार ठाकुर, कलपू महतो, पीयूष, चेतन, मनीष, कौशल प्रसाद सिंह, अधिवक्ता योगेश चन्द्र वर्मा तथा मदन मोहन सिंह, डा० श्रीमती सुशीला सहाय, शंकर सिंह, शालिग्राम शर्मा, अर्जुन यादव, स्वामी सहजानन्द सामाजिक विकास एवं शोध संस्थान के अध्यक्ष रामविनय शर्मा तथा महासचिव डा० गौरीशंकर शर्मा तथा मुजफ्फरपुर के प्रो० के० के० खन्ना एवं डा० रदन विभिन्न प्रकार के सहयोग के लिये एवं नवयुग प्रिंटिंग प्रेस के मालिक बाल्मीकि सिंह तथा कम्पोजिटर मुरली झा मुद्रण-अवधि में पूरी तत्परता के लिये धन्यवाद के पात्र हैं।

इनके अतिरिक्त कृष्ण चन्द्र चौधरी, योगेन्द्र शर्मा तथा बिहार विश्वविद्यालय के समाज विज्ञान संकाय के संकायाध्यक्ष प्रो० नवल किशोर प्रसाद सिन्हा का विशेष उल्लेख कर हम उनके प्रति अपना आभार प्रकट करते हैं जो इस योजना के संकलन से प्रकाशन तक सतत् हमारे प्रेरणा स्रोत रहे हैं।

—सम्पादक मंडल

विषय-सूची

प्रतिवेदन— ब्रज नारायण झा i—viii
भूमिका— विजय चन्द्र प्रसाद चौधरी ix—xxxii
क. परिवेश एवं जीवन-चरित—अस्फाक अंजुम
ख. सामाजिक-राजतीतिक जागरण के अग्रदूत—प्रभाकर प्रसाद सिंह
ग. जनवादी विज्ञान आंदोलन के सूत्रधार—महेश राय
घ. उपेक्षा के शिकार—दिनेश नारायण मल्लिक
च. परिशिष्ट—अमरेन्द्र कुमार ठाकुर

खण्ड-क

परिवेश एवं जीवन-चरित

सम्पादक—अस्फाक अंजुम

1. स्रोत : सर्वेक्षण एवं समीक्षण—अमरेन्द्र कुमार ठाकुर 1
2. आस्था के बदलते आयाम—शिवेन्द्र प्रसाद 8
3. जीवन के अविस्मरणीय क्षण—चन्द्र भूषण पांडेय 13
4. वंश, परम्परा और व्यक्तित्व—कुलदीप नारायण 'झड़प' 18
5. मेरे चाचा, उनके गाँव—रामचन्द्र शर्मा 23
6. ज्योतिर्मय जीवन-धारा—सुरेन्द्र नाथ दीक्षित 29
7. देवा की दिव्य विभूति—दंडी स्वामी विमलानन्द सरस्वती 32
8. बौद्धिक कृतियाँ : धर्म का मिथक—संजय सिन्हा 35
9. औद्योगीकरण : साम्राज्यवादी-सामन्ती गठजोड़ का शिकार—अस्फाक अंजुम 42
10. दलितों की यह कैसी आजादी ?—अरविंद कुमार चौधरी 47
11. पत्रकारिता एवं अप्रकाशित चिट्ठियाँ—सुरेश पासवान 51
12. भाषा, शैली एवं सामयिक उपादेयता—रामचन्द्र प्रसाद 54
13. दलितों का संन्यासी—रामधारी सिंह 'दिनकर' 62
खण्ड-क : लेखक-परिचय 63

खण्ड-ख

सामाजिक-राजनीतिक जागरण के अग्रदूत

सम्पादक—प्रभाकर प्रसाद सिंह

14. भारत के तीन संन्यासी : दयानन्द, विवेकानन्द और सहजानन्द—त्रिवेणी शर्मा 'सुधाकर' 65
15. हिन्दू-मुस्लिम सम्प्रदायवाद : धर्म बनाम अर्थ—प्रभाकर प्रसाद सिंह 72
16. कम्युनिस्ट या कर्मयोगी ?—कौलेश्वर राय 81
17. ऋषि और कृषि का समन्वय—दशरथ तिवारी 83
18. किसानों के प्राण—उपेन्द्र नारायण सिंह 86
19. जोतेदार बनाम जागीरदार—वीरेन्द्र प्रसाद सिंह 91
20. वर्ण से वर्ग की ओर—रेणु शर्मा 95
21. साम्राज्यवाद का राष्ट्रवादी विरोध—अरूण कुमार राय 102
22. क्रांति और संयुक्त मोर्चा : एक मूल्यांकन—पशुपति कुमार 106
23. राष्ट्रवाद एवं किसान आंदोलन—कौशल किशोर शर्मा 108
24. नए भारत के नए नेता—महापण्डित राहुल सांकृत्यायन 114
खण्ड-ख : लेखक-परिचय 115

खण्ड-ग

जनवादी विज्ञान-आन्दोलन के सूत्रधार

सम्पादक—महेश राय

25. जनवादी विज्ञान का वर्ग-चित्रण—महेश राय 117
26. किसानोन्मुखी विज्ञान—तेज नारायण सिंह 123
27. विज्ञानिष्ठ और वैज्ञानिक शिक्षा के प्रवक्ता—नवल किशोर शर्मा 126
28. अंतर्संकार्यी शोध-क्षमताओं से परिपूर्ण—रामेश्वर चौधरी 130
29. क्रांति और वर्गाकांक्षाओं का मनोवैज्ञानिक आधार—राम चन्द्र ठाकुर 136
30. विज्ञान और प्रौद्योगिकी : वर्त्तमान और भविष्य —अखिलेश कुमार ठाकुर 139
31. विज्ञान से अपेक्षायें—अलका पांडेय 142
खण्ड-ग : लेखक-परिचय 144

खण्ड-घ

उपेक्षा के शिकार

सम्पादक—दिनेश नारायण मल्लिक

32. प्रतिबद्ध प्रयास की सीमायें—अंजना कुमारी 145
33. संस्थानिष्ठ स्वार्थ की वक्रदृष्टि—महेश प्रसाद सिंह 149
34. अवसरवादी दर्शन : उनका नाम-अपना काम—पूनम ठाकुर 155
35. उपेक्षा की कहानी : एक सहयोगी की कलम से—स्वामी शिवानन्द सरस्वती 157
36. उपेक्षित स्रोत : अपरिहार्य सूचनाओं के उत्स—दिनेश नारायण मल्लिक 160
37. प्राथमिक शोध-परिप्रेक्ष्य : कलम का शिकार और कल का इंतजार—ब्रज नारायण झा 165
38. उपेक्षा से अपेक्षा की ओर—अजय कुमार झा 172
39. जन-संघर्ष का सिलसिला—ओंकार नाथ झा 176
40. पुर्नस्थापना का ऐतिहासिक संघर्ष—मनोज कुमार झा 180
41. उपेक्षित, मगर क्यों ? निष्कर्षात्मक वक्तव्य—विजय चन्द्र प्रसाद चौधरी 189
खण्ड घ : लेखक-परिचय 240

खण्ड-च

परिशिष्ट

सम्पादक—अमरेन्द्र कुमार ठाकुर

परिशिष्ट- I भूमिहार ब्राह्मण की उत्पत्ति और विकास : परम्परा और इतिहास 241
परिशिष्ट-II बिहार में पुनर्जागरण 251
परिशिष्ट-III ऐतिहासिक संस्था : प्रगतिवाद बनाम अवसरवादिता 258
परिशिष्ट-IV उपेक्षा के पीछे गहरी चाल 259
परिशिष्ट- V सच का मुँह काला, झूठ का बोलबाला 263
परिशिष्ट-VI बिहार की सामाजिक-आर्थिक इतिहास-लेखन-योजना : देशी-विदेशी साजिश के शिकार 266
संदर्भ-सूची 281
अनुक्रमणिका 282

प्रतिवेदन

"यूरेका ! यूरेका !" चिल्लाते समय जिस आनन्दातिरेक की अनुभूति आर्किमीडीज को हुई होगी उससे जरा भी कम हमें नहीं हो रही है इस पुस्तक को आपके समक्ष प्रस्तुत करते हुए । निश्चित तौर पर हमारे आनन्द का कारण ज्ञान के क्षेत्र को हमारी ओर से होनेवाली कोई अनुपम देन नहीं है, हमारे लिये तो मात्र यह पुस्तक प्रकाशित होना ही अपने आप में श्रेष्ठतम उपलब्धि है । जल में गोता लगाने के पूर्व भी आर्किमीडीज बेताबी से कुछ तलाश रहा था, लेकिन जल में गोता लगाने के बाद ही उसके शारीरिक वजन में घटित हल्कापन ने उसके ज्ञान को वजनदार बनाया, जल में उसके अस्थिर शरीर ने उसे मानसिक स्थिरता प्रदान की । प्रयत्नशील रहने पर भी उसने कुछ पाया अनायास ही । हमलोगों के लिये तो इस पुस्तक के प्रकाशन की चुनौती ही एक दुर्जेय एवं दुर्भेद्य दुर्ग के रूप में खड़ी थी, लेकिन अनिश्चितता एवं असम्भावना के समन्दर में डुबते-उतराते हमलोगों ने भी अनायास ही कुछ पा लिया—ऐसा महसूस हो रहा है इस प्रकाशन को देखकर। ऐसी मनःस्थिति का कारण स्पष्ट है । एक तो हम सभी बौद्धिक जगत् के नवजात शिशु थे जिन्हें न कोई प्रभावशाली पद था, न साधन और न कोई बौद्धिक प्रतिभा । दूसरी बात यह थी कि १९वीं एवं २०वीं शताब्दी की महानतम विभूति स्वामी सहजानन्द के व्यक्तित्व के वस्तुगत ऐतिहासिक मूल्यांकन जैसे दुःसाध्य विषय का दायित्व हमारे निर्बल कंधों पर आ पड़ा था । मुश्किलात के समन्दर में तो थे ही, मौजें भी बागी थीं, लेकिन किनारे तक पहुँच गये, क्योंकि हमारा अज्म बुलन्द था । "अभिमन्यु-वध" का इतिहास नहीं दोहरा पाया और कठिनाइयों के चक्र-व्यूह को हमलोग तोड़ सके । सम्भवतः "जहाँ चाह वहाँ राह" की कहावत चरितार्थ होनी थी ।

इस युवामंडली को होश की भले ही कमी थी, जोश की नहीं, साधन नहीं थे, लगन जरूर थी । अनुभवों का अभाव तो अवश्य था, पर थी संवेदनाओं की विपुलता । वास्तविकता को बारीकी से रखने की क्षमता हो या न हो, लेकिन इतना एहसास जरूर था कि सच्चाई लिखने के समय कलम का शरीर झुकना चाहिए, उसकी आत्मा नहीं—कलम के एक कमजोर सिपाही के लिए भी मुनासिब नहीं हुकूमत की संगीनों से डर जाना । परन्तु यहाँ तो सियासी हुकमरानों की पसन्द-नापसन्द के मुताबिक हो रही है हकीकत की रूसवाई और तवारीख की ढलाई—जो हमलोगों को गवारा न हुआ ।

मशहूर शायर इकबाल ने व्यक्तित्व की अहमियत के बारे में एक जगह लिखा है—

> तरदामनी पे मेरे ऐ शेखजी न जाइए
> दामन निचोड़ दें तो फरिश्ते वजू करें ।

स्वामीजी भी ऐसी ही सख्शियत थे । विचित्र विडम्बना ! जो ऐतिहासिक आन्दोलन के प्रणेता थे उनपर इतिहास की यह कैसी ऐतिहासिक चुप्पी ? ऐसी

घड़ी हमलोगों ने भी महसूस किया कि कलम का भी कुछ दायित्व होता है जिसके सम्बन्ध में हफीज जालंधरी ने 1947 ई० में विभाजन के अवसर पर लेखकों को सम्बोधित करते हुए कहा था—

शमशीर सहाफत का गला काट रही है,
शेर-ओ-अदब, फन का गला काट रही है।
ऐ अहले-कलम होश में आना ही पड़ेगा,
हाँ, फर्ज का यह कर्ज चुकाना ही पड़ेगा,
जोर-ए-कलम आखिर तो दिखाना ही पड़ेगा,
शमशीर-परस्तों को दबाना ही पडेगा।

संकल्पों एवं कठिनाइयों के प्रहार निष्क्रीय एवं संवेदनाशून्य होने के लिये मजबूर कर देते थे। फिर याद आता कि समाज के विकास में खून-पसीना बहानेवालों एवं उनकी आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करने वालों का क्या होगा ? साहिर लुधियानवी की निम्नांकित पंक्तियों ने इस संकलन की युवामंडली को अपने दायित्व की ओर सचेत किया—

जंजीर बनी है कदमों की, वह चीजें जो कल तक गहना थी,
भारत के सपूतों ! आज तुम्हें बस इतनी ही बात कहनी थी।
जिस वक्त बड़े हो जाओ तुम, पैसे का राज मिटा देना,
अपना और अपने जैसों का युग-युग का कर्ज चुका देना।

इसके बाद तो बाधायें भी आयीं तो लगा मानो हमलोगों के अभियान का मार्ग ही प्रशस्त करने आयीं हैं। यह बात भी बार-बार मन में कौंधने लगी कि जिस व्यक्ति ने असंख्य दलितों एवं शोषितों के लिये अपना जीवन समर्पित कर डाला उसकी याद में उसके बाद की संतति अपना कुछ समय भी नहीं दे सकती तो और क्या कर सकती है ? जो व्यक्ति मानवोद्धार के लिए अपना खून बहाने को तैयार था उसके लिये क्या हम दो बून्द स्याही भी नहीं बहा सकते ! स्मरण हुआ कि हमसे पीछे भी कुछ पीढ़ियाँ हैं जो हमारी असफलता माफ न करेंगी और वामिक जौनपुरी की निम्नलिखित पदावली हमलोगों का सहारा बन गई—

बढ़े चलो-बढ़े चलो
ये निदा-ए- वक्त है।
ये तीरगी तो आरजी है, मत डरो,
यहाँ से कुछ परे वे सुबह का मुकाम है,
तुम्हारे नक्शे-पा में जिन्दगी का रंग,
हँस रहा है ताकि पीछे आने वालों को पता यह चल सके,
कि इस तरफ से एक कारवाँ गुजर चुका है कल,

हमलोगों की इस योजना में समाज के प्रत्येक तबके ने आर्थिक मदद पहुँचाई, बौद्धिक तथा अन्य ओजस्वी सुझाव दिये एवं विषम परिस्थितियों में लक्ष्य-प्राप्ति के लिये प्रोत्साहित किया—यही हमारी सफलता का रहस्य है। हम उन सहस्त्र लोगों का साधुवाद करते हुए उन्हें आश्वस्त करना चाहते हैं कि उनके सम्पर्क के वे

अविस्मरणीय क्षण हमारे भविष्य के लिये एक ऐसी धरोहर हैं जिन्हें हम आजीवन संजोये रखेंगे। पूर्ण विश्वास है कि उनके ये सहयोग इस प्रकार की योजना के लिये भविष्य में भी उपलब्ध होते रहेंगे।

सर्वप्रथम हम इस योजना के प्रमुख विन्दुओं को रेखांकित करना चाहेंगे। व्यक्तिगत तौर पर मैं इतिहास-लेखन और राजसत्ता के बीच सम्बन्धों पर एक शोध-प्रबन्ध से जुड़ा हुआ हूँ। इसी क्रम में स्वामीजी की कुछ रचनाओं को पढ़ने का सुअवसर प्राप्त हुआ। 1988 ई० में यह उत्सुकता भी बढ़ी कि 1989 स्वामीजी की शतवार्षिकी का महत्वपूर्ण वर्ष है और व्यापक स्तर पर सामान्यतः पूरे राष्ट्र और विशेषतः बिहार में उसे मनाने की तैयारी होगी, किन्तु वर्ष के अंतिम चरण में भी किसी ऐसे आयोजन की जानकारी नहीं मिली। संयोगवश विजय चन्द्र प्रसाद चौधरी के स्वामीजी सम्वन्धी एक निवन्ध पर बिहार सरकार द्वारा अपनाये गये आपत्तिजनक रवैये के विरूद्ध बुद्धिजीवियों में तीव्र प्रतिक्रिया और रोष की भनक मिली। कुछ प्रयास करने के बाद उस निवन्ध को पढ़ने हेतु उपलब्ध कर सका। अध्ययन के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि शोषक एवं शोषित के बीच की आर्थिक एवं राजनीतिक विभाजक रेखा से कहीं अधिक पेंचीली उनके बीच की बौद्धिक विभाजक रेखा होती है जैसा कि उस निबन्ध के प्रति बिहार सरकार के बुद्धिजीवी नौकरशाह के रूख से स्पष्ट था। वह निबन्ध इस संकलन में कतिपय संशोधनों के साथ प्रकाशित किया गया है तथा बुद्धिजीवियों की प्रतिक्रिया और सरकारी रवैये की भर्त्सना परिशिष्ट में उपलब्ध है।

इस घटनाक्रम को नजदीक से देखने के बाद यह विचार आया कि स्वामीजी की शतवार्षिकी के अवसर पर एक बोधगम्य, सुलभ एवं सुपाठ्य स्मृति ग्रन्थमाला हिन्दी में प्रकाशित होनी चाहिए जो उनके बहुआयामी व्यक्तित्व को आम जनता तक पहुँचा सके। इसी बीच बिहार विश्वविद्यालय के बी० एम० डी० कॉलेज, दयालपुर में कार्यरत कुछ युवा व्याख्याताओं द्वारा स्वामीजी पर किसी बौद्धिक कृति के प्रकाशनार्थ हाजीपुर में आयोजित एक विचारगोष्ठी में हमें निमन्त्रित किया गया। हमें ऐसा लगा कि हमारी अन्तर्वेदना को किसी अदृश्य ने सुन लिया हो। बड़ी उत्सुकता एवं प्रसन्नता से दिनांक 5-11-1988 की बैठक में शामिल हुआ। बैठक में बिहार के विभिन्न विश्वविद्यालयो के सिर्फ युवा व्याख्याताओं को उपस्थित पाया। बी० एम० डी० कॉलेज, दयालपुर में मनोविज्ञान विभाग के व्याख्याता श्री अस्फाक अंजुम की अध्यक्षता में बैठक की कार्यवाही प्रारम्भ हुई। बड़े ही आत्मविश्वास के साथ निम्नलिखित दूरगामी निर्णय इस निमित्त नवगठित समिति की कार्यवाही में अंकित किये गये :

"स्वामी सहजानन्द सरस्वती के बहुआयामी व्यक्तित्व को विस्तृत जन समुदाय के बीच प्रसारित एवं प्रचारित करने के उद्देश्य से एक ग्रन्थ के प्रकाशन के सम्पादन हेतु निम्नलिखित व्यक्ति सदस्य होंगे : बी० एन० झा (संयोजक), डी० एन० मल्लिक, प्रभाकर प्रसाद सिंह, विमल कुमार सिंह (सभी सदस्य)।....कार्य-योजना के संयोजक पूर्वोक्त ग्रन्थ में सम्मिलित किये जाने हेतु राष्ट्रीय स्तर पर सम्बद्ध व्यक्तियों एव विद्वानों से निबन्ध/आलेख आमंत्रित करते हुए यथाबश्यक पत्राचार करेंगे।"

विचार-विमर्श के समय यह भी आम सहमति हुई कि हिन्दी में इस प्रकाशन के मुख्य निबन्धों को मुद्रण से पूर्व व्याख्यानमाला के रूप में बी० एम० डी० कॉलेज के मंच से आयोजित किया जाय ताकि प्रकाशन से पूर्व मिले बौद्धिक सुझावों को मुद्रण के समय इस ग्रन्थमाला में समाविष्ट किया जा सके। परन्तु यह सम्भव न हो सका, क्योंकि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की ओर से उस कॉलेज को नेहरू शतवार्षिकी के उपलक्ष्य में व्याख्यानमाला आयोजित करने के लिये प्रचुर अनुदान उपलब्ध कराये गये और वर्णित दोनों आयोजन करना वहाँ सम्भव न हो सका। समिति के गठन के साथ ही इसका सामूहिक सांगठनिक स्वरूप हो गया और हम इसके संयोजक के पद पर कार्यरत हो गए। संयोजक की हैसियत से हमारे कार्यालय से लगभग एक सौ बुद्धिजीवियों को इस संकलन के लिए निबन्ध देने का निवेदन-पत्र भेजा गया। मात्र साठ ही निबन्ध प्राप्त हो सके जिनमें से उन्चालीस निबन्धों को इस निमित्त गठित सम्पादक मंडल ने प्रकाशनार्थ स्वीकार किया। यह भी निर्णय लिया गया कि अन्यत्र प्रकाशित रामधारी सिंह 'दिनकर' की कविता एवं राहुल सांकृत्यायन के निबन्ध को महत्वपूर्ण होने के कारण इस संकलन में पुनर्मुद्रित किया जाए। वे क्रमशः तेरह और चौबीस निबन्ध संख्या के रूप में प्रकाशित किए गए हैं। अप्रकाशित निबन्धों की सूचना उनके लेखकों को विधिवत दी जा चुकी है और निबन्ध भी उन्हें लौटाए जा चुके हैं। कुछ निबन्धों को प्रकाशित न होने के लिए हम उनके लेखकों से क्षमाप्रार्थी हैं। स्वीकृत निबन्धों के सम्पादन के साथ-साथ उनका संक्षेपण भी हमारी ओर से हुआ है, लेकिन इस कारण उनके निष्कर्षों एवं तथ्यों में कोई परिवर्त्तन नहीं आया है। संकलन में क्रमबद्धता लाने के लिए, विभाजित खण्डों को प्रासंगिक बनाने के लिए तथा पूर्ण संकलन के कुछ निष्कर्षों को तर्कसम्मत बनाने हेतु कुछ निबन्धों का संक्षेपण एवं सम्पादन आवश्यक हो गया था। तथ्यों एवं निष्कर्षों की पुनरावृत्ति न हो पाए, इसके लिए भी निबन्धों को यथासम्भव परिमार्जित करने का प्रयास किया गया है। इस कार्य में हमें कितनी सफलता मिली या गुणात्मक रूप से संकलन कितना समृद्ध हो पाया, इसके सर्वोपरि निर्णायक तो पाठकगण ही हैं। आकार को छोटा करने एवं भाषा बदलने के लिए हम सम्बद्ध लेखकों से क्षमा चाहेंगे।

संयोजक की हैसियत से पत्राचार करने के क्रम में विभिन्न जिज्ञासायें हमने लोगों से की तथा लोगों ने हमसे। चाहकर भी हम सारी जिज्ञासाओं का उत्तर न दे सके। कुछ जिज्ञासाओं एवं समस्याओं का समाधान तो हमारी मंडली के सामर्थ्य के परे था। उदाहरणस्वरूप चौधरी राजनारायण शर्मा के दिनांक 13-8-1989 के पत्र के निम्नलिखित अंश को ही लें :—

"मुजफ्फरपुर में स्वामी सहजानन्द सरस्वती विकास सेवा मंच है। इस संस्था के महासचिव····द्वारा 1989 में, डा० जगन्नाथ मिश्र महाविद्यालय इन्दिरा गाँधी महिला महाविद्यालय तथा डा० महाचन्द्र प्र० सिंह उच्च विद्यालय की स्थापना की गई। पर किसी में स्वामीजी का नाम नहीं—राजनीतिक भक्ति प्रदर्शन और "हँसुआ के विवाह में खुर्पी के गीत" वाली बात चरितार्थ हुई है। ···स्मारिका भी निकली है और·······लेख स्वामीजी के सिद्धांत और भावना के विपरीत भी हैं।"

भला हमारा सम्पादक मंडल इसका क्या उत्तर दे सकता था ? चौधरीजी के मूल प्रश्न का उत्तर इस संकलन के विश्लेषण से अवश्य ही मिल जाएगा कि ऐसी-ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं के वर्गाधार हैं तथा वर्गीय एवं वैयक्तिक स्वार्थों के लिए भविष्य में भी इनकी पुनरावृति होती रहेगी। हम वैसे व्यक्तियों से क्षमा चाहेंगे जिनकी जिज्ञासाओं का समुचित उत्तर हम किसी भी वजह से न दे सके। देश के विभिन्न हिस्सों से अनेक पत्र प्राप्त हुए जिन्होंने हमारी योजना को बौद्धिक रूप से लाभान्वित किया। हमारे मानसिक क्षितिज को व्यापक बनाने में इन पत्रों ने अत्यन्त ही महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। कुछ वैसे लोगों की भी चर्चा आवश्यक है जो हमलोगों के अथक प्रयास के बावजूद निवन्ध न दे सके चूँकि यह ग्रंथ हिन्दी में प्रकाशित होना था या प्रचुर पैसा तथा यात्रा-भत्ता हम उनके लेख या व्याख्यान-माला के लिए व्यवस्था न कर सके। हमलोग तो कोई वैसे प्रभावशाली अभिजन भी न थे जिनसे भविष्य में किसी लाभ की आशा की जाती। दो अतिरिक्त बाधाओं की चर्चा कुछ लोगों ने की थी—घटिया किस्म के निबन्धों को हमारे सम्पादकगण द्वारा अस्वीकृत होने का खतरा तथा नेहरु जैसी हस्ती की लाभकारी शतवार्षिकी योजना जिसमें विना कुछ लिखे-पढ़े भी लाभ सुनिश्चित। हम इन लोगों को भी धन्यवाद देना चाहेंगे, क्योंकि उनके ऐसे रूख से हमलोगों का संकल्प और भी दृढ़ होता रहा।

इस तरह के संकलन में सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची देने में काफी कठिनाई होती है, क्योंकि बहुत छोटा करने पर भी चालीस पचास पृष्ठों की जरूरत तो पड़ती ही है और तब भी उनकी प्रामाणिकता एवं विश्वसनीयता संदिग्ध रहती है। इन्हीं कारणों से हमने मात्र एक पृष्ठ में कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण दस्तावेज, समाचार पत्र-रिपोर्ट एवं विभिन्न संस्थाओं की कार्यवाही जैसी स्रोत-सामग्री का संकेत कर दिया है। इस संकलन में एक सुविधा यह है कि लगभग सभी निवंधों की अपनी-अपनी स्वतन्त्र सन्दर्भ-सूची है जिससे शोधकर्त्ताओं को उपयोगी स्रोतों की जानकारी मिल जाएगी। फलस्वरूप हमने उपस्थित सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची में स्वामीजी की चर्चा करना मुनासिव नहीं समझा, क्योंकि विभिन्न निवन्धों में उनके यथोचित संकेत प्रस्तुत किए गए हैं।

इस संकलन के उपशीर्षक के सम्बन्ध में दो शब्द निवेदित करना आवश्यक प्रतीत होता है। सामान्यतः "ओंकार से हुँकार तक" संन्यासी के रूप में स्वामीजी के जीवन की सुबह एवं क्रांतिकारी के रूप में उनकी जीवन-संध्या को ही प्रतिबिम्बित करता है। उपशीर्षक स्वामीजी के व्यक्तित्व, दर्शन, सामाजिक और राजनीतिक कार्यक्रम को समग्रता में रेखांकित करता है। इस सामान्य अर्थ के अलावा उपशीर्षक एक अन्य पक्ष को भी उजागर करना चाहता है। वास्तव में, स्वामीजी का व्यक्त्वि ओंकार एवं हुँकार के बीच विखंडित नहीं था, बल्कि उन के व्यक्तित्व की इन दोनों विशेषताओं में एक रागात्मक तादात्म्य था, क्योंकि यदि एक ओर उनके ओंकार में हुँकार था, तो दूसरी ओर उनके हुंकार में ओंकार था। उनकी धार्मिकता में क्रांतिकारिता अन्तर्निहित थी और उनकी क्रांतिकारिता में धर्म की तरह निष्ठा, पवित्रता एवं निश्छलता। उनके ओंकार में अभिव्यक्त सामाजिक-धार्मिक आदर्श वस्तुतः सामाजिक-धार्मिक हुँकार को ही प्रतिध्वनित कर रहे थे,

सनातनी रूढ़िवाद को नहीं। यही कारण है कि सनातनी एवं रूढ़िवादी धार्मिक जन उनके सामाजिक आदर्श एवं दर्शन की उपेक्षा कर उनका परित्याग करने के पक्षधर हैं, दूर से भी उसके अंगीकरण के हिमायती नहीं। उनकी धार्मिक क्रांतिकारिता का तो एक अकाट्य प्रमाण यह भी है कि उनके सामाजिक आदर्शों के निष्ठावान अनुयायी भी समाज में क्रांतिकारी बागी की तरह देखे जाते थे। उनके राजनीतिक आदर्शों में आस्था रखनेवाले तो बामपंथ की ओर मुड़े और उनसे प्रभावित समाज-सेवी शनैः शनैः किसान-आंदोलन की ओर अग्रसर हुए। खिरहर गाँव के सर्वेक्षण से यह स्पष्ट है कि असर्फी मिश्र, उचितलाल मिश्र एवं रामविलास शर्मा जैसे उच्च जातीय लोगों के साथ-साथ जय लाल साह, राजाराम साह जैसे पिछड़ी जाति के लोग स्वामीजी से प्रभावित होकर बामपंथी किसान आंदोलन के अनुयायी हुए। उनमें से कुछ इन्हीं कारणों से या तो कांग्रेस से निष्कासित किए गए या अलग-थलग रहने लगे।

यह उल्लेख करना प्रासंगिक है कि उनकी समाजवादी क्रांति के कार्यक्रम में राजनीतिक अवसरवादिता की कोई गुंजाईश नहीं थी। मात्र किसी सैद्धांतिक नमूने की अंधी नकल के माध्यम से नहीं, बल्कि भारतीय पारिस्थितिक सन्दर्भों के मुताबिक परिमार्जित कर मार्क्सवादी समाजवाद को वे एक व्यावहारिक ठोस रूप प्रदान करना चाहते थे। वे वैसे क्रांतिकारी समाजवादी नहीं थे जो सिद्धान्त में समाजवाद और व्यवहार में पूंजीवादपरस्ती करते हैं या जो मात्र प्रगतिशीलता की उपाधि के लिए समाजवादी या मार्क्सवादी बन जाते हैं या जो पूंजीवादी लाभ के लिए समाजवादी मुखौटा धारण कर लेते हैं। वे किसी सामन्ती या पूंजीवादी पृष्ठभूमि से भी नहीं आते थे। इस प्रकार उनमें इस अहंभाव की भी गुंजाईश नहीं थी कि समाजवादी सिद्धान्तों को अंगीकृत कर उन्होंने किसी प्रकार की उदारता, दानशीलता एवं त्याग का परिचय दिया हो। समाजवाद के सिद्धान्त को जानने के पहले ही स्वामीजी की जीवन-शैली समाजवादी थी। वे सिद्धान्त और व्यवहार दोनों ही मायने में समाजवादी थे।

अतः इस संकलन का उपशीर्षक "ओंकार से हुंकार तक" उनके पूर्ण व्यक्तित्व और कृतित्व के साथ-साथ दूरगामी सामाजिक-राजनीतिक जागरण की भी पूर्ण अभिव्यक्ति है. ऐसी समझदारी इस संकलन के विभिन्न अध्यायों से भी प्रतिबिम्बित होती है। यही कारण है कि आधुनिक भारत की यह महान विभूति सामाजिक इतिहास में उद्बोधन, राजनीतिक क्रांतिकारी आन्दोलन एवं प्रगतिशीलता के चरमोत्कर्ष पर पहुँचने के बावजूद उपेक्षित है, क्योंकि वर्त्तमान शोषणात्मक सामाजिक व्यवस्था को उनके ओंकार में भी 'भयंकर' हुंकार की ही ध्वनि मिलती है। घोर उपेक्षा की इस बिडम्बना को आमुख पृष्ठ पर ही हमारे सम्पादकगण ने प्रमुखता से प्रश्न-चिह्न द्वारा अभिदर्शित किया है जो दकियानूसी प्रतिक्रियावादी इतिहासकारों के लिए शायद एक चुनौती भी प्रस्तुत करता है।

इस संकलन के एकाध निबन्धों में स्वामीजी की अपेक्षा या उपेक्षा के विकास के विभिन्न स्तरों को रेखांकित किया गया है तथा इस निमित्त आहूत संघर्षों की तीव्रता को भी दर्शाया गया है। घटनाक्रम के विकास से यह भी समझदारी बनी कि 1988 ई० में विजय चन्द्र प्रसाद चौधरी द्वारा प्रस्तुत आलेख के प्रति

सरकारी अवहेलनापूर्ण रूख तथा उदारवादी बुद्धिजीवियों में इसके विरोध की तीव्र प्रतिक्रिया एवं आन्दोलन ने स्वामीजी को उपेक्षित करने वाले राजनीतिज्ञों, नौकरशाहों एवं बुद्धिजीवियों को सतर्क एवं सचेत कर दिया है। वे भी वर्णित निबन्ध एवं तज्जनित आन्दोलन के फलस्वरूप स्वामीजी को यथोचित सम्मान पहुँचाने का स्वांग भी करने लगे हैं। एक वयोवृद्ध साम्यवादी नेता ने साक्षात्कार में स्वीकार किया कि वामपंथियों तथा खासकर बिहार के वामपंथियों के लिये यह शर्म की बात है कि वे उन्हें उपेक्षा की नजर से देखते रहे हैं। उनका दावा है कि वामपंथियों की यह प्रवृत्ति हाल में विकसित हुई है। साक्ष्य के रूप में उन्होंने यह भी बताया कि उन्होंने स्वयं एस०पी० सेन की डिक्शनरी आफ नेशनल वायोग्राफी, खण्ड IV···· ····में स्वामीजी का वस्तुगत मूल्यांकन अति संक्षेप में किया था तथा इन्द्रदीप सिंह रचित स्वामीजी विरोधी पुस्तिका के प्रसारण को बिहार की कम्युनिस्ट पार्टी के दबाव पर पार्टी की पोलित व्यूरो से प्रतिवंधित कराया था। उन्होंने हमारे इस संकलन के प्रयास को बहुत ही सार्थक ओर प्रशंसनीय करार दिया। हाल में उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि आपलोगों के इस प्रयास का अंजाम भी मिलने लगा है और सी० पी० आई० एम० ने नौ पृष्ठों में उनकी जन्मशती के अवसर पर हरकिसन सिंह सुरजीत के लेखकत्व में **'संगठित आन्दोलन के प्रणेता स्वामी सहजानन्द सरस्वती'** नामक पुस्तिका प्रकाशित करायी है तथा सी० पी० आई० की पिपुल्स पब्लिशिंग हाउस की विशेष अभिरूचि स्वामीजी में जगने लगी है। ज्ञातव्य है कि एस० पी० सेन द्वारा सम्पादित पुस्तक फोर्ड फाउन्डेशन के अनुदान पर तैयार हुई थी और नेहरु जैसी विभूति की अनगरल भर्त्सना तथा सी० आई० ए० से सम्पर्क की आशंका में काफी विवादास्पद हो गयी थी।

स्वामीजी - विरोधी तत्वों की सतर्कता की चर्चा विजय चन्द्र प्रसाद चौधरी के लेख, तत्सम्बन्धी विवाद तथा हमारे इस संकलन के प्रकाशन के प्रयास की पृष्ठभूमि में की जा चुकी है। इस संकलन की युवा लेखक मंडली के सदस्य प्रभाकर प्रसाद सिंह ने 1988 में लंगट सिंह कॉलेज, मुजफ्फरपुर के इतिहास विभाग के तत्त्वावधान में 'बिहार में किसान आन्दोलन के 150 वर्ष' विषय पर आयोजित राष्ट्रीय परिसंवाद में अपना शोध-निबन्ध प्रस्तुत करते हुए यह अफसोस जाहिर किया था कि जहाँ एक ओर मध्यमवर्गीय महत्वाकांक्षाओं को परिपोषित करने वाले राजाराम मोहन राय तथा स्वामी दयानन्द जैसे समाज-सुधारकों का व्यापक समावेश स्कूल से लेकर कॉलेज स्तर तक की पुस्तकों में किया गया है वहीं दूसरी ओर स्वामीजी, राहुल सांकृत्यायन एवं रामवृक्ष बेनीपुरी जैसे महान किसान नेताओं को किसी भी स्तर के पाठ्यक्रम में कोई स्थान नहीं दिया गया है। लेकिन ऐसा प्रतीत

होता है कि इस अनदेखी में अब कुछ कमी आ रही है। इस आंदोलन का एक सकारात्मक प्रतिफल यह हुआ है कि बिहार टेक्स्ट बुक कॉरपोरेशन द्वारा जनवरी 1990 में प्रकाशित पाँचवे वर्ग की पुस्तक "हम और हमारी दुनिया" की पृष्ठ संख्या 258 पर स्वामीजी के नाम को जय प्रकाश, नेहरु, लोहिया आदि के साथ शामिल किया गया है। यद्यपि यहाँ सरकार की मंशा सम्भवतः सरकारी प्रकाशनों में स्वामीजी की उपेक्षा के विरुद्ध तीव्रतर होते हुए आन्दोलन को निरस्त करना प्रतीत होती है, फिर भी यह हमारे इस संकलन के आन्दोलनात्मक प्रयास की छोटी सफलता का ही शुभसूचक है कि कम-से-कम सरकारी प्रकाशनों में उनकी चर्चा तो की गई, भले ही वहाँ उनका समुचित मूल्यांकन नहीं किया गया हो। लेकिन इससे हमें संतुष्ट होने की जरूरत नहीं है, क्योंकि यह स्वामी सहजानन्द विरोधी तत्वों की धूर्त्तता के साथ अपनायी गयी तुष्टिकरण की नीति प्रतीत होती है। हमें ऐसे भ्रामक कदमों से सतर्क रहना है और उदारवादी बौद्धिक नेतृत्व में साहसपूर्ण आंदोलन कर उन्हें पुनर्स्थापित भी करना है; रूढ़िवादी एवं प्रतिक्रियावादी बुद्धिजीवी, राजनीतिज्ञ और नौकरशाह के इन भ्रामक कार्य-कलापों के भ्रमरजाल में फँस कर निश्चिन्त होकर बैठना नहीं है।

अन्त में इस संकलन के समर्पण के सम्बन्ध में दो शब्द कहना उचित होगा। स्वामी सहजानन्द छोटे किसानों एवं खेतिहर तथा औद्योगिक मजदूरों की एकजुटता में ही अपने द्वारा आहूत सामाजिक क्रांति की सफलता देखते थे। इस क्रांति को अन्तिम मंजिल तक पहुँचने के लिये साम्प्रदायिक सौहार्द्र को भी वे एक आवश्यक शर्त्त मानते थे। स्वामीजी के इन्हीं सामाजिक-राजनीतिक आदर्शों एवं जीवन-मूल्यों के प्रति समर्पित श्रेष्ठतम प्रतिनिधियों को ही इस संकलन को समर्पित करना हमलोगों ने सर्वथा उचित समझा।

संकलन में छपाई की अशुद्धियों के लिए प्रेस के साथ-साथ हमारी युवा-मंडली भी जिम्मेदार है। निबन्धों के साक्ष्यों, विश्लेषण एवं निष्कर्षों के लिए सम्बन्धित लेखक जिम्मेदार हैं।

—ब्रज नारायण झा,
संयोजक

1 जनवरी, 1990

□

भूमिका

—विजय चन्द्र प्रसाद चौधरी

इस संकलन के सम्पादन के सुअवसर के सम्मान के लिए एक अद्भुत् आनंद की अनुभूति हो रही है जिन्हें शब्द में वर्णन करना असम्भव हो गया है। इससे पूर्व भी कुछ सम्पादन-कार्य हमने किया है तथा उनमें भारत के शीर्ष विद्वानों के निवन्ध भी रहे हैं, किन्तु वर्त्तमान संकलन ने आशा की नयी ज्योति बिखेरी है जो अपने आप वस्तुगत शोध की सम्भावनाओं की परिधि को बहुत ही व्यापक बनाने की क्षमता प्रदान करती है। प्रारम्भ ही में यह स्वीकार कर लेना यथोचित होगा कि हमारे सम्पादन-कार्य को इस योजना के संयुक्त मुख्य सम्पादक एवं पाँच खण्डों के सम्पादकों ने इतना सुलभ बना दिया कि मुख्य सम्पादक की हैसियत से हमारे लिए कोई बौद्धिक या तकनीकी कार्य करना बचा ही नहीं रह गया। फलस्वरूप, मुख्य सम्पादक का मेरा दर्जा महज औपचारिक हो गया, कोई गम्भीर बौद्धिक प्रक्रिया की महत्वपूर्ण साझीदारी नहीं। पता नहीं किन शब्दों में विभिन्न अनुशासनों के वर्णित होनहार युवा विद्वानों को अपना आभार प्रकट करूँ ? सम्मान इतना बड़ा, उपलब्धि इतनी वड़ी, किन्तु परिश्रम के रूप में करना कुछ नहीं !

चर्चा एक अद्भुत् आनन्द की अनुभूति की है, इसके अनेक कारण हैं। इस संकलन के पंन्चानवें प्रतिशत लेखकगण तीस-पैंतीस उम्र के नौजवान हैं; मुझको छोड़ कर सभी सम्पादक नयी पीढ़ी के युवा बुद्धिजीवी हैं; मोटा-मोटी लेखक मंडली में लगभग सभी मुख्य विषयों के युवा विद्वान शामिल हैं; समाज विज्ञान सम्बन्धी शायद ही कोई ऐसा शोध संकलन हो जिसमें इतने अनुशासनों के युवा विद्वानों को एक मंच पर एकत्र कर कोई इतना शोधपरक प्रकाशन इतनी सुलभ भाषा में हुआ हो जो गम्भीर विद्वानों से आम जनता तक के लिए बोधगम्य भी हो। जिस बारीकी से सनातनी इतिहासकारों और पद के कारण प्रतिष्ठित विद्वान होने का दावा पेश करने वाले तथाकथित बुद्धिजीवियों का परित्याग कर यह संकलन कुशलतापूर्वक तैयार किया गया हैं, वह मेरे मुख्य सम्पादक के पद पर ही बहुत ही सार्थक प्रश्न-चिह्न डालता है। इसका तार्किक मुनासिब अन्त तो यह होता कि इन्हीं युवा विद्वानों में से एक इसके मुख्य सम्पादक भी होते। इस आशय के हमारी ओर से कई निवेदन भी हुए। किन्तु दृढ़-संकल्प युवा पीढ़ी कभी-कभी अपनी दृढ़ता पर इतनी आरूढ़ हो जाती है कि उसे डिगाना असम्भव हो जाता है। यह इसी का परिणाम है कि मुझ जैसे सनातनी और पद तथा विद्वता विहीन व्यक्ति को इस सम्मानजनक पद को बिना किसी उपलब्धि के स्वीकार करना ही पड़ा। वे किसी भी रूप में मुझे उम्रदराज सनातनी मानने को तैयार नहीं मानो मैं भी उनकी युवा पीढ़ी का एक कर्मठ सदस्य होऊँ। मेरे प्रति उनके इस आदर और निष्ठा के कारण का संक्षिप्त विवरण अध्याय एकतालीस की सदन्र्भ सूची संख्या 93 में दिया जा चुका है। इन्हीं व्यक्तिगत प्रारम्भिक शब्दों के साथ हम स्वामी सहजानन्द सरस्वती के व्यक्तित्व

और कृतित्व पर उनकी समकालीन सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक पृष्ठभूमि के कुछ मुख्य बिन्दुओं को दर्शाना चाहेंगे जिनका उन पर प्रभावकारी असर हुआ है।

× × ×

स्वामी सहजानन्द सरस्वती को जिस सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक भारतीय परिवेश ने प्रभावित किया, उन्हें प्रारम्भ ही में जान लेना वर्त्तमान अध्ययन के लिए श्रेयष्कर होगा। ब्रिटीश सल्तनत पूर्व में राज्य के विस्तार में विशेष अभिरुचि रखता था। फलस्वरूप सामन्ती शासकों से भारत में उनका टकराव अनिवार्य था। 1857 के राष्ट्रीय विद्रोह ने इस नीति को परित्याग करने के लिए साम्राज्यवादी हुकूमत को मजबूर किया। अब विदेशी प्रशासन का मुख्य उद्देश्य भारतीय साम्राज्य को सुदृढ़ करना तथा ब्रिटेन के पूँजीवादी विकास को प्रशस्त करना था। इसी पृष्ठभूमि में 1857 के राष्ट्रीय विद्रोह के पश्चात् ईस्ट इण्डिया कम्पनी के भारतीय प्रशासन को समाप्त कर इसके दायित्व को सीधे ब्रिटीश सल्तनत को सुपूर्द कर दिया गया। वर्णित लक्ष्यों की पूर्ति के लिए सत्ता-हस्तान्तरण की यह नीति नयी दिशा में अग्रसारित हो गई। सामन्तवाद से भारत में समझौता कर ब्रिटीश शासक अपनी लक्ष्य-पूर्त्ति हेतु जाति-पाति, मजहब, क्षेत्रीय स्वाभिमान जैसी नीतियों को कार्यान्वित कर साम्राज्यवादी और पूँजीवादी विकास को मजबूत करने की दिशा में तल्लीन हो गए।[1] संक्षेप में उपर्युक्त वर्णित परिस्थितियाँ स्वामीजी के व्यक्तित्व और कृतित्व के विकास का महत्वपूर्ण कारक सिद्ध होने लगीं।

स्वामीजी का कार्य-क्षेत्र इसी पृष्ठभूमि में दो शताब्दियों में फैला हुआ है। साथ ही यह अवधि दो ऐतिहासिक युगों की प्रतिनिधि है—गुलाम और स्वतंत्र भारत की, एकता और विभाजन की। हम गुलाम भारत की संक्षिप्त चर्चा करना चाहेंगे। उनके युग की प्रारम्भिक आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक स्थिति बेहद दर्दनाक थी। सामन्ती-साम्राज्यवादी गठबन्धन ने स्थिति को इतना भयावह बना दिया कि भारत की सर्वहारा जनता बिकाऊ माल की तरह देशी और विदेशी बाजार में बेचे जा रहे थे[2]। ऐसी दर्दनाक स्थिति में पहुँचने के अनेक कारण थे जिनमें सामाजिक और आर्थिक विषमता की प्रमुख भूमिका थी। वर्णित नापाक गठबन्धन ने वर्गीय हित में सामाजिक स्तर को इतना निष्प्राण और संवेदनाशून्य बना दिया था कि खुद अपने देश में ही दक्षिण अफ्रिका की तरह नस्लभेद के आधार पर सामाजिक और आर्थिक विभाजन रेखा खींच दी गई थी। गोरे चमड़े वाले यूरोपीयनों के लिए अलग से नौकरी, पद, क्लब, क्रीड़ा-स्थल, सड़क, परिवहन और यहाँ तक कि कानून भी पृथक थे जहाँ भारत के मूलवासी को पहुँचना तक निषिद्ध था[3]। खुद देशी सामन्तों ने विदेशी प्रशासनिक मदद से ऐसा शर्मनाक असभ्य विषम सामाजिक स्तर निर्धारित किया था जो समकालीन मापदण्ड के अनुकूल भी शर्म के इतिहास को रेखांकित करता है, संस्कृति के नाम पर घोर कलंक का प्रतीक नजर आता है।

इस सन्दर्भ में बिहार ही के कुछ उदाहरण लें जो स्वामीजी की कर्मभूमि रही है तथा जिनका बेइन्तहा असर उनके व्यक्तित्व और विचारधारा के विकास पर पड़ा है। स्मरण रखने की जरूरत है कि ऐतिहासिक भूगोल की दृष्टि से

स्वामीजी को पुराने मगध साम्राज्य तथा उसके द्वारा पराजित वैशाली गणतंत्र की सामाजिक और आर्थिक गतिविधियों ने बेशुमार प्रभावित किया था जो उनके सामाजिक और राजनीतिक कर्मक्षेत्र का महत्वपूर्ण एवं प्रभावकारी अंग रहा है। वर्णित भौगोलिक इकाई की शोषित जनता की संक्षिप्त हृदयद्रावक वस्तुगत कहानी यहाँ अपेक्षित है जिसकी मुख्य जवाबदेही सामंती शोषण और उसकी विदेशी प्रशासनिक छत्र-छाया रही है। सामंती शोषण की हृदयविदारक कहानी यह है कि नयी पीढ़ी के इतिहासकार भी वैसे-वैसे घटनाक्रम से अनभिज्ञ प्रतीत होते हैं। परिणाम यह होता है कि उनकी कृतियों के विश्लेषण और निष्कर्ष भ्रामक और अविश्वसनीय रह जाते हैं।

पुराने मगध साम्राज्य के आधुनिक काल में भी देवस्थल से राजस्थल की एक शर्मनाक प्रथा हुआ करती थी जिसे प्रथम रात्रि का अधिकार (Right of the first night) कहा जाता था। जब शोषित जनता के यहाँ वधू शादी के पश्चात् पहले-पहल आती थी तो प्रथम वह देवस्थल में जाकर पूजा करती थी तथा उसके पश्चात् वह सीधे जमीन्दार के यहाँ राजस्थल में जाकर प्रथम रात्रि उनके साथ बिताती थी। तत्पश्चात् ही दूसरे दिन वह अपने घर जा पाती थी। इसका इतना दुष्प्रभाव था कि भले लोग इस क्षेत्र में अपनी लड़की ब्याहना नहीं चाहते थे, जिसका संकेत पृष्ठ-31 पर किया गया हैं। बड़हिया के इर्द-गिर्द के यादवों ने जनेऊ पहनना प्रारम्भ किया। फलस्वरूप इलाके के सामंती तत्वों ने उनसे इससे परहेज रखने का आदेश दिया। उन्हें स्पष्ट तौर पर निर्देश दिया गया कि वे जनेऊ पहनना छोड़ दें अन्यथा उन्हें उस इलाके से बलपूर्वक बेघर कर निकाल दिया जाएगा। लखीसराय के समीप रामपुर गाँव के सैकड़ों लोगों को इस 'अपराध' में घर लूटकर निकाल दिया गया। इन सामंती तत्वों का निहित वर्गीय स्वार्थ यह था कि जनेऊ पहनने के पश्चात् ये लोग हल चलाना धार्मिक निषेध के कारण छोड़ देंगे, क्योंकि जनेऊधारी को हल चलाने से परहेज रखना पड़ता है। फिर उनकी गृहस्थी की भट्ठी बैठ जाने का खतरा नजर आने लगा। समस्तीपुर के नजदीक जमीन्दारों के एक गाँव का नाम पगड़ा है जहाँ मुसहरों ने कंठी पहन कर वैष्णव होने का निर्णय लिया। फिर वहाँ के जमीन्दारों का फतबा निकला कि मुसहर वैष्णव हो नहीं सकते; ऐसा करने के लिए उन्हें भी लूटकर बेघर कर दिया गया और उस इलाके से निकाल दिया गया। यहाँ भी उनको खतरा इस बात का नजर आया कि उनके वैष्णव होने के पश्चात् उनके खेत-खलिहान के चूहे को कौन मारेगा? इस वर्गीय स्वार्थ ने उन्हें वर्णित दमनकारी नीति अपनाने को प्रोत्साहित किया। पुराने मुजफ्फरपुर जिला के 24 कोईरी पिछड़ी जाति के लोगों ने कुछ जमीन खरीदी। यह ऊँची जाति के सामंती तत्वों को बर्दास्त न हुआ और इन लोगों ने उन कास्तकारों को जमीन से बेदखल कर गाँव से बलपूर्वक निष्कासित कर दिया[4]। ध्यान देने योग्य बात यह है कि ये सारे पाशविक और दमनकारी वाकयात विदेशी प्रशासनिक छत्र-छाया के संरक्षण में घटित हो रहे थे और साम्राज्यवादी और पूँजीवादी हित में भारत को सुसंस्कृत करने का दावा पेश करने वाला ब्रिटेन इन सामंती तत्वों को दण्डित करने के बदले सुरक्षा प्रदान करने में दत्तचित्त था।

उपर्युक्त घटना-क्रम स्वामीजी की विचारधारा को बड़े पैमाने पर आंदोलित

कर रहा था। उस समय कोई सशक्त राजनैतिक दल इसके विरोध में आंदोलन करने की स्थिति में नहीं था। फलस्वरूप वर्णित घटनाक्रम सामाजिक और जातीय तनाव का जन्म अवश्य देता था, किन्तु प्रतिरोध सुसुप्तावस्था में ही रह जाता था, भड़क कर आंदोलनात्मक स्वरूप नहीं ले पा रहा था। यह भी नहीं भूलना चाहिए कि वर्णित शोषणों की स्वीकृति सामंती-साम्राज्यवादी संयुक्त मोर्चे के साथ-साथ रूढ़िवादी राजभक्त ब्राह्मणों से भी प्राप्त थी। इस व्यापक संयुक्त मोर्चे तथा सशक्त वर्गीय आधार पर पनपने वाली शोषित जनता की कोई अपनी राजनैतिक पार्टी नहीं थी जो इनके विरोध में अपने नेतृत्व की छत्र-छाया में कोई सशक्त आंदोलन आहूत कर सके। फलतः इन असंतोषों तथा सामाजिक पुनर्जागरण के प्रारम्भिक चिह्न की अभिव्यक्ति संगठित रूप से जातीय महासभाओं में होने लगी। इन जातीय महासभाओं को साम्राज्यवादी हित में फूट डालकर राज्य करने की नीति के अनुकूल साम्राज्यवादी प्रशासनिक प्रोत्साहन भी मिलने लगे। कॉलेज के प्राचार्य तथा स्वंय एक वरिष्ठ सरकारी पदाधिकारी जेम्सकार, हैमिल्टन, कर्जन सरीखे लोगों ने तो यहाँ तक नीति निर्धारण के पक्ष में वकालत की कि इन जातीय एवं सम्प्रदायवादी तनावों को घटाने के बजाय साम्राज्य को सुदृढ़ करने के लिए बढ़ावा दिया जाना चाहिए[5]। यह भी नहीं भूलना चाहिए कि हमारे देश के सामाजिक और राष्ट्रीय पुनर्जागरण में प्राचीन काल से ही बौद्ध धर्म, जैन धर्म, कबीर पंथ, दीने-इलाही. सूफी संत, संत परम्परा, सिक्ख धर्म, बहावी आंदोलन, बिरसा आंदोलन, ब्रह्मो समाज, आर्य समाज आदि ने अत्यन्त ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। आधुनिक काल में भी इनमें से कुछ राष्ट्रीय जागरण का महत्वपूर्ण साधन बना है। कुछ जातीय महासभाओं ने भीइस ऐतिहासिक परम्परा को सीमित रूप में आगे बढ़ाया है। स्वामीजी के व्यक्तित्व पर यह ऐतिहासिक घटनाक्रम व्यापक पृष्ठभूमि एवं सामग्री के रूप में क्रियाशील था जो किसी भी सामाजिक मनोविज्ञान के विशेषज्ञ के लिए गम्भीर शोध-अध्ययन का विषय हो सकता है। हम इतना ही निवेदन करना चाहेंगे कि इस ऐतिहासिक विकास ने स्वामीजी को भूमिहार ब्राह्मण महासभा तथा भूमिहार जाति के उद्भव और विकास के शोध के लिए अवश्य उत्साहित किया।

जिस युग की चर्चा हम कर रहे हैं, वह जातिगत उत्पत्ति पर शोध तथा जातीय महासभाओं के जन्म का युग था।[6] सरकारी आशीर्वाद और प्रोत्साहन इन्हें इसलिए भी प्राप्त था कि यह प्रक्रिया समाज को वर्ग के बदले वर्ण, जाति और धर्म के आधार पर विभाजित करती थी जो साम्राज्यवादी हित में माना गया। फिर इन जातीय महासभाओं ने राजभक्ति में अपनी अटूट निष्ठा प्रदर्शित की थी। लेकिन साम्राज्यवादी चाकर इस बात की अनदेखी कर रहे थे कि ये शनैः शनैः राष्ट्रीय और सामाजिक जागरण का अग्रदूत भी बनेगा, समाज में ब्राह्मण वर्चस्व के विरूद्ध जुझारु संघर्ष करने का बीज बोयेगा जो अन्ततोगत्वा सामाजिक कुरीतियों, धर्मान्धता और आर्थिक विषमता के साथ-साथ विदेशी हुकूमत के विनाश का कारक भी बनेगा।

चर्चा जातीय महासभाओं के युग की हुई है। बिहार में इस युग में जातीय महासभाओं की बाढ़-सी आ गई। 1887 में अखिल भारतीय चित्रगुप्त कायस्थ महासभा, 1892 में प्रमुख भूमिहार ब्राह्मण महासभा, 1905 में सरयूपारी ब्राह्मण

सभा, 1906 में राजपूत सभा तथा रवानी कहार सभा, 1907 में मारवाड़ी यंग मैन्स एशोसिएसन तथा खतरी यंग मैन्स एशोसियेसन, 1911 में दुसाध सभा, 1912 में गोप महासभा, केवट महासभा, कुरमी महासभा तथा नाई महासभा सरीखे कई अन्य जातीय महासभाओं का जन्म आधुनिक बिहार के सृजन तथा स्वामीजी के बालिग होते-होते हो चुका था।[7] इनके अतिरिक्त निम्नलिखित पंजीकृत धर्म, जाति और वर्ग के आधार पर स्थापित संस्थाओं की स्थापना हो चुकी थी जिन्हें विदेशी सरकार भी 1912 में आपसी विचार विमर्श के लिए महत्वपूर्ण स्थान प्रदान कर रही थी :[8]

संस्था का नाम	सदस्यों की सं०	संस्था का नाम	सदस्यों की सं०
1. बिहार लैंड होल्डटर्स एशोसिएशन	237	2. बिहार प्रोभिन्सियल मुस्लिम लीग	643
3. बिहार हिन्दू एशोसिएसन	64	4. बिहार प्रोभिन्सियल एशोसिएसन	228
5. प्रधान भूमिहार ब्राह्मण सभा	155	6. बिहार प्लेन्टर्स एशोसिएसन	250
7. मुस्लिम लीग	105	8. डिस्ट्रीक्ट एशोसिएशन ऑफ मुजफ्फरपुर	77
9 तिरहुत लैंड होल्डर्स एशोसिएसन	100	10. तिरहुत भूमिहार सभा	45
11. मैथिल महासभा		12. भागलपुर लैंड होल्डर्स एशोसिएसन	56
13. अन्जुमन हिमायत इस्लाम	643	14. मुंगेर जिला मुस्लिम लीग	50
15. भागलपुर जिला मुस्लिम लीग	21	16. उड़ीसा एशोसिएसन	18
17. वालाशोर नेशनल सोसाईटी	55	18. उड़ीसा मुहम्डन एशोसिएसन	200
19. उड़ीसा लैंड होल्डर्स एशोसिएसन	145	20. राँची लैंड होल्डर्स एशोसिएसन	133
		21. कोडरमा माइनिंग एशोसिएसन	16

इनके अतिरिक्त इण्डियन नेशनल कांग्रेस, ब्रह्मो समाज, आर्य समाज जैसी राजनैतिक एवं धार्मिक संस्थाऐं भी बिहार में विराजमान थीं। इसी पृष्ठभूमि में स्वामीजी के भूसिहार महासभा से सम्पर्क तथा भूमिहार ब्राह्मण की उत्पत्ति और विकास से प्रति उनकी शोध-रूचि का मूल्यांकन किया जाना चाहिए। कभी-कभी निहित स्वार्थवश देशी और विदेशी इतिहासकार स्वामीजी के भूमिहार सभा से सम्पर्क तथा भूमिहार ब्राह्मण से सम्बद्ध उनकी शोधपरक रचनाओं से निरर्थक यह सिद्ध करने पर आतुर हो जाते हैं कि स्वामीजी राष्ट्रीय, कांग्रेसी, वामपंथी तथा किसान-मजदूर नेता नहीं थे, अपितु मात्र जातीय नेता थे। वे भूल जाते है कि डा० राजेन्द्र प्रसाद, डा० श्रीकृष्ण सिंह, महापंडित राहुल सांकृत्यायन, रामधारी सिंह दिनकर सरीखे राष्ट्रीय नेता तथा साहित्यकार भी इस तरह की जातीय एवं धार्मिक संस्थाओं से उनके सामाजिक सुधार के कार्यक्रम के कारण कर्मठ रूप से जुड़े रहे हैं।

दिनकर की निम्नलिखित पंक्तियाँ लगभग दो दशक तक भूमिहार महासभा की बैठकों में स्वागत-गान के रूप में पेश की जाती रहीं हैं :

"जय-जय स्वजाति गंगा की पूजित जन पावनी धारा
तू हृदयवासिनी हो माँ क्या स्वागत करें तुम्हारा।.........

फिर भी राष्ट्रीय नेता के रूप में उनकी छवि किसी भी रूप में घूमिल नहीं हुई है। आखिर स्वामीजी के सन्दर्भ में इस पृथक मापदंड का क्या रहस्य और औचित्य हो सकता है? जहाँ तक भूमिहार ब्राह्मण सम्बन्धी उनकी रचनाओं का प्रश्न है, आदि काल से ही यह विषय शोध का उत्पादक विषय रहा है और धीरे-धीरे आधुनिक काल में वह निजी जातीय द्वेष, पारस्परिक जातिगत स्वार्थ तथा घृणित किस्म तक के छिछालेदर तक में भी परिणत हो गया है जैसा कि परिशिष्ट एक से स्पष्ट है। फिर स्वामीजी की तो महज शास्त्रीय और शोधपरक रूचि थी जो अनर्थकारी सामाजिक ब्राह्मण वर्चस्व तथा धार्मिक पाखण्ड को निर्मूल खत्म करने का साधन बन गया था। फिर इन शोधपरक अनुशासनों के लिए तथा तज्जनित सामाजिक सुधार के प्रतिफल के लिए उन्हें जातीय जामा में कैसे पेश किया जा सकता हैं? जहाँ तक भूमिहार ब्राह्मण महासभा से सम्पर्क का प्रश्न है, यह भूलना नहीं चाहिए कि स्वामीजी को जैसे ही यह विश्वास हो गया कि यह संस्था सामंती भूमिहारों को वर्ग-चेरी के रूप में कार्यरत है वैसे ही उन्होंने इस संस्था पर ऐसा जानलेवा कुठाराघात कर छिन्न-भिन्न किया कि वह संस्था आज तक भी जीवन्त नहीं हो पा रही है।

स्वामीजी की इन बौद्धिक रचनाओं का रूढ़िवादी एवं पाखंडी ब्राह्मण तत्वों पर इतना कड़ा आघात पहुँचा कि वे तिलमिला उठे और नीचे स्तर पर उतर कर उनके शोधपरक **ब्रह्मर्षि-वंश-विस्तर** के जवाबस्वरूप ओछा और साररहित **भूमिहार भ्रमभंजन** सरीखे पुस्तकों का प्रकाशन कराया।[9] इसकी तीव्र प्रतिक्रिया कट्टरपंथी भूमिहारों में भी हुई। फलस्वरूप **मैथिल मानमर्दन, ढोल की पोल, उल्टे चोर कोतवाल के डांटे,** सरयुग पारिण संहिता[10] तथा दाहू चौधरी रचित **केदार-कंकणवाली** अथवा मिथिला मिहिर की एक नवीन सूचना का उत्तर सरीखे पुस्तकों का प्रकाशन भी हुआ और इनके लेखक के विरुद्ध दरभंगा महाराज के सहयोग से फौजदारी और अदालती मुकदमा भी चलाये गये। वर्णित पुस्तकें आंशिक तौर पर खण्डनात्मक हैं। इस मुकदमेबाजी ने धीरे-धीरे भूमिहार ब्राह्मण तथा मैथिल ब्राह्मण के सामंतों के बीच उग्र रूप धारण कर लिया। बड़े-बड़े वकील और बैरिस्टर दोनों पक्ष से अदालत में आने लगे। लेकिन सर गणेश दत्त और दरभंगा महाराजा के बीच चुपचाप समझौता हो गया और मुकदमे भी इसी तरह समाप्त हो गये। इस जातीय तनाव का एक प्रमुख कारण यह था कि स्वामीजी के अनुसंधान स्वरूप मैथिल ब्राह्मणों की पुरोहितई और कर्मकांड का एकाधिकार समाप्त होने लगा और फलस्वरूप उनकी आर्थिक आमदनी का स्रोत सिकुड़ने लगा। नेपाल सीमा पर अवस्थित खिरहर जैसे ग्राम में भी राम विलास शर्मा, शुवंश शर्मा, जगदीश शर्मा, राजेश्वर शर्मा सरीखे भूमिहार ब्राह्मण पुरोहित और कर्मकांड के दायित्व को आमलोगों के लिए सम्हालने लगे। पूरे प्रांत में इसका आंदोलनात्मक स्वरूप हो गया। भूलना नहीं चाहिए कि स्वामीजी

अपने शोध-प्रतिफल से अंधविश्वास, पाखंडपन और रूढ़िवाद को हटाने में यत्नशील थे और उनकी कोई भी रुचि तथा सहयोग खंडन-मंडन या वैसी रचनाओं में नहीं थी। सच यह है कि वे ऐसे क्रियाकलाप के विरोधी थे, क्योंकि यह सामन्ती और साम्राज्यवादी हितों की चाकरी करता था, राष्ट्रीय निर्माण की नहीं।

आर्थिक दृष्टि से यह देश और खासकर बिहार कितना पिछड़ा और शोषित था, इस पर अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। हम मात्र इतना ही संकेत करना चाहेंगे कि बिहार की जनता का शोषण तीन प्रमुख सामाजिक इकाइयाँ करती थीं—विदेशी तत्व, देशी सामंती एवं पूँजीवादी तत्व तथा बंगाली तत्व। परिणामस्वरूप आर्थिक दरिद्रता इस चरम सीमा पर पहुँच गयी कि बिहारी खरीद फरोख्त की वस्तु की तरह सस्ती दर पर वाजार में बिकने लगे और स्टेशन पर तथा बंगाली आवासों के समीप भीख माँगने की फौज इन्हीं गरीब बिहारियों की रहने लगी। निश्चित रूप से इन शोषणों का मुख्य भार किसान और मजदूर पर ही पड़ रहा था और उनकी आर्थिक स्थिति हृदय-विदारक हो गयी थी।[11] राजनैतिक दलों के अभाव में इन अमानवीय शोषणों के विरूद्ध भी कोई आंदोलन नहीं पनप पा रहा था। फलस्वरूप स्थिति और भी बिगड़ती ही जा रही थी। स्वामीजी की विचारधारा और व्यक्तित्व को निश्चित रूप से वर्णित वेदनाओं ने आंदोलित किया जिनसे भविष्य के लिए स्वामीजी को अपना आर्थिक कार्यक्रम तैयार करने में मदद मिली।

बिहार की राजनीतिक स्थिति भी आर्थिक स्थिति से लगभग मिलती-जुलती थी। राजनैतिक चेतना का अभाव आम लोगों में था। बिहार के सामंत, मध्यम वर्ग और बंगाली तत्व में राजनैतिक चेतना अवश्य थी, किन्तु वे अलग-अलग अपने-अपने राजनैतिक और आर्थिक अधिकार को सुरक्षित करने में तल्लीन थे। सामंती तत्व का साम्राज्यवाद से गठबन्धन था और इस गठबन्धन की मूल जवावदेही सामंतवाद और साम्राज्यवाद के राजनैतिक और आर्थिक महत्व को बरकरार रखना था। इसी गठवन्धन के आर्थिक और राजनैतिक शोषणात्मक अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिए उनके कुछ अर्द्ध-राजनैतिक दल भी थे—लैंड होल्डर्स एशोसिएसन, विभिन्न जातीय महासभा आदि जिनकी सूची पहले दी जा चुकी है। उन मंचों से वर्णित वर्ग या वर्ण के ही राजनैतिक अधिकार की चर्चा होती थी, शोषित जनता के राजनैतिक अधिकार की नहीं। मध्यम वर्ग अधिक नौकरी पाने के राजनतिक और आर्थिक संघर्ष में व्यस्त थे। वे इसी निमित्त बिहार को बंगाल से पृथक् करने की राजनैतिक लड़ाई को आहूत कर चुके थे,[12] किसान - मजदूर के राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक सुधार उनके कार्यक्रम का महत्वहीन अंग था। फलस्वरूप इण्डियन नेशनल कांग्रेस, बिहार प्रोभिन्सियल एशोसिएसन सरीखे राजनैतिक मंच जिनमें मध्यम वर्गीय चेतना का भी आंशिक प्रतिनिधित्व था मोटा-मोटी किसान-मजदूरों की समस्या से उदासीन ही थे। बंगाली तत्व भी बिहार में अपने प्रभुत्व के एकाधिकार को ही स्थापित करने में यत्नशील था। इन्हें भी शोषित जनता की समस्या से लगभग कुछ लेना-देना नहीं था। कांग्रेस में इनका अच्छा प्रतिनिधित्व था और इसलिए वे बिहार की मध्यम वर्गीय अकांक्षा के विरूद्ध बिहार को बंगाल से पृथक् करने तथा बिहार में बिहारियों को आंशिक आरक्षण के आधार पर नौकरी पाने सरीखे कार्यक्रम को कांग्रेस के राजनैतिक कार्यक्रम में स्थान पाने नहीं दे रहे

थे। स्थिति तो ऐसी नाजुक हो गयी थी कि बिहार में बंगालियों को विदेशी का दर्जा बहाल किया जा रहा था और बिहार के शोषण का उसे एक प्रमुख स्तम्भ माना जा रहा था। अंग्रेज और उसके ईसाई धर्म की तरह बंगाल से संचालित ब्रह्मो समाज जैसे समाज सुधार आंदोलन, कांग्रेस जैसे राजनैतिक दल तथा बंगाली नेतृत्व को शंका की निगाह से बिहार में देखा जा रहा था।

जातिगत तथा सम्प्रदायगत संस्थायें उन्हीं के निहित स्वार्थ की पूर्ति में तल्लीन थीं। उनका नेतृत्व मोटा-मोटी साम्राज्यवादी, सामंतवादी, रूढ़ीवादी तथा सम्प्रदायवादी रुझान से प्रभावित था और वे वैसे ही कार्यक्रम को कार्यान्वित करने में व्यस्त प्रतीत होते थे। आम जनता की समस्या उनके कार्यक्रम का तब तक अंग नहीं बन सकती था जब तक वह उनकी वर्गीय, जातीय, सम्प्रदायवादी और क्षेत्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति का कारक न सिद्ध हो। देश की स्थिति इतनी भयावह हो चुकी थी कि राजतंत्र और अर्थतंत्र के साथ-साथ विज्ञान भी वर्णित मोर्चे के स्वार्थों का प्रतीक बन गया था, वैसी ही विज्ञान-योजना को प्रोत्साहित किया जा रहा था जो वर्णित वर्गीय, सम्प्रदायवादी और जातीय आकांक्षाओं की पूर्ति का सशक्त अस्त्र बन सकें। यह सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संरचना ऐसी विस्फोटक स्थिति पैदा कर रही थी कि सरकारी पक्ष की दृष्टि में भी शोषित जनता और सरकार तथा उसके समर्थक दो परस्पर विरोधी गुट में विभाजित हो गये थे।[13] साम्यवाद[14] और समाजवाद[15] के प्रादुर्भाव और उनको कुचलने की योजना बनायी जाने लगी थी। सैनिक तानाशाह की तरह इन प्रगतिशील आंदोलनों को कुचलने की योजना बनायी जा रही थी और जनता को वर्ग के बदले वर्ण, जाति, सम्प्रदाय और मजहब के आधार पर विभाजित करने की साजिश रची जा रही थी। इसी सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिवेश में स्वामी सहजानन्द सरस्वती का जन्म हुआ था और निश्चित रूप से वर्णित घटनाक्रम के विकास ने उनके व्यक्तिगत जीवन, सामाजिक दृष्टि, राजनैतिक आंदोलन और विचारधारा, आर्थिक कार्यक्रम तथा विज्ञान के प्रति उनके रुख को बेइन्तहा प्रभावित किया, जिनका संक्षिप्त विश्लेषणात्मक अध्ययन इस संकलन के चार खण्डों में वर्णित एकतालीस निबन्धों के माध्यम से पेश किया गया है।

वर्णित व्यक्तिगत, क्षेत्रीय और राष्ट्रीय परिवेश के अतिरिक्त स्वामीजी को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की भी कुछ महत्वपूर्ण घटनाएँ परिवेश के रूप में प्रभावित करती रहीं जो उनकी बौद्धिक रचनाओं से भी स्पष्ट है। औद्योगिक क्रांति, अमरीकी स्वतंत्रता संग्राम, फ्रांस की विभिन्न क्रांतियाँ, रूसी क्रांति, चीन की बदलती राजनैतिक गतिविधियाँ जैसी अन्यान्य अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं ने भी स्वामीजी के व्यक्तित्व, कृतित्व और विभिन्न वर्गों और स्तरों के सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक कार्यक्रम को प्रभावित किया। इसी पृष्ठभूमि में इस संकलन के विभिन्न खण्डों और अध्यायों का विभाजन करने का प्रयास किया गया है। यह भी स्वीकार लेना मुनासिब होगा कि कई महत्वपूर्ण बिन्दु और विषय पर अध्याय तथा खण्ड नहीं है, क्योंकि उन पर सार्थक निबन्ध उपलब्ध न हो सके। यह इस संकलन की एक बड़ी त्रुटि भी है। लेकिन भूलना नहीं चाहिए कि यह संकलन स्वामीजी के व्यक्तित्व और कृतित्व पर शोधपरक अध्ययन की सीमित परिधि हो सकती है जो अबतक अन्यत्र

किये गये अध्ययन की सीमा को अवश्य रेखांकित करती है। यह संकलन भविष्य के अध्ययन की योजना की सम्भावनाओं की परिधि को संकुचित दायरे से खींचकर एक व्यापक परिधि में दर्शाने के एक गम्भीर और साहसपूर्ण प्रयास के रूप में निश्चित ही उभाड़ता है।

भूलना नहीं चाहिए कि वर्णित परिवेश में स्वामीजी के व्यक्तित्व और आन्दोलनात्मक कार्यक्रम इतने ठोस, व्यावहारिक और संवेदनशील थे कि सरकार को भी खानगी तौर पर यह स्वीकार करना पड़ा था कि कि उनके आन्दोलन की मांग और कार्यक्रम सही हैं तथा आन्दोलन को निरस्त करने के लिए उनकी जायज मांगों को आंशिक रूप से मान लिया जाना चाहिए, किन्तु ऐसी प्रक्रिया में विदेश में इसकी भनक न होनी चाहिए कि उनके आन्दोलत के कारण ऐसा किया जा रहा है अन्यथा विदेश में बदनामी के साथ-साथ उनके आन्दोलन और नेतृत्व के इर्द-गिर्द राजनैतिक ध्रुवीकरण होने की सम्भावना बढ़ जायगी एवं सामन्तवाद तथा साम्राज्यवाद पर जानलेवा खतरे की गुंजाइश बढ़ जायगी।16

इसी पृष्टभूमि में इस संकलन को पाँच खण्डों में विभक्त किया गया है। (क) परिवेश एवं जीवन-चरित (ख) सामाजिक-राजनीतिक जागरण के अग्रदूत (ग) जनवादी विज्ञान-आन्दोलन के सूत्रधार (घ) उपेक्षा के शिकार तथा (च) परिशिष्ट। प्रथम खण्ड के युवा विद्वान सम्पादक ने भूमिका में वर्णित स्वामीजी से सम्बद्ध सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिवेश के सन्दर्भ में उनके व्यक्तित्व के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के महत्व को दर्शाते हुए अबतक इतिहासकारों द्वारा इस तरह के अध्ययन में इस अनुशासन की उपेक्षा करने के लिए दुःख प्रकट किया है। आप विश्वविद्यालय में मनोविज्ञान के व्याखाता हैं और इसीलिए ऐसे विषय पर अधिकृत रूप से कुछ कहने के अधिकारी भी। खण्ड दो की विद्वतापूर्ण सम्पादकीय टिप्पणी में भारतीय सामाजिक-राजनीतिक पुनर्जागरण और खासकर बिहार में स्वामीजी की अहम् भूमिका का मूल्यांकन किया गया है। विश्वविद्यालय में इतिहास के शोधरत व्याखाता होने के कारण उनके तर्क काफी सारगर्भित हैं। खण्ड तीन के होनहार युवा वैज्ञानिक विश्वविद्यालय में विज्ञान के व्याखाता हैं और उनकी सम्पादकीय टिप्पणी इतिहासकारों और समाजशास्त्रियों को विज्ञान की उपलब्धियों और तत्सम्बन्धी संघर्षों पर विना विचार किए अपने शोध-अध्ययन को अधूरे रूप में पेश किए जाने के दोषपूर्ण प्रयास की शिकायत करती है। खण्ड चार के सम्पादक राजनीति शास्त्र के व्याखाता हैं। अपनी सम्पादकीय टिप्पणी में उपेक्षा के वर्गाधार को रेखांकित करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया है कि उपेक्षा अपेक्षा में परिणत होने की प्रक्रिया में है और इस निमित्त संघर्ष के चिह्न देखने को मिल रहे हैं। खण्ड पाँच के युवा इतिहासकार सम्पादक ने दर्शाया है कि इसमें छः परिशिष्ट हैं जिनमें दो भूमिहार ब्राह्मण की उत्पत्ति एवं विकास तथा भूमिहार ब्राह्मण महासभा के कार्यक्रम को दर्शाते हुए भविष्य की शोध-योजना के लिए शोध-स्रोत को इंगित करते हैं। शेष चार स्वामीजी की उपेक्षा तथा इसके खिलाफ संघर्ष की वस्तुगत व्याख्या की शोध-सामग्री के महत्वपूर्ण स्रोत को दर्शाते हैं। क से ध की सारी सम्पादकीय टिप्पणियाँ अपने-अपने खण्ड के निबन्धों तथा खण्ड च के परिशिष्ट पर आधारित हैं। आशा है कि यह भूमिका तथा पाँच सम्पादकीय टिप्पणियाँ विभिन्न खण्डों के निबन्धों को समझने में सहायक सिद्ध होंगी।

(क) परिवेश एवं जीवन-चरित

—अस्फाक अंजुम

जीवन-वृतांत, व्यक्तित्व, क्रान्ति, प्रति-क्रान्ति एवं उनके समर्थक तत्व सरीखे विषयों का इतिहास-लेखन तथा उनके विश्लेषण पारिम्परिक तौर पर मुख्यत: सनातनी ढंग से प्रस्तुत किये जा रहे हैं जिसमें मनोविज्ञान को समुचित स्थान उपलब्ध नहीं हो पाया है, लेकिन ऐसे-ऐसे उत्पादक विषयों पर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की बहुत ही विश्वसनीय भूमिका हो सकती है। फ्रांसीसी और अमरीकी क्रांतियों का हाल में ऐसा अध्ययन होना प्रारम्भ भी हुआ है, किन्तु यह अद्यतन इतिहास-लेखन-प्रवृत्ति भारतीय इतिहास के परिप्रेक्ष्य में लगभग नहीं के बराबर देखी जा रही है। जीवन-वृतांत के अध्ययन में तो हमारी मान्यता है कि बिना मनोविज्ञान की मदद से कोई वस्तुगत और प्रामाणिक विश्लेषण प्रस्तुत ही नहीं किया जा सकता है। यह अनुशासन वैसे व्यक्ति और घटना के लिये और भी अपेक्षित हो जाता है जिसके विकास में विभिन्न स्तरों के सामाजिक और राजनीतिक परिवेशों की प्रक्रियायें होती हैं। स्वामी सहजानन्द सरस्वती का व्यक्तित्व और उनके आन्दोलन वैसी ही कोटि में हैं जिनके परिवेश का मूल्यांकन मुख्य सम्पादक की सम्पादकीय टिप्पणी में संक्षिप्त चर्चा का विषय बन चुका है तथा उनके विकास का कुछ विस्तृत वर्णन खण्ड क, ख और ग के निबन्धों में किया गया है। कहना न होगा कि इस तरह के अध्ययन में सामाजिक मनोविज्ञान के अनुशासनों की नितान्त आवश्यकता है जिसकी अब तक उपेक्षा की गई है।

खण्ड-क के निबन्ध (1—13, पृ० 1—62) वस्तुत: स्वामीजी के जीवन-चरित और उसके संक्षिप्त परिवेश से सम्बद्ध हैं। इस खण्ड में दो कवितायें भी हैं जो उनके जीवन के ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालती हैं, भले ही उनमें यत्र-तत्र कुछ काल्पनिक पुट भी हैं। उनके कार्य-कलाप के ऐतिहासिक सर्वेक्षण के लिए स्रोत-सामग्री पर एक अलग से निबन्ध है जो इस खण्ड के साथ-साथ अन्य खण्डों के लिए भी उतना ही उपयोगी होगा। उसी तरह जब हम सामाजिक मनोविज्ञान के अनुशासन की चर्चा करते हैं तो निश्चित रूप से उसके पालन की अनुशंसा अन्य खण्डों के लिए उतनी ही सार्थक सिद्ध होगी। खण्ड-ग में मानक अध्ययन के रूप में एक निबन्ध (सं० 29) भी है जो चर्चित मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर आधारित प्रतीत होता है। हमारे खण्ड के निबन्ध मनोवैज्ञानिक अध्ययन से ज्यादा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के लिए स्रोत उपलब्ध कराते हैं, क्योंकि अधिकांश निबन्धों में स्वामीजी की रचनाओं से ही और उनके शब्दों में

तथ्यों को उपस्थापित किया गया है। उनमें वर्णित तथ्यों से उनके व्यक्तिगत जीवन, उनके सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलन तथा कार्यक्रम एवं समकालीन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की स्पष्ट झलक मिलती है। यह किसी भी सामाजिक-मनोविज्ञान विशेषज्ञ के शोध-निमित्त अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह अधीत पात्र और उसकी पृष्ठभूमि को तथ्यपूर्ण ढंग से दर्शाता है।

इस संक्षिप्त सम्पादकीय टिप्पणी के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि उस व्यक्ति की यात्रा नवरंग राय से स्वामी सहजानन्द सरस्वती तक किस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया से सम्पन्न हुई तथा किस सामाजिक परिवेश में वह ओंकार से हुंकार तक पहुँच सका? मात्र तीन वर्ष की उम्र में मातृ-वियोग से संतप्त उस वालक ने किस तरह सत्रह वर्ष की उम्र में पत्नी-वियोग का सामना किया? प्रेम से वंचित वह वालक सहसा संन्यास की ओर मुखातिब हुआ, किन्तु उसकी जाति और धर्म-कर्म का पाखण्डी स्वरूप उसमें सवसे बड़ा वाधक सिद्ध हुआ। उपेक्षा की इस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया ने उन्हें सामाजिक संघर्ष के लिए अग्रसर किया और वेद, पुराण, दर्शन तथा इतिहास के सघन अध्ययन के लिए मजवूर किया। उपेक्षित होने पर भी उन्होंने मैदान छोड़ने के बजाय संघर्ष में जूझने का निर्णय लिया। इस घटना-क्रम का वस्तुगत विश्लेषण मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के मानदण्ड से ही सम्भव हो सकता है और उसके निष्कर्ष भी वस्तुगत और प्रामाणिक होंगे। इन सारे ऐतिहासिक विकासों के कुछ विस्तृत तथ्य और विवरण इस संकलन के विभिन्न खण्डों के निवन्धों में निरूपित किये गये हैं। मनोवैज्ञानिक अध्ययन के लिए खण्ड-घ का महत्व दूसरे किस्म का है। यह स्वामीजी पर शोध करने वालों तथा उनके सामाजिक-राजनीतिक और आर्थिक आदर्शों एवं कार्यक्रमों की समीक्षा करने वालों के लिए मनोविज्ञान की स्रोत-सामग्री उपलब्ध कराता है। जो संक्षिप्त निष्कर्ष स्वामीजी पर अध्ययन करने के लिए मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उभरते हैं, वे इस तथ्य को संपुष्ट करते हैं कि व्यक्तिगत जीवन में उन्हें वाल्यकाल से ही उपेक्षा के माहौल का सामना करना पड़ा और उनमें वर्तमान संघर्षमय प्रवृति ने उन्हें संघर्षरत रहने को उद्यत किया। इन्हीं मनोवैज्ञानिक प्रवृतियों की अभिव्यक्ति प्रारम्भ में भूमिहार ब्राह्मणों को समाज में समुचित सम्मान दिलाने के आन्दोलन में हुई, तत्पश्चात् धार्मिक और सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध संघर्ष में हुई और अन्ततः सामाजिक और आर्थिक विषमता को निर्मूल समाप्त करने के आन्दोलन में हुई। इस घटना-क्रम ने मनोवैज्ञानिक कारणों से व्यक्तिगत जीवन में उन्हें दृढ़-संकल्पी वना दिया और सैद्धान्तिक तौर पर राजनीति में non-conformist (असादृश्यवादी) तथा uncompromising (अटल, अनम्य, दृढ़प्रतिज्ञ, हठधर्मी) बना दिया। इन्हीं मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति उनके राजनीतिक आन्दोलनों एवं आर्थिक कार्यक्रमों में देखी जा सकती है जिनका कुछ विस्तार खण्ड ख के निवन्धों में मिलेगा।

* * *

(ख) सामाजिक-राजनीतिक जागरण के अग्रदूत

—प्रभाकर प्रसाद सिंह

किसी युग-पुरुष द्वारा संचालित धार्मिक-सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक जन-आन्दोलन के वस्तुपरक विश्लेषण में घटना-क्रमों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन से उभरने वाले निष्कर्ष तब तक पूर्णता प्राप्त नहीं करते जब तक उनका मूल्यांकन समकालीन ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यों एवं वस्तुनिष्ठ परिस्थितियों के प्रकाश में नहीं किया जाय। प्रस्तुत खण्ड के विभिन्न निबन्धों (सं०—14-25, पृ० 65-115) में स्वामीजी के सामाजिक-राजनीतिक संघर्षों में प्रच्छन्न या स्पष्ट रूपेण दृष्टिगत होने वाले इन्हीं आधारभूत तत्वों एवं तथ्यों का निष्पक्ष निरूपण करने का प्रयास हुआ है जो वैज्ञानिक इतिहास—लेखन की परम्परा एवं उसकी मर्यादा को अक्षुण्ण बनाते हैं। अतः हम इस खण्ड के निबन्धों से उभर कर सामने आने वाली उस ऐतिहासिक-राजनीतिक पृष्ठभूमि का मूल्यांकन प्रस्तुत करना आवश्यक समझते हैं जिसने स्वामीजी के संघर्ष का मार्ग सुदृढ़ किया।

समाज-विज्ञान की गतिशीलता को अनिवार्यतः निर्धारित करनेवाले उभरते नये तथ्य, नयी रोशनी में उनके विश्लेषण के बदलते मानदण्ड, नयी शोधपरक तकनीकों के प्रयोग, विविध अनुशासनों के बीच बढ़ती हुई तीव्र एवं व्यापक अन्तस्-क्रियायें आदि ने अन्य विषयों के अलावा भारतीय राष्ट्रवाद के आधारभूत तत्वों के सम्बन्ध में भी विभिन्न एवं विरोधी व्याख्यायें उपस्थित कर दी हैं। विवादों के इस घने कुहासे में भी दो बातें स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। प्रथम यह कि प्रगति के नाम पर ब्रिटिश औपनिवेशिक तन्त्र द्वारा भारतीय समाज के हो रहे भौतिक-बौद्धिक रेगिस्तानीकरण की प्रतिक्रिया में 19वीं शताब्दी में जिस सांस्कृतिक पुनर्जागरण का सूत्रपात हुआ उसी में राष्ट्रवाद को पोषित करनेवाले सामाजिक-राजनीतिक जागरण के आधारभूत तत्त्व अन्तर्निहित थे। काल क्रम में दर्शन-चिन्तन से प्रस्फुटित नवीन संचेतना एवं सामाजिक यथार्थताओं के बीच स्थापित होते पारस्परिक तादात्म्य ने साम्राज्यवाद-विरोधी भावनाओं को एक सैद्धान्तिक एवं सांगठनिक अभिव्यक्ति प्रदान की। दूसरा यह कि विविधता के भारत के विभिन्न क्षेत्रों में उफनती साम्राज्यवाद-विरोधी उपधारायें धीरे-धीरे एकाकार होती हुई भारतीय राष्ट्रवाद की मुख्य धारा में विकसित होकर विदेशी शासन को समन्दर पार फेंकने के लिए हिलोरें मारने लगीं। शहादत की लाली एवं कलम की स्याही की समाप्त होती हुई रंग-विभाजक रेखा क्षेत्रीय एवं भाषाई सीमावद्धता को तोड़ने लगी और तभी तो बंगाल के खुदीराम बोस द्वारा बिहार में किया गया बम-बिस्फोट महाराष्ट्र के बाल गंगाधर तिलक की पत्रकारिता में प्रतिध्वनित होने लगा।

प्रसंगवश यह उल्लेखनीय है कि उदीयमान राष्ट्रवाद के आधारभूत तत्त्व तो पुनर्जागरण के सामाजिक-राजनीतिक विचारो में विद्यमान थे, परन्तु उसे व्यापक जनाधार प्रदान करने में कुछ और बातों ने अधिक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। निश्चित तौर पर चन्द उदारवादी अभिजनों की याचिकाओं में गिड़गिड़ाते या उग्रवादियों के क्रान्तिकारी पर्चों में गरजते भारतीय राष्ट्रवाद का जनवादीकरण तभी सम्भव हुआ जब इसमें धर्म-निरपेक्षता या सर्वधर्मसमभाव, किसान-आन्दोलन एवं समाजवाद मुखर रूप से अभिव्यक्त होने लगा। इस खण्ड के निबन्ध (संख्या 14-25, पृ० 65-115) भी स्वामी सहजानन्द के समाज-सुधार के साथ-साथ उनके गत्यात्मक

राजनीतिक जीवन के इन्हीं पहलुओं पर प्रकाश डालते हैं जिनकी बदौलत बिहार में विकासशील राष्ट्रवाद का जनवादीकरण हुआ।

किसी युग-पुरुष या जन-नेता का ऐतिहासिक मूल्यांकन करते समय यह स्मरण रखने की आवश्यकता है कि जन-आन्दोलन वस्तुनिष्ठ परिस्थितियों का ही प्रतिफल होता है; किसी व्यक्ति विशेष में जन-आन्दोलन के लिए ऐतिहासिक परिस्थितियाँ पैदा करने की क्षमता नहीं होती है। ताप देने पर दूध इसलिए उबलता है, क्योंकि उसमें उबलने की शक्ति विराजमान होती है। यदि इस घटना की उपमा सामाजिक आन्दोलन से की जाए तो बात और स्पष्ट हो जाएगी। बिना किसी उपकरण के यदि दूध और अग्नि का सीधा सम्पर्क करा दिया जाए, तब या तो दूध नष्ट हो जाएगा, या अग्नि शांत हो जाएगी। अतएव जिस प्रकार दूध उबलने के लिए उचित माध्यम से संतुलित ताप की आवश्यकता होती है ठीक उसी प्रकार किसी युग-पुरुष या जन-नेता का नेतृत्व एक उचित माध्यम बनकर पारिस्थितिक उद्वेलन को बौद्धिक स्तर पर नये अर्थों में मूल्यांकित कर उसे एक सांगठनिक रूप प्रदान कर देता है। फलस्वरूप जन-आन्दोलन का सूत्रपात होता है। यदि नेतृत्व स्वप्रज्वलित मशाल नहीं, तो वह प्रबल घर्षण सदृश है जो अग्नि की अनुपस्थिति में भी एकत्रित बिस्फोटक को प्रज्वलित करने में सक्षम होता है। दो विश्व युद्धों के बीच की अवधि में बिहार में हो रहे सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलन को स्वामीजी ने भी सिद्धान्त रूपी आँख एवं संगठन रूपी पैर प्रदान कर एक अभूतपूर्व नेतृत्व दिया, जो विभिन्न निबन्धों को पढ़ने से स्पष्ट होगा।

विदेशी साम्राज्यवाद एवं देशी सामंतवाद की दोधारी तलवार से आहत होने के अलावा बंगाली नौकरशाह से प्रताड़ित बिहार, बंगाल एवं महाराष्ट्र से भिन्न पुनर्जागरण की ओर मुखातिब होने के बजाय अपनी पहचान की तलाश में ज्यादा मसगूल रहा। परिशिष्ट-II में दिए गए साक्ष्य इस बात की ओर संकेत करते हैं कि बिहार में धार्मिक जातीय संस्थाओं द्वारा प्रारम्भ किए गए पुनर्जागरण की गति अत्यधिक धीमी थी। ऐसी परिस्थिति में भूमिहार-ब्राह्मण सभा द्वारा जातीय आधार पर शिक्षा के उन्नयन एवं सामाजिक कुरीतियों को समाप्त करने के प्रयास ने सामाजिक जागरण की पृष्ठभूमि अवश्य तैयार की होगी जैसा कि परिशिष्ट—I में मिलता है। साक्ष्यों से यह भी स्पष्ट है कि सामंतवादी प्रभुत्व में संरक्षित इस भूमिहार-ब्राह्मण सभा में शिक्षित मध्यम वर्ग का भी समावेश होने लगा। फलस्वरूप जो भूमिहार-ब्राह्मण सभा बीसवीं सदी के प्रथम दशक में गोरे अंगरेजों का स्तुति-गान ईश्वर द्वारा भेजे गए रक्षक के रूप में कर रही थी, वही सभा चन्द वर्षों में इतना तो जरूर बदल गई कि "स्वदेशी" के प्रचार की वकालत करने लगी।

स्वामीजी भी इस भूमिहार-ब्राह्मण सभा से अपने प्रगतिशील विचारों के कारण ही जुड़े और ब्राह्मणवाद की आरोपित सामाजिक श्रेष्ठता से लड़ने के लिए इसका इस्तेमाल किया, जैसाकि निबन्ध संख्या—16 में कहा गया है। अपने उज्जवल चरित्र के कारण ही स्वामीजी भूमिहार-ब्राह्मण सभा के एक महत्वपूर्ण कार्यकर्त्ता बन गए, क्योंकि इसमें वीर्य की रक्षा के प्रस्ताव को श्रेष्ठतम वरीयता दी जाती थी। निबन्ध संख्या-17 से स्पष्ट होता है कि जातीय आन्दोलन के क्रम में ही उनकी कुछ अमूल्य बौद्धिक कृतियाँ सामने आईं, जिन्होंने बहुतेरी शास्त्रीय गुत्थियों को सुलझाते हुए उन्हें गैर-संस्कृत भाषी जनों तक पहुँचाया।

परिशिष्ट-II में इसके पर्याप्त साक्ष्य मौजूद हैं कि शिक्षित वर्ग के समावेश के बावजूद भूमिहार-ब्राह्मण सभा पर सामंती वर्चस्व कायम रहा। इतना ही नहीं सामंती कोष पर शैक्षणिक संस्थाओं की प्रचुर निर्भरता ने बिहार में शिक्षित वर्ग को सामंतों के प्रति कृतज्ञ रहने को थोड़ा-बहुत तो विवश कर ही डाला होगा। सामंती हितों एवं मध्यम वर्गीय अवसरवादिता के गठबन्धन को पनाह देनेवाली यह भूमिहार-ब्राह्मण सभा स्वामीजी जैसे किसानों के सच्चे प्रहरी को विकर्षित करने लगी। फलस्वरूप उनके सामाजिक आन्दोलन का रूख जातीयता-विरोधी हो गया और किसानों की मुक्ति ही उनके जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य बन गया जो निबन्ध संख्या 14, 19, 20 आदि में द्रष्टव्य है। यदि सामंत वर्ग जातीय संगठन का इस्तेमाल साम्राज्यवाद की चाकरी के लिए कर रहा था, तो उदीयमान वर्ग इसका इस्तेमाल क्षणिक राजनीतिक स्वार्थ के लिए कर रहा था। किसानों के शोषकों द्वारा अपने वर्गीय हित में हो रहे जातीय संगठन के इस्तेमाल ने निश्चित रूप से स्वामीजी के मन में इसके प्रति घृणा-भाव पैदा कर दिया। 1930 के दशक में तो सम्भवत: वर्ण-पद्धति पर से ही उनका विश्वास उठ गया था।

यह अत्यन्त ही दिलचस्प एवं विचारणीय प्रसंग है कि परिवार, जन्म स्थान, सांसारिकता के मोह-बन्धन से मुक्त संन्यासी भी अपनी जातीय पहचान का परित्याग न कर सका, परन्तु जातीय संस्थाओं से जुड़े रहने के बावजूद जब वह सामाजिक समस्यायों को गहराई से देखना शुरू किया, तो उसका जातीय मोह भंग होने लगा। श्रेष्ठ शास्त्रों के सहस्त्र श्लोक जो न कर सके उसे कर्म-क्षेत्र की कुछेक यथार्थताओं ने कर डाला। स्वामीजी के जीवन में ऋषियों की वेदवाणी से कहीं अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुई किसानों की करुण कहानी।

किसानों के सामाजिक उन्नयन, उनके आर्थिक विकास एवं उनकी राजनीतिक मुक्ति के आगे लगे बढ़ते-गहराते प्रश्न-चिह्न ने स्वामीजी की राजनीतिक चिन्तन-धारा को बड़ी तीव्रता से परिवर्तित करना शुरू कर दिया। यही कारण है कि चन्द रियायतों के लिए बिहार में किसान-आन्दोलन को संगठित करनेवाले स्वामीजी काफी आगे बढ़कर साम्राज्यवादी-सामंतवादी प्रभुत्व-काल में क्रांतिकारी किसान आन्दोलन की वकालत करने लगे। उनमें हो रहे इस परिवर्तन की जानकारी निबन्ध संख्या 18 एवं 23 को पढ़ने से मिलती है तथा निबन्ध संख्या 22 से यह स्पष्ट होता है कि इस संदर्भ में उनकी मानसिकता मार्क्स के समाजवाद से अत्यधिक प्रभावित हुई थी।

किसान-समस्यायों के प्रति समर्पित होने के बावजूद वे राष्ट्रवाद की मुख्यधारा से कभी अलग नहीं हुए। निबन्ध संख्या 21, 1942 के आन्दोलन में स्वामीजी की महत्वपूर्ण भूमिका पर प्रकाश डालता है। वास्तव में, राष्ट्रवाद की सफलता के लिए समाजवाद से लैस क्रांतिकारी किसान आन्दोलन को अनिवार्य मानते हुए वे इन दोनों में अविच्छिन्न सम्बन्ध को एक सशक्त आधार प्रदान करना चाहते थे। राष्ट्रवाद एवं क्रांतिकारी समाजवाद के बीच एक युक्तिसंगत सामन्जस्य स्थापित कर स्वामीजी ने बिहार के किसानों को आन्दोलित किया। सम्भवत: उनके इन्हीं प्रयासों का परिणाम यह हुआ कि हिन्दी भाषी प्रान्तों में साम्यवादी आन्दोलन सबसे अधिक

शक्तिशाली रूप में बिहार ही में उभरा और आज भी किसी-न-किसी रूप में कायम है।

निवन्ध संख्या 15 में स्वामीजी द्वारा साम्प्रदायिक साजिश का पर्दाफाश किए जाने की ऐतिहासिकता का चित्रण किया गया है।

स्वामीजी ने साम्प्रदायिक उन्माद भड़काने हेतु आर्थिक स्वार्थ-जनित धार्मिकता का एक यथार्थवादी चित्रण किया है। अतिसंवेदनशील धार्मिकता से अविच्छिन्न रूप से जुड़े गो-रक्षा आन्दोलन पर प्रहार करते समय आज के पच्चास वर्ष पूर्व स्वामीजी जैसे धर्म-शास्त्र मर्मज्ञ संन्यासी ने जिस निर्भीकता, स्पष्टवादिता एवं यथार्थवादिता का परिचय दिया वह शायद उनके समकालीन किसी राजनीतिज्ञ, समाज-सेवी, धर्म सुधारक, बुद्धिजीवी, पंडित या मुल्ला में देखने को मिले। यही नहीं इतने वर्षों पूर्व उन्होंने सम्प्रदायवाद का वैसा विश्लेषण कर डाला, जिसका इस्तेमाल सम्प्रति मान्य इतिहास लेखन में एक महत्वपूर्ण मानदण्ड के रूप में किया जा रहा है। इन सभी बातों के बावजूद धर्म निरपेक्षता के लिए प्रतिबद्ध राजनीतिज्ञों एवं इतिहासकारों ने स्वामीजी के विश्लेषण की ओर ध्यान नहीं दिया है। उदाहरणार्थ, विपिन चन्द्रा की पुस्तक Communalism in Modern India के मुख्य भाग एवं संदर्भ-संकेत दोनों ही में स्वामीजी की कोई चर्चा नहीं है। यहाँ भी वे उपेक्षित ही जान पड़ते हैं। यदि उनके विचारों का यथेष्ट प्रचार किया जाता तो सम्भव था कि मजहबी जुनून इंसानीयत का उतना खून न बहाते जितना कि आज बहा रहे हैं।

वर्णित घटना क्रम में स्वामीजी की विचारधारा तथा सामाजिक-राजनीतिक एवं आर्थिक कार्यक्रम को नई दिशा देने में वैज्ञानिक उपलब्धियों की महत्वपूर्ण भूमिका थी जैसा कि खण्ड ग के विभिन्न निबन्धों से स्पष्ट है। साथ ही उनके कार्यान्वयन में भी इसे एक अनिवार्य उपकरण का स्थान दिया गया था। सम्भवतः इसीलिए स्वामीजी जनवादी विज्ञान-आन्दोलन के घोर पक्षधर हुए जो प्रगतिशील सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था के विकास की सुदृढ़ नींव बन सका।

× × ×

(ग) जनवादी विज्ञान-आन्दोलन के सूत्रधार

—महेश राय

ब्रिटिश साम्राज्यवाद एवं तत्कालीन सामन्ती सामाजिक व्यवस्था के अधीन कृषक–मजदूर वर्ग के भीषण शोषण के विरूद्ध एक संगठित संघर्ष का नेतृत्व स्वामी सहजानन्द ने जिस रूप में किया उसका मूल्यांकन एवं वस्तुपरक विश्लेषण विभिन्न स्तर के इतिहासकारों एवं समाज-वैज्ञानिकों ने किया है। निर्विवादतः ऐसे अध्ययनों की उपादेयता बहुत अधिक है। परन्तु यह एक घोर विडम्बना है कि समाज वैज्ञानिकों द्वारा स्वामीजी के चिन्तन-दर्शन के वैज्ञानिक पहलुओं पर आधारित शोध-प्रयास सर्वथा दुर्लभ हैं। खण्ड-ख की सम्पादकीय टिप्पणी में इसे इंगित अवश्य किया गया है। आधुनिक परिप्रेक्ष्य में स्वामीजी के जीवन, कर्म एवं दर्शन में अभि-

व्यक्त वैज्ञानिक तथ्यों एवं स्वयं विज्ञान के सम्बन्ध में उनकी अवधारणाओं की वस्तुनिष्ठ व्याख्या की नितान्त आवश्यकता है जिसकी समाज-वैज्ञानिकों ने अब तक उपेक्षा ही की है। कला के विभिन्न विषयों को वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिक अध्ययन के रूप में प्रतिष्ठित करनेवाले इन समाज-वैज्ञानिकों ने पता नहीं स्वामीजी के व्यक्तित्व-निरूपण में अपनी वैज्ञानिक दृष्टि कहाँ और कैसे खो दी ? इस संकलन के खण्ड-ग में स्वामीजी के जीवन-दर्शन में व्याप्त वैज्ञानिकता एवं विज्ञान तथा तकनीकी के क्षेत्र में उनके द्वारा सुझाये गये मौलिक विन्दुओं का मूल्यांकन विभिन्न निबन्धों के माध्यम से जिस रूप में किया गया है वह अपने ढंग का मौलिक प्रयास है। यद्यपि इनके एक भी लेखक समाज विज्ञान के अनुशासन से जुड़े हुए नहीं हैं और विज्ञान के क्षेत्र में सभी-के-सभी हमारी ही तरह नए शोधकर्ता हैं। फलस्वरुप निबन्धों की व्याख्या त्रुटिपूर्ण और सीमित हो सकती है, किन्तु भविष्य के लिए प्रचुर सम्भावनाएँ अवश्य प्रस्तुत करती हैं। स्मरण रखने की जरुरत है कि विज्ञान की उपलब्धियाँ स्वामीजी की विचारधारा और कार्यक्रम को प्रभावकारी ढंग से सुनियोजित और गतिशील बना रहीं थीं।

विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों से जुड़े विद्वानों द्वारा उपर्युक्त अभाव की गहरी अनुभूति के बाद स्वामीजी की रहनुमाई में चलाये गये साम्राज्यवाद-विरोधी आन्दोलनों एवं भारत में समाजवाद की स्थापना के लिये आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार करने की दिशा में उनके प्रयासों में विज्ञान एवं तकनीक की नींव मजबूत करने की जो आवश्यकता जताई गई है उसका वस्तुपरक विश्लेषण कर इस खण्ड के निबन्धकारों ने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। प्रस्तुत खण्ड में वर्णित विचार समाज-वैज्ञानिकों के लिये एक चुनौती प्रस्तुत करते हैं एवं उनके शोध-प्रयासों को एक नयी दृष्टि प्रदान करते हैं।

सभ्यता के अभ्युदय काल से ही सामाजिक विकास की प्रक्रिया को धर्म, दर्शन, परम्परा, विज्ञान एवं तकनीक की अन्तस्क्रिया ने काफी गहरे रुप में प्रभावित किया है तथा यह प्रभाव आधुनिक काल में भारत की अपेक्षा पश्चिम जगत् में ज्यादा देखने को मिलता है। स्वामीजी के व्यक्तित्व में विविधताओं का जो दुर्लभ सम्मिश्रण देखने को मिलता है वह एक तरह से इस बात का परिचायक भी है कि भारत के सामाजिक-राजनीतिक जीवन की बदलती हुई परिस्थितियों में साम्राज्यवाद एवं सामन्तवाद के विरुद्ध आन्दोलनार्थ व्यापक जनाधार तैयार करने में भिन्न-भिन्न प्रभावी कारकों की भूमिका की उन्हें गहरी अनुभूति थी। वैसे तो उनके चिन्तन-दर्शन में प्रगतिशीलता कूट-कूट कर भरी थी, परन्तु कालक्रम में अद्यतन वैज्ञानिक उपलब्धियों को अपनाये जाने पर भी उन्होंने काफी बल दिया।

एक संन्यासी का जीवन व्यतीत करते हुए भी स्वामीजी धार्मिक रुढ़िवादिता के शिकार नहीं रहे क्योंकि रुढ़िवादी धर्मावलम्बियों ने आदि काल से ही वैज्ञानिक प्रगति को धर्म-विरोधी मानकर इसका परित्याग करने की जबर्दस्त वकालत की। स्वामीजी की दृष्टि इस माने में ज्यादा व्यापक थी और वे विज्ञान को धर्म विरोधी मानने के बजाय इसे सामाजिक प्रगति का एक अभिन्न अंग मानते थे। पाश्चात्य वैज्ञानिकों एवं दर्शनशास्त्रियों का भी कुछ ऐसा ही मत रहा है। हेनरी मार्गेन्या नामक प्रसिद्ध अमरीकी भौतिकशास्त्री एवं दार्शनिक ने सर्वप्रथम 1947 में प्रकाशित

अपने लेख "वेस्टर्न कल्चर, साइंटिफिक मेथड एण्ड दि प्रोब्लेम ऑफ इथिक्स" में यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि वैज्ञानिक विधियाँ एवं उपलब्धियाँ किसी राष्ट्र की सभ्यता एवं संस्कृति के निर्माण में केन्द्र-विन्दु की तरह कार्य करती हैं जबकि धर्म, दर्शन आदि उसकी पृष्ठभूमि तैयार करते हैं। उसने पुनः स्वीकार किया है कि स्वयं विज्ञान चारित्रिकरुपेण तटस्थ होता है और उसका चरित्र उसकी उपलब्धियों को अपनाने वाले समाज द्वारा निर्धारित होता है। इन महत्वपूर्ण मान्यताओं की पुर्नस्थापना इस खण्ड के कई निबन्धों में रोचक ढंग से स्वामीजी के चिन्तन के सन्दर्भ में हुई है।

स्वामीजी ने भारतीय किसानों को कृषि के क्षेत्र में नवीनतम वैज्ञानिक एवं तकनीकी उपलब्धियों को सहर्ष अपनाने की सिफारिश की। उनकी ऐसी मान्यता थी कि वैज्ञानिक विधियों एवं उपकरणों के अपनाये बिना कृषि-उत्पादन में अपेक्षित वृद्धि सम्भव नहीं और उत्पादन बढ़ाये बिना कृषकों का उत्थान भी कदाचित् सम्भव नहीं। कृषि कार्य में ट्रैक्टरों के प्रयोग, किटाणुनाशकों के छिड़काव, संकरण द्वारा नई किस्मों के विकास आदि की जिस रूप में उन्होंने आवश्यकता जताई उसका स्पष्ट चित्रण इस खण्ड के निबन्धों में किया गया है।

स्वामीजी विज्ञान एवं तकनीक का जनवादीकरण कर उसकी उपलब्धि को समाज के शोषित-पीड़ित वर्ग तक पहुँचाना चाहते थे ताकि ये वर्ग सामाजिक परिवर्तन की मुख्य धारा में जुड़ सकें। कृषक वर्ग के उद्धार के साथ-साथ कल-कारखानों के विकास द्वारा वे मजदूर वर्ग का भी उद्धार करना चाहते थे, क्योंकि उनकी धारणा थी कि राष्ट्र की उत्पादकता बढ़ाये बिना आर्थिक सम्पन्नता नहीं लायी जा सकती और इसके अभाव में सर्वहारा क्रांति भी सम्भव नहीं। चीनी उद्योग से सम्बन्धित समस्याओं, चीनी उत्पादन बढ़ाने एवं उस पर होनेवाले व्यय को कम करने की दिशा में किये जा सकने वाले विभिन्न प्रयासों की जो कुशल-दृष्टि स्वामीजी ने दी है उस पर पर्याप्त शोध की आवश्यकता है। स्वामीजी द्वारा प्रदत्त सुझाव चीनी प्रौद्योगिकी का एक विकसित भावी प्रारूप प्रदान करते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें प्राकृतिक संसाधनों के दोहन में "अपशिष्ट पदार्थों के पुनरावर्त्तन" (Recycling of waste materials) का पर्याप्त ज्ञान था जो अत्याधुनिक वैज्ञानिक अध्ययनों के पश्चात् स्थापित प्रदुषण-मुक्त औद्योगिक उत्पादक अर्थ-व्यवस्था का बीजमंत्र है। अतः आवश्यकता इस बात की भी जान पड़ती है कि स्वामीजी के इस सम्बन्ध में दिये गये सुझावों पर व्यापक अन्तर्संकायी शोध किये जायँ।

पर्यावरण के प्रदुषण की समस्या, ऊर्जा के कम खर्चीले साधनों के इस्तेमाल एव इसके वैकल्पिक श्रोतों की खोज के बारे में स्वामीजी इस सदी के तीसरे-चौथे दशक से ही काफी सजग दीखते हैं जबकि ये समस्यायें आज के विकासशील राष्ट्रों की दिनचर्या में एवं वैज्ञानिक संगोष्ठियों में काफी प्रबल रूप में आती हैं। इस प्रकार

स्वामीजी की वैज्ञानिक दूरदर्शिता आज की चोटी की वैज्ञानिकों से कहीं अधिक थी। स्वामीजी प्राचीन आयुर्वेद एवं मध्यकालीन 'अल्केमी' को भी नहीं नकारते थे और न आधुनिक बैक्टीरियानाशकों को। आज के युग में होनेवाली उपग्रहों की यात्रा की कल्पना भी स्वामीजी ने काफी पहले की है, लेकिन सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि वे विज्ञान के सामाजिक आर्थिक मूल्यों के प्रति ज्यादा सजग थे। इस खण्ड के कुछ लेखकों ने इस अवधारणा का वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन किया है।

स्वामीजी परम्परागत शिक्षा के विरोधी नहीं थे लेकिन वे उसमें भी विज्ञान एवं शोध-सम्भावनाओं का उचित समावेश कर उसे ज्यादा व्यावहारिक और उपादेय बनाना चाहते थे। बेसिक-शिक्षा की त्रुटियों पर भी उन्होंने कठोर प्रहार किया। संस्कृत-शिक्षा को वे काफी बढ़ावा देने के पक्ष में थे, लेकिन अधकचरी संस्कृत नहीं, बल्कि संस्कृत की ऐसी शिक्षा जो इसके प्रकाण्ड विद्वानों को उत्पन्न करे, जो इस साहित्य के अमूल्य ज्ञान-भण्डार पर पर्याप्त शोध कर उससे नयी चीजें प्राप्त करें। पश्चिम के देशों में किये जा रहे आधुनिकतम शोधों ने उनकी इस मान्यता की सम्पुष्टि की है जिनका कुछ व्यापक विवरण इस खण्ड के कुछ निबन्धों में है।

अन्ततः यह कहना सही होगा कि भारत में वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में ऐतिहासिक अध्ययन एवं ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में वैज्ञानिक विकास के अध्ययन की नितांत आवश्यकता है और इसके लिये वैज्ञानिकों, इतिहासकारों, समाज-वैज्ञानिकों एवं ज्ञान के अन्य व्यापक व्यावहारिक क्षेत्रों से जुड़े कर्मियों द्वारा सामूहिक अन्तर्संकायी शोध की अपरिहार्यता को कदाचित् नकारा नहीं जा सकता। प्रस्तुत खण्ड के निबन्धों का इस संकलन में एक विशिष्ट स्थान दिया जाना इस दिशा में किया जाने वाला एक महत्वपूर्ण प्रयास है। सारांशतः स्वामीजी की वैज्ञानिक दृष्टि एवं उसकी उपलब्धियों को समाज के शोषित-दलित वर्ग के विकास की दिशा में उन्मुख करने की उनकी विकलता तथा वैज्ञानिक विकास की दिशा पर अर्थतंत्र के प्रभाव को समाप्त करने की उनकी चिन्ता साहिर लुधियानवी की एक गजल के कुछ अंशों की किसी कवि द्वारा अनुवादित निम्न पंक्तियों में अत्यन्त सजीव रूप में अभिव्यक्त होती है—

लोगों की अनथक मेहनत ने चमकाया रूप जमीनों का,
भाप और बिजली हमराह लिए, आ पहुँचा दौर मशीनों का।
इल्म और विज्ञान की ताकत ने मुँह मोड़ दिया दरियाओं का,
इन्सान जो राख का पुतला था, वह हाकिम बना हवाओं का।
जनता की मेहनत के आगे, कुदरत ने खजाने खोल दिये,
राजों की तरह रखा था जिन्हें वे सारे खजाने खोल दिये।
लेकिन इन सब ईजादों पर पैसे का इजारा होता रहा,
दौलत का नसीबा चमक उठा, मेहनत का मुकद्दर सोता रहा।

स्वामीजी की विचारधारा और व्यक्तित्व के विकास में सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिवेश के साथ-साथ विज्ञान का भी योगदान रहा है जो सामाजिक परिवर्तन के उनके कार्यक्रम को ज्यादा जुझारु, व्यावहारिक और प्रायोगिक बनाने में सक्षम हुआ। फलस्वरुप उसके निमित्त आहूत उनके आंदोलन तीव्र, प्रखर और गतिशील हुए जिसमें शोषणात्मक सामाजिक व्यवस्था को नष्ट कर समता पर आधारित नई शोषण विहीन सामाजिक व्यवस्था स्थापित करने की क्षमता थी तथा शोषकों और उनकी व्यवस्था के निश्चित पराजय के अचूक आग्नेयास्त्र भी जो विज्ञान के प्रति उनकी अवधारणाओं से बनी थी। सम्भवतः यही कारण है कि शोषकों के वर्चस्व पर आश्रित राजसत्ता और समाज ने स्वामीजी को यथोचित सम्मान न देकर उन्हें उपेक्षा का शिकार बनाया जो खण्ड घ के विभिन्न निबन्धों से स्पष्ट होगा।

× × ×

(घ) उपेक्षा के शिकार

—दिनेश नारायण मल्लिक

भारत से उपनिवेशवादी-साम्राज्यवादी शोषणमूलक शासन के पलायन के साथ ही यहाँ राज्य-निर्माण की प्रक्रिया पूरी हुई और पाश्चात्य सन्दर्भ में राष्ट्र-निर्माण की जटिल प्रक्रिया शुरू हुई, जिसमें अबतक हमें आंशिक सफलता ही हासिल हो सकी है। किसी भी राजनीतिक समाज में राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया में अनेक कारक शामिल होते हैं; परन्तु सर्वव्यापी तौर पर युग-पुरुषों के, समाज के मौलिक चिन्तकों के विचारों को लोगों की उत्प्रेरणा हेतु आदर्श रूप में उपस्थित किया जाना अत्यन्त महत्वपूर्ण कारक सिद्ध होता है। राष्ट्र-निर्माण की दिशा में हम अपेक्षित एवं वांछनीय परिणाम नहीं पा सके हैं तो इसका एक प्रमुख कारण उक्त कारक की जानबूझ कर की गयी उपेक्षा है जिसका ज्वलंत प्रमाण समकालीन समाज वैज्ञानिकों, विशेषकर इतिहासकारों द्वारा स्वामी सहजानन्द सरस्वती के क्रांतिकारी सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक विचारों के प्रति बरती गयी उदासीनता है।

ऐसा कहने का मेरा आशय यह कदापि नहीं कि भारतीय राजनीतिक साहित्य में ऐसे महापुरुषों को बिल्कुल ही स्थान नहीं दिया गया है, सत्य तो यह है कि अनेक को उनके सही कद से कहीं बढ़ा-चढ़ाकर प्रक्षेपित किया गया है। हालाँकि ऐसा किया जाना अपने देश में कायम उदारवादी-पूँजीवादी व्यवस्था के प्रभुत्वशाली वर्ग की इच्छा के अनुरूप ही है, लेकिन उस अतिशयता से पीड़ित होकर ऐतिहासिक यथार्थ की जिस प्रकार उपेक्षा की गयी है, उससे आज का बौद्धिक जगत चिंताजनक रूप से असन्तुलित दीखता है। यही कारण है कि भारतीय बुद्धिजीवी राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में उत्तरदायित्व के निर्वाह में असक्षम रहे हैं।

स्वामी सहजानन्द सरस्वती की गिनती उन मौलिक भारतीय विचारकों में है, जिन्होंने सामान्य जन का जीवन जीया है, जनसाधारण की समस्याओं एवं आकांक्षाओं को करीब से जाना है, उन्हें सामाजिक कुरीतियों एवं आर्थिक शोषण के कुचक्र में फँसा होकर घुटते हुए देखा है। उनकी दर्जनों प्रकाशित पुस्तकों एवं लघु-निबन्धों में एक अन्वेषी पाठक को न सिर्फ सामान्य सामाजिक क्रांति के पूर्ववर्त्ती आधारभूत विचारों के गहन दार्शनिक चिन्तन की स्पष्ट छाप दिखाई पड़ती है, बल्कि उन विचारों के वैज्ञानिक विश्लेषण का ठोस प्रमाण भी मिलता है। अपने सक्षिप्त संन्यासी जीवन में स्वामीजी ने अपरिमित ज्ञान-निधि ढूँढ़कर जो परिपक्वता हासिल की उससे उत्सित आध्यात्मिक अपार उर्जा को उन्होंने वेदशालाओं की झिनी कुटियों से उध्वंपातित नहीं होने दिया, बल्कि उन्होंने सामाजिक आवश्यकता के अनुरुप सामन्तवादी, सम्प्रदायवादी और साम्राज्यवादी गण शत्रुओं के उन्मूलन के रचनात्मक प्रयास में लगाना उचित समझा। अखण्डित, अविरल एवं ओजस्वी व्यक्तित्व का स्वामी यह दण्डी सन्यास से विरक्त होकर जब राष्ट्रीय आन्दोलन के बीज-मन्त्रों को सुदूर गाँवों तक प्रचारित-प्रसारित करने से जुड़ा, तो वह सामाजिक जीवन की अनेक वास्तविकताओं से अवगत हुआ। ये वास्तविकताएँ मूलतः दो प्रकार की थीं। प्रथम किस प्रकार समाज का विशाल बहुसंख्यक भाग मुट्ठी भर सामन्ती स्वजनों से शोषित होकर पशुवत एवं नारकीय जीवन व्यतीत कर रहा था। दूसरे, किस प्रकार एक ओर स्वतन्त्रता-संग्राम का अगुआ संगठन कांग्रेस का नेतृत्व राष्ट्रीय मुक्ति के युद्ध-घोष की पृष्ठभूमि में जमींदारों का पृष्ठ-पोषण कर रहा था और दूसरी ओर उनके अनुयायी राजनीति को 'दोहरेपन' का आयाम दे रहे थे। अवसरवादी मध्यम वर्ग नवोदित राष्ट्रीय पूँजीवादी वर्ग से साठ-गाँठ कर कांग्रेस के अन्दर इन स्वार्थी तत्वों को भरपूर समर्थन दे रहा था।

स्वभाव एवं विचार से जन्मजात विद्रोही स्वामीजी को यह कबूल न हुआ और अन्ततोगत्वा वे कांग्रेस से विमुख होकर किसान आन्दोलन के प्रति पूर्ण समर्पित हो गए। वस्तुतः कोई भी कृषि-प्रधान देश वास्तविक आजादी तबतक हासिल नहीं कर सकता, जब तक किसान वर्ग शोषण के चंगुल से सर्वथा मुक्त नहीं हो जाता। उनके दोहन की स्थिति में राष्ट्रीय एकीकरण एवं विकास की अवधारणा बेमानी होने के साथ-साथ बेइमानी भी है। स्वामीजी को इस बुनियादी तथ्य की स्पष्ट परख थी। अतएव उनकी रूझान मार्क्सवाद-लेनिनवाद में बढ़ी और तदनुरूप उन्होंने किसानों द्वारा अपनी मुक्ति के लिए लड़े जाने वाले संघर्षों हेतु अनेक व्यावहारिक तकनीकों का विकास भी किया। एक सच्चे कर्मयोगी की तरह उन तकनीकों का प्रयोग करते हुए उन्होंने ऐसे कुछ संघर्षों में हिस्सा भी लिया जिनमें उन्हें यथेष्ट सफलता भी मिली।

सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलन के प्रति मनसावाचाकर्मणा समर्पित इस महानतम विभूति की विभिन्न स्तरों पर की गई उपेक्षा एक स्वाभाविक प्रश्न खड़ा करती है। इस संकलन के विभिन्न खण्डों के कुछ निबन्ध स्पष्ट रूप से एवं कुछ अस्पष्ट रूप से इसी प्रश्न के इर्द-गिर्द घूमते हुए गहन विश्लेषण के माध्यम से इसका समुचित उत्तर ढूढ़ने का प्रयास करते प्रतीत होते हैं। कई स्तरों पर इस उपेक्षा की चर्चा हुई है—खुद उनकी जन्मभूमि से लेकर देश-विदेश तक इसी उपेक्षा की कहानी

की पुनरावृत्ति सुनने को मिल रही है। कहीं उनके गाँव तथा राष्ट्र के स्तर पर यथोचित स्मारक के अभाव की चर्चा है, तो कहीं उनके नाम पर सड़क, मुहल्ला, शोध-संस्थान, डाक-टिकट, रेलवे स्टेशन सरीखे चीजों का अभाव खटक रहा है, कहीं उनकी कृतियों की अनुपलब्धता खटकती है, तो कहीं शोध-कार्यों में उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व की हो रही नजरअन्दाजी की चर्चा है। गुस्से में कभी-कभी तो लोग यहाँ तक कह डालते हैं कि उनके आदर्शों और सिद्धान्तों की घोर अवहेलना राष्ट्रीय स्तर पर की जा रही है मानो उनके सिद्धान्तों का पालन एवं कार्यान्वयन वर्त्तमान समाज एवं राष्ट्र के विकास के लिए एक आवश्यक शर्त्त है। बौद्धिक जगत् में और विशेषतः इस संकलन के अनेक निबन्धों में यह शिकायत की गई है कि मनोविज्ञान, राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, साहित्य और दर्शन सरीखे विषयों के विशेषज्ञ उन पर विश्लेषणात्मक अध्ययन न कर उनकी घोर उपेक्षा कर रहे हैं और राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की प्रक्रिया को अवरूद्ध कर रहे हैं। स्वयं स्वामीजी द्वारा स्थापित 'सीताराम आश्रम' जैसी संस्थायें घोर राष्ट्रीय उपेक्षा की शर्मनाक कहानी कह रही हैं। मतलब यह है कि चाहे या अनचाहे स्वामीजी घोर उपेक्षा के शिकार बने हुए हैं।

हमारे खण्ड के विभिन्न निबन्ध (32 – 41, पृ० 145—239) इन तथ्यों को कुछ विस्तार के साथ उजागर करते हुए उपेक्षा के सैद्धान्तिक कारणों का वस्तुगत विश्लेगण प्रस्तुत करने का भी प्रयास करते हैं। इस खण्ड और संकलन का अन्तिम निबन्ध 'निष्कर्षात्मक वक्तव्य' वस्तुतः इस खण्ड एवं संकलन के सारे निबन्धों के निष्कर्षों को संक्षेप में रेखांकित करता है।

इन निबन्धों का एक स्पष्ट निष्कर्ष यह है कि अपेक्षा या उपेक्षा, आदर या अनादर वर्गीय स्वार्थ की अभिव्यक्ति है साथ ही वर्गीय स्वार्थ की विभाजक रेखा भी। फलस्वरूप सामन्ती, साम्राज्यवादी, सम्प्रदायवादी शक्तियों और उनके पोषक तत्त्वों ने विभाजक रेखा को लक्ष्मण रेखा में परिणत कर दिया है जो उपेक्षा के माहौल को और भी षडयन्त्रकारी बना देता है। प्रस्तुत खण्ड के कुछ लेखकगण इससे निराश होते प्रतीत होते हैं कि प्रगतिशील और वामपंथी हल्का भी इस साजिश के सशक्त प्रहरी के रूप में खड़ा नजर आता है। इनके कारणों के विश्लेषण से यह भी निष्कर्ष उभरा है कि प्रतिक्रियावादी दक्षिणपंथी तत्वों ने अपने वर्ग हित तथा अपनी सुरक्षा के लिए स्वामीजी की उपेक्षा को अमोघ अस्त्र बना रखा है। उदारवादी और प्रगतिशील तत्त्वों की इस बेरूखी के लिए उनकी मध्यम वर्गीय, सुविधाभोगी और अवसरवादी प्रवृत्ति को जिम्मेदार ठहराया गया है। वामपंथी अनमनस्कता के लिए उनकी संकीर्ण राजनीति और मनोवृत्ति को जिम्मेदार ठहराया गया है। सबों ने अपने-अपने निष्कर्ष के लिए ठोस तथ्य और प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। 19वीं एवं 20वीं शताब्दी की महान विभूति स्वामीजी की उपेक्षा को निन्दनीय बताते हुए सभी लेखकों ने इसे और भी आपत्तिजनक इसलिए करार दिया है, क्योंकि देशी एवं विदेशी साजिश के तहत राष्ट्रीय विरासत और वैभव को अपमानित कर राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की प्रक्रिया को अवरुद्ध किया जा रहा है। उनकी शतवार्षिकी की उपेक्षा इस बात को और भी सम्पुष्ट करती है। परिशिष्ट (4-6) के अवलोकन से यह निष्कर्ष और भी प्रबल होता है।

वास्तव में स्वातंत्र्योत्तर भारत के विगत चार दशकों के विकास-क्रम पर जब हम गौर करते हैं तो इसका खोखलापन स्पष्ट नजर आता है। 'हरित क्रांति' का सार्थक लाभ जन-सामान्य को नहीं मिल पाया है और पचास फी सदी आबादी अब भी गरीबी रेखा के नीचे अपनी जिन्दगी बसर कर रही है। कहना न होगा कि इसके लिए भूमि-सुधार के लिए जो अपेक्षित सरकारी कदम उठाया जाना चाहिए था, उसे जान-बूझकर जमीन्दारों के हित में नजरअन्दाज किया गया और किसान वर्ग को विकास प्रणाली में उचित भूमिका निभाने से वंचित रखा गया। आज पूरे देश भर में किसानों को शोषण से त्राण दिलाने के लिए जिस प्रकार हिंसक उग्रवादी संगठन पनप रहे हैं, तो इसके हेतु स्वयं सरकार की अनुत्तरदायी नीतियाँ ही दोषी हैं। हालाँकि इन असंगठित प्रयासों से भी आशा की कोई किरण फूटती नजर नहीं आती। दूसरी ओर महाराष्ट्र के शरद जोशी और उत्तर प्रदेश के महेन्द्र सिंह टिकैत ने अपने-अपने राज्यों में किसानों को संगठित करने का प्रयत्न किया है, किन्तु उनकी भी सार्थकता इस कारण सन्देहास्पद है कि वे सिर्फ बड़े किसानों की स्वार्थ-सिद्धि के उपकरण बन कर रह गए हैं और फिर उनका कोई व्यापक सैद्धांतिक आधार न होने के कारण उनमें दिशा-भटकाव अवश्यमभावी है।

ऐसी अंधकारपूर्ण स्थिति से उबरने में स्वामीजी के विचार एवं तकनीक काफी सहायक सिद्ध हो सकते थे या अभी भी हो सकते हैं, किन्तु समाज के निहित स्वार्थों ने इन्हें कभी भी प्रकट नहीं होने दिया है। एक ओर जहाँ सरकारी तंत्र ने उन्हें अपने लिए असुविधाजनक एवं स्वार्थ-सिद्धि में बाधक मानते हुए अतीत के गर्द में ही छिपा रहने दिया, वहाँ दूसरी ओर राजनीतिक स्वार्थ से प्रेरित मुट्ठी भर लोगों ने उन्हें जाति विशेष के प्रबल प्रतीक के रुप में स्थापित करने का कुत्सित प्रयास कर जनता द्वारा उनके विचारों को आत्मसात किये जाने की प्रक्रिया को अवरुद्ध रखा है। संक्षेप में, स्वामीजी को सुनियोजित ढंग से सामाजिक-राजनीतिक–बौद्धिक उपेक्षा का शिकार बनाया गया है। गत वर्ष आश्चर्यजनक ढंग से उपेक्षित स्वामीजी को अपेक्षा का ज्योतिपुन्ज बनाने का प्रयास कुछ स्तरों पर अवश्य किया गया है। क्यों? क्या सामाजिक मनोभाव में यह अचानक परिवर्त्तन किसी व्यापक सामाजिक उद्देश्य की दिशा में उदात्त प्रयास का द्योतक माना जा सकता है या फिर उसे उनके विचारों को तोड़-मरोड़ कर पेश करके उन्हें और भी अस्पष्ट और विवादास्पद बनाये जाने का एक अवसरवादी षडयंत्र ही कहा जाना चाहिए? अंशतः दोनों प्रकार की मंशायें सही हैं।

विभिन्न निबन्धों में ऐसा महसूस किया गया है कि स्वामीजी का पुनर्स्थापन उदारवादी, जनतांत्रिक, धर्मनिरपेक्ष तथा प्रगतिशील तत्वों के संयुक्त संघर्ष से ही सम्भव है। इनमें कुछ की मान्यता है कि वह जुझारु संघर्ष आहूत हो चुका है जिसके फलस्वरूप उनकी पुनर्स्थापना की शुरुआत हो चुकी है। इस संघर्ष को और अधिक व्यापक बनाने की आवश्यकता पर बल दिया जा रहा है। इसी सन्दर्भ में उनको यथोचित सम्मान दिलाने तथा उनकी बौद्धिक कृतियों को आम जनता तक पहुँचाने के लिए एक सुनियोजित योजना का खाका दिया जा रहा है जिसमें प्राथमिकताओं को भी रेखांकित किया गया है। यह गम्भीर विचार-विमर्श और ठोस कायक्रम निर्धारित करने के लिये सुविचारित तथ्यपूर्ण योजना की रुपरेखा प्रतीत होती है जिस पर गम्भीरतापूर्वक ध्यान दिया जा सकता है--ऐसी हमारी मान्यता है।

× × ×

(च) परिशिष्ट

—अमरेन्द्र कुमार ठाकुर

छः परिशिष्टों के संकलन का यह खण्ड (पृ० 241-281) समाजशास्त्र के शोध-स्रोत०का एक समृद्ध संक्षिप्त विवरण है जो इस संकलन के विभिन्न निवन्धों के स्रोत के रुप में इस्तेमाल की गईं सामग्रियों का प्रतिदर्श भी है। स्वामी सहजानन्द सरस्वती के बहुआयामी व्यक्तित्व, आंदोलन और कार्यंक्रय पर कार्यरत वस्तुनिष्ठ शोध-कर्त्ताओं को किन बंदिशों और विवशताओं से गुजरना पड़ता है उनकी संक्षिप्त झाँकी परिशिष्ट IV-VI में उपलब्ध है। इन परिशिष्टों से इतना स्पष्ट है कि स्वामीजी के पुनर्स्थापन का संघर्ष जुझारु और पेंचीदा है। ऐसे विषयों पर शोध करने के लिए इनमें उपस्थापित सरकारी, अर्द्ध-सरकारी तथा निजी दस्तावेज अत्यन्त ही उपयोगी परन्तु दुर्लभ हैं। फलस्वरूप इन परिशिष्टों के कारण स्रोत-सामग्री की दृष्टि से यह संकलन काफी समृद्ध हो सका है। इस खण्ड की यह एक प्रमुख विशेषता है।

परिशिष्ट I एवं II भूमिहार ब्राह्मण तथा भूमिहार ब्राह्मण महासभा के इतिहास लेखन के उद्भव और विकास के क्रम को अति संक्षेप में रेखांकित करते हैं तथा ऐसे विषयों के शोधार्थियों के लिए उपयोगी स्रोत का संकेत प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि वर्णित सभी परिशिष्ट प्रासंगिक निबन्धों के तथ्य और व्याख्या के लिए उपस्थित किये गये हैं तथापि इस संकलन के सारे निबन्धों को सही ढंग से समझने के लिए ये काफी उपयोगी हैं और फलत: वर्णित निबन्धों के लिए भी प्रासंगिक हो जाते हैं।

☐

संदर्भ-सूची :

1. Chaudhary, V. C. P. *Imperial Honeymoon with Indian Aristocracy*, pp. 48-125, 502-548, Patna, 1980.
2. विस्तार के लिए देखें, Chaudhary, V. C. P. (Editor) and Singh, P. P. (Joint Editor), Unclassified *Class oppression under the Crown*, Patna, 1990.
3. विस्तार के लिए देखें, Chaudhary, V. C. P., *Imperial Policy of British in India* (1876-80) : *Birth of Indian Nationalism*, Calcutta, 1968.
4. Moore, C. J· Stevenson., *Survey and settlement Report of Muzaffarpur District*, 1892-99, p. 365, Calcutta, 1901.
5. Kerr, James., *The Domestic Life, Character and Customs of India*, p. 351, Calcutta. Curzon papers, Hamilton to Curzon, 20 Sept, 1899., C. R. O. Mss/Eur. C. 126/1., London.

6. विस्तार के लिए देखें, विभिन्न वर्षों का सेन्सस रिपोर्ट, रिजले, ग्रियरसन आदि की रचनाएँ।
7. विस्तार के लिए देखें चितरंजन शर्मा द्वारा तैयार किया गया पटना विश्वविद्यालय के लिए पी० एच० डी० थेसिस Rise and Growth of the Middle class in Bihar (1858-1905) : Rebellion to partition (Hindi) का निष्कर्ष।
8. Secy. to the Govt. of Bihar and Orissa to the Private Secy. to the Lt. Governor, 20 Nov., 1912, No. 3365-p, A Pol. Prods No. 36.
9. इसके लेखक देवीकान्त ठाकुर हैं।
10. वर्णित पुस्तकों के लेखक सन्त प्रसाद शर्मा विदेशी प्रशासन के रेलवे विभाग के मुलाजिम थे। इन पर ही मुकदमा चलाया गया था।
11. Photograph of a Bihar Village, *Bengal Magazine*, 1880-81, 1881-82, Ireland and Bihar, A Comparison, *The Hindoo Patriot*, 7 April, 1879.
12. विस्तार के लिए पढ़ें V. C. P. Chaudhary's *The Creation of Modern Bihar*, Patna, 1964.
13. Mallet to Salisbury, 7 March, 1878, Mss-Eur Lytton (bytton) Papers. London.
14. Orlich, Von Leopold, *The Military Mutiny in India*, 1862.
15. The Maharajah of Burdwan to Minto, 27 June, 1903, C.P.I.-M. 982, No. 284, Minto Papers, Edinburgh.
16. Collector of Gaya to A. P. Middleton, Commissioner, Patna Division, confidential, 17 Sept., 1934, No. 4399-C, Extract from Govt. of Bihar and Orissa, Special Section Deptt., File No. 163/1934.

1

स्रोत : सर्वेक्षण एवं समीक्षण

—अमरेन्द्र कुमार ठाकुर

सामाजिक-राजनीतिक संघर्षों एवं विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया के विभिन्न आयाम होते हैं, जिनमें वस्तुपरक परिस्थितियों से प्रभावित व्यक्ति इस प्रक्रिया की धारा को तीव्र एवं वेगवती बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान करता है । सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित व्यक्ति स्वयं नयी परिस्थितियों का कारक बन जाता है । इस प्रकार समाज के सर्वांगीण विकास की प्रक्रिया में किसी बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व की अहम् भूमिका का ऐतिहासिक मूल्यांकन स्वयं एक जटिल प्रक्रिया बन जाती है, क्योंकि उसकी विचारधाराएँ, उसकी मान्यताएँ आदि स्वयं किसी विशेष सामाजिक परिवेश की उपज होती है, साथ ही व्यक्ति अपने राग-द्वेष एवं विभिन्न प्रकार के सामाजिक द्वन्द्वों के कारण उन परिस्थितियों को अस्वीकारते हुए नये मूल्यों, नये आदर्शों एवं नये संघर्षों की ओर ऐतिहासिक धारा को मोड़ने लगता है । सामाजिक विकास एवं व्यक्तिगत भूमिका के इस जटिल एवं सूक्ष्म सम्बन्ध के कारण ही विस्तृत व्याख्या एवं विश्वसनीय निष्कर्ष के लिए इतिहास-लेखन के अनुशासन में विशिष्ट एवं निश्चित प्रक्रिया तय की गई है । इस प्रक्रिया के तहत उपलब्ध ऐतिहासिक साक्ष्यों की समीक्षा वस्तुपरक एवं वैज्ञानिक ढंग से की जाती है जो एक विश्वसनीय निष्कर्ष को स्थापित करती है । इस निबन्ध में हमारा यही बताने का प्रयास होगा कि स्वामीजी से सम्बद्ध तथ्यों तथा उनकी समकालीन सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों के ऐतिहासिक स्रोत की क्या सम्भावनाएँ एवं सीमाएँ हैं ।

ऐसे विषयों पर मुख्यत: दो श्रेणियों के ऐतिहासिक स्रोत होते हैं—प्राथमिक एवं गौण-अनुपूरक । इस तरह के अध्ययन में प्राथमिक स्रोत की ही अहम् भूमिका होती है । अतः वर्तमान में विश्लेषण का मुख्य आधार प्राथमिक ही है । प्रारम्भ में ही यह जान लेना आवश्यक होगा कि वर्तमान में अध्ययन के दो महत्त्वपूर्ण मुद्दे हैं—स्वामीजी के कार्य-कलाप तथा समसामयिक सामाजिक परिस्थियाँ । इस ऐतिहासिक अध्ययन में व्यक्ति और समाज की बिल्कुल स्वतंत्र भूमिका नहीं हो सकती, अपितु अनिवार्य रूप से एक दूसरे से आबद्ध होती है । फलस्वरूप हमें दोनों मुद्दों के महत्वपूर्ण प्राथमिक स्रोतों की समीक्षा करनी होगी । सुविधा यह है कि लगभग सभी श्रेणियों के ऐतिहासिक स्रोत भी विषयानुकूल एक दूसरे से जुड़े हुए हैं और एक दूसरे के लिए महत्वपूर्ण पूरक की भूमिका अदा कर रहे हैं ।

वर्तमान विषय पर वैज्ञानिक ऐतिहासिक रचना के लिए उद्‌गम स्रोतों को निम्नलिखित प्रमुख कोटियों में विभक्त किया जा सकता हैं :—

(क) स्वामीजी की अपनी रचनाएँ :—इस कोटि में स्वामीजी द्वारा रचित पुस्तकें, निबन्ध, डायरी, भाषण-माला, विभिन्न सम्मेलनों एवं संस्थाओं में उनके द्वारा

प्रेषित प्रस्ताव आदि का स्थान आता है। निबन्ध की सीमा को ध्यान में रखकर उनका विस्तृत वर्णन यहाँ देना सम्भव नहीं है, प्रत्युत इतना ही संकेत कर देना पर्याप्त है कि इस कोटि की विस्तृत सूची एक अलग अध्याय में वर्णित है। हमारा दुर्भाग्य है कि कुछ कृतियाँ अभी भी अप्रकाशित हैं तथा कुछ दुर्लभ पांडुलिपियाँ लुप्त होकर देश से बाहर अमरीका तक पहुँच गयी हैं।[1] अब हमारे अध्ययन के लिए वे हमारे देश में उपलब्ध नहीं है। हमारी दृष्टि में यह सबसे महत्त्वपूर्ण कोटि का उद्गम स्रोत है।

(ख) सरकारी दस्तावेज और रपट :—इस कोटि में सरकार के विभिन्न विभागों की मुद्रित कार्यवाही, उन्हीं विभागों की बी-संचिकाओं के अतिरिक्त गुप्त पुलिस रपट, सी० आई० डी० रपट, गजेटियर्स, सांख्यिकी रपट, सर्वेक्षण रपट, मोरल एवं मेटेरियल प्रोग्रेस रपट, सरकारी एक्ट्स, लिंग्विस्टिक सर्वे, फिनान्सियल एकाउन्टस, एसेम्बली, कौन्सिल तथा पार्लियामेन्ट की कार्यवाही तथा पेपर्स, न्यायिक दस्तावेज आदि हैं। स्मरण रखने की जरूरत है कि स्वामीजी की बहुमुखी प्रतिभा एवं विस्तृत कार्य-क्षेत्र के कारण उपर्युक्त सरकारी दस्तावेजों में मात्र स्वामीजी के सम्बन्ध में ही जानकारी नहीं मिलेगी, अपितु 19 वीं और 20 वीं शताब्दी की सामाजिक परिस्थितियों, उनके उद्भव, विकास एवं ह्रास के महत्वपूर्ण तथ्य एवं आँकड़े भी उपलब्ध होंगे, जो इस तरह के ऐतिहासिक अध्ययन के लिए अत्यन्त ही प्रभावकारी हैं तथा जो इस संकलन के विभिन्न निबन्धों में वर्णित दस्तावेजों से उपलब्ध प्रमुख जानकारी और विश्लेषण की संक्षिप्त झांकी प्रदान करनी हैं।

(ग) पत्रकारिता :—अंग्रेजी एवं विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं में बेशुमार समाचार-पत्र एवं पत्र-पत्रिकायें हमारे यहाँ भी उपलब्ध हैं, जिनसे वर्णित विषयों पर विस्तृत जानकारी मिलती है। इसका एक विशेष महत्व यह है कि सर्वसाधारण स्तर की प्रतिक्रियायें वर्त्तमान अध्ययन के विषयों पर उपलब्ध हैं, जो सरकारी दस्तावेजों में पाना सम्भव नहीं है। यह सचमुच विभिन्न सामाजिक वर्गों के विविध क्रिया-कलापों एवं उनकी प्रतिक्रियाओं की संक्षिप्त साम्मिलित झाँकी है।

(ख) समकालीन ऐतिहासिक रचनाएँ :—इस कोटि में इतिहास, राजनीति-शास्त्र, अर्थशास्त्र एवं दर्शन-शास्त्र के अतिरिक्त विज्ञान, यात्रा-विवरण, आत्मकथा, जीवनी, संस्मरण आदि हैं। इनसे आंशिक तौर पर इस विश्लेषणात्मक अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य निकाले जा सकते है। बिना विस्तार में गये इतना बता देना पर्याप्त है कि इस संकलन के विभिन्न अघ्यायों के विद्वान लेखकों ने अपने निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए आंशिक तौर पर इस प्रकार के स्रोतो से अत्यधिक सहयोग प्राप्त किया है।

(घ) साहित्यिक रचनाएँ :—इनमें कहानी, कविता, नाटक, गजल, पैरोडी आदि हैं। समकालीन काल्पनिक एवं भावनात्मकता से प्रभावित होने के बावजूद साहित्यक रचनायें महत्वपूर्ण स्रोत बन जाती हैं, अगर अन्य वर्णित स्रोतों के प्रकाश में तुलनात्मक विश्लेषण के आधार पर उनमें ऐतिहासिक वास्तविकता की तलाश की जाए। ये सच्चाई पता लगाने के बाद ऐतिहासिक विश्लेषणों में महत्वपूर्ण भूमिका भी अदा करती हैं।[2] इस संकलन के कुछ अध्यायओं में तो इनका प्रयोग भी किया गया है तथा एक अध्याय के पूर्ण विश्लेषण और भाव बिल्कुल कविता के माध्यम से ही प्रस्तुत किए गए हैं, लेकिन उसके तथ्य और निष्कर्ष काल्पनिक परिसीमाओं को छाँटने के बाद स्पष्ट तौर पर वस्तुपरक नजर आते हैं।

(च) अमुद्रित सरकारी दस्तावेज :—इस श्रृंखला में अनुमण्डलीय तथा थाना कार्यालयों से केन्द्रीय सरकार के विभिन्न महकमों के अमुद्रित कागजात हैं जो संचिका के रूप में सुरक्षित हैं। ये अनुमण्डलाधिकारी, जिलाधिकारी, आयुक्त तथा राज्य और केन्द्र के अभिलेखागारों में उपलब्ध हैं। भूलना नहीं चाहिए कि स्वामीजी सामाजिक शाब्दिक अर्थ में सामाजिक और राजनीतिक जन-नेता थे और इनका कार्य-क्षेत्र ग्राम से पूरे देश तक था। ऐसी स्थिति में स्वामीजी के सम्बन्ध में सूक्ष्म जानकारी प्राप्त करने तथा तत्कालीन सामाजिक एवं राजनैतिक परिवेश की बारीकियों को समझने में भी इस श्रृंखला के दस्तावेजों की अत्यन्त ही महत्वपूर्ण भूमिका है, क्योंकि नीचे स्तर की विस्तृत जानकारी इन्हीं कागजातों में हैं।

(छ) खानगी दस्तावेज :—इस श्रृंखला में सरकारी मुलाजिम, राजनीतिज्ञ, अनेक सामन्ती परिवार एवं धार्मिक संस्थान आदि के संग्रह हैं—जो किसी-न-किसी रूप में कई जगहों में संकलित हैं। खुद विहार में टिकारी, रामगढ़, अमावा, हथुआ, वेतिया, दरभंगा सरीखे अनेक सामन्ती परिवारों, क्रिश्चियन मिशन, आर्य-समाज, हिन्दू मन्दिरों, मुस्लिम धार्मिक संस्थानों के कागजात विभिन्न स्थलों पर संग्रहित और सुरक्षित हैं। चूँकि स्वामीजी ने सामन्तवाद, सम्प्रदायवाद, साम्राज्यवाद एवं धर्म की कुरीतियों के विरुद्ध एक अनन्तकालीन जेहाद छेड़ रखा था, इसलिए इन दस्तावेजों से वर्तमान संकलन जैसी ऐतिहासिक व्याख्या के लिए कुछ महत्वपूर्ण जानकारी मिल सकती है।

(ज) अप्रकाशित ऐतिहासिक रचनाएँ :—इस कोटि में लोक-गीत, लोक-कथा, जन-श्रुतियों, कहानी और कविता ऐसे स्रोत हैं जो अप्रकाशित तो हैं ही, साथ-ही-साथ शनैः-शनैः पुराने लोगों के साथ विलुप्त भी हो रहे हैं। इनमें कुछ काल्पनिक गाथाएँ अवश्य हैं, फिर भी कुछ रहस्यमय जानकारी उपलब्ध कराने की क्षमता इन संग्रहों में अवश्य हैं। अगर अन्य स्रोतों से प्राप्त आँकड़ों के आधार पर इनके काल्पनिक आधार को हटा दिया जाता है तो शेष अंश इस तरह के ऐतिहासिक अध्ययन के लिए ज्यादा ठोस एवं प्रमाणिक हो जाता है।

(झ) विभिन्न राजनैतिक, सामाजिक तथा जातीय संगठनों की कार्यवाहियाँ:—स्मरण रखने की जरूरत है कि स्वामीजी भूमिहार ब्राह्मण महासभा, भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस, किसान-सभा सरीखे संगठनों से घनिष्ट रूप से जुड़े हुए थे। अतएव काँग्रेस, भूमिहार महासभा, किसान सभा जैसे अन्यान्य संगठनों के दस्तावेज एवं कार्यवाहियों में स्वामीजी के सम्बन्ध में कुछ ऐसी उपयोगी जानकारी मिलेगी जो अन्यत्र मिलना सम्भव नहीं हैं।

(न) साक्षात्कार :—यह ऐसे विषयों के लिए अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण स्रोत है। अभी भी कुछ ऐसे लोग जीवित हैं जो स्वामीजी के समकालीन थे तथा उनके सहयोगी भी रह चुके हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न राजनीतिक दलों एवं सामाजिक संस्थाओं में सैकड़ों की संख्या में नेता और कार्यकर्त्ता मौजूद हैं जो युवा अवस्था में स्वामीजी के आदर्शों एवं सिद्धान्तों से प्रभावित होकर उनके विभिन्न कार्यक्रमों में भाग ले चुके हैं। उपर्युक्त दोनों श्रेणियों के लोगों से साक्षात्कार के फलस्वरूप जो ऐतिहासिक तथ्य तत्कालीन समाज, राजनीति और स्वयं स्वामीजी के सम्बन्ध

में उपलब्ध होंगे, जिनके आधार पर तैयार किया गया इतिहास अत्यन्त ही प्रामाणिक, वस्तुगत और लाभकारी होगा।

स्रोत के सम्बन्ध में वर्णित संक्षिप्त झांकी के विश्लेषण से पूर्व इतिहासकार के नाते अप्रासंगिक ही सही, कुछ निवेदन कर देना कर्त्तव्य बनता है। बहुत सारे स्रोत अप्रकाशित हैं। कुछ जर्जर अवस्था में हैं तथा शोधकर्ताओं को मिलना दुर्लभ हो गया है, कुछ जमाने के साथ ही लुप्त हो रहे है। कुछ गायब होकर देश से बाहर जा रहे हैं। ऐसे स्थिति में कुछ दिनों के बाद स्वामीजी जैसे विषयों पर ऐतिहासिक शोध कर कोई प्रामाणिक और वस्तुगत ग्रंथ एवं निबंध तैयार करना असम्भव हो जायगा। इतिहास की बहुत सारी सरकारी शोध-संस्थाएँ तथा स्वयंसेवी संस्थाएँ बिहार में भी है।[3] आखिर इन सारी संस्थाओं का प्रयोजन ही क्या है, अगर वे वर्णित अप्रकाशित स्रोत को प्रकाशित न कर पाएँ; जर्जर स्थिति के दस्तावेजों की उचित सुरक्षा प्रदान कर संग्रहित न रख सकें, दुर्लभ प्रकाशित पुस्तकों को प्रकाशित न कर सकें, टेपरिकार्ड और सही शोधकर्त्ता की मदद से लुप्त होने वाली लोकगाथा, लोकगीत, समकालीन महापुरुषों से साक्षात्कार लेकर इन्हें ऐतिहासिक शोध-हेतु सदा के लिए विलुप्त होने से बचा न सकें और फिर इन अमूल्य ऐतिहासिक स्रोतों की चोरी को रोक न सके? वर्तमान प्रसंग, संकलन तथा निबंध में वर्णित पंक्तियों को अप्रासंगिक होने के बावजूद भी रखने की धृष्टता करने के लिए क्षमा निवेदन करते हुए मैं अपनी व्यथा को प्रकट करने से मात्र इसलिए नहीं रोक सका कि एक शोधकर्त्ता के नाते अपनी गौरवमयी संस्कृति की प्रमाणिक ऐतिहासिक व्याख्या के श्रोत को सदा के लिए लुप्त होने की सम्भावना से भयभीत हो रहा हूँ तथा समस्या के समाधान-हेतु अपने कर्त्तव्य-बोध का अनुभव कर सजग होने के लिए निवेदन मात्र कर रहा हूँ।

अब एक संक्षित स्रोत-समीक्षा आवश्यक है। प्रारम्भ में ही यह कह देना आवश्यक है कि वर्णित विभिन्न कोटियों के स्रोत अपने आप में अलग-अलग प्रमाणिक ऐतिहासिक अध्ययन के लिए कभी भी पर्याप्त नहीं हो सकते और हमें वस्तुगत निष्कर्ष तक नहीं पहुँचा सकते। इसलिए यह आवश्यक है कि विभिन्न स्रोतों से संकलित तथ्य को ऐतिहासिक सच्चाई के रूप में मानने से पूर्व आपस में एक तुलनात्मक परीक्षण कर लेना चाहिए तथा पूर्वाग्रहपूर्ण और काल्पनिक अंश को छांट देना चाहिए।[4] ऐसा नहीं करने से वास्तविकता तक पहुँचने में काफी कठिनाई होती है।

भूलना नहीं चाहिए कि स्रोत भी मनोवादी एवं पूर्वाग्रहपूर्ण होता है। ऐसी हालत में एक ही स्रोत पर निर्भर कर निष्कर्ष निकालना कभी-कभी अत्यंत ही भ्रामक एवं अनैतिहासिक हो सकता है। स्वामीजी का भूमिहार महासभा से सम्बन्ध को ही लें। अगर विभिन्न स्रोतों की समीक्षा के पश्चात् कोई निष्कर्ष निकाला जाय, तो स्पष्टतः ऐतिहासिक तथ्य के रूप में यही उभड़ता है कि स्वामीजी ब्राह्मणों के अनाधिकार बर्चस्व के खिलाफ थे और तत्कालीन सामाजिक ढाँचे में पुरोहित-ब्राह्मणों की सीमा को निर्धारित करने के पक्ष में थे। इस क्रम में ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर भूमिहारों के अतिरिक्त समाज के विभिन्न वर्गों के अधिकार को बताना आवश्यक था। यह किसी भी रूप में मनोवादी जातीयता

का द्योतक नहीं, अपितु समाज के सभी वर्गों को समाज में उचित स्थान और अधिकार दिलाने की दिशा में उचित कदम था। किन्तु, सरकारी दस्तावेज के एक अंश तथा ब्राह्मणों की द्वेषात्मक प्रतिक्रिया से उत्पन्न तत्कालीन रचनाओं के आधार पर कई लोगों ने तो स्वामीजी पर जातीयता का अभियोग भी लगा दिया है। यह गलत निष्कर्ष एक ही स्रोत पर निर्भर करने का प्रतिफल है और ऐतिहासिक तथ्य से दूर होने का कारण है। अगर सारे स्रोतों की समीक्षा के पश्चात् कोई निष्कर्ष निकाला जाता तो निश्चय ही अन्य लोगों की तरह ये भी इस ऐतिहासिक निष्कर्ष पर पहुँचते कि स्वामीजी का वह प्रयास सिर्फ भूमिहारों को मात्र अधिकार दिलाना नहीं था, बल्कि समाज के हर वैसे वर्ग को मुनासिव रियायत दिलाना था, जो अनाधिकृत रूप से ब्राह्मणों द्वारा स्थापित शोषणात्मक सामाजिक व्यवस्था से पीड़ित थे। इससे ज्यादा इस संदर्भ में वर्णन करना इस लघुनिवंध में न तो सम्भव है और न उचित ही, यद्यपि हजारों इस तरह के उदाहरण पेश किये जा सकते हैं। इसलिए हर हालत में समीक्षात्मक ढंग से सामग्री विभिन्न स्रोतों से एकत्र करने के पश्चात् ही निष्कर्ष निकालना चाहिए।[5]

इस संकलन में वर्णित विभिन्न कोटियों के स्रोतों को अवश्य वैज्ञानिक आधार पर इस्तेमाल किया गया है। विभिन्न निवन्धों के लेखकगण ने स्रोत के सम्बन्ध में वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया है, लेकिन यह कहना सम्भव नहीं है कि सभी कोटियों के आवश्यक स्रोत को सभी निवंधों में देखा गया हो। कारण भी स्पष्टतः कुछ स्रोतों की अनुपलव्धता के अतिरिक्त निवंधों के विषय, आकार एवं साधन की निर्धारित सीमाएँ हैं। स्रोत के सर्वेक्षणों एवं समीक्षा में यह संकलन सफल हुआ या नहीं इसका निर्णय अव विद्वत-मण्डली ही कर सकती है, हमारा कुछ कहना न तो उचित है एवं न प्रासंगिक ही।

◆

संदर्भ-सूची :

1. Chaudhary, V. C. P., Vernacular Newspapers as the Organs of Historiography : A Case Study of the History of Modern Bihar, (ed.) Jha, J. S., *K. P. Jayaswal Commemoration. Volume*, p. 539. "A new problem has cropped up with the theft of our precious sources by international gangs financed and supported by foreign agencies. Most of these stolen sources are finding their way to U. S. A. and this poses a problem about their availability for the preparation of our own history."

   सिंह, इन्द्रदीप, स्वामी सहजानन्द सरस्वती : एक श्रद्धांजलि, स्वामी सहजानन्द सरस्वती विचार मंच, नई दिल्ली, **स्वामी सहजानन्द सरस्वती**, 1989, पृ० 50. "अन्यन्त खेद की बात है कि……स्वामीजी की अप्रकाशित पांडुलिपियाँ और पत्राचार की तमाम फाइलें उस आश्रम (सीताराम आश्रम, बिहटा, पटना, बिहार) से गायब हो गई है और संयुक्त राज्य

अमरिका के एक संग्रहालय में पहुँच गई हैं। अभी भी स्वामीजी के कृतित्व के जो अवशेष बिहटा आश्रम में मौजूद हैं, उनकी रक्षा करना तमाम राष्ट्रवादी, जनवादी और प्रगतिशील तबकों का पुनीत कर्तव्य है।"

2. Chaudhary, V. C. P., Post-Mutiny Primary Sources For Bihar Studies, (ed.) Diehl, Katharine Smith, *Primary Printed and Manuscript Sources for 16th to 19th Century Studies Available in Bengal Orissa And Bihar Libraries*, pp. 211-20. "Literary works should be treated as an important primary source for any historical research."

3. काशी प्रसाद जायसवाल शोध संस्थान, ए.एन. सिन्हा सामाजिक शोध संस्थान, राजकीय अभिलेखागार, मगही, भोजपुरी, मैथिली, बंगला एकेडेमिज, बिहार स्टेट रिजनल रेकर्ड्स कमिटी, बिहार रिसर्च सोसाइटी, बिहार इतिहास परिषद्, बिहार इतिहास शोधमंडल, बिहार पुराविद परिषद्; प्राच्य शिक्षा का राष्ट्रीय केन्द्र, स्वामी सहजानन्द सरस्वती सामाजिक विकास एवं शोध संस्थान, पुराविद बिहार संस्कृति परिषद् आदि।

4. Diehl, op. cit. pp. 213-14. "Considering the relevance of various sources for the purpose of research one is inclined to conclude that all those are both important and generally relevant. If the details of any topic are supplied by reading records of government, it sometimes fails to reveal the truth until private papers are scrutinised... Similarly the details of regional development in Bihar could not be fully ascertained without consulting the private collections of individuals. Christian missionaries. religious institutions and social and political associations Folk lores and literary works would help in analysing the attitude of the society towards various contemporary matters. If....... the records of the government help us in the knowledge of the actions of the government, the other sources would decidedly enlighten us with the reactions of the cross-section of the people. For historical evaluation, proper examination of action and reaction in both chronoligical and logical order should be imperative........In view of this standard the importance of newspapers and literary works as the source material is highly increased at least as the barometer of the reaction of society towards numerous social, religious, political and economic problems....These sources should not be tapped in isolation, but utilised as supplementary to one another in the reconstruction of the real history."

5. Jha, J.S., op. cit. pp. 539.

"Their (sources) proper and scentific utilisation can alone make it possible to prepare an objective and scientific history of the people completely divorced from subjectivism, fiction, fanatasies, myths, obscurantism, superstition, prejudices and revivalism. For such an undertaking one must have a forward-looking and scientific approach and must formulate theories sustained by facts. This approach to the handling of sources can alone carry canviction regarding the theories and other basic postulates of the history of the people and would naturally enable the masses to appreciate the history of our society and culture. For the reconstruction of the history of modern Bihar and its people these sources should not be tapped in isolation, but should be utilized as supplementary to one another. Any conclusion based on one single source could hardly be complete and authentic Facts collected from one source should be corroborated by the evidences of other sources and conclusion based on such utilisation of various sources would be factual and authentic. Such a check-up helps to eliminate and separate the legendary, fictional, imaginary and motivated portions from the content of the main source and the remaining part remains as the ultimate reliable historical truth. Thus sources should be considered complimentary to one another. Studies made on such a model could alone preesent a correct and balanced picture of the past." Chaudhary, V.C.P., Imperial Policy of British in India : Birth of Indian Nationalism, pp. 12-13.

□

2

आस्था के बदलते आयाम

—शिवेन्द्र प्रसाद

जीवन तृष्णाओं से भरा हुआ है और इन तृष्णाओं की पूर्ति के लिए संघर्ष अनिवार्य हो जाता है। जब यही तृष्णा एक व्यक्ति की न होकर जन-समूह की सामूहिक तृष्णा का रूप ले लेता है तो इसकी पूर्ति के लिए किये जाने वाले संघर्ष का आधार भी व्यापक हो जाता है और इसके आधार पर नये जीवन-मूल्य स्थापित करने वाला व्यक्ति जननायक हो जाता है। ऐसे ही एक जननायक का नाम था—स्वामी सहजानंद सरस्वती। व्यक्तिगत मुक्ति के लिए प्रयत्नशील यह सन्यासी फिर से सक्रिय जीवन में लौट गया जब इसने सत् के सम्यक स्वरूप को शोषित, पीड़ित और प्रताड़ित जनता की कठिनाइयों के रूप में देखा। यहीं से इन्होंने भक्त प्रह्लाद की तरह मन में ठान लिया कि—"सभी दुखियों को छोड़ मुझे सिर्फ अपनी मुक्ति नहीं चाहिए। मैं तो इन्हीं के साथ रहूँगा और मरूँगा, जीऊँगा।"[1]

सन् 1889 ई० की महाशिवरात्रि को जन्म लेने से लेकर 1950 ई० में अपने महाप्रयाण तक की लम्बी जीवन-यात्रा में इनकी आस्था स्थिर रही, परन्तु उसके आयाम बदलते गये। आस्था के बदलते आयामों के परिप्रेक्ष्य में ही नवरंग राय से स्वामी सहजानंद सरस्वती और फिर जन-नायक स्वामी सहजानंद के व्यक्तित्व और कृतित्व का सही लेखा-जोखा संभव है। इस क्रम में विभिन्न आनुवंशिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के दबावों का मूल्यांकन अनिवार्य हो जाता है।

संघर्षशीलता स्वामीजी की स्वभावगत विशेषता थी।[2] शायद यह इन्हें विरासत में भी मिली थी। दरअसल इनकी वंशावली का अध्ययन करने से पता चलता है कि स्वामीजी का वंश जुझौतिया ब्राह्मणों का है। इनके पूर्वज[3] यौधेयगण के लोग थे, जिनकी कर्मभूमि विंध्य-शृंखला से आच्छादित आधुनिक बुंदेलखण्ड का प्रदेश था। पुराणों में इसे यौधेयावती[4] कहा गया है तथा अलबेरूनी ने इसे 'जुजाहुति'[5] कहकर पुकारा है। एरण की खुदाई में मिली सामग्रियों से यौधेयगण के लोगों के जुझारु और आयुधजीवी होने की पुष्टि होती है। जुझौतिया-वंश के ऐतिहासिक अध्ययन से भी उपर्युक्त मत की पुष्टि[6] होती है।

सहजानंद का जन्म एक साधारण आर्थिक स्थिति वाले जुझौतिया ब्राह्मण किसान के यहाँ हुआ था। सामाजिक रूप से भी जुझौतिसा लोग तथाकथित ब्राह्मणों की उपेक्षा के शिकार थे। फिर भी, स्वामीजी से पहले इस समुदाय के लोगों में अपनी सामाजिक स्थिति के प्रति सजगता का अभाव रहा। इसके कारणों को एशिया के लोगों के संकीर्ण परम्परावादी दृष्टिकोण[7] में ढूढ़ा जा सकता है। परम्परा के अनुसार स्वामीजी का उपनयन संस्कार हुआ और गायत्री, संध्या एवं उपासना इनकी दिनचर्या के अभिन्न अंग बन गये। इसी परम्परा के अनुसार गुरू से दीक्षा लेने के क्रम में उनके अँगूठे का गँदला जल पीना पड़ता था। यहीं

पर स्वामीजी के चिन्तनशील मन को गहरा धक्का लगा और इस मलिन परम्परा के प्रति जो उनके मन में विद्रोही रूख उत्पन्न हुआ, वह कई अन्य कारणों से मिलकर पौरोहित्यवाद के खिलाफ संघर्ष के रूप में भविष्य में प्रस्फुटित हुआ।

मेधावी और जिज्ञासु सहजानंद किशोरावस्था में कई कारणों से संन्यास की ओर मुड़ गया। सर्वप्रथम, छोटी उम्र में मातृसुख से वंचित होने के कारण इनका स्वभाव अन्तर्मुखी और आत्मचिंतनशील हो गया था। दूसरे, घर का वातावरण भी धार्मिक था। इनके गुरुओं का भी अध्यात्मवाद से गहरा लगाव था। इन सबसे धर्म में स्वाभाविक रूचि तो हो ही गई थी, जब इन्होंने जर्मन मिशन स्कूल में हिन्दू धर्म की अच्छाइयों को भी बुराई के रूप में पेश करते हुए देखा तो इनका मन आंदोलित[8] हो उठा। इसी समय हुई अपनी पत्नी की मृत्यु ने सांसारिकता के प्रति इनके रहे-सहे लगाव को भी खत्म कर दिया। इस तरह जिस महामानव का जन्म मानवता की मुक्ति के लिए हुआ था, परिस्थितियों की उलट-फेर से वह स्वयं पलायनवादी होकर अपनी मुक्ति के लिए सन्यासी हो गया।

नवरंग राय पहले वैरागी सन्यासी और फिर दंडी स्वामी अच्युतानंद सरस्वती से दीक्षा लेकर दंडी स्वामी सहजानंद सरस्वती बन गये, परन्तु दंडी सन्यासी बनने के लिए भी इन्हें संघर्ष करना पड़ा। उस समय के ब्राह्मणों की परम्परागत संकीर्णता का इन्हें शिकार होना पड़ा, जिसके अनुसार सिर्फ तथाकथित ब्राह्मण ही दंडी सन्यासी की दीक्षा ले सकते थे और जुझौतियों को ये ब्राह्मण मानने को तैयार नहीं थे। इन्होंने काशी में ही एक अलग मकान लेकर रहना शुरू कर दिया और वे गहन अध्ययन में अपना समय गुजारने लगे। वर्षों के गहन अध्ययन और चिंतन-मनन के बाद 1915 ई० में इन्होंने काशी के ब्राह्मणों को शास्त्रार्थ में हराया और जुझौतियों एवं भूमिहारों को ब्राह्मण प्रमाणित किया। इसके बाद तो स्वामीजी पौरोहित्यवाद के प्रबल विरोधी हो गये, परन्तु उनके ब्राह्मण-विरोधी तेवर को किसी भी दृष्टिकोण से जातिवादी कहना अनुचित[9] होगा, क्योंकि यह तो ब्राह्मणों के झूठे दंभ, संकीर्णतावादी दृष्टिकोण और धार्मिक ठेकेदारी का विरोध था।

पौर्वात्य मानदंडो[10] के अनुकूल ही स्वामीजी के जेहन में सन्यास के प्रारंभिक वर्षों में भौतिक जीवन के लिए "कोई मोह नहीं" था। उच्च कोटि का परोपकारी काम भी उनकी दृष्टि में तुच्छ सांसारिक काम ही था। परन्तु, बीतते समय के साथ इसमें परिवर्तन आया। योग-साधना और मोक्ष की प्राप्ति के लिए भटकने के क्रम में हुए अनुभवों से उन्हें सन्यास के तत्कालीन मापदंडों के प्रति घोर निराशा उत्पन्न हुई। उन्होंने पाया कि अधिकांश सन्यासी 'हृदय भिन्न, कुछ क्रिया भिन्न' वाली धारणा को ही पोषित करने वाले थे। अंतर्द्वन्द्व की इन्हीं घड़ियों में उनके दिल में 'वहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' की धारणा का विकास हुआ। हिमालय-यात्रा के क्रम में पहाड़ी लोगों की जीवन-शैली से उन्होंने सीखा कि धर्म, सदाचार और प्रतिष्ठा इसी बात में है कि हर काम को श्रेष्ठ माना जाय।[11]

परन्तु, स्वामीजी के सांसारिक जीवन की फिर से शुरूआत काफी छोटे दायरे से हुई। चूँकि भारतीय समाज में प्रेरक कारक के रूप में जाति की महत्त्वपूर्ण भूमिका[12] रही है, तथाकथित पुरोहितों के उपेक्षित व्यवहार ने इन्हें जातीय तत्त्व की ओर

देखने को मजबूर कर दिया था और तत्कालीन समय की यह विशेषता[13] थी कि जातीय संगठन के आधार पर ही नयी चेतना विकसित हो रही थी । अतः स्वामीजी की शुरूआत में जातीय तत्त्व की ओर रूझान को अन्यथा नहीं लिया जा सकता । वस्तुतः उस समय अधिसंख्यक भूमिहार सामाजिक और आर्थिक रूप से पददलित और शोषित थे और हमारे राष्ट्रीय जागरण के प्राम्भिक काल में भारतीय सामाजिक संरचना की विशिष्टता[14] के अनुरूप भूमिहार ब्राह्मण महासभा का उदय हुआ था । अतः स्वामीजी अपने जीवन के इस नये दौर के शुरू में भूमिहार ब्राह्मण समाज के उद्धार के सीमित लक्ष्य को लेकर आगे बढ़े । परन्तु, एक लम्बे अर्से तक वह इससे जुड़कर नहीं रह सके, क्योंकि भूमिहार जमींदारों और इस जाति के अन्य निहित स्वार्थवाले व्यक्तियों ने उन्हें इस जाति के आर्थिक और राजनैतिक मुद्दों को उठाने से रोकने का प्रयास किया और इस प्रकार उनका 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' का लक्ष्य डगमागाता दिखाई दिया । कालांतर में तो इन जातीय तत्त्वों के प्रति उनके दिल में नफरत-सी पैदा हो गई, क्योंकि उन्हें मालूम हो गया था कि जातीय सभाओं तथा जाति और धर्म के नाम पर स्थापित संगठनों को धनी और निहित स्वार्थवाले लोग अपने हाथ का खिलौना[15] बनाकर रखना चाहते हैं और जब कभी ऐसा नहीं हो पाता तो वे इसे लात मार देते हैं ।

इसी बीच असहयोग आंदोलन के दौरान अपने को सच्चा सन्यासी[16] बनाने के उद्देश्य से वे राष्ट्रीम राजनीति में भी कूद पड़े थे । यह अवसर भी ऐसा था, जिसमें पहली बार कांग्रेस ने जन-साधारण को राष्ट्र की मुख्य धारा से जोड़ने की कोशिश की थी । सक्रिय वेदान्तवादी सहजानन्द जनकल्याण के लिए असहयोग आंदोलन में शामिल हो गये और इस क्रम में जेल भी गये । जेल-जीवन के दौरान जहाँ एक ओर उन्हें राजबंदियों की सुख-भोग वाली शैली देखकर भारी निराशा हुई, वहीं कतिपय अध्ययन और अनुभवों के कारण उन्होंने 'सर्वधर्म समानत्वं' और धर्म-निरपेक्षता का पाठ भी अनायास पढ़ लिया ।

जब असहयोग आंदोलन का दौर थमा तो देशभक्तों द्वारा सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रमों की शुरूआत की गई । स्वामीजी भी अपनी कर्मभूमि बिहटा लाकर अध्ययन-अध्यापन में जुट गये । असहयोग आंदोलन के बाद की अवधि में राष्ट्रभक्तों के सिकुड़ते दायरे और उनकी जातिवादी संकीर्णता ने स्वामीजी को अन्दर से हिला दिया था । इन सबसे ज्यादा चिंतित करनेवाली बात तो यह थी कि बिहटा के आस-पास के क्षेत्रों में जमींदारों द्वारा गरीब किसानों और मजदूरों पर जुल्म ढाये जा रहे थे । बस क्या था — फिर से उनके दिल में अंतर्द्वंद्व होने लगा ! अन्ततः उन्होंने सामाजिक-आर्थिक आजादी की विचार-धारा को तरर्जह देते हुए 1926 के अंतिम दिनों में पश्चिमी पटना किसान सभा[18] की स्थापना की, जिसका स्वरूप गांधीवाद[19] में उनकी तत्कालीन आस्था के अनुसार ही समझौतावादी था ।

1929 ई० में उन्होंने प्रांतीय स्तर पर किसान सभा का संगठन किया । प्रांत के बड़े-बड़े कांग्रेसी नेता इसमें सम्मिलित हुए और इसके औचित्य[20] को स्वीकारा, पर इनमें से अधिकांश ज्यादा दिनों तक किसान सभा में अपने वर्गहित के कारण स्वामीजी के सहयोगी नहीं रह सके । इसी साल स्वामीजी ने जातिवाद के खिलाफ क्रांतिकारी कदम उठाते हुए 'किसानों को फँसाने की तैयारियाँ' नामक लेख लिखकर

जातीय सभाओं की बखिया उधेड़ दी[21] । विश्वव्यापी आर्थिक संकट ने किसानों में नयी चेतना जगाई और किसान सभा का द्रुत गति से विकास होने लगा । किसानों के बीच सच्ची निष्ठा से काम करते हुए स्वामीजी ने कथनी और करनी में अंतर करने वाले नकली कांग्रेसियों[22] को पाया जिन्हें वास्तव में किसानों का दुःख दूर करने से कोई मतलब नहीं था ।

इन सब कारण स्वामीजी अब किसानों के सच्चे हितैषी हो गये और किसान-मजदूरों का वर्ग-हित अब इनके स्वयं का वर्ग-हित बन गया । अब स्वाभाविक रूप से स्वामीजी का झुकाव मार्क्स और लेनिन की कृतियों की ओर हुआ । फिर क्या था—वे कांग्रेस के अंदर रहकर ही समाजवाद की सुखद कल्पना करने लगे । कांग्रेस की कार्य-पद्धति के प्रति निष्ठा जाती रही क्योंकि वह राजनीति को साध्य मानती थी, परन्तु स्वामीजी राजनीति को रोटी-रूपी साध्य की प्राप्ति का एक साधन[23] मात्र समझते थे । गांधीवाद के प्रति भी स्वामीजी का आकर्षण धूमिल पड़ता जा रहा था । 1937 ई० में वृहत् किसान आंदोलन को संगठित और सूत्र-बद्ध करने के लिए स्वामीजी ने कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन के दौरान किसान-प्रेमी और वामपंथी कांग्रेसियों की एक पृथक सभा में अखिल भारतीय किसान सभा की स्थापना की ।

अखिल भारतीय किसान सभा की स्थापना के बाद उनका जीवन-धर्म बन गया था—देश के कोने-कोने में जाकर किसानों में वर्ग-चेतना विकसित करना तथा शोषण एवं उत्पीड़न के विरुद्ध वर्ग-संघर्ष को अमली जामा पहनाना । इस राह पर जब स्वामीजी एक बार निकल पड़े तो उन्होंने कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा और इस मुद्दे पर किसी भी प्रकार के समझौते की कोई गुंजाइश नहीं रखी । अपनी आस्था के आराध्यदेव किसान और मजदूरों को सम्यक् धरातल पर लाने की उनकी दृढ़ इच्छा-शक्ति ने उन्हें महान जनवादी और समाजवादी चिंतक बना दिया और राष्ट्रीयता की सीमा भी इस वर्ग-संघर्ष की वृहत्तर सीमा के अन्दर संज्ञाहीन हो गई । इस प्रकार इतिहास-पुरुष स्वामी सहजानंद सरस्वती किसान-मजदूरों के सामाजिक-आर्थिक स्वत्व के लिए सतत संघर्ष की अमिट कहानी लिखता हुआ हमारे बीच से चला गया ।

परन्तु, जन सामान्य के लिए जीवन का सर्वस्व न्योछावर कर कतिपय सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिवर्तनों को प्रेरित करनेवाले इस युग-पुरुष के कार्य-कलापों को अंकित करने में निहित-स्वार्थ वश इतिहासकारों ने उपेक्षा का भाव दिखाया है । इस तथ्य को इस विशाल परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है कि इतिहास विचारधारा और राजनीति से अलग एक तटस्थ विद्या नहीं रहा[24], बल्कि यह संज्ञान और संघर्ष का साधन रहा है । इतिहास के संघर्षों की तरह इतिहास-लेखन भी संघर्षों से भरा-पूरा है क्योंकि "प्रमुख विचारधारात्मक तथा राजनैतिक प्रवृत्तियाँ विद्वानों की आँखों की पट्टी तथा दिशा-निर्देश, दोनों के रूप में काम करती हैं ।"[25] अतः इस जटिल स्थिति में विभिन्न कारकों के दबाव को वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण करते हुए खत्म कर स्वामीजी के कार्य-कलापों का वस्तुगत विश्लेषण वर्तमान की चिरप्रतीक्षित मांग है ।

□

सन्दर्भ-सूची :

1. सरस्वती, स्वामी सहाजानन्द, **मेरा जीवन संघर्ष,** पृ० 168
2. विस्तार के लिए देखें, वहीं ।
3. विस्तार के लिए देखें, तिवारी गोरेलाल; **जुझौतिया ब्राह्मण इतिहास** ।
4. विस्तार के लिए देखें, **स्कन्दपुराण**, पृथ्वीराज का **मदनपुर** ,शिलालेख, सं० 1239.
5. विस्तार के लिए देखें, अलबेरूनी **किताब-उल-हिन्द** (इ० सी० सचाऊ का अंग्रेजी अनुवाद) ।
6. विस्तार के लिए देखें, तिवारी, गोरेलाल पूर्वोक्त; मिश्र, राजेन्द्र लाल— **विविधार्थ संग्रह, जुझौतिया ब्राह्मण इतिहास की रूपरेखा** ।
7. उल्यानोस्की, रोस्तिस्लाव *Agrarian India between the World Wars*, पृ० 11.
8. चौधरी, राम किशोर (सं०)—**स्वामी सहजानन्द सरस्वती : ज्योतिकलश,** मुजफ्फरपुर, पृ० 6.
9. *The Hindustan Times, 6th March*, 1939,
10. उल्यानोस्की, रोस्तिस्लाव, पूर्वोक्त, पृ० 12.
11. सरस्वती, पूर्वोक्त, पृ० 163.
12. विस्तार के लिए देखें, थापर, रोमेश, *Tribe, Caste and Religion in India.*
13. विस्तार के लिए देखें, चौधरी, विजय चन्द्र प्रसाद, **आधुनिक विहार का सृजन** ।
14. **कम्युनिस्ट**, वर्ष–14, अंक–3, दिसम्बर 1988, पृ० 18.
15. सरस्वती, **किसानों को फँसाने की तैयारियाँ** ।
16. *The Times of India, 19th March* 1989, *Sahajanand, Champion of the Downtrodden.*
17. सरस्वती, **मेरा जीवन संघर्ष**, पृ० 251-53
18. वहीं, पृ० 195.
19. वहीं, पृ० 194.
20. **हिन्दुस्तान**, 6 मार्च 1989, स्वामी सहजानन्द सरस्वती और उनके काम ।
21. सुधाकर, त्रिवेणी शर्मा, **स्वामी सहजानन्द की विचारधारा,** पृ०17 ।
22. **हिन्दुस्तान**, 6 मार्च 1989, स्वामी सहजानन्द सरस्वती और उनके काम ।
23. *Constitution of the All India Kisan Sabha* 1936, *Appendix–V.*
24. **मारूश्किन, बी०आई०, इतिहास और राजनीति**, पृ० 1.
25. वहीं, पृ० 19.

□

3

जीवन के अविस्मरणीय क्षण

—चन्द्र भूषण पाण्डेय

1889, फरवरी—महाशिवरात्रि के दिन उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जिले के देवाग्राम में जन्म। नवरंग राय की संज्ञा दिया जाना।

1892—माता का देहान्त। बाल-समूह से अलग रहने की और चिंतनशील स्वभाव का परिलक्षित होना।

1899, जनवरी—शिक्षा प्रारंभ। जलालाबाद अपर प्राइमरी विद्यालय की पहली कक्षा में नामांकन।

1902, जनवरी या फरवरी—अपनी मेधाशक्ति के बल पर मात्र तीन वर्षों में छः वर्षों की शिक्षा पूरी।

1904, गर्मी के दिनों में—गाजीपुर के तहसीली स्कूल से युक्त-प्रान्त के हिन्दी मिड्ल स्कूलों के उत्तीर्ण छात्रों में सातवाँ[1] स्थान प्राप्त और गाजीपुर के जर्मन-मिशन इंगलिश स्कूल में प्रवेश।

1905—विवाह-संस्कार संपन्न।

1906—पत्नी की मृत्यु। गर्मी के दिनों में सन्यास का असफल प्रयास और फिर से लौटकर पढ़ाई में व्यस्त।

1907, फरवरी—पुनर्विवाह की योजना का पता लगते ही घर से भागकर सन्यास-व्रत धारण। काशी के अपारनाथ के मठ में रहने वाले स्वामी अच्युतानन्द सरस्वती से दीक्षा लेकर स्वामी सहजानन्द सरस्वती की संज्ञा से विभूषित।

1907, आषाढ़—श्रीहरिनारायणानंद[2] के साथ चुपचाप प्रयाग की ओर प्रस्थान क्योंकि "मन में भगवान और सिद्ध योगी से मिलने की बेचैनी थी, प्रीतम के दर्शनों के लिए आँखें प्यासी थीं।··· बाबा लोग कहते कि चातुर्मास्य (वर्षा) में सन्यासी को भ्रमण करना शास्त्र-निषिद्ध है।"[3]

1909, आरम्भ—सिद्ध-योगी और भगवान से मिलने का मोह-भंग। लगभग संपूर्ण भारत के तीर्थ-स्थलों के भ्रमण के बाद फिर से काशी के अपारनाथ मठ में आश्रय लेना। दंडी स्वामी की दीक्षा लेना। सिद्धयोगी और भगवान के दर्शन न होने तथा साधुओं के ढोंग को नजदीक से देख लेने के कारण वेदान्तों और शास्त्रों के गहन अध्ययन की प्यास का जगना और 1913 तक उसमें लगे रहना।

1914—जातिगत और वर्गगत स्वार्थ की राजनीति से अनजाने में सम्पर्क। स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती[4] और उनके साथियों के आग्रह पर बलिया में भूमिहार-ब्राह्मण महासभा के अधिवेशन में शामिल होकर भाषण देना। भाषण के दौरान

जर्मन विद्वान मैक्समूलर की संस्कृत भाषा में योगदान के लिए बड़ाई जिसके चलते लोगों द्वारा हिदायत कि "जर्मनी की बड़ाई न करें।....असल में जमींदारों और राजा महाराजाओं का जमाव था और वह ठहरे स्वभावत: राजभक्त। इसलिए यह बात वह कैसे बर्दाश्त कर सकते थे ....भूमिहार-ब्राह्मणों के नाम पर सभा खड़ी करके वे लोग अपना काम निकालते, समाज की ओर से राजभक्ति का विश्वास सरकार को सदा दिलाते थे। इस प्रकार पहली बार राजनीति की हवा ने मेरे (स्वामीजी) अंतस्तल में एकबार अनजान में जबर्दस्त ठोकर मारा।"[5]

1915, उत्तरार्द्ध—धर्म-ज्ञान से समाज-सेवा की यात्रा – "सामाजिक काम तो स्थूल दृष्टि से धर्म के भीतर आता नहीं"[6] जैसा विचार रखनेवाले सहजानंद को अब एक मात्र ब्रह्मज्ञान में मस्त रहने तथा अपनी ही मुक्ति की परवाह करने की अपेक्षा सामाजिक सेवा और गिरे लोगों को उठाने की चाहत होने लगी।[7] ऐसी प्रेरणा उन्हें गीता[8] और श्रीमद्भागवत[9] के अध्ययन से प्राप्त हुई थी। दरअसल भूमिहार-ब्राह्मण समाज की उपेक्षित स्थिति देखकर ही "सिर्फ सेवा और कर्त्तव्य-बुद्धि से ही इस काम में परिस्थितिवश खिंच गया, न कि किसी और मतलब से। इसीलिये स्वभावतः आगे बढ़ना पड़ा।"[10] इस विषय पर इन्होंने कई शोध-ग्रंथ लिख डाले।[11]

1920, दिसम्बर—समाज-कल्याण से राजनीति में छलांग—समाचार पत्रों से हुई घटना-चक्रों की जानकारी के कारण राजनीति से संसर्ग। घटनाओं की जानकारी से राजनीति की ओर खिंचाव तथा पटने में महात्मा गाँधी, मुहम्मद अली और मौलाना आजाद के भाषणों और गाँधी से हुई लम्बी वार्ता के बाद सच्चा सन्यासी[12] बनने की कामना लेकर सक्रिय राजनीति में पदार्पण और कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में शामिल।

1921, नवम्बर--धार्मिक भावना में क्रांतिकारी परिवर्तन—बक्सर अनुमंडल के ब्रह्मपुर मेले में गाय-बैलों की हत्याओं के लिए खरीद-बिक्री देखकर उसे रोकने का सफल प्रयास और इसी क्रम में धर्म के ठेकेदारों का असली रूप सामने आया।[12] "हमने वहीं पर देखा कि कसाइयों के एजेन्ट ब्राह्मण और दूसरे हिन्दू थे जो माथे पर चन्दन की बड़ी टीका लगा तथा कंठी बाँधकर यह काम करते थे। हमने कइयों को पकड़ा भी था। इन एजेन्टों के बल पर ही कसाइयों को हिम्मत होती थी।... मैंने साफ देखा कि धर्म का प्रश्न किस कदर बाहरी और दिखावटी है। यह कितने धोखे की चीज है। मेरी कट्टर धार्मिक भावना को ठेस लगी और मैं तिलमिला गया।" आर्थिक कारणों से धर्म को विकृत किये जाने की साजिश देखकर ही स्वामीजी के मन में धर्म की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करने की प्यास जगी। इसके अतिरिक्त सामाजिक ढोंग का भी अनुभव राजनैतिक कार्यकर्ताओं के छूआछूत के दिखावे को देखकर किया[14] "लोगों की छूत-छात एक प्रकार की बनावटी चीज थी क्योंकि जब सुन्दर मिठाइयाँ या इस प्रकार की चीजें कहीं से किसी के पास आती थी तो वे लोग भी उनमें शामिल हो जाते थे। मगर रोटी, भात में छूआछूत मानते थे।"

1922, जनवरी—अहमदाबाद कांग्रेस से लौटने के बाद 2 जनवरी को

गिरफ्तारी और एक साल की सख्त कैद तथा 25 रुपये जुर्माना या एक महीने के अतिरिक्त कैद की सजा।

1922, मार्च—कारावास में सजा भुगतने के दौरान फैजाबाद जेल में एक श्रद्धालु द्वारा गीता की नन्ही गुटका का भेंट किया गया जिसके अध्ययन के बाद स्वामीजी ने अपने उद्‌गार व्यक्त किये कि[15] "हमारे जीवन में यह पहला ही मौका था जब हमने गीता का रहस्य समझा और जीवन की बाधाओं तथा चिन्ताओं से निश्चिन्त हो गये। जीवन भर वेदान्त और अन्य दर्शनों के पढ़ने से जो शान्ति उपलब्ध नहीं हो सकी वही हमें गीता की कृपा से फैजाबाद जेल में प्राप्त हो गई। हमारा जीवन स्थिर हो गया।"

1927—गीता के श्लोक 'लोकसंग्रह मेवापि सम्यश्यन्कर्तुमर्हसि' की भावना दिल में लेकर एवं स्वयं की अनुभवशून्यता और मित्रों के दबाव में आकर समस्तीपुर में प्रेस चलाने के साथ-साथ एक साप्ताहिक समाचार पत्र 'लोकसंग्रह' का प्रकाशन और संपादन प्रारम्भ किया। छोटी जगह में प्रेस चलाने में होनेवाली कठिनाइयों का अनुभव करने के बाद उसे पटने के कदमकुआँ मुहल्ले में व्यवस्थित किया और यह अन्त तक वहीं रहा। जिन्दगी में अबतक समाजोद्धार का कार्य वृहत् रूप से नहीं कर पाने के कारण फिर से इस ओर आकर्षण हुआ, जिसे ब्राह्मणों द्वारा भूमिहार ब्राह्मणों को संस्कृत पढ़ाना छोड़ दिये जाने के अनुभवों से काफी बल मिल रहा था। अतः बिहटा में सीतारामाश्रम का निर्माण करवाकर सभी जाति के छात्रों को संस्कृत में विविध-विषयक शिक्षा देना प्रारम्भ किया[16]—"सरयूपारियों और कान्यकुब्जों के लड़के भी पढ़ते हैं। हाई स्कूल के और दूसरे कतने ही बनिये या दूसरे लड़के जब चाहते हैं वहाँ के पण्डितों से पढ़ जाते हैं। खुशी से पण्डित लोग पढ़ा देते हैं। अतः पढ़ने में कोई भेदभाव नहीं है।" किसानों के कल्याण के लिए पश्चिमी पटना किसान सभा की स्थापना की।

1929—जातीय पूर्वाग्रह से मोहभंग—जब स्वामीजी ने अनुभव किया कि जातीय सभाएँ अमीर लोगों द्वारा अपना काम निकालने, चुनावों में जातीय वोट की सुनिश्चितता करने तथा अन्य निहित स्वार्थों की पूर्ति का साधन हैं और भूखी एवं नंगी जनता के शोषण का अस्त्र हैं, तो इसके मुंगेर अधिवेशन के दौरान ही इसके खण्डन की घोषणा कर दी। अब वे सच्चे अर्थों में 'सर्वभूतात्मभूतात्मा, सर्वभूतहितेरताः' बन गये। बिहार प्रांतीय किसान सभा का संगठन।

1930—किसान सभा का काम समेट कर सविनय अवज्ञा आंदोलन में शामिल हो जाना तथा नमक कानून भंग करने के कारण अप्रील में गिरफ्तार तथा छः महीने की सख्त सजा। इसी अवसर पर स्वामीजी को एक बड़ा कटु अनुभव हुआ[17]—"उसी समय मैंने देखा कि कसम खा के पुलिस के अफसर कैसी झूठी गवाही देते थे! ताकि कानूनी रस्म पूरा हो।····ये झूठी गवाहियाँ, सो भी बाइबिल की कसम खाके एक अँग्रेज को देते देख मुझे हँसी आई और दया भी। देखा कि सरकारी नौकरों की कितनी दयनीय दशा है। उनसे जैसा चाहा कहवाया गया।"

1933—किसान सभा के कार्यकारिणी द्वारा गया की किसानों के दुख-दर्द

की जाँच के लिए एक जाँच-कमिटी बनी, जिसमें स्वामीजी भी सम्मिलित थे। जाँच के बाद उभरे तथ्य स्वामीजी के ही शब्दों में—"इस जाँच से किसानों की भीतरी जर्जर दशा की और जमींदारों के जुल्मों की भी प्रत्यक्ष जानकारी तो हुई ही साथ ही, हमने किसानों को जो स्वयं-मुस्तैदी से हमारी जाँच सभा और अन्य बातों का प्रबन्ध करते देखा उससे हमारे दल पर पहले-पहल यह असर हो गया कि यदि कोशिश हो तो किसान जल्द जग पड़ेंगे। क्योंकि क्षेत्र तैयार है।"

1934—भूकम्प के बाद पीड़ितों की सहायता के दौरान हुए अनुभवों और गाँधीजी की इन समस्याओं की यथार्थता के प्रति बेरूखी के कारण गाँधी-भक्ति का आदर्श खत्म।

1935—पटना जिला कांग्रेस के अध्यक्ष, प्रदेश कांग्रेस कार्यकारिणी तथा अखिल भारतीय कांग्रेस का सदस्य चुना जाना। हाजीपुर के प्रांतीय किसान सम्मेलन में जमींदारी प्रथा के नाश का प्रस्ताव पारित करवाना।

1936—अखिल भारतीय किसान सभा का लखनऊ में संगठन। जुलाई में कांग्रेस के किसान-मजदूर विरोधी फैसले के खिलाफ सारे भारत में 9 जुलाई को प्रतिवाद दिवस के रूप में मनाने का आह्वान।

1937—काश्तकारी विधेयक को लेकर कांग्रेस और किसान सभा के बीच मतभेद की तीव्र शुरूआत।

1938—फरवरी में विहार प्रांतीय कांग्रेस कार्यकारिणी ने राजेन्द्र बाबू की अध्यक्षता में स्वामीजी से विना कोई स्पष्टीकरण मांगे हिंसा का इल्जाम लगाकर उनके और किसान सभा के विरूद्ध निंदा का प्रस्ताव पारित करा दिया। इसके बाद उन्होंने कार्यकारिणी से इस्तीफा दे दिया। इसी वर्ष अ० भा० किसान सभा के कोमिल्ला अधिवेशन में उन्हें रोटी को खुदा से भी बड़ा सिद्ध कर देने के कारण किसानों के बीच काफी लोकप्रियता मिली।

1940—मार्च में रामगढ़ (बिहार) में हुए समझौता-विरोधी सम्मेलन में भाषण देने के लिए तीन साल की सजा।

1942—जनवरी में गीता पर भाष्य का लिखा जाना पूरा। मार्च में जेल से रिहा कर दिया जाना।

1945—साम्यवादियों से सारा सम्बंध तोड़ लेना। अखिल भारतीय किसान सभा से बिहार प्रांतीय किसान सभा का संबंध विच्छेद कर लेना।

1948—सितम्बर में कांग्रेस की प्राथमिक एवं अखिल भारतीय कांग्रेस की सदस्यता का त्याग। साम्यवाद की ओर झुकाव और उसी तरीके से किसान मोर्चा का संचालन।

1949—अप्रैल महीने में रामनवमी के दिन अयोध्या में अखिल भारतीय विरक्त महामंडल के प्रथम अधिवेशन में अध्यक्ष पद को सुशोभित करना।

1950—जून की 26 तारीख की रात में मुजफ्फरपुर में वकील स्व० मुचकुन्द शर्मा के यहाँ दिवंगत।

□

सन्दर्भ-सूची :

1. सरस्वती, स्वामी सहजानंद, **मेरा जीवन संघर्ष**, पृ० 42-43.
2. संस्कृत के अच्छे विद्वान, धर्म-कर्म के जानकार और योग में अत्यधिक रूझान रखनेवाले। इन्होंने बचपन से ही स्वामीजी को आकर्षित किया था।
3. सरस्वती, स्वामी सहजानन्द, पूर्वोक्त पृ० 56.
4. संस्कृत व्याकरण, वेद-वेदान्त और पुराणों के ज्ञाता। इन्होंने अध्ययन के क्रम में स्वामीजी की पूरी मदद की थी।
5. सरस्वती, स्वामी सहजानन्द, पूर्वोक्त, पृ० 160.
6. वही, पृ० 163.
7. वही, पृ० 162.
8. सरस्वती, स्वामी सहजानंद, गीता हृदय, प्रारम्भिक शब्द।
9. सरस्वती, स्वामी सहजानन्द, पूर्वोक्त, पृ० 167.
10. वही, पृ० 169.
11. विस्तृत वर्णन के लिए निम्नलिखित पुस्तकों के विभिन्न अध्याय देखें :
    (अ) **भूमिहार ब्राह्मण परिचय**
    (ब) **ब्राह्मण समाज की स्थिति**
    (स) **झूठा भय, मिथ्या अभिमान**
    (द) **कर्म कलाप**
12. सरस्वती, स्वामी सहजानन्द, **मेरा जीवन संघर्ष**, पृ० 160-61.
13. विस्तार के लिए, वही पृ०202–11; **स्मारिका**, स्वामी स० स० जन्म शताब्दी समारोह, स्वामी सहजानन्द सरस्वती विचार मंच, नयी दिल्ली।
14. पूर्वोक्त, पृ० 241.
15. पूर्वोक्त, पृ० 235.
16. पूर्वोक्त, पृ० 290.
17. सरस्वती, पूर्वोक्त, पृ० 352
18. वही, पृ० 407–8.

□

4

वंश, परम्परा और व्यक्तित्व

—कुलदीप नारायण 'झड़प'

उत्तर में यमुना, पूरब में तमसा (टोंस), दक्षिण में नर्मदा तथा पश्चिम में चम्बल से घिरा हुआ प्रदेश जिसे आजकल बुन्देलखण्ड कहते हैं, पुराने समय में 'जुझौती' नाम से प्रसिद्ध था। अल्बेरूनी ने उसका नाम 'जुजाहुती' दिया है। कई अभिलेखों में जो चन्देल राजाओं द्वारा उत्कीर्ण कराये गए हैं, उक्त प्रदेश का नाम 'जेजाभुक्ति' या 'जेजाकभुक्ति'[1] मिलता है। यह राजा जेजा (जय शक्ति) के नाम पर पड़ा है, जिसका राजत्व-काल सं० 917 वि०-937 वि० है।

विंध्य-मेखला में बसे हुए जुझौती प्रदेश की भूमि प्राय: पहाड़ी श्रेणियों, घाटियों और बनों से आच्छदित रहीं है। शायद इसी कारण स्वतंत्रता प्रिय यौधेयगण के लोग जब सतलज तट को छोड़कर दक्षिण की ओर बढ़े तो उन्हें जुझौती की भूमि अभेद्य दुर्ग की भांति प्रतीत हुई और वे वहाँ बस गए। उनके बसने से उस क्षेत्र का नाम 'यौधेयावती'[2] पड़ा। इसी का अपभ्रंश 'जुझौती' है। जुझौती के निवासी ब्राह्मण 'जुझौतिया' कहलाए। 200 विक्रम संवत पूर्व यौधेयगण के लोग पंजाब में रहते थे[3], उनके वीरों ने सिकन्दर के दाँत खट्टे किए थे। उसके बाद सिकन्दर को आगे बढ़ने का साहस न हुआ और वह भारत-विजय की आशा छोड़ अपने देश को लौट पड़ा। एरन की खुदाई में जो सामग्री मिली है,[4] उससे ज्ञात होता है कि योधेयगण के लोग अस्त्र-शस्त्र संचालन में निपुण युद्ध-जीवी ब्राह्मण थे।

जुझौती प्रदेश के विषय में ह्वेनसांग ने लिखा है कि उसका क्षेत्रफल 4000 ली है और उसकी राजधानी 16 ली में है।[5] ह्वेनसांग के समय में महेश्वर पुर ग्वालियर और मालवा में ब्राह्मण राजा राज्य करते थे। उन राज्यों में बौद्ध-बिहार तो थे किन्तु उनमें बौद्ध श्रमण न थे।

यों तो जुझौतिया ब्राह्मण पंजाब से आंध्र और गुजरात से असम तक जहाँ-तहाँ बसे हुए हैं, किन्तु उनका प्रधान केन्द्र बुन्देलखण्ड है। इनके दो भेद और तीन श्रेणियाँ है। मुख्य भेद में बुन्देलखण्डी और कड़ामानिकपुरी हैं। तीन घर का विवरण इस प्रकार है :

तीनघर—पड़ना के गर्ग चौबे, धमौरा के गौतमियाँ और हम्मीरपुर के शांडिल्य। जागीरदार और ऐश्वर्यशाली होने के कारण इनकी गणना प्रथम श्रेणी में की जाती है।

तेरह पटे—भड़ेरिया, रिछारिया, वटेरिया, आजरिया आदि ।
पंचादर—इनमें 59 गोत्र या पटे है ।[6]

इतिहासकारों ने जुझौतिया ब्राह्मणों की गणना वृहत् कान्यकुब्ज वंश के अन्तर्गत की है । डा० राजेन्द्रलाल मिश्र. सर इलियट, श्री शेरिंग तथा जनगणना रिपोर्ट सन् 1865 ई० के अनुसार कान्यकुब्ज ब्राह्मणों के पाँच भेद बताये गए हैं, जो परस्पर विवाह सम्बन्ध भी करते हैं । वे भेद इस प्रकार हैं— खास कनौजिया सनाढय, जुझौतिया, भूमिहार और सरयूपारी ।[7] जुझौतिया ब्राह्मणों की एक शाखा मालवा से आने के कारण प्रयाग के क्षेत्र में मालवीय नाम से प्रसिद्ध है । महामना मदन मोहन मालवीय इसी वंश—परम्परा में उत्पन्न हुए थे । इस वंश परम्परा के जो लोग इनसे अलग होकर पटना में बस गए थे, वहाँ के भूमिहार ब्राह्मणों में मिल गए हैं और 'मालवे' या मालवीय कहलाते हैं । समयानुसार जुझौतिया ब्राह्मणों की अन्य कई प्रसिद्ध शाखायें भूमिहार ब्राह्मणों में मिलती रही हैं, जैसे—पुंडरीक भोजीय । इस वंश के मूल पुरुष सवितानंद दीक्षित को अकबर ने मुर्शिदाबाद के पास पलासी और फतेहसिंह परगने की जागीर दी थी । इस परम्परा में जमुआ का राजवंश है । वधूल गोत्र के मनोहर तिवारी के वंशज देया तथा जमुआ में हैं । इस वंश-परम्परा में रिपन कालेज कलकत्ता के प्राचार्य पं० रमेन्द्र सुन्दर द्विवेदी एक प्रसिद्ध पुरुष हुए हैं ।[8] पन्ना के राजा अमान सिंह का बध उनके भाई हिन्दूपति ने सं० 1813 में राज्य के लोभ से करा दिया था । इस पापकर्म से रूष्ट होकर उनके राज-पुरोहित वंश गोपाल तिवारी काशी चले आए और भूमिहार ब्राह्मणों में मिल गए । इनके वंशज भीषमपुर (वाराणसी) में हैं । भूमिहार ब्राह्मणों और जुझौतियाब ब्राह्मणों के इस मिलन का उल्लेख उनके इतिहास में है ।[9]

जुझौतिया ब्राह्मणों में मलपुरा के तिवारी वंश की विशेष प्रसिद्धि है । इस वंश परम्परा के मूलपुरुष वलभद्र (13वीं शती) चन्देल वंश के राजा वीरवर्म देव के प्रधान सेनापति थे । उन्होंने गोप गिरि के राजा हरि और मधुवनी-नलपुरा के राजा गोपाल को पराजित किया । इसके लिए उनको मलपुरा की जागीर देकर सम्मानित किया गया था । इसी वंश-परम्परा के पं० विद्यापति तिवारी चरखारी के पास मलपुरा में रहते थे । उनके पौत्र राजाराम तिवारी अजयगढ़ के राजा गुमान सिंह के भूरागढ़ दुर्ग के किलेदार थे । गुमान सिंह से रूष्ठ होकर उन्होंने अपनी स्वतंत्रता घोषित की और आस-पास के इलाके में लूटपाट करने लगे । उनकी लूट-पाट से बुन्देलखण्ड में आतंक छा गया । उनको दबाना गुमान सिंह के वंश की बात न थी । बुन्देलखण्डी राजाओं से की गई सन्धि के अनुसार बुन्देलखण्ड में शांति स्थापित करने के लिए कम्पनी-सरकार बाध्य थी । इसलिए उसने राजाराम तिवारी को पकड़वाने के लिए 30 हजार रुपये पुरस्कार देने की घोषणा की । ऐसी स्थिति में राजाराम तिवारी ने कम्पनी सरकार के सम्मुख यह प्रस्ताव रखा कि उनको अन्य बुन्देलखण्डी राजाओं के समान हीं अधिकार मानकर सनद दी जाय । कम्पनी सरकार ने उनकी वात मान कर सन् 1807 में उनको अन्य राजाओं के समान ही अधिकार की स्वीकृति के साथ सनद और गौरिहार की जागीर प्रदान की ।[10] राजाराम तिवारी की लूटपाट का उनके परिवार के कुछ लोगों ने विरोध किया और उनका साथ छोड़कर काशी की ओर चले आए ।

वे लोग गाजीपुर जिले के देवा ग्राम को अपने अनुकूल पाकर वहाँ बस गए एवं आसपास के भूमिहार ब्राह्मणों को अपने समान जानकर वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा उनमें मिल गए।[11] इसी कुल परम्परा में श्री ठाकुर राय के पुत्र वेनीराय हुए जिनके कनिष्ठ पुत्र के रूप में श्री स्वामी सहजानंद सरस्वती का जन्म हुआ था। उनकी बाल्यावस्था का नाम नवरंग था।

वैज्ञानिक प्रयोगों से सिद्ध है कि मनुष्य पर उसकी कुल परम्परा का प्रभाव 50 से 80 प्रतिशत तक पड़ता है। स्वामीजी का जन्म एक उच्च आचारनिष्ठ आस्थावान ब्राह्मणवंश में हुआ था, जिसका प्रभाव उनके जीवन पर जन्म से ही पड़ा। उनकी कुल परम्परा की यह छाप उनके जीवन-पट पर इतनी गहरी पड़ी थी कि वह कभी मिट न सकी। वे जन्म से ही एकांत प्रिय, सरलचित्त, सत्यवादी, विचारशील, जिज्ञासु, साधनाशील तथा उदार विचार के थे। परिवार के आचार-व्यवहार और धार्मिक निष्ठा का उनके ऊपर पूरा प्रभाव पड़ा। जब वे शिक्षार्थी बनकर प्रा० पाठशाला में प्रविष्ठ हुए तो वहाँ उन्हें अध्यापक भी ऐसे ही मिले जो सनातनी विचार-धारा के शिवभक्त थे। दैवयोग से उनको एक ऐसा साथी भी मिल गया, जिसकी कृपा से उन्होंने संध्या-पूजा, आसन-प्राणाकर्म आदि साधनायें सीख ली एवं घंटों उसका अभ्यास करते थे। पूर्व जन्म के संस्कार के कारण ज्ञान-वैराग्य की ओर उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति थी।[12] इसी प्रवृत्ति के कारण वे बाल्यावस्था में ही घर से भाग निकले और सन्यासाश्रम में प्रवेश किया था।

वे धुन के धनी, निष्काम कर्मयोगी और कनासक्त संन्यासी थे। सदा सत्त पर अडिग रहे। कभी भी सत् का असत् से और उचित का अनुचित से समझौता नहीं किया। उनका सबसे पहला काम समाज सुधार के रूप में प्रकट हुआ। वे जिस समाज में उत्पन्न हुए थे, वह समाज अपने गौरवपूर्ण इतिहास से अनभिज्ञ होकर आत्महीनता की भावना से ग्रस्त हो रहा था। ब्राह्मण-समाज में परस्पर ईर्ष्या-द्वेष का बोलबाला था। पुरोहित ब्राह्मण निरक्षर भट्टाचार्य होकर कर्मकाण्ड का गला घोंट रहा था। जब समाज के पथ-प्रदर्शक ब्राह्मण जाति की यह दशा, तो उनके अनुगामी किस गर्त में गिरेंगे—यह सोचने की बात है। स्वामीजी ने भूमिहार-ब्राह्मणों के स्वाभिमान को जगाया और ब्रह्मर्षिवंश-विस्तर, कर्मकलाप, ब्राह्मण समाज की स्थिति, झूठा भय मिथ्याभिमान आदि ग्रन्थों की रचना कर ब्राह्मण-वर्ग की मानसिक कुण्ठा के उन्मूलन का प्रयत्न किया। ये सभी ग्रन्थ अपने विषय के महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं। ब्रह्मर्षिवंश-विस्तर एक समाज शास्त्रीय शोध ग्रन्थ है। 1400 पृष्ठों का कर्मकलाप कर्मकाण्ड सम्बन्धी ग्रंथ है। इस विषय की सरल-सुबोध हिन्दी में लिखी हुई कोई दूसरी पुस्तक देखने में नहीं आई। तीसरी महत्त्वपूर्ण कृति 1000 पृष्ठों का गीता हृदय हैं इसमें श्रीमद्गवद्गीता की साम्यवादी परिवेश में मौलिक व्याख्या की गई है। इन ग्रंथों से स्वामीजी के इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र, दर्शन, ज्योतिष आदि विविध विद्याओं के अगाध अध्ययन का पता चलता है। 'मेरा जीवन संघर्ष' स्वामीजी की चौथी अनमोल साहित्यक कृति है, जिसमें उनकी आत्मकथा है। यह ग्रन्थ उनके समय की सामाजिक और राजनीतिक गतिविधियों का दर्पण है। किसान आंदोलन से सम्बद्ध उनके अन्य

कई ग्रन्थ हैं। ये सारे ग्रंथ तथा पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित अनेकों लेख उनके प्रगाढ़ ओजस्वी व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हैं।

स्वामीजी सन् 1920 ई० में गाँधीजी से मिले उनके आह्वान पर राष्ट्रीय अन्दोलन में कूद पड़े थे।[13] उन्हें कई वार वर्षों जेल की हवा खानी पड़ी। जब उन्होंने देखा कि देश की 80 प्रतिशत जनता जो ग्रामीण किसान है—जमींदारी शिकंजे से उत्पीड़ित हो कराह रही है, उनका करुणार्द्र हृदय दलित शोषित किसानों की दुर्दशा देख 'हाय-हाय' कर उठा। उण्होंने इसकी ओर गाँधीजी और अन्य कांग्रेसी नेताओं का ध्यान आकर्षित किया किंतु कांग्रेस की भूमिका आशाप्रद प्रतीत नहीं हुई। तव स्वामीजी ने कांग्रेस से अलग किसान-आंदोलन का सूत्रपात किया। देशभर में घूम-घूम कर उन्होंने किसान आंदोलन को जगाया। रामगढ़ (विहार), फैजपुर (महाराष्ट्र), कोमिल्ला (वंगाल), विजयवाड़ा (आंध्र) आदि में किसान सभा के सफल अधिवेशन हुए, जिनमें लाखो किसानों और देश के सुभास चन्द्र वसु, आचार्य नरेन्द्र देव आदि जैसे महान नेताओं ने भाग लिया।[14] किसान सभा के सामने कांग्रेस फीकी पड़ गई। ऐसा था व्यक्तित्व स्वामीजी का। वे अद्भुत वाग्मी और संगठनकर्त्ता थे।

स्वामी सहजानंद सरस्वती एक ऐसे प्रज्वलित व्यक्तित्व का नाम है, जिसकी तुलना में न कोई आधुनिक धर्माचार्य आता है और नेता ही।[15] उनके व्यक्तित्व में वहुश्रुत साहित्यकार, विद्यावरेण्य धर्माचार्य और लोकचिंतक प्रगल्भ जन नेता का अनोखा मिश्रण हुआ था। वे सूक्ष्मदर्शी विद्वान थे, उनकी प्रतिभा विलक्षण थी। वे उन संयासियों में थे, जिसने दुःखित पीड़ितों को ही भगवान समझा और उसकी सेवा में जेल-यातना को भी वरदान माना। वे वास्तव में सहज आनन्द की मूर्त्ति थे। भारत में स्वामी रामानंद के पश्चात् वहुमुखी प्रतिमा के धनी, पीड़ित मानवना के उद्धारक, राष्ट्र चिंतक, विद्वान् तथा तड़ितवत् तेज-ओज सम्पन्न वक्ता तीन ही हुए—स्वामी दयानंद, स्वामी विवेकानंद एवं स्वामी सहजानंद। प्रोफेसर राजनाथ पाण्डेय के कथनानुसार राजाराम मोहन राय अभिनव युग के उषा काल, स्वामी दयानंद प्रभातकालीन सूर्य और स्वामी सहजानन्द दो पहर के प्रचण्ड सूर्य थे।[16]

□

संदर्भ-सूची :

1. देखिए—कीर्त्ति वर्मा का महोमा शिला लेख, पृथ्वीराज का मदनपुर शिलालेख सं० 1239 वि०

1. पुराणों में दो नाम मिलते हैं—यौधेयावती तथा युद्धपुर।

3. आधुनिक भावलपुर, जो इस समय पाकिस्तान में हैं। पहिले ओहियावार कहलाता था। जोहिया राजपूत मूलतः यौधेय है।

4 स्कन्दपुराण के अनुसार यौधेयावती प्रदेश में चालीस हजार गाँव थे।

5. ली दूरी की चीनी नाप है। 40 ली = 27 मील।

6. जुझौतिया ब्राह्मण इतिहास की रूपरेखा ।

7. इलियट, सर एच., सप्लीमेन्टल ग्लासरी आफ इन्डियन टर्म्स ।
जानवीम्म, एम०आर०ए०एस०, सप्लीमेन्टल ग्लासरी ऑफ इन्डियन टर्म्स ।
सेन्सस रिपोर्ट आफ यू.पी. सन् 1865 जिल्द 1.
मिश्र, डा० राजेन्द्रलाल, विविधार्थ संग्रह ।

8. शर्मा, जयनारायण, दशविध ब्राह्मण संहिता, पृ० 242–243.
तिवारी, पं० गोरेलाल, जु० ब्रा० इतिहास, पृ० 118–120.

9. इधर कई शताब्दी से इन जुझौतिया ब्राह्मणों का सम्बन्ध भूमिहार ब्राह्मणों से चल रहा है, अतएव ये अब अपने को भूमिहार ब्राह्मण कहने लगे हैं—
जु० ब्रा० इतिहास की रूपरेखा, पृ० 46.
सरस्वती स्वामी सहजानन्द, मेरा जीवन संघर्ष पृ० 10–11.

11. तिवारी, पं० गोरेलाल, जु० ब्रा० इतिहास ।

11. सरस्वती, स्वामी सहजानन्द, मेरा जीवन संघर्ष ।

11. देखिए—मेरा जीवन संघर्ष ।

13. सन् 1921 के आंदोलन के समय स्वामीजी सेमरी (भोजपुर) में रहकर आन्दोलन का संचालन करने लगे। उस समय वहाँ पाँच सौ चरखे तथा बहुत से करघे चल रहे थे। वहाँ की बनी हुई खादी बम्बई आदि दूसरे प्रांतों में भेजी जाती थी।

14. सन् 1927 ई० में विहटा नामक स्थान पर पश्चिमी पटना जिला किसान सभा के रूप में किसान सभा की नींव पड़ी। उसने सन् 1930 में सोनपुर के मेले में विहार प्रांतीय किसान सभा का रूप धारण किया तथा सन् 1931 के लखनऊ कांग्रेस के अवसर पर अ० भा० किसान सभा के रूप में उसका संगठन किया गया।

15. शांकर मत का अनुयायी सन्यासी होते हुए भी उन्होंने सन् 1949 ई० में श्रीरामनवमी के अवसर पर अयोध्या जी में अ० भा० विरक्त महामण्डल की अध्यक्षता की। सभा के अध्यक्ष जगद्गुरु शंकराचार्य (पुरी) थे।

16, पाण्डेय, राजनाथ, त्रिकालजयी, पृ० 18.

◆

5

मेरे चाचा, उनके गाँव

—राम चन्द्र शर्मा

मैंने स्वामी जी को दो बार उनकी जन्मभूमि देवा में देखा था। पहली बार की स्मृति बहुत धुँधली है। बहुत कम उम्र रही होगी मेरी, लगभग तीन वर्ष की। सुबह उठा तो देखा कि बरामदे में नेवार की एक पलंग बिछी है और उस पर गैरिक वस्त्र पड़े है। कुछ देर बाद पिता जी ने (स्वामी जी के बड़े भाई श्री रामध्यान राय) ले जाकर मुझे मझोले कद के स्वस्थ शरीरधारी, अत्यन्त तेजस्वी सन्यासी का चरण स्पर्श कराया। मैंने सुना है कि इस यात्रा में स्वामी जी ने अपनी पुस्तकों का एक सेट गांव को दिया और लोगों ने एक पुस्तकालय स्थापित करने की वात सोची। बात आगे न बढ़ सकी।

स्वामीजी की दूसरी यात्रा की स्मृति कुछ अधिक है। तब मैं लगभग 5 वर्ष का था। मेरी माँ कब की मर चुकीं थी मुझे याद नहीं। मैं अपने पिता जी के साथ ही प्रायः लगा रहता था। खेल-कूद पढ़ाई-लिखाई से मेरा कोई वास्ता नहीं था। गाँव के काफी लोग इकट्ठा हुए और शंख घंटे लेकर समीपस्थ दुल्लहपुर रेलवे स्टेशन पर पहुँचे। पिता जी की उँगली पकड़े मैं भी उपस्थित था। वाराणसी से ट्रेन दुल्लहपुर पहुँची। स्वामीजी उतरे। लोगों ने फूल मालाए अर्पित की। चरण स्पर्श किया। आगे-आगे स्वामीजी और पीछे पीछे घंटों और शंखों की ध्वनि करते गाँव के लोग। स्वामीजी स्टेशन से दुल्लहपुर बाजार होते हुए गाँव पहुँचे। स्वामीजी को यह मेरी देखी दूसरी यात्रा 1948 के आस पास की होनी चाहिए। पं० श्रुतिदेव शास्त्री स्वामीजी के साथ थे। हमारे दरवाजे पर ही एक मीटिंग की गई। बरगद के नीचे गाँव के लोग बैठे और स्वामीजी ने कुर्सी पर बैठे-बैठे उन्हें सम्बोधित किया। स्वामीजी ने क्या कहा, यह मैं उस उम्र में कैसे समझ सकता था लेकिन इतना स्मरण है कि स्वामीजी एक आदर्श शिक्षक की मुद्रा में लोगों को अपनी बातें समझा रहे थे और लोग एकाग्रचित हो सुन रहे थे। वहाँ पं० श्रुतिदेव शास्त्री ने फोटो खींचे थे। मेरे घर का आँगन बहुत बड़ा था। स्वामीजी आँगन में पधारे। औरतों ने चरण धूलि ली। स्वामीजी वहाँ भी सम्भवतः कुछ बोले। फोटो भी लिये गये थे।

देवा चारों ओर से पोखरी से घिरा है, इसके चारों कोनों पर चार बड़े-बड़े टीले हैं। गाँव की स्थिति को देखने से लगता है कि यह गाँव ऐतिहासिक है। गाँव में घुसने के लिए चारों दिशाओं से चार मार्ग बने हैं। उत्तर वाले मार्ग के पास ही हमारा घर है। इस मार्ग से प्रवेश करते समय गाँव से बाहर ही भगवान् शिव का एक पुराना मंदिर है, वहीं एक आकर्षक कुआँ भी है जिसकी जगत काफी उँची और

पक्की हूँ। सटे ही पाकड़ का एक पुराना, विशाल, घनी छाया वाला वृक्ष है। यह वही कुआँ है, वही मंदिर है जहाँ स्वामीजी अपने बचपन में स्नान-ध्यान करते थे।

मुझे याद है, स्वामीजी कुएँ पर स्नान कर रहे थे। पिता जी उनके लिये कुएँ से जल खींच रहे थे। स्वामीजी ने पिता जी की आँखों में आँसू देखे। पिता जी को दूसरों से बातें करते समय मैंने जाना कि स्वामी जी ने उनसे रोने का कारण पूछा और उन्होंने कहा कि 'स्वामीजी, मैंने परिवार के सदस्यों की बड़ी मेहनत करके सेवा की। वे बड़े हो गये और और अब मुझे बेइमान कहते है।' स्वामीजी ने कहा कि 'तुम पवित्र हो, मैं जानता हूँ। अपना कर्तव्य पूरा करते रहो। हाँ, मुसमात (हमारी चचेरी विधवा आजी) की सेवा करते रहना।'

आजी बड़ी पुरुषार्थी थी। स्नेहमयी तो थी ही। हमलोगों से अलग रहती थी अकेले। पहले का ही बँटवारा था। हम भाई बहनों को वह बहुत मानती थी। पिता जी को भी उसका आन्तरिक स्नेह प्राप्त था। कई बार मैंने देखा कि उसने पिता जी को डाँटा परन्तु पिता जी ने कभी भी चूँ तक नहीं किया। बात जो हो, मुझे लगता था कि इसमें स्वामी जी के निर्देश का भी हाथ था।

पिता जी जरा जीर्ण हो गये थे। मैंने उन्होंने कहा था कि आपको काशी में प्राण त्याग करना चाहिए। उसने डाँट कर कहा था कि मैंने जीवन भर दूसरों की सेवा की है, पवित्र जीवन बिताया है, स्वामीजी जैसे पवित्र व्यक्ति ने हमारे वंश में जन्म लिया है, फिर मुझे स्वर्ग प्राप्ति के लिये काशी जाने की क्या आवश्यकता? स्वर्ग तो मिलना ही है। यों, लोगों की इच्छा का आदर करते हुए पिता जी ने काशी में ही प्राण त्याग किया।

स्वामीजी के शरीरान्त के बाद मैं विहटा आश्रम में रहने लगा। ब्रह्मचर्याश्रम का जीवन बिता रहा था। शरीर पर गैरिक वस्त्र, हाथ में दण्ड और सुबह-शाम हवन पूजन। पिता जी जीवित थे। मैं इसी वेष में ग्रीष्मावकाश में गाँव पहुँचा। घर की औरतें मेरी वेश-भूषा देख रोने लगीं। गाँव के कुछ लोगों ने कहा कि राम ध्यान राय (पिता जी) ने अपने एक बेटे को धूर पर फेंक दिया पर पिता जी इससे विचलित न थे। उनके भीतर ज्ञान और चरित्र के प्रति अगाध सम्मान था, यद्यपि वे स्वयं बहुत पढ़े-लिखे न थे। हाँ, उन्हीं के कथनानुसार वे अपने सिर पर अनाज की गठरी रखकर गाँव से 30 किलोमीटर दूर पैदल चलकर गाजीपुर पहुँचते और स्वामीजी के अध्ययन में योग देते रहते थे। मैंने पिता जी में और अपनी बूढ़ी भाभी में (जो अब स्वर्गवासी हो गई हैं) ब्राह्मणत्व का उच्च भाव देखा था। स्वामीजी की प्रेरणा से या पता नहीं कैसे उनके भीतर यह भी भाव था कि अयाचक होने के कारण हम अन्य ब्राह्मणों से श्रेष्ठ हैं। मैंने उन लोगों के जीवन-काल में कभी-कभी गाँव पर पुरोहित के अभाव में स्वयं हवन कराया। उन दोनों ने उससे प्रसन्नता व्यक्त की। पिता जी का ज्योतिष के अध्ययन पर विशेष जोर रहता था। वे कहा करते थे—

ज्योतिष शास्त्र सब शास्त्र शिरोमणि
बड़े भाग्य उर आता है।
भूत, भविष्य, वर्तमान ये
तीन काल बतलाता है।

गाँव का नाम देवा क्यों पड़ा, इस विषय में कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं। स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा में गाँव में हमारे मकान के सामने वर्तमान बहुत पुरानी और दूर-दूर के लोगों द्वारा पूजित कोठ की देवी के नाम पर देवा नाम पड़ने की सम्भावना व्यक्त की हैं। कई वर्ष पहले गाजीपुर में एक सज्जन से मेरी आकस्मिक मुलाकात हो गई। वार्त्तालाप के क्रम में मालूम हुआ कि वे बुन्देलखण्ड क्षेत्र के रहने वाले जुझौतिया ब्राह्मण हैं। मैंने अपने को जुझौतिया ब्राह्मण और गाँव का नाम देवा बतलाया तो उन्होंने कहा कि 'देवास की दुर्गा' जुझौतियों की अराध्या है। आपके पूर्वज बुन्देलखण्ड से ही आये हैं। अत: सम्भव है देवास के नाम पर ही आपके गांव का नाम देवा पड़ा हो। देवा नाम चाहे जैसे पड़ा हो, यह नाम मुझे बहुत प्रिय हैं और इसमें मेरे सपनों का देवा झलकता हैं। मैं चाहता हूँ कि देवा देवभूमि बने और यहाँ का हर निवासी नर देव हो। लगता है कि इस ग्राम वृक्ष पर देवत्व के मुकुल निकलते तो जरूर हैं परन्तु उचित परिवेश न पाकर अविकसित हो रह जाते हैं। मैं जब भी देवा पहुँचता हूँ उसका रज सिर पर धारण करता हूँ —

धूरि धरत निज सीस पर कहु रहीम केहि काज।
जेहि रज रिसि पतिनी तरि सोइ ढूँढ़त गजराज॥

मैं देवा बहुत कम जा पाता हूँ। जब भी जाता हूँ, चाहता हूँ कि बाबू राम जन्न राय जी से मिल लूँ। मैंने उनके भीतर ब्रह्मलीन स्वामीजी और अपने परम पूज्य पिता स्वर्गीय शंकर राय जी के प्रति गहरी श्रद्धा देखी है। दोनों के चित्र उन्होंने अपने बरामदे में लगा रखे हैं, वे इस बात की ओर बार-बार मेरा ध्यान आकृष्ट करते हैं कि वर्तमान समाज में ज्यादा गन्दगी, नई-नई गंदी आदतों—का प्रसार हमारे गाँव को भी अपने चंगुल में फाँसता जा रहा है। वे गाँव में वर्तमान राजनीतिक गंदगियों की चर्चा करते हैं और मैं दुखी होता हूँ। सब कुछ के बावजूद मैंने देखा है कि उनके हृदय में स्वामीजी के नाम पर देवा में एक स्मारक खड़ा करने की तड़प है।

बहुत पहले गाँव के लोगों ने बाहरी लोगों की प्रेरणा से महाशिवरात्रि के अवसर पर स्वामीजी का जन्म दिन मनाना प्रारम्भ किया। मैं इस अवसर पर गाँव नहीं पहुँच पाता था—अब भी नहीं पहुँच पाता। कारण उस दिन गाजीपुर में स्वामीजी के नाम पर स्थापित महाविद्यालय में हवन पूजन का कार्य 1972 से ही प्राय: मैं ही कराता चला आ रहा हूँ। गाँव के लोगों ने जोर दिया कि गाँव में स्वामीजी के नाम पर एक स्मारक बनना चाहिए। उसके लिए एक मीटिंग हो और मैं भी उसमें उपस्थित रहूँ। मैं पहुँचा। मीटिंग हुई। गाँव की राजनीति से मैं अपरिचित था। फलत: जो कुछ हुआ उससे मैं बहुत हतोत्साहित हुआ और संस्कृत की सूक्ति याद आई 'यदि वाञ्छसि मूर्खत्वं ग्रामे वस दिन त्रयम्'—यदि तुम अपने अज्ञान की गहराई को जानना चाहते हो तो गाँव में मात्र तीन दिन रहकर जान सकते हो। स्मारक की योजना खटाई में पड़ गई।

मैंने व्यक्तिगत प्रयास के द्वारा लोहे की एक आलमारी खरीदी और कुछ सत्य-साहित्य खरीद कर तथा लोगों से मांग कर गाँव पर रख दिया। अपने ही घर पर स्वामी सहजानन्द सरस्वती पुस्तकालय का एक साइन बोर्ड भी लटक गया। स्मारक के नाम पर इसके बाद कोई प्रयास नहीं हो सका।

इधर शताब्दी वर्ष में जिले के एक पुराने किसान नेता बाबू रामदेव सिंह ने गाँव में स्वामीजी की एक आवक्ष प्रतिमा (बस्ट) स्थापित करने की योजना बनाई। उनके प्रयास से गाँव के लोगों में उत्साह जगा। कुछ धन एकत्र हो गया और मूर्ति-निर्माण के लिये अग्रिम भी दे दिया गया। गाँव की राजनीति फिर घुस आई है और सुना है लोगों का उत्साह मन्द पड़ गया। गाँव के उत्तरी प्रवेश मार्ग पर जहाँ शिव मन्दिर और कूप स्थित हैं मुक्त और सुरम्य वातावरण है। वहाँ सरकारी व्यय से एक सुन्दर सामुदायिक मिलन-भवन का निर्माण हो चुका हैं। भवन के सामने ही जो जगह खाली पड़ी है उसमें स्वामीजी की प्रतिमा स्थापित की जा सकती है।

स्वामीजी का निधन 1950 के 26 जून को हुआ। 1940-42 में वे हजारीबाग जेल में रहें। वहीं उन्होंने आत्मकथा 'मेरा जीवन संघर्ष' की रचना की। 42 से 50 तक के उनके कार्य कलाप पर किसी ने विस्तार पूर्वक प्रकाश नहीं डाला। स्वामीजी की 1943 से 1949 तक की डायरियों की माइक्रोफिल्म नेहरू पुस्तकालय, तीन मूर्ति भवन, नई दिल्ली में सुरक्षित है। उसके आधार पर उनका बाद वाला कार्यकलाप लिपिबद्ध किया जा सकता है। श्री सीताराम आश्रम, बिहटा, पटना में भी उनकी कुछ डायरियां अभी बची हैं, स्वामीजी का सम्पूर्ण जीवन सार्वजनिक रहा। उन्होंने असंख्य पत्र लिखे होंगे। उनके पत्रों के संकलन का मेरे जानते उनके देहावसान के 38 वर्ष बाद तक भी कोई नियोजित प्रयास नहीं हुआ। मैंने निजी प्रयास से उनके 21 पत्र नोट किये हैं। स्वामीजी का देश के विभिन्न महापुरुषों तथा महात्मा गाँधी, पं० जवाहर लाल नेहरू, डा० राजेन्द्र प्रसाद, पुरुशोत्तम दास टंडन, इन्दुलाल याज्ञिक, सर गणेश दत्त, डा० श्री कृष्ण सिंह, अनुग्रह नारायण सिंह आदि के साथ पत्राचार भी नेहरू पुस्तकालय में माइक्रोफिल्म के रूप में सुरक्षित है।

स्वामीजी के लेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रायः छपते रहते थें। ऐसे निबन्धों के संग्रह का भी कोई प्रयास मुझे ज्ञात नहीं। उन्होंने 1927 ई० के आसपास 'लोक संग्रह' नामक साप्ताहिक पत्र का सम्पादन-प्रकाशन किया था। 14 जुलाई 1927 के उसके एक ही अंक में स्वामीजी के पाँच निबन्ध प्रकाशित हैं। इनमे एक की तो इस अंक में 5 वीं किस्त है। प्रारम्भ में मुजफ्फरपुर और फिर काशी से प्रकाशित 'भूमिहार ब्राह्मण' नामक पत्र में 'तिलक और गीता' पर छठी किश्त तक तथा 'अर्व दर्शन सरणि' पर 12 वीं किश्त तक लेख देखने का अवसर मुझे मिला। 'सब सिद्दियों का मूल ब्रह्मचर्य' शीर्षक निबन्ध भी मार्च 1915 के मुजफ्फरपुर से प्रकाशित अंकों में मात्र दो किश्तों में ही देखने को मिल सका। 1936 से कलकत्ता से प्रकाशित 'भूमिहार ब्राह्मण' में भी उनके कई लेख विभिन्न किश्तों में प्रकाशित हैं।

'ईश्वर की सत्ता' 'गीता का योग' तथा 'असली और नकली वेदान्त' शीर्षक उनके निबन्ध गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित 'कल्याण' के ईश्वरांक (1932 ई०), योगांक (1992 सम्वत्) तथा वेदान्तंक (1993 सम्वत्) में देखने का अवसर मिला। कल्याण के ही किसी विशेषांक में मैंने रास पंचाध्यायी और कृष्ण चरित्र सम्बन्धी उनका लेख देखा था। 'जनता' और 'हुंकार' (दोनों पटना से प्रकाशित) से स्वामीजी का घनिष्ठ सम्बन्ध था। 'हुंकार' तो किसान सभा के मुख पत्र जैसा ही था। उसमें स्वामीजी की शतशः रचनाएँ प्रकाशित हैं। स्वामीजी के 42 के बाद के जीवन के विषय में जानकारी के लिये वह पत्र दर्पण हैं।

1936 में लखनऊ में अखिल भारतीय किसान सभा की स्थापना हुई। तव से आजीवन स्वामीजी कभी उसके महासचिव और कभी अध्यक्ष रहे। अखिल भारतीय किसान सभा के 1938 के कोमिल्ला (बंगाल) अधिवेशन तथा 1944 के बैजबाड़ा (आन्ध्रप्रदेश) अधिवेशन के अध्यक्षीय भाषण हिंदी तथा अंग्रेजी में मुद्रित हैं। रामगढ़ (हज़ारीबाग) में जो अखिल भारतीय समझौता विरोधी सम्मेलन हुआ था जिसकी अध्यक्षता सुभाष बावू ने की थी, उसके स्वागताध्यक्ष स्वामीजी ही थे। स्वामीजी का वह स्वागत भाषण मुद्रित है। सम्मेलन के बाद ही स्वामीजी को तीन वर्षों का कारावासदण्ड मिला था। जून 1945 के बंगाल प्रोविन्सियल स्टुडेंट्स कांफरेन्स के आठवें अधिवेशन (मैनन सिंह), केन ग्रोअर्स कोआपरेटिव कान्फरेन्स, पटना (1947) तथा 11 वाँ मुंगेर जिला किसान सम्मेलन, रतनपुरा (वेगूसराय) (1945) के मुद्रित भाषण उपलब्ध हैं। विहार प्रांतीय किसान सम्मेलन शेर घाटी (1942) वारसलीगंज (1945), वेरमो (1946) तथा ढकाइच (शाहाबाद, 1948) के अध्यक्षीय भाषण भी प्रकाशित है।

स्वामीजी का दर्जनों साहित्य पुस्तिकाओं के रूप में विखरा है। स्वामीजी को समझने के लिए वे बहुत ही उपयोगी हैं जिनकी सूची एक अध्याय में दी गई है। स्वामीजी का बहुत-सा विखरा साहित्य आज भी एकदम प्रासंगिक है।

स्वामीजी की दो पुस्तकों की (झारखण्ड के किसान, खेत मजदूर) पांडुलिपियाँ प्रकाशन से पहले ही लुप्त हो गई। उनका पता लगाया जाना चाहिए। अमेरिकी विद्वान् वाल्टर हाउजर ने किसान आंदोलन पर शोध कार्य के सन्दर्भ में इनका उपयोग किया था। उसने अपने प्रवन्ध में इनसे उद्धरण भी दिये हैं। हाउजर से इन पांडुलिपियों के विषय में जानकारी प्राप्त की जानी चाहिए। सम्भव है उनके माध्यम से यदि मूल नहीं तो उसकी माइक्रोफिल्म ही उपलब्ध हो जाय।

दण्डी स्वामी विमलानन्द सरस्वती ने मुझे बतलाया था कि स्वामीजी की 'किसान क्या करें' पुस्तक छः भागों में लिखी गई थी। उसके तीन ही भाग प्रकाशित हैं। शेष तीन की भी खोज जारी रहनी चाहिए। हम चौधरी राज नारायण शर्मा, विशारद, ग्रा० श्री रामपुर अयोध्या, डा० बैनी जि० समस्तीपुर, बिहार, के प्रति विशेष आभारी है। 70 वर्ष से अधिक की उम्र है, साधन विहीन ग्राम्य जीवन है। फिर भी उन्होंने इस शताब्दी वर्ष में अपना श्रम और धन लगाकर स्वामीजी के विखरे साहित्य के विषय में जानकारी प्राप्त करने की यथाशक्ति कोशिश की है। दण्डी स्वामी विमलानंद सरस्वती जी ने बक्सर में स्वामीजी का एक भव्य स्मारक तो बनावाया ही, चिरकाल से अनुपलब्ध स्वामीजी के 'गीता हृदय' का द्वितीय संस्करण व्यक्तिगत प्रयास से प्रकाशित कराया। उनकी नवीनतम रचना 'देवा की दिव्य विभूति' मुक्त छन्द में स्वामीजी का जीवन है जिसमें 1940 के बाद के कार्यकलापों पर भी प्रकाश डाला गया है। स्वामी विमलानंदजी ने स्वामीजी को निकट से देखा था। यह जीवन काव्य इस शताब्दी वर्ष में ही प्रकाशित हो जाना चाहिए। श्री राघव शरण शर्मा स्वामीजी के खोये साहित्य के अनुसंधान में लगे रहते हैं। वे शोधार्थी छात्रों को किसान आंदोलन और स्वामीजी पर शोध के लिये प्रेरित तो करते ही रहते हैं, उनकी भरपुर सहायता भी करते है। डा० जी०के० राय प्राचीन इतिहास विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय ने इस वर्ष मार्च महीने में अपने

विभाग में स्वामीजी पर एक भव्य सेमिनार का आयोजन किया। उसमें पठित निबंधों का प्रकाशन अपेक्षित है।

प्यूपिल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झाँसी मार्ग, नई दिल्ली स्वामीजी का सम्पूर्ण किसान साहित्य क्रमशः प्रकाशित कर रहा है। श्री केशव प्रसाद शर्मा, संस्थापक, स्वामी सहजानंद सरस्वती विद्यापीठ महाविद्यालय, गार्जीपुर ने इस शताब्दी वर्ष में स्वामीजी के ब्रह्मर्षि वंश विस्तार का नया संस्करण व्यक्तिगत प्रयास से प्रकाशित कराया। शर्मा जी का प्रयास है कि स्वामीजी का सम्पूर्ण साहित्य ग्रंथावली के रूप में इस शताब्दी वर्ष में प्रकाशित होकर अल्पतम मूल्य में पाठकों को उपलब्ध हो जाय। इस शुभ कार्य में उनके महान् सहयोगी हैं श्रीकृष्ण गोपाल सिन्हा, कलकत्ता तथा श्रीकृष्ण चन्द्र बेरी. हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी।

स्वामीजी के वैजवाड़ा भाषण के निम्नलिखित शब्दों को उद्धृत करते हुए मैं उन्हें इस शताब्दी वर्ष में श्रद्धा के सुमन अर्पित करना चाहता हूँ :

"सिर्फ एक ही श्रेणी के लोग किसान ही हैं—जिनके अनन्त स्वार्थ त्याग से ही यह दुनिया टिकी हुई है। सचमुच यह बड़े ही दुःख की बात है कि जबकि वे किसान अपने वार्षिक घरेलू बजट में दूसरे सबों के लिये पूरी ताकीद और गुंजायश रखते हैं—देवी और देवता, साधु और फकीर, भिखमंगे और नेता, पुलिस और मैजिस्ट्रेट, शासक और शोषक, उपदेशक और गुरु, और यहाँ तक कि मृतात्माओं के लिये भी—कोई किंचित मात्र भी उनके लिये परवाह नहीं करता और न उनके सम्बन्ध में कुछ क्षण सोचने-विचारने का कष्ट ही उठाता है। नहीं तो, यह पूरा का पूरा किसान वर्ग क्यों अधपेटा खाकर अधनंगा रहता है? वे दूसरों को खाना-पहनना देते हैं तो क्या यह दूसरों के लिए न्याय और उचित है कि उनके लिये कुछ न करें? क्या किसानों का जो ऋण उन पर लदा है, उसे वे नहीं चुका सकते अथवा उन्हें नहीं चुकाना चाहिए? इस विषय में क्या वे सचमुच ही असमर्थ है? जबकि जमींदार और पैसे वालों के कुत्ते, बिल्ली, चूहे, शेर आदि किसानों की गाढ़ी कमाई पर गुलछर्रे उड़ाते हैं, किसान इन जानवरो के व्यवहार में आनेवाले अच्छे खान-पान और वस्त्र का एक भाग भी पाने के हकदार नहीं? क्या वे जमींदारों, राजाओं, और अफसरों द्वारा प्यार भरी बातें सुनने के भी अधिकारी नहीं? क्या किसान जानवरों से भी कम उपयोगी और गये गुजरे हैं? धनिकों के कुत्ते पहले दर्जे में सफर करते हैं और सोने के प्याले में दूध पीते हैं! किन्तु किसानों, उनके बच्चे-बच्चियों को तीसरे दर्जे में भी सफर करने का साधन नहीं। उन्हें रोटी के टुकड़ों के भी लाले पड़े हैं! जबकि जमींदारों के कुत्ते अच्छी से अच्छी मोटर गाड़ी में उनकी गोद में बैठते हैं, किसान उन तक फटक भी नहीं सकते! उन्हें बैलगाड़ी तक नसीब नहीं? यह बात किसी की बुद्धि में नहीं अँटती और इससे दिल के टुकड़े हो जाते हैं। इसे लोग दुर्भाग्य कहते हैं। किन्तु यह एकमात्र सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक अंधेर खाता है। चाहे जैसे हो, इसे तो बन्द करना ही होगा और यह जितना शीघ्र बन्द हो जाय उतना ही अच्छा।"

6

ज्योतिर्मय जीवन-धारा

—सुरेन्द्र नाथ दीक्षित

शास्त्र पारंगत सन्यासी, सक्रिय समाज-सुधारक, भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के महान योद्धा एवं किसान-मजदूर के परम्परागत शोषण एवं दमन के विरूद्ध अविराम संघर्ष करनेवाले स्वामी सहजानन्द का व्यक्तित्व विलक्षण गुणों का सम्मिश्रण था। उनकी जीवन-शैली एवं जीवन-दृष्टि स्पष्टतया उनके सन्यास जीवन के विविध अनुभवों एवं गहन आध्यात्मिक चिंतन से अत्यधिक प्रभावित रही। निस्संदेह उत्तराखंड की साहसिक यात्रा ने ही उन्हें सदा के लिए एक कठोर जीने की शैली वता दी। उसी प्रकार संस्कृत-व्याकरण के मंथन एवं न्याय, दर्शन तथा मीमांसा के रहस्यों की जानकारी उन्होंने काशी, मिथिला एवं गुजरात के उदभट विद्वानों की सेवा कर प्राप्त की, लेकिन उसी क्रम में उनके मन में तथाकथित धार्मिक स्थलों एवं व्यक्तियों के प्रति एक क्षोभ भी पैदा हो गया। अपने गुजरात प्रवास में स्वामीजी ने इस सत्य का अंतर में साक्षात्कार किया कि महंथों एवं मठाधीशों के यहाँ सत्य-ज्ञान और विद्या की सही शिक्षा नहीं मिलती, अपितु वे स्वयं सुख-समृद्धि के लिए लालायित रहते हैं और भोग-विलासमय लौकिक जीवन-धारा में आकंठ डूवे रहते हैं।

सन्यास-जीवन की अवधि में ही दीक्षा-गुरु स्वामी अच्युतानन्द की सरलता एवं सहजता ने सहजानन्द को इस प्रकार अनुप्रेरित एवं आप्लावित कर दिया कि वे सम्पूर्ण जीवन महाभारत की इस सार-सूक्ति से अनुप्राणित होते रहे कि "परोपकार पुण्य के लिए, पर पीड़ा पाप के लिए।" उनके हृदय में तुलसीदास की यह वाणी कौंध-कौंध उठती—

"पर उपकार सरिस धर्म नहीं भाई,
पर पीड़ा सम नहीं अधर्माई।"

इस प्रकार अद्वैत युवा-सन्यासी के जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य यह 'द्वैत चिंतन' वन चुका था कि दुखी व्यक्ति के दुखहरण के लिए कोई भी कष्ट उठाना, कोई भी खतरा मोल लेना परम कर्त्तव्य है। उसी समय अपने गुरु भाई स्वामी पूर्णानन्द जी के आग्रह पर वे वलिया में आयोजित भूमिहार-ब्राह्मण सभा को सम्बोधित करने पहुँचे। स्वामीजी के भाषणों में उनके तप, त्याग और शास्त्रों के गहन अनुशीलन की ऐसी झलक मिलती मानो उनकी प्रखर वाग्धारा धारदार तलवार की तरह दैवी निर्भीकता के साथ तीव्र प्रहार करती चलती। उन्होंने इस जातीय सभा को सम्वोधित करते हुए सर्वप्रथम यह प्रमाणित किया कि "भूमिहार

ब्राह्मण ही हैं न कि अब्राह्मण" । परन्तु, वेद, वेदान्त, उपनिषद एवं धर्मशास्त्रों के रचयिता के वंशज ये भूमिहार-ब्राह्मण अपने पूर्व गौरव एवं अस्मिता को भूल चुके हैं ।

प्राचीन भारतीय इतिहास के अन्वेषियों के लिए गहन अनुसंधान का यह विषय है कि आखिर किन परिस्थितियों के प्रभाव से भूमिहार-ब्राह्मणों का सम्पर्क विद्या-व्यवसाय से बिल्कुल टूट गया और वे एकदम कृषिजीवी बनकर रह गए। सम्भवतः बौद्ध-धर्म के ह्रास काल में धर्म-परिवर्तन के शिकार ब्राह्मण बौद्ध विद्या के सम्पर्क में तो नहीं ही रहे साथ ही परम्परागत भारतीय विद्या से भी उनका सम्पर्क टूट गया । परिणामतः वे केवल 'भूमिधारी' (भूमिहार) बनकर रह गए। इसमें भी आश्चर्य नहीं कि बिहार एवं उत्तर प्रदेश के बहुत मठ एवं मंदिर मूल रूप से बौद्ध बिहार रहे हैं, तथा ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान एवं बौद्ध धर्म के ह्रास-काल में वे उन मठों के स्वामी बन गए । महायाण एवं वैष्णव धर्म की अवधारणाओं में अत्याधिक पारस्परिक साम्य भी है ।

स्वामीजी की जीवन-यात्रा का यह महत्वपूर्ण काल था जब वे पहले-पहल जातीय पुनर्जागरण के माध्यम से समाज-सुधार के कर्म-क्षेत्र में पूरे वेग और साहस के साथ कूद पड़े । भूमिहार ब्राह्मण समाज में स्वामीजी द्वारा जातीय पुनर्जागरण के शंख उद्घोष ने थोड़े समय के लिए ही सही इस अज्ञान ग्रस्त जाति को विस्मृत ब्राह्मणत्व के प्रति अनुप्राणित करते हुए उन्हें जीवन के हरेक बिन्दु पर उद्भासित करना प्रारम्भ कर दिया ।

स्वामीजी के स्वभाव की विलक्षणता थी कि जब कोई बात मन में बैठ जाती तो उसको पूरा करने के लिए सर्वात्मना समर्पित हो जाते । यही कारण है कि भूमिहार-पुनरुत्थान के संदर्भ में स्वामीजी ने शास्त्रों का गहन मन्थन करने के साथ-साथ गाँव-गाँव घूमकर इस जाति के मूल-गोत्र, उनके उद्भव-विकास, कान्यकुब्ज, सरयुगपारी, गौड़ और मैथिल ब्राह्मणों के समानान्तर सम्बन्धों की प्रामाणिक खोजकर पाँच सौ पृष्ठों का ब्रह्मर्षि वंश विस्तर लिख डाला । यथास्थितिवादियों द्वारा प्रस्तुत बेशुमार चुनौतियों के बावजूद स्वामी सहजानन्द ने भूमिहार-ब्राह्मणों द्वारा पौरोहित्य कार्य को सम्पन्न कराने के लिए एक सक्रिय आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया तथा युवा आन्दोलनकारियों के हाथों में 'कर्म कलाप' जैसा कर्मकाण्ड का रचनात्मक ग्रन्थ थमा दिया, जिसके फलस्वरूप एक नयी मानसिकता का जन्म हुआ । निश्चित तौर पर इस सांस्कृतिक पुनर्जागरण के फलस्वरूप भारतीय शास्त्रीय विद्या का प्रचार-प्रसार हुआ ।

इस प्रकार दयानन्द की भाँति स्वामी सहजानन्द ने संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन पर स्थापित ब्राह्मणों के एकाधिकार को समाप्त करने का एक ऐसा आन्दोलन चलाया, जिसके स्वस्थ एवं रचनात्मक प्रभाव के कारण भारतीय विद्या के अध्येता एवं अध्यापक हिन्दू समुदाय में तो बढ़े ही, साथ-ही-साथ मुसलमानों और इसाईयों में भी बढ़ने लगे । अपने सांस्कृतिक दाय को पहचानने एवं अपनी गौरवमयी परम्परा को महसूस करने की प्रेरणा अन्य जातीय समुदायों में भी और अधिक वेग से जाग उठी । वस्तुतः यह जातीय पुनरुद्धार महत्तर सांस्कृतिक पुनर्जागरण का एक अभिन्न अंग था जिसके कार्यान्वयन के लिए स्वामीजी सतत् संघर्षरत रहे ।

इस प्रकार स्वामीजी रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, ईश्वरचंद विद्यासागर जैसी महान विभूतियों की श्रृंखला में स्वाभाविक रूप से जुड़ गए।

मन्त्र किसी जातीय पुनरुद्धार के दायरे में सिमटकर रह जाने वाला व्यक्तित्व स्वामीजी का नहीं था। फलत: खिलाफत आन्दोलन के क्रम में गाँधी की 'आँधी' ने स्वामीजी को राष्ट्रवाद की उफनती लहर में धकेल दिया। सनातन धर्म के जीवन-मूल्यों के प्रति कटिवद्ध स्वामीजी स्वाधीनता संग्राम के योद्धा बन बैठे। भला स्वामीजी जैसा अन्याय एवं शोषण के विरूद्ध संघर्षरत योद्धा पराधीन भारत की शोषित आत्मा की मुक्ति के इस महायज्ञ में अपनी आहुति कैसे न देता !

वे पूर्वी उत्तर प्रदेश से लेकर वेगूसराय के विशाल क्षेत्र में गाँधी के संदेश का प्रचार करने गाँव-गाँव भ्रमण करते रहे तथा चरखा और तकली एवं तिलक स्वराज्य फंड के लिए गर्मी की जलती धूप में अविराम चलते रहे। जनवरी 1922 को वे कैद कर लिए गए। अपनी जेल-यात्रा के क्रम में उन्होंने यह अनुभव किया बहुत-से सत्याग्रही गाँधी की हिदायतों के बावजूद अनुशासनहीन सुख-समृद्धिमय जीवन के लिए बेचैन रहते हैं। इसके विपरीत जेल-यात्रा के क्रम में ही उनमें हिन्दू मुसलमान की पारम्परिक भेद-नीति से ऊपर उठकर राष्ट्रीयता एवं उदार मनुष्यता को महसूसने की प्रेरणा जागी। उन्होंने देखा कि मौलाना सत्याग्रही कुरान की आयतों की खोज कर यह बताते कि उनमें दूसरे धर्म एवं सम्प्रदाय के प्रति कोई भी घृणा-भाव नहीं है। स्वामीजी यह समझने लगे थे कि तथाकथित धर्म का प्रश्न बिल्कुल बाहरी और दिखावटी है।

पुन: कट्टरवादी ब्राह्मणों की चुनौती के जवाब में उन्होंने बिहटा, पटना में अपनी सामाजिक क्रांतिकारी विचारधारा के प्रतीक के रूप में सीताराम आश्रम का जन्म दिया, जहाँ पर वेद-अध्ययन, ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन, देश-सेवा आदि की भावना पल्लवित एवं पुष्पित होने लगी। स्वामीजी ने इस आश्रम को अपना वर्चस्व ही नहीं सर्वस्व अर्पित कर दिया। इसी आश्रम से उन्होंने भूमिहार शोषक जमीन्दारों के विरूद्ध संघर्ष छेड़ दिया जिसका आयाम सामाजिक क्रांति से कहीं अधिक व्यापक और प्रभावी था। इन्हीं संघर्षों की ज्वाला में जूझते हुए स्वामीजी के मन में किसान सभा ने जन्म ले लिया था।

शोषित किसान जमीन्दारों के जुल्म से इतना आतंकित थे कि कोई भला किसान मसौढ़ी में अपनी लड़की व्याहता तक न था, जान-बूझकर अपनी लड़की की इज्जत खतरे में कौन डाले ! किसानों के शोषण एवं दमन के खिलाफ प्रारम्भ किए गए किसान-आन्दोलन का एक महत्वपूर्ण केन्द्र सीताराम आश्रम बन गया। किसानों की समस्या की ओर एक बार आकृष्ट हो जाने के बाद स्वामीजी अपने जीवन के अंतिम क्षणों तक यदि एक ओर देश की आजादी के लिए अथक भाव से जुझते रहे तो दुसरी ओर किसानों के जायज हक के लिए भी संघर्ष करते रहे। कांग्रेस में रहते हुए एवं देश की आजादी के प्रति प्रतिवद्ध रहने के बावजूद जमींदारी प्रथा का नाश उनके जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य बन गया।

स्वामीजी पर साम्यवाद का गहरा प्रभाव पड़ चुका था। परन्तु, द्वितीय विश्वयुद्ध के समय रूस पर हिटलर द्वारा आक्रमण हो जाने के कारण भारतीय

साम्यवादी मित्र–राष्ट्रों (जिसमें ब्रिटेन भी था) के खिलाफ कोई भी संघर्ष नहीं करना चाहते थे, जबकि गाँधी, कांग्रेस, जयप्रकाश नारायण जैसे समाजवादी नेताओं ने अँगरेजी हुकूमत के खिलाफ भीषण संघर्ष शुरू कर दिया था। ऐसी घटनाओं ने स्वामीजी को एक द्वन्द्वात्मक स्थिति में डाल दिया। निश्चय ही स्वामीजी जैसा जुझारू व्यक्तित्व 1942 से लेकर 1950 तक अपनी राह तलाशता रहा।

स्वामीजी का जीवन अन्याय एवं शोषण के विरूद्ध संकल्पित संघर्षों की एक कहानी है। उत्पीड़न एवं शोषण के विरूद्ध अपने अनवरत संघर्षों के कारण वे यदि एक ओर महात्मा बुद्ध से तुलनीय हैं, तो दूसरी ओर भारतीय विद्या के पुनरूत्थान एवं प्रचार-प्रसार में अपना सक्रिय योगदान देने के कारण वे आदि शंकराचार्य की श्रेणी में आते हैं।

□

7

देवा की दिव्य विभूति

—दंडी स्वामी विमलानन्द सरस्वती

जिस प्रकार कि—
परम रम्य, गोमुख से निकली
प्रवाहमान गंगा की धारा
अपना आपा त्याग अंत में
शांत महासागर से मिलकर
होती जाती है
तदाकार तद्रूप
वैसे ही वह
ब्रह्मलोक से
धराधाम पर उत्तरी
विमल सच्चिदानन्द स्वरूपा
ब्राह्म-विभूति अलौकिक
ब्रह्मलोक में पहुँची,
मिली परात्पर पुरुष दिव्य से,
अमृतत्व निर्वाण शांति का
शुभ शाश्वत सुख प्राप्त किया।
कुछ प्राचीन सुविस्तृत
और समादृत
धर्मग्रंथ,
इतिहास—पुरातन
तथा पुराण—कथाएँ
हमें बताती हैं कि,
प्रबल अविध्या'—अंधकार धन
जब धरती को ढँकलेता है,
और सुअवसर पाकर
सबल बनी आसुरी शक्तियाँ
दंभ दर्प अभिमान क्रोध में
सुधि-बुधि खोकर
मतवाली-सी
अतिविकराल रूप धर
मानवता को
पीड़ित और प्रताड़ित करतीं

और उन्हीं के
दुराग्रही माया-सुत
पूँजीपतियों सामंतों की
अपनी सिरजी
घोर विषमता का, अति व्यापक
कालकूट विष दाहक,
दिव्य कला संस्कृति या
दृश्यमान इस
सकल भौतिकी
सुभग सभ्यता
तथा चतुर्दिक फैले
सुख-सुविधा साधन अनूप के
सृजनहार इन
मनु के भोले
कोटि-कोटि श्रद्धेय वंशजों
दलित किसानों मजदूरों को
नित्य जलाता दुख देता है,
उसी संकटापन्न समय में
उन अगणित कंठों का
आर्त्तनाद सुन
विधि-विधान-अनुप्राणित
सहज-लोक-मंगल-व्रतधारी
सर्वकाम सर्वज्ञ
विष-पायी दैवी विभूतियाँ
दिव्य तेज संपन्न अभय हो
धरती पर आती हैं,
और अमित पुरुषार्थ त्याग तप
विहित कार्य कौशल से
जनहित के उद्दिष्ट कार्य को
विधिवत पूरा करके
परमधाम जाती हैं ।
महामनीषी संत विप्लवी
यती शिरोमणि
स्वामी सहजानन्द सरलचित
करूणा की प्रतिमूर्ति सजीव
ऐसी ही विभूति थे,
जिन्हें करूण-क्रन्दन सुन
शोषित पीड़ित
दीन किसनों मजदूरों का,
त्याग-धर्म का—
परम्परागत मार्ग प्रपंची
कठिन रूढ़ियों-वाला
वर्त्तमान के
ठने हुए कुरूक्षेत्र समरमें
योगयुक्त हो,
सत्य न्याय का
सबल पक्षधर वनकर,
विकट मोह संशय-विषाद में
पड़े हुए उन
किंकर्त्तव्यविमूढ़ जानों का
रथ हाँकना पड़ा समय पर
अनुपम शंख फूंक प्रज्ञा का !
और आजीवन
योगीश्वर
श्रीकृष्ण की भाँति,
निस्पृह निरभिमान निर्लेप
उन्हीं की सात्विक सेवा में,
उनके अभ्युदय विकास के
पुण्यकार्य में लगे रहे वे ।
उनका शुभ संदेश मार्मिक
सार-युक्त यह है कि—
'ये किसान-मजदूर वस्तुतः
नारायण के ही स्वरूप हैं,
सार्वभौम जनता ही
जगन्नियंता जनार्दन है ।
जन सेवा ही
उस जगदीश्वर की पूजा है ।
यदि यह मानव-जीवन
सबल बनाना हो तो
निस्पृह सेवा कार्य करो,
यह स्वधर्म है,
यही भजन है,
यही तपस्या पूजा ।
यही अच्युतानन्द महाप्रभु
विभु विराट का
विश्वदेव का
सर्वोत्तम आराधन ।
यही अगम इस भवसागर से
सद्यः पारलगानेवाला
सुदृढ़ सुरक्षित बेड़ा,

यही मुक्ति का
सुलभ-सुलभ शुभ-साधन !
स्वामी जी के
विनयशील—संपोषित
जीवन चरित्र से
यही प्रेरणा मिलती है कि
जनसेवा का
मार्ग कंटाकाकीर्ण कठिन है ।
सेवाधर्म सुकृत श्रेयस्कर
परम गहन है ।

त्याग तितिक्षा
अमित धैर्य साहस का
उपयोगी पाथेय साथ ले
दत्तचित्त होकर इस ओर
कदम बढ़ाना होगा;
कर्मक्षेत्र में
कितनी ही बाधायें
आती धकियाती हैं,
लेकिन कर्मठ व्यक्ति कभी भी
तनिक नहीं घबड़ाते,
आगे आई चुनौतियों का
शीघ्र सामना करते हैं ।

वस्तुतः कठिनाइयाँ
कर्मशील जीवन का
पथ प्रशस्त करने आती हैं ।
उनके आ जाने पर
न तन सेवा न मन सेवा
न जीवन और धनसेवा
जिन्हें थी इष्ट जनसेवा
सदा सच्ची भुवन-सेवा,

ऐसे अमृतपुत्र महान्
स्वामी सहजानन्द विलक्षण
मुनि महर्षिवर
मानवता के सच्चे प्रहरी
और वस्तुतः
धर्म प्राण इस पुण्य भूमि के
अतिबल धर्मदूत पटु
महाप्राज्ञ गौरव स्वरूप थे,
और दिव्य नवयुग के
प्रखर प्रदीप्त
मध्यकालीन
सूर्य की भांति
तेजस्वी बन
तपते रहे सदा ही ।

युग निर्माता महापुरूप वे
वंदनीय हैं
पूजनीय हैं
विद्या-विनय-शीलव्रत
त्याग—तपस्या
धर्म-नीति के
राजनीति के के
सभी कार्य उन शुभ
सर्वभूत हितकारी
अनुकरणीय स्तुत्य हैं ।

8

बौद्धिक कृतियाँ : धर्म का मिथक

—संजय सिन्हा

पूर्व के अध्यायों में स्वामी सहजानन्द सरस्वती के जीवन की मुख्य घटनाओं का एक संक्षिप्त विवरण दिया जा चुका है। उसी संदभ में यह प्रासंगिक है, कि उनके जैसे मूर्धन्य विद्वान की बौद्धिक रचनाओं की एक संक्षिप्त झाँकी प्रस्तुत की जाय। इन दोनों अंशों को मिलाकर स्वामीजी के सम्पूर्ण जीवन-परिचय का संक्षिप्त विवरण पाठकों को मिल जायगा।

स्वामीजी की बौद्धिक रचनाओं को मुख्यत: चार भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम श्रेणी में वैसी शोध-कृतियाँ होंगी जिनके सारे साक्ष्य लगभग वेद-पुराण एवं शास्त्रों से लिये गये हैं। धर्म, परम्परा, जाति और कर्म की दृष्टि से ये अत्यन्त ही शोध–परक हैं। दूसरी श्रेणी में वैसी पुस्तकें आती हैं, जिनके शीर्षक से तो पुराने धर्म के प्रति उनकी प्रतिबद्धता दृष्टिगोचर होती है, किन्तु उनमें धर्म और कर्म को आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से रखा भी गया है और उन पुरानी चीजों का नया भाष्य भी प्रस्तुत किया गया है। तीसरी कोटि में वैसी रचनाएँ हैं, जिनका सीधा सम्बन्ध राजनीति और समाज की समस्याओं एवं उनके निदान से है। चतुर्थ श्रणी में पत्रकारिता को रखा जा सकता है जो रचनाएँ मिश्रित विषयों पर हैं। इसी तरह, उनकी कुछ पुस्तकें भी मिश्रित विषयों पर आधारित हैं। इनके अतिरिक्त स्वामीजी की कई व्याख्यान-मालाएँ तथा विभिन्न विषयों पर उनके मत भी संकलित हैं जिनकी संक्षिप्त जानकारी अध्याय पाँच से कुछ मिल जाती है। फिर एक नयी कोटि में उनकी अप्रकाशित रचनाएँ, डायरी, संस्मरण, छिटपुट भाषण एवं अन्य सामग्रियाँ हैं।

स्वामीजी कोई पेशेवर अथवा अवसरवादी बुद्धिजीवी नहीं थे जो अपनी बौद्धिक अभिव्यक्ति के संदर्भ में किसी निहित स्वार्थ से अभिप्रेरित होते अथवा "कथनी-करनी" के द्वन्द्वात्मक विरोधाभास से ही प्रभावित होते। वे किसी विषय अनुशासन के वैसे विशेषज्ञ भी नहीं थे जो उसके दुरूह तकनीकों से बोझिल होकर अनावश्यक बौद्धिक विवाद की उलझती गुत्थियों के शिकार होते। वे तो एक ऐसे चिन्तक थे जो स्वअर्जित बौद्धिक सम्पदा का विश्लेषण कर्म-क्षेत्र की प्रयोगशाला में व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर करने के बाद ही किसी निष्कर्ष पर पहुँचते थे। यह ध्यान देने योग्य है कि स्वामीजी की बहुमुखी प्रतिभा एवं उनके जीवन के विविध अनुभवों ने उनकी रचनाओं को स्पष्टतया गहरे रूप से प्रभावित किया। यही कारण है कि उनकी रचनाओं को किसी विशेष वर्ग में रखना कठिन है, क्योंकि उनकी रचनाओं में धार्मिकता, सामाजिकता, राजनीति आदि मिश्रित रूप से प्रतिबिम्वित होती है।

उपर्युक्त कथन की पुष्टि उनकी वर्णित रचनाओं की निम्नलिखित अधूरी सूची से स्पष्ट हो जायगी :—

(क) शोधपूर्ण सामाजिक रचनाएँ :—

1. भूमिहार ब्राह्मण परिचय
2. ब्रह्मर्षि–वंश-विस्तर
3. ब्राह्मण कौन ? (?)
4. कर्म–कलाप
5. ब्राह्मण-समाज की स्थिति
6. गीता-हृदय
7. झूठा भय, मिथ्या अभिमान

(ख) किसान–मजदूर एवं जमींदार की समस्याओं से संबधित रचनाएँ:—

1. किसान कैसे लड़ते हैं ?
2. किसान के दावे और कार्यक्रम का खरीता
3. जमींदारी का खात्मा कैसे हो ?
4. Abolition of Zamindari
5. किसान के दोस्त और दुश्मन
6. किसान क्या करें ?
7. बिहार प्रांतीय किसान सभा का घोषणा-पत्र
8. किसानों को फँसाने की तैयारियाँ
9. किसानों ! हाल में बने काश्तकारी कानून का विरोध करो !
10. सभापति का भाषण, 10वां बिहार प्रांतीय किसान सम्मेलन, सोनपुर, 1943
11. On the other Side of the Shield
12. तगमे का दूसरा रूख
13. जमींदारी क्यों उठा दी जाय ?
14. महारूद्र का महातांडव
15. झारखण्ड के किसान
16. भूमि-व्यवस्था कैसी हो ?
17. किसान आंदोलन क्यों और क्या ?
18. Rent Reduction in Bihar : How it works ?
19. खेत-मजदूर
20. भोजपुर जिले के ठकांइच गाँव में किसानों के सम्मेलन में अध्यक्षीय भाषण
21. गया जिले में सवा दो मास
22. गया के किसानों की करूण कहानी
23. काँग्रेस तब और अब ?
24. किसान आन्दोलन क्यों और क्या ?

(ग) राजनीति, राष्ट्रीयता एवं क्रांति से सम्बन्धित रचनाएँ:—

1. क्रांति और संयुक्त मोर्चा
2. जंग और राष्ट्रीय लड़ाई
3. अब क्या हो ?
4. क्षय (?)

(घ) आत्म–कथा

1. मेरा जीवन-संघर्ष
2. किसान-सभा के संस्मरण
3. अप्रकाशित डायरी
4. अप्रकाशित पत्राचार

(ङ) पत्र-पत्रिकाएँ :

1. जनता (पटना)
2. हुंकार (पटना)
3. भूमिहार-ब्राह्मण (काशी, कलकत्ता)
4. कल्याण (गोरखपुर)
5. विशाल भारत (कलकत्ता)
6. कृषक
7. लोक-संग्रह (समस्तीपुर, पटना)

कुछ चीजों को प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर देना आवश्यक है। वर्णित सूची के कुछ अप्रकाशित अंश इस देश से गायब होकर अमेरिका पहुँच चुके हैं जिनमें **झारखंड के किसान, खेत मजदूर**, सुभाष चन्द्र बोस, अम्बेडकर सरीखे ऐतिहासिक पुरुषों के साथ स्वामीजी के पत्राचार की फाईल, अखिल भारतीय किसान सभा की फाईल आदि प्रमुख हैं। यह भी दावा करना मुश्किल है कि उनकी रचनाओं की उपर्युक्त सूची पूर्ण है, क्योंकि कई ऐसी रचनाएँ हैं, जो हमलोगों की नजर से नहीं गुजरी हैं, और उनमें से कुछ देश से बाहर भी चली गई हैं। वर्णित सूची की कई रचनाएँ अभी भी अप्रकाशित हैं। पुनः कई उपलब्ध पांडुलिपियाँ अमुद्रित भी हैं। वर्णित रचनाओं की अधिकांश महत्वपूर्ण उपलब्ध कृतियों का इस्तेमाल इस संकलन के निबन्धों में वस्तुगत निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए किया गया है। फिर भी विषय के अनुकूल यह आवश्यक प्रतीत होता है कि उनकी कुछ प्रमुख रचनाओं से कुछ ऐसे उद्धरण पेश किये जाएँ, जिनसे स्वामीजी की विचारधारा तथा तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक पृष्ठभूमि और स्थिति की एक झलक मिल सके। इसमें हमारा यह भी प्रयास हुआ है कि वैसी रचनाओं से कम उद्धरण प्रस्तुत किए जाएँ, जो विस्तृत रूप में इस संकलन के किसी-न-किसी निबन्ध में वर्णित हुए हैं।

हमारे समाज में प्राचीन काल से अबतक ब्रह्मणत्व एवं धर्म की अहम भूमिका रही है। इन तत्त्वों ने कभी-कभी जन-जागरण, राष्ट्रीय लहर और सामाजिक प्रेरणा के स्रोत का काम किया है[1]। परन्तु भूलना नहीं चाहिए कि बड़े पैमाने पर इनकी रूढ़िवादी भूमिका रही है तथा सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्रांति के ये कट्टर दुश्मन बने रहे हैं। फलस्वरूप सामाजिक विकास की प्रक्रिया को अवरूद्ध करने में इनका सबसे बड़ा हाथ रहा है, निहित स्वार्थों से भरपूर शोषणात्मक व्यवस्था को कायम रखने में ये चेरी की तरह कार्यरत रहे हैं। इस सन्दर्भ में स्वामीजी ने **महारुद्र का महा-ताण्डव** में बड़े ही ओजस्वी और दो टूक शब्दों में असलियत का पर्दाफास करते हुए वस्तुस्थिति का निम्नलिखित चित्रण पेश किया है[2] :—

“असली किसानों को किसान सभा में लाने में हमारी सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि वे कट्टर भाग्यवादी बन गये हैं, उसने वे सभी कार्यारम्भ शक्ति खो दी है, और भविष्य के लिए वे निराश हो गए हैं। खूबी तो यह है कि भगवान और धर्म के नाम पर ही उनकी यह दशा हो गई है। ऐसा कहा जाता है कि धर्म और भगवान की ओर प्राचीनों का, ऋषियों का और भविष्यदर्शियों का ख्याल इसलिए गया और ये धर्म तथा ईश्वर इसीलिए प्रकट हुए कि आत्मा और जीव की भूख को शांत करें। जीवन भर में संस्कृत साहित्य, भारतीय दर्शनों तथा दूसरे दर्शनों का बड़े चाव और ध्यान से अध्ययन करता रहा हूँ, और उनके द्वारा धर्म तथा भगवान के विषय में थोड़ा बहुत जानने और समझने का दावा भी रखता हूँ। मैंने गीता को भी हृदयंगम किया है और वह मुझे प्रिय है। लेकिन उनमें से किसी में भी उस अतल गर्त्त का पता नहीं लगा, जिसमें अर्वाचीन धर्म ने जनता को ढकेल दिया। इसलिए इस तरह के धर्म को मिट जाना होगा। क्योंकि हमारे जीवन में इसके लिए स्थान ही नहीं है। इसकी तो हालत यह है कि आज यह आत्मा की भूख को शांत करने के बजाय दरअसल कमाने वाली जनता के शोषकों और लुटने वाले

की लिप्सा और तृष्णा की ही संतुष्टि कर रहा हैं, और उसके लिए वायुमंडल तैयार कर रहा है। क्योंकि वास्तव में इसने उस जनता की आत्मा को मार डाला है, उसके भीतर की सभी आरम्भिक शक्तियों को खत्म कर दिया गया है और उसे कट्टर भाग्यवादी बना दिया है। क्या मैं धर्माचार्यों, धर्मोपदेशकों और धर्म-शिक्षकों से एक छोटा-सा प्रश्न करूँ ? क्या सचमुच धर्म और सर्वशक्तिमान भगवान का यही काम है, और अगर यही बात है तो अपने आपको कायम रखने का इन्हें क्या हक है ? वे इस भूमण्डल से मटियामेट क्यों न कर दिये जायँ ? किसान सभा के सभी कार्यकताओं का यह पवित्र कर्त्तव्य है कि अर्वाचीन धर्म की इस प्रबंचना का भण्डाफोड़ करें और ख्याल रखें कि जनता के दिल और दिमाग से इसका जादू एकदम मिट जाय। जबतक ऐसा नहीं हो जाय, जनता के लिए कोई आशा नहीं।"

समाज में बढ़ती हुई कुरीतियों, ब्रह्मणत्व के बढ़ते हुए विनाशकारी कुप्रभावों, तथा सामाजिक विकास की प्रक्रिया को अवरुद्ध होते देख स्वामीजी ने इन रूढ़िवादी तत्वों पर स्पष्ट निम्नलिखित शब्दों में शास्त्र और पुराण के तार्किक आधार पर कठोर प्रहार करना प्रारम्भ किया[3] :---

"वर्त्तमान पुरोहितों की मूर्खता, स्वार्थपरता और अत्याचार के कारण हिन्दु के सम्पूर्ण धर्म-कर्म मिट्टी में मिल गये हैं। धर्म-कर्म के नाम पर या तो कुछ होता ही नहीं, या अगर होता भी है तो सिर्फ स्वांग किया जाता है। क्योंकि प्रायः सभी जजमान और पुरोहित मूर्ख ही होते है; दोनों में कोई भी नहीं जानता कि वास्तविक धर्म, क्रिया या संस्कार क्या पदार्थ है ? इसीलिए स्वार्थी एवं पतित धार्मिक कर्त्तव्यों की नकल करके अपनी दूनी दक्षिणा वसूल कर लेते और अपने सगे सम्बन्धियों के पेट दही, चीनी, पूड़ी और मालपूआ से भर देते हैं। उन्होंने हिन्दु संस्कार को जान-बूझ कर इसलिए धर्म-कर्म के ज्ञान और उनके करने-कराने की विधि से अनभिज्ञ रखा है कि उन मूर्ख पुरोहित, आचार्य ··· ··· उनके बंशजों एवं सगे सम्बन्धियों का इर्सा वहाने से सदा सत्कार-मान होता रहे और इसी के द्वारा हिन्दु समाज पर सर्वदा अपनी धाक जमाएँ रहें। यदि वर्तमान पुरोहितों के बालक जजमान तथा इतर वर्ण के लोग संस्कृत जानेंगे, कर्म-काण्ड में उनका प्रवेश होगा, उनके कराने की विधियाँ उन्हें अच्छी तरह अभ्यस्त होंगी तो मूर्ख पुरोहित नामधारियों को कौन पूछेगा ?·······

"·······चाहे वेदों के पढ़ने के विषय में जो हो, मगर संस्कृत पढ़ने का अधिकार तो शूद्रों को तो था ही। क्योंकि महाभारतादि ग्रन्थों तथा अन्यान्य पुराणों की रचना ही इसीलिए हुई कि शूद्र उन्हें पढ़कर ज्ञान करें, यही सनातन सिद्धान्त है। क्षत्रियों और वैश्यों को तो वेदादि पढ़ने का वैसा ही अधिकार था जैसा ब्राह्मणों को। पर, स्वार्थी पुरोहित वर्ग ने पहले तो शूद्रों को संस्कृत पढ़ाना बन्द किया। पीछे धीरे-धीरे वैश्यों और क्षत्रियों को भी। और अब तो यहाँ तक नौवत आ पहुँची है कि ब्राह्मण समाज में भी उसे ही पढ़ाते हैं जिसे साक्षात या परम्परया पुरोहितों एवं गुरूआई से सम्बन्ध है। पुरोहित से भिन्न ब्राह्मणों को संस्कृत पढ़ाना वे लोग ऐसा ही मानते हैं, जैसा साँप को दूध पिलाना।"

भारत और खासकर बिहार की सामाजिक दुर्दशा के सम्बन्ध में स्वामीजी

ने एक ऐसी दिशा की ओर संकेत किया है जो आज भी हमारे लिए महत्त्वपूर्ण है। बौद्धिक गुलामी का चित्रण करते हुए उन्होंने निम्नलिखित मन्तव्य दिया है[4] :

"आजकल का समय बहुत ही विलक्षण है। जिधर दृष्टिपात करिए उधर ही विचित्र लीलाएँ दृष्टिगोचर हो रही हैं। 'अपनी-अपनी और अपनी-अपनी' की ध्वनि, जिधर आँख उठाइए और कान दीजिए उधर ही गूंज रही है। सभी लोग डेढ़ चावल की खिचड़ी पका रहे हैं। जो बात सामने आती है उसी का चटपट मनमाना फैसला कर देना प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक साधारण बात हो रही है।···· जानने को तो संस्कृत का काला अक्षर भैंस बराबर, परन्तु बड़ी-बड़ी व्यवस्थाएँ लिखी जाने लगी हैं। कोई तो अंग्रेजी की दो चार किताबें पढ़ चट धर्म तथा जाति पाति के निर्णय करने का बीमा उठा लेता है और कोई थोड़ा सा केवल ज्योतिष, व्याकरण अथवा काव्यादि ही पढ़कर पूर्वोक्त विषयों में मनमानी बकने लगता है। यह तो हुई संस्कृत और हिन्दीदांओं की विचित्र कथा।

"अब अंग्रेजीदांओं का भी थोड़ा परिचय कर लीजिए। ····बस चटपट किसी अंग्रेज की बनाई किताब की दो चार बातें किसी जाति के विषय की देखकर तदनुसार ही फोनोग्राफ की तरह स्वर भरने लग जाते हैं। इतना भी नहीं विचारते कि मेरे विषय में उन्हीं अंग्रेजों ने क्या लिखा है, उसे भी तो जरा देख लूँ। उन्हें इससे मतलब ही क्या है? दूसरे की झूठ-मूठ हँसी ठट्ठा करके केवल अपने पवित्र चित्त को सन्तुष्ट करना है। उन्हें बकरे की जान की क्या पड़ी है? केवल अपनी लोलुप जिह्वा के स्वाद से ही प्रयोजन है। साथ ही, यह भी बात है कि यदि वे लोग अपनी जाति तथा दूसरे की दुर्दशा उन्हीं अंग्रेज लिक्खाड़ों द्वारा की गई देख लेंगे तो फिर उनकी आई बाई हजम हो जावे; और लिखने का रोजगार ही मारा जावे; जिससे दूसरों के सामने पूँछ हिलाकर चार पैसे कमा सकना भी असम्भव हो पड़े।····

"लेखक को चाहिए कि जो कुछ लिखे उसकापूर्वा पर विचार लेवे। केवल अंग्रेज लेखकों की दो चार बातों पर भूलकर किसी का दिल व्यर्थ ही दुखाना या उसकी हँसी ठट्ठा करना अच्छा नहीं है। क्योंकि किसी देश की रस्म-रिवाज तथा जाति-पाति के विषय में लिखने वाले अंग्रेजों का यह पूर्व से ही अटल सिद्धान्त रहता है कि जैसे हम लोगों में इसका विचार नहीं है वैसे ही भारतादि देशों में भी प्रथम नहीं था। बस, इसी सिद्धांत की पुष्टि के लिए वे लोग दिलोजान से परिश्रम करते और छिद्रान्वेषण करते रहते हैं। अन्त में पुराणादि के दो चार आख्यानों तथा आचारों को पढ़, सुनकर सब जातियों के धोने में अग्रसर हो जाते हैं। उनको इस प्रकार सब जातियों को हल कर एक सिद्ध करने में जन साधारण की कल्पित किम्बदन्तियाँ बड़ी सहायक हुआ करती है। इसी लिए इस तरफ उनका ध्यान बहुत ही रहा करता है और प्रायः उनकी सभी पोथियों में उनकी ही भरमार पाई जाती है····

"अपराध तो सरासर हम भारतीयों का है, जो एक दूसरे के निपट द्रोही बने हुए हैं। जहाँ एक ही जाति में एक दूसरे को नीच बनाने का रात दिन यत्न हो रहा है और इसी की पूर्ति के लिए गढ़न्त पुस्तकें लिखी तथा नई-नई किम्बदन्तियाँ गढ़ी जा रही हैं, वहाँ एक जाति दूसरे के साथ ऐसा करे, इसमें आश्चर्य ही क्या?

अन्त में फल इसका यह होता है कि दूसरे की निन्दा के लिए ऐसी कल्पना है वह भी उसकी निन्दा के लिए ऐसा ही किया करता है और ऐसा करने में बड़े-बड़े ग्रन्थ पुराण तथा उपपुराणों के नाम से रच दिए जाते हैं, या बड़े-बड़े कल्पित इतिहास तथा उपन्यास तैयार कराकर उनमें ही कुछ-न-कुछ सटा दिया जाता है। जिसका प्रतिफलरूप महान् अनर्थ यह हो जाता है कि वे वैदेशिक लोग उन्हीं बातों तथा किम्वदन्तियों को ले उड़ते और उसी आधार पर सभी जातियों को स्वाहा कर डालते हैं और उन्हीं की कल्पित बातों को लेकर आज-कल के हमारे नई रोशनी वाले बहुत-से अंग्रेजी तथा हिन्दी ग्रन्थों, समाचार पत्रों और पत्रिकाओं के मनमाने लिक्खाड़ भी फैसला करने लग जाते हैं। धिक्कार है हमलोगों की आर्यता, भारतीयता और हिन्दुपन को ! हम इस प्रकार दूसरे के पांव चलने वाले हो गए कि अन्त में जाति पाति और धर्म के विषय में उन्हीं के ग्रन्थों का प्रमाण देते हुए लज्जा भी नहीं करते और न पूर्वापर विचार करते हैं।"

स्वामीजी के उपर्युक्त दो टूक बक्तव्य से इतना स्पष्ट है कि वे 'फूट डालो और राज करो' की साम्राज्यवादी नीति का पर्दाफास कर भारतीय प्रगतिशील तत्व को सचेत कर रहे थे। अंगरेज और उनके भारतीय सामन्ती, सम्प्रदायवादी और रूढ़िवादी मित्र जात-पात का निरर्थक उलझन पैदाकर भारत की प्रगति अवरुद्ध कर अपनी प्रभुसत्ता अक्षुण्ण रखने में व्यस्त थे। अपनी हेतु-सिद्धि का माध्यम बनाने में ग्रीयरसन और रिसले[5] जैसे अंगरेज विद्वान वर्णित पद्धति पर पुस्तकें लिखने में व्यस्त थे। उनके भारतीय अनुयायी वैसी-वैसी रचनाओं और विद्वानों को अपना आदर्श मान एक दूसरे की जाति को नीचा दिखाने में उन्हीं ग्रन्थों से सामग्री एकत्र कर नई-नई रचनाएँ तैयार कर रहें थे जिससे अनावश्यक जातीय दंगल होने की सम्भावनाएँ बढ़ रही थी। ऐसी रणनीति से साम्राज्यवादी और सामन्ती तत्वों का पौ बारह हो रहा था और भारतीय गलत साक्ष्यों के आधार पर जातीय खेमों में बट रहे थे। इससे जातीय नफरत और तनाव प्रज्वलित हो गया जो साम्राज्यवादी सत्ता को मजबूत करने के लिए आवश्यक था।

वर्णित सन्दर्भ में स्वामीजी की ही दो पुस्तकों को लें—**ब्रह्मर्षि-वंश-विस्तर** और **कर्न-कलाप** जो शोधपूर्ण एवं ठोस प्रमाण पर आधारित हैं, किन्तु रूढ़िवादी ब्राह्मण तत्वों ने इन पुस्तकों को आधार बनाकर भूमिहार और मैथिल ब्राह्मणों के बीच साम्राज्यवादी हित में निरर्थक तनाव की स्थिति पैदा कर दी। अंगरेजों के बताए गए मार्ग दर्शन के अनुरूप अपने निहित स्वार्थ की रक्षा के लिए **भूमिहार-भ्रम-भंजन** नामक पुस्तक लिखी गई जो भूमिहारों के सम्बन्ध में गलत तस्वीर पेश करती थी। उसी प्रकार एक सरकारी मुलाजिम **सन्त प्रसाद शर्मा ने प्रतिक्रियात्मक जवाबस्वरूप मैथिलों के सम्बन्ध में भ्रामक तस्वीर पेश करते हुए मैथिल-मान-मर्दन नामक पुस्तक की रचना कर दी।** दोनों ही पुस्तकें साम्राज्यवादी बौद्धिक गुलामी के प्रतिफल थे।

इस कोटि की स्वामीजी की रचनाओं के सम्बन्ध में कुछ निष्कर्षात्मक शब्द आवश्यक है। ब्राह्मण के निहित स्वार्थ पर प्रहार करने वाली इन शोधपूर्ण पुस्तकों की प्रतिक्रिया का आभास **भूमिहार-भ्रम-भंजन** और **मैथिल-मान-मर्दन** में संक्षेप में मिल जाता है। इन पुस्तकों की विशेषताएँ यह थी कि

शोधपूर्ण होने के साथ-साथ ये हिन्दी में लिखी गईं थीं जिससे आम लोग ब्राह्मणों के पाखण्डन को समझ सकते थे। वेद, पुराण और कर्मकाण्ड को मुट्ठी भर तथाकथित संस्कृतविद पंडितों के चंगुल से मुक्त कर आम जनता तक पहुँचा दिया गया और पाखंडी ब्राह्मणों के खोखलेपन को स्वामी के हिन्दी भाष्य ने उसके असली नंगे रूप को पेश कर दिया। फलस्वरूप, शोषण का एक महत्वपूर्ण स्रोत उनके हाथ पाँव तले से खिसकने लगा। समाज में उनके सामाजिक एवं बौद्धिक प्रभुत्व को खत्म करने में ये अत्यन्त ही प्रभावकारी कारक बने। फलस्वरूप उस समय से आजतक वैसे रूढ़िवादी तत्व स्वामीजी से अपनी रोजी-रोटी पर आघात पहुँचाने के लिए बेहद खफा रहे और उनपर जातीयता सहित किस्म-किस्म की अनर्गल लांछना लगाते रहे। इन्हीं कारणों से स्वामीजी की ये रचनाएँ सिर्फ इतिहास, समाजशास्त्र दर्शनशास्त्र, वेद, पुराण आदि को समझने के लिए ही लाभदायक नहीं है अपितु भारतीय समाज के विकास की प्रक्रिया को समझने के लिए भी अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है।

□

संदर्भ-सूची :

1. विस्तृत जानकारी के लिए देखें—Desai, A. R., *Social Backgrand of Indian Nationalism.*
2. सरस्वती, महारुद्र का महाताण्डव, पृ० सं० 12
3. सरस्वती, स्वामी सहजानन्द, **कर्मकलाप**, पृ०-क, ख।
4. सरस्वती स्वामी सहजानन्द, ब्रह्मर्षि-वंश-विस्तर, सम्वत्, 2029, विक्रमी, 1, 1719.
5. विस्तृत जानकारी के लिए देखें, Risley, *Castes and Tribes in Bengal* तथा Chaudhary, V. C. P., *Imperial Honeymoon with Indian Aristocracy.*

□

9

औद्योगिकरण : साम्राज्यवादी-सामन्ती गठजोड़ का शिकार

—अस्फाक अंजुम

पिछले अध्याय में स्वामी सहजानन्द सरस्वती की कुछ वैसी वौद्धिक रचनाओं का संक्षिप्त विवरण दिया जा चुका है जिनका सम्बन्ध धर्म, कर्म और ब्राह्मणों के पाखंड और उनके वर्चस्व से था। इस अध्याय में स्वामीजी की दूसरी कोटि की कुछ महत्वपूर्ण रचनाओं से कुछ उद्धरण पेश करने का प्रयास किया जा रहा है जो भारत और खासकर बिहार की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थिति और आधार को वस्तुगत ढंग से पेश भी करता है तथा समाजशास्त्री, इतिहासकार, अर्थशास्त्री, राजनीतिशास्त्री जैसे बुद्धिजीवियों को अपने-अपने विषय अनुशासनों के लिए विश्वसनीय स्रोत एवं डाटा प्रदान करता है। भूलना नहीं चाहिए कि स्वामीजी ने उन्नीसवी और बीसवीं शताब्दी तथा स्वतंत्रोपरान्त भारत के समाज को भी नजदीक से देखा था और तज्जनित अनुभवों के वे भंडार थे।

भारत की दुर्दशा का एक कारण ऊपर वर्णित है। परन्तु स्वामीजी ने उससे भी महत्त्वपूर्ण कारण को अत्यन्त ही तार्किक ढंग से चित्रित किया है। धर्मान्धता, साम्प्रदायिकता और अज्ञानता के अतिरिक्त उन्होंने सामन्ती और साम्राज्यवादी साजिश को इस दयनीय अवस्था के लिए दोषी ठहराया है। इस संदर्भ में उनका मत है कि जमींदार और साम्राज्यवाद ने संयुक्त रूप से इस देश के किसानों को शोषण-चक्र में फँसाया है और देश की वर्त्तमान दुर्दशा का यही मुख्य कारण है। उन्होंने निम्नलिखित शब्दों में ऐतिहासिक आँकड़े प्रस्तुत किये हैं[1] ....“बड़े-बड़े विद्वानो ने हमारे शास्त्रों को खोज ढूँढ़कर यह सिद्ध कर दिया है कि हमारे देश में, पुराने जमाने में, जमींदारी ऐसी कोई चीज नहीं थी। मुसलमानी जमाने में भी आज की तरह जमींदारी का नाम निशान नहीं था। यह तो, अंग्रेजी राज्य द्वारा हमारे देश को मिला एक अजीवो गरीब तोहफा है।

हमारे ऋषि हवा, पानी की तरह भूमि पर भी सब का समान अधिकार मानते थे। वैशाली के प्राचीन इतिहास को भी देखने से यही पता चलता है। यही नहीं, प्राचीन यूरोप के रोम आदि देशों में भी जमीन व्यक्तिगत चीज नहीं समझी जाकर समूचे समाज के उपभोग की वस्तु मानी जाती थी। जमीन पर तो राजा का कोई अधिकार ही नहीं। हमारे पुराने शास्त्रों को देख जाईये, कहीं पर भी जमीन पर राजा के स्वत्वाधिकार का उल्लेख नहीं मिलेगा।

“जब मुसलमान हमारे देश में आये, अपने साथ अपने कानून भी लाए। कुरान में यह साफ उल्लेख है “जो कोई परती जमीन पर खेती शुरू करता है, उसपर उसका अधिकार हो जाता है।.... जमीन तो एक तरह की सामाजिक

सम्पति हैं और इस पर जोतने वाले का अधिकार उसी तरह हो जाता है, जिस प्रकार शिकार पर शिकारी का या लकड़हारे का ईंधन पर।

"किन्तु अंग्रेज बनिये जब भारत आये और कल-बल-छल से हिन्दुस्तान के राजा बन बैठे, तो उन्होंने न हिन्दुओं के पुराने शास्त्रों पर ख्याल किया, न मुसलमानी राज्य के प्रचलन को ही देखा। उनके देश में जमीन पर राजा का अधिकार माना जाता था। अपनी उसी लाठी से उन्होंने हिन्दुस्तानी किसानों का सिर तोड़ना शुरू कर दिया।

"जबतक किसान मजदूर राज्य या कमाने बालों का राज्य हमारे देश में कायम नहीं हो जाता और शासन की बागडोर कमाने वालो के हाथ में नहीं आ जाती तब तक हमारे कष्टों का अन्त नहीं हो जाता, अतएव वही राज्य हमारा परम लक्ष्य है और असली स्वराज्य है। तथापि उसकी प्राप्ति में साम्राज्यशाही की ही तरह या उससे भी शायद बढ़कर जमींदारी और साहुकारी बाधक है। अतएव, इन दोनों का अन्त जल्द से जल्द करना किसान सभा का तात्कालिक लक्ष्य है। साम्राज्यशाही तो भले-बुरे कानूनों के बल पर टिकी है .लेकिन यह जमींदारी तो केवल जोर-जुल्मों के सहारे कानूनों का गला घोंट-घोंट कर या उनकी आँखों में धूल झोककर ही खड़ी है।

"जमींदारी पैदा करने में अँग्रेजी सरकार का स्वार्थ कई प्रकार से सिद्ध हुआ। एक तो हमारे देश की सम्पति वाणिज्य-व्यापार में न लगकर जमीन के खरीदने में लगी और इस प्रकार से विदेशी व्यापार के लिए यहाँ काफी गुंजाईश रही। दूसरे सरकार और जनता के बीच में एक ऊँची दीवार खड़ी हो गई, जिसके पीछे रहके सरकार अपना सारा काम चलाती रही और जनता उसे जल्दी देख नहीं सकी, इसलिए उस पर आक्रमण भी न कर सकी। ० ० ० जमींदारी मेशीनरी के जरिये किसान नामर्द और पस्तहिम्मत बना दिये गये। फिर सलतनत का मुकाबला कौन करे? जमींदार और उनके अमले किसानो की छाती पर बचपन से लेकर मरने तक किस प्रकार सवार रहते और रह-रहके कोदो दलते रहते हैं इसका कटु अनुभव धारा-सभाओं के बहस मुहाबसों, अखबारों की लीपा-पोती और किताबों के पढ़ने से नहीं हो सकता। इसे तो किसानों के जले दिल, उनकी भींगी आँखें, उनकी पस्ती एवं बेबसी ही बता सकती है, सो भी उन्हें जो सहृदय हैं, जो आहों और मूक वेदनाओं को जान सकते हैं, जानने की योग्यता रखते हैं।.......

"विपरीत इसके जमींदारों को न तो कोई फिक्र है न चिंता, न कुछ सोचना है और न विचारना—अगर चिता है तो केवल मौज करने की। घाटा तो कभी होता ही नहीं .. .... फिर जमींदारी में रूपया न लगाकर व्यापार में कौन लगाये? परिणाम यह हुआ कि देश के धन और दिमाग में एक प्रकार जंग लग गया, वह कुंद पड़ गया। इस प्रकार हमारे देश को व्यापारिक और मानसिक समुन्नति के लिए यह जमींदारी अभिशाप हो गई।

"........जो लोग "एकै साधै सब सधै" का गीत गाकर कहा करते हैं कि स्वराज्य मिलने पर ये सभी झगड़े अपने आप मिट जायेंगे, वे हमारी आँखों में

धूल झोंकना चाहते हैं। दुनिया के सभी देशों में स्वराज्य हो गया, सो भी सैकड़ों वर्षों से। मगर रूस को छोड़ ये सभी झगड़े सभी देशों में मिटने के बजाय दिनो-दिन भयंकर होते चले जाते हैं। यदि जमींदार पूंजी वाले और साहुकार स्वराज्य आने पर भी रहे, तो वह स्वराज्य गरीबों के लिए एक कौड़ी का न होगा। किसान, मजदूर और पीड़ित लोग साधु-फकीरों के कहने से स्वर्ग या बैकुण्ठ को इसलिए अच्छा और अपने रहने लायक समझते हैं कि वहाँ जमींदार, सूदखोर और पूँजीपति नहीं रहते, ऐसी उनकी धारणा है। यदि उन्हें पता लग जाय कि ये जमींदार वगैरह मरकर वहाँ पर भी जायेंगे और अपना काम करेंगे तो गरीब लोग स्वर्ग, वैकुण्ठ का नाम भी न लें। बल्कि नरक को ही अच्छा समझें, यदि वहाँ जमींदारों की गुंजाईश न हो।"

इन विषम परिस्थितियों से निपटने के लिए स्वामीजी ने निम्नलिखित कार्य-क्रम किसानों के समक्ष पेश किया है[2] :—

"यदि शांति और नम्रता से बातें बन जाएँ, तो फिर किसान हल क्यों जोते ? वह बीज क्यों बोए ? खेतों को सींचे क्यों ? यह तो सभी काम संघर्ष ही है न। जमीन का कलेजा चीरता है क्यों ? बीजों को गाड़ना और दफनाना कोई पूजा तो हैं नहीं। एँड़ी का पसीना चोटी पर पहुँचाकर कुएँ वगैरा से पानी निकाले और बैसाख-जेठ की दहकती दुपहरिया में ऊंख को सींचे तो क्या यह हरि नाम-जाप और समाधि है ? करकराते जारे और मुसलाधार वृष्टि में खेतों की देख-रेख यदि प्रकृति के साथ कुश्ती नहीं, तो क्या शांति पाठ है ? फसल तैयार भी हो जाय, तो हाथ जोड़ने से न तो ऊख का रस निकलता है और गुड़ बनता है। धान, गेहूँ भी खुद घर नहीं पहुँच जाता, चाहे दिन रात जप-तप ही करते रहें। ऊख के तो अंग-अंग को पीसना पड़ता है और रस को सम्य आँच में तपाना पड़ता है, तब कहीं गुड़ बनता है। जड़ से काटने पर ही धान, गेहूँ खेत से अलग होते हैं, और रस्सी से बाँधने पर ही बोझा बनाकर खलिहान या घर में पहुँचाये जाते हैं।

"यदि फसल में कीड़े लग जाएँ तो शांति और अहिंसा काम नहीं देती। उन्हें तो दवा से जलाना और मारना ही पड़ता है। ये बातें तो रोज ही किसान को करनी पड़ती हैं। मगर वह इन्हें वहीं के वहीं छोड़ देता है; इनसे शिक्षा ग्रहण कर सर्वत्र संघर्ष और लड़ाई का पाठ नहीं पढ़ता। बिना संघर्ष के कुछ नहीं हो सकता है। इसलिए लड़ना ही चाहिए। आईये लड़े, लड़े, लड़े—यह अखण्ड निश्चय नहीं करता। संघर्ष ही जीवन है और उसका न होना शांति ही मरण है, यह पक्की धारणा वह नहीं कर पाता। उसमें यही एक भी है।"

कांग्रेस का प्रथम मंत्रिमंडल देश की शोषित जनता—किसान और मजदूर के लिए निर्धारित कार्यक्रम को कार्यान्वित करने से मुड़ गया। अपरोक्ष रूप से सामन्ती तत्वों के वर्ग-पोषक के रूप में वह मंत्रिमंडल उभरा। इस संदर्भ में स्वामीजी ने कांग्रेस से निम्नलिखित प्रश्न पूछे :[3]

"कांग्रेस ने अपने पिछले अधिवेशन में प्रांतीय कांग्रेस कमिटियों से ऐसी सिपारिशें करने को कहा था; जिसके आधार पर कांग्रेस अखिल भारतीय किसान

कार्यक्रम तैयार कर सकें' । क्या उसकी बिहार प्रांतीय कांग्रेस कमिटी ने कांग्रेस अधिवेशन द्वारा सौंपे गए इस विश्वास को पूरा किया या रिपोर्ट न भेजकर उसे धोखा दिया ?

"इस तरह क्या इसने लगातार बुरी नीयत से कांग्रेस के कई अधिवेशनों के आदेशों को नहीं तोड़ा है ?———क्या इसने फैजपुर के बाद एक किसान जाँच कमिटी नहीं कायम की, जिसने वर्षों तक प्रांत के कोने-कोने का दौरा कर इन गरीबों के हजारों रुपये खर्च किए ? तो क्यों यह प्रकाशित नहीं की गई ? क्या उनके दिमाग में कांग्रेस-जमीन्दार समझौने का पहले से भी कोई विचार था; जिसने उन्हें इसे प्रकाशित करने से रोका ? क्या उन्होंने उसके प्रकाशन को जान बूझकर रोक लिया और इसकी हत्या कर दी, क्योंकि अपना समर्थन एक न एक पत्र को दे देने के बाद उनके जमीन्दारों के साथ पहले से सोचा और निश्चित किया गया समझौता करना असंभव हो जाता ?"

स्वामीजी ने स्वीकार किया कि वर्ग के रूप में जमीन्दार घोर प्रतिक्रियावादी तत्व हैं और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इसका खात्मा बड़ी तेजी से हो रहा है। भारत में भी इसका अविलंब खात्मा होना चाहिये । जमींदारी प्रथा का खात्मा विना किसी मुआवजे का होना चाहिए ।[4]

स्वामीजी ने स्वीकार किया[5] कि दक्षिणपंथी और वामपंथी दोनों मानते हैं कि 15 अगस्त 1947 को "आजादी और स्वतंत्रता के लिए जो महाभारत मुल्क में युगों से चालू था उसका प्रथम पर्व पूरा हुआ ।" लेकिन समझौतावादी रूख से देश को क्षति हुई है। "सीधी लड़ाई से जो क्रांति होती, उसके फलस्वरूप न तो पाकिस्तान और हिन्दुस्तान ही का प्रश्न उठता और न सांप्रदायिक कलह ही उठता। ब्रिटिश शासन के साथ ही इन अनर्थों को पैदा करनेवाली शक्तियाँ भी क्रांति के तूफान में जड़मूल से उखाड़कर फेंक दी जाती । समस्त दकियानूस ताकतों को निर्मूल करना एवं धो बहाना ही क्रांति की लहर का एक बड़ा काम माना जाता है । इसी के साथ एक बड़ी बात यह होती कि विदेशी शासकों के स्थान पर जो भी स्वदेशी मालदार तथा पूँजीवादी गद्दीनसीन होते—क्योंकि राष्ट्रीय लड़ाई की आजादी के फलस्वरूप देश के धनियों के ही हाथ में शासन-सत्ता जाया करती है, ऐसा इतिहास बताता है। वे चैन से रह नहीं पाते, उनका शासन दृढ़ नहीं हो पाता; जैसा कि 1917 की क्रांति के बाद रूसी पूँजीपतियों का शासन वहाँ डवाँडोल ही रहा। फलतः किसान-मजदूरों के एक ही जबर्दस्त धक्के में उनका शासनयंत्र चकनाचूर हो जाता और शासनसूत्र किसानों एवं मजदूरों के हाथ में चला जाता। दूसरे दल ने जो इस सीधी मुठभेड़ और संघर्ष का मार्ग छोड़ा; उसका सीधा परिणाम यही हुआ कि हम सांप्रदायिक दंगों एवं मुल्क के अंग-भग के शिकार हो गए, साथ ही किसान-मजदूर के हाथ में सत्ता का जाना कठिन हो गया है।……… संसार का नतीजा तो हमें इसी नतीजे पर पहुँचाने पर बाध्य करता है कि जानबूझकर ही यह समझौते का मार्ग उसने अपनाया है और उसके नतीजे के लिए वह पहले से ही तैयार है—यह यही चाहता ही है, बेअदबी माफ हो ।"

इसलिए देश को सही दिशा देने के लिए स्वामीजी का निश्चित विश्वास

था कि "सबों में मार्क्सवाद की इतनी भक्ति, अपने लक्ष्य के प्रति इतनी इमानदारी, बफादारी और अपने में इतनी लाज मौजूद है कि जरूर आगे बढ़ेंगे और अनायास हो जानेवाली हाराकिरी से सबों को बचायेंगे।"[6]

स्वामीजी की उपर्युक्त रचनाओं की विषय वस्तुओं के गहन अध्ययन और विश्लेषण से सिर्फ इतिहासकारों को अतीत की सामाजिक और राजनीतिक संरचनाओं की वस्तुपरक तस्वीर नहीं मिलती अपितु राजनीतिज्ञों, राजनीति शास्त्रियों तथा समाजशास्त्रियों को भी अपने शोध के लिए प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है जिनके आधार पर वे वर्त्तमान और भविष्य की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था के लिए रूपरेखा और ठोस कार्यक्रम तैयार कर सकते हैं। इनके आधार पर तैयार किया गया कार्यक्रम समाज को समृद्धि और प्रगति की दिशा में ले जायगा तथा विभिन्न अवरोधों का समुचित निदान प्रदान करेगा।

संदर्भ-सूची :

1. सरस्वती, स्वामी सहजानन्द, **जमींदारी क्यों उठा दी जाय ?** पृ०-क —च, 1, 4, 5, 10
2. सरस्वती, किसान क्या करें ? पृ०—स ।
3. सरस्वती, स्वामी सहजानन्द; तगमें का दूसरा रूख या कांग्रेसी मंत्रिमंडल ने किसानों के लिए क्या किया ? (श्री राजेन्द्र प्रसाद के जबाव में) पृ०-30-31
4. Saraswati, *Abolition of Zamindari, How to achieve it ?* PP. A, 29

   "The Zamindari is a relic of the social and economic system that obtained once throughout the whole world but has now been banished from the most parts of it Even the countries that somehow or other tolerated it so far are now in a hot haste to liquidate it. We find Balkan countries and China. India too must not lag behind in the matter.

   "The zamindari means absentee landlordism. It has created a parasitic class of rent-receivers under various disguises and names, whose only business is to feed fat on the sweated labour of the Kisans. The laws guarantee them their rent however inequitable and oppressive, and the law courts are ever ready to come to their prompt assistance if and when the peasant defaults even due to the reasons absolutely beyond his control. This security of the rent is at the root of the miseries of the Kisans and the brutalities and high-handedness of the zamindars.

   "It cannot be gainsaid in 1946 that the zamindars as a class have proved themselves a reactionary element in the life of the nation and useless for its social economy."
5. सरस्वती, अब क्या हो ? पृ० 1-2
6. वही, पृ०, 8.

10

दलितों की यह कैसी आजादी ?

—अरविन्द कुमार चौधरी

इस निबन्ध के माध्यम से जिज्ञासु शोध कर्त्ताओं एवं पाठकों को स्वामी सहजानन्द सरस्वती की वैसी रचनाओं से परिचय कराना है जो भारत की वर्त्तमान राजनीतिक और आर्थिक दुर्दशा के वस्तुपरक विश्लेषण और उनके निदान से प्रभावकारी संबंध रखती हैं। स्वामीजी की समझदारी थी कि आजादी के पश्चात् अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को राजनीतिक दल के रूप में विघटित कर देना चाहिए, क्योंकि साम्राज्यवाद विरोधी राष्ट्रीय आजादी की ही मांग उसकी निर्दिष्ट ऐतिहासिक भूमिका थी। सामाजिक न्याय के आधार पर भारत के नव निर्माण में उसकी भूमिका प्रगति की ओर नहीं ले जाकर बिल्कुल उल्टी दिशा में ले जायगी। आजादी आते-आते कांग्रेस के चरित्र में इतना बड़ा प्रतिगामी परिवर्त्तन हुआ कि स्वामीजी को विवश होकर निम्नलिखित स्वीकार करना पड़ा :[1]

"लेकिन 1946 के चुनावों की सफलता के बाद उसमें (कांग्रेस) पतन के चिह्न दिखने लगे और 15 अगस्त 1947 के आते न आते वह खांटी भोग-संस्था, भोगियों की जमात, उनका मठ बन गई।——भोगवादिता के साथ ही कांग्रेस में एक ऐसी विचार-धारा वाला प्रश्न भी बड़ी तेजी से उठा कि उसके भीतर विभिन्न राजनीतिक दलों के लोगों के लिए गुंजाइस नहीं रही ! ठीक ही है, ये राजनीतिक दल तो योगवादी ठहरे न ? उन्हें तो शोषित जनता की आर्थिक और सामाजिक स्वतंत्रता दिलानी है न ? इसीलिए उन्हें निरन्तर संघर्ष चलाना है न ? फिर भोगियों के साथ उनकी पटे तो कैसे ? यह फैसला मेरे जैसा के लिए नोटिस थी कि कांग्रेस से भागो, भागो, भागो !— जहाँ साँप का बिल वहीं पूत का सिढ़ाना !

"इधर कांग्रेस कमिटियों का वायुमंडल ऐसा विषाक्त हो गया है कि जैसे गला घुट जाय ! ——— मगर आज बड़ी मुस्तैदी से बकास्त संघर्ष रोका जाता और एलान होता है कि कांग्रेस जन उसमें हरगिज न पड़े। यह संघर्ष ही किसानों और किसान सभा की जान ठहरी और कांग्रेस में रहके हम वही न करें, जान गवाँ दें, यह कैसे होगा ! कहा जाता है, कांग्रेस की ही सरकार है। दरअसल सरकार की ही कांग्रेस या यों कहिए कि सरकारी कांग्रेस, ठोस सत्य यही है।

"यह सभी बातें मन में महाभारत मचा सी रही थी। इतने में ऊँट की पीठ पर अंतिम तृण आ गया। दानापुर सबडिविजन में जो एसेम्बली का चुनाव जनवरी के मध्य में हुआ, इसके लिए उम्मीदवारी चुनने में कांग्रेसी कर्णधारी ने देश सेवा को गरदनिया दे त्याग बलिदान को ताक पर रख खूनी जातीयता को ही तराजू बनाया और उसी पर तौलकर अपना उम्मीदवार घोषित किया।....

हंसों का निपट निरादर करके कौए की पुकार हुयी और कम से कम मेरे लिए यह असह्य था – ऊँट की कमर पर अंतिम तृण था।”

कांग्रेसी प्रशासन का वर्ग चरित्र धीरे-धीरे और भी साफ होने लगा। राष्ट्रीयकरण के मामले में वह पूँजीवादी वर्ग पोषक साबित हुआ। “छोटानागपुर की कीमती खानें पूँजीपतियों के हाथ में है जिनसे छीनकर उन्हें रंज करने को नेहरूजी तैयार नहीं हैं। इसीलिए खानों की जमीन्दारी अछूती रखने की पेशवली हो रही है। अगले चुनाव में करोड़पतियों से हमारे नेता पैसे कैसे लेंगे? यदि उन्हें नाखुश किया? और फंड के कड़ोरों—रुपयों के विना चुनाव लड़ा कैसे जायगा? उद्योग धंधों के राष्ट्रीयकरण की गई बात फिलहाल जो दस साल टाली गई हैं उसके भीतर ऐसे ही कारण हैं।”[2]

स्वामीजी की समझदारी थी कि साम्यवादी व्यवस्था ही भारत की दुर्दशा का निदान हो सकता है, किन्तु वे इस बात को भी भली भाँति जानते थे कि साम्यवादी व्यवस्था के खतरे से निपटने के लिए कांग्रेसी प्रशासन हर वक्त साम्यवादी भूत का झूठा हौआ खड़ा करता है। स्वामीजी के निम्नलिखित उद्धरण इस संदर्भ में प्रासंगिक है :[3]

“एक ओर तो चिल्लाते हैं कि किसान-मजदूर राज्य स्थापित करेंगे। दूसरी ओर वही लीडर (कांग्रेसी) साम्यवाद से इतने भयभीत हैं कि सोते-जागते उसी के सपने देखते और उससे बचने की तरकीव सोचते हैं।········ भेड़िया आया वाली कहानी हम जानते हैं और यह भी जानते हैं कि आखिर भेड़िया आया कहने वाले पर भेड़िया का सफल आक्रमण होके रहा। हमारे शासकों एवं नेताओं को आज वह भेड़िया आनेवाली की दशा है। जहाँ देखो सुनो, पढ़ो, वे चीखते हैं, कम्युनिस्ट, कम्युनिस्ट, कम्युनिस्ट? हर काम में हर मौके पर उन्हें कम्युनिस्टों का ही भूत नजर आता है। जो भी संघर्ष का काम है, हक के लिए लड़ने का काम है, उसमें उन्हें कम्युनिस्टों का ही हाथ दिखाता है।····

“यहाँ तक कि चोरी डकैती में भी ढेखते हैं। फिर भी ऐसे सभी काम कम्युनिस्टों के बताए जाते हैं और ‘वदनाम कर लटका दो’ के अनुसार कम्युनिस्टों को पीस डालने में सरकार की सारी ताकत लग रही है। खूबी यह है कि आमतौर से उनकी पार्टी गैर कानूनी नहीं की गई है। नेहरू के दमन का यह नया रूप है।”

स्वामीजी ने देश को सही सामाजिक व्यवस्था और राजनीतिक दिशा प्रदान करने के लिए किसान सभा को मजवूत करने तथा किसान मजदूर को एकतावद्ध वर्ग संघर्ष के सिद्धान्तों पर करने का रास्ता सुझाया था। सारे बिहार में किसान सभा को सुसंगठित करने के लिए स्वामीजी ने किसान-मजदूरों की निरन्तर सभाएँ की और उन्हें जागृत किया। स्वामीजी ने गया के संबंध में स्वयं लिखा है कि “हमने एक भी थाना न छोड़ा। हमें श्री यदुनन्दन शर्मा, त्रिवेणी सुधाकर और हलधर को न तो वीमारी सूझती थी, न लू, न थकावट, और न घवड़ाहट और न निराशा ही। हम मस्ती से यकीन के साथ आगे बढ़ते ही गए। हालत यह थी कि जिस थाने में कोई समाचार पहले से न हो सका था, वहाँ भी बात ही बात में हमने हजारों की, हाँ, हजारों की सुन्दर मिटिंग कर ली।”[4]

इस वर्ग-संघर्ष के संदर्भ में स्वामीजी ने कुछ ऐतिहासिक तजुर्बों से लाभ उठाकर कुछ मार्ग-निर्देश दिया था। उनका निश्चित मत था और यह उनको इतिहास सिखाता था कि इस वर्ग-युद्ध में जबतक किसान-मजदूर के वर्ग के अपने नेता नेतृत्व प्रदान नहीं करेंगे तबतक इस तरह की क्रांति को स्थायी सफलता नहीं मिल सकती। विस्तार में जाते हुए उन्होंने अधोलिखित मार्ग निर्देश दिया :[6]

"मैं तो यही जानता हूँ और पढ़ा भी ऐसा ही है कि अगर किसानों और मजदूरों के हाथ में हुकूमत की वागडोर लानी है जिसे क्रांति कहिए या कुछ और ही कहिए, तो उन्हीं को इससे लड़ना और कट मरना होगा। जवतक उन्हीं के बीच से नेता और योद्धा पैदा न होंगे, पैदा न किए जायँगें तबतक उनका निस्तार नहीं। लड़ते तो वे हुई, जेल जाते हैं, लाठी खाते हैं, गोलियों के शिकार होते हैं। मगर उनके नेता बाहरी होते हैं—उनके बीच से नहीं आते। अवतक एकाध जगह को छोड़कर सर्वत्र ऐसा ही होता रहा है। नतीजा यह हुआ है कि क्रांति होने पर भी उन्हें कुछ हासिल नहीं हुआ। उनकी गरीवी, लूट, परीशानी, भूख, बीमारी, निरक्षरता ज्यों की त्यों वनी रह गई है। दुनियां की क्रांतियाँ इस बात का सवूत है। फ्रांस, इंगलैंड, जर्मनी, अमेरिका, इटली वगैरह देशों में क्रांतियाँ तो हुईं। मगर कमाने वाले सुखी होने के बजाय और भी तकलीफ में पड़ गए गो कि लड़ने और मारने में वही आगे थे। यह क्यों हुआ इसलिए न कि उन लड़ाइयों और क्रांतियों का नेतृत्व, उसकी बागडोर दूसरे के हाथ में थी ? इसलिए मैं यही मानता हूँ कि जो वाहरी नेता है उनका काम यही होना चाहिए कि किसानों और मजदूरों के भीतर से ही नेता पैदा कर दें। उसके वाद क्रांति वही खुद लायँगे। हमारा प्रधान काम क्रांति लाना न होकर उसके लिए किसानों और मजदूरों के भीतर से ही नेता पैदा कर देना मात्र है। इतना कर देने के वाद उन्हीं के नेतृत्व में जो क्रांति होगी उसमें हम जो भी सहायता कर सकें वह उचित ही होगी। मगर अपने ही नेतृत्व में क्रांति लाने के मर्ज से हमें सबसे पहले बरी होना होगा। यह दूसरी बात है कि किसानों और मजदूरों के भीतर से ही पैदा होने वाले नेताओं के नेतृत्व और हमारे नेतृत्व में कोई अंतर हो—दोनों एक ही हों। यह खुशी की बात होगी। मगर नेतृत्व की जाँच की कसौटी हमारा नेतृत्व न होकर उन्हीं वाला होगा यह याद रहे हमारे नेत्तृव से उनका नेतृत्व मिलाने के बजाय उनके ही नेतृत्व से हमारा नेतृत्व मिलना चाहिए।

"·······जिसे विजयी होना है उसके अपने ही पैसे रुपये से—उसी के बल पर लड़ना होगा। तभी सफलता मिल सकती है। उधार या मंगनी की रकम से लड़ने में धोखा होगा— अगर बीच में नहीं तो जीत के वाद तो जरूर ही होगा। कहने के लिए यह जीत किसान मजदूरों की होगी। मगर होगी दरअसल उन्हीं की जिनके पैसे लड़ाई में खर्च हुए हैं। पैसा वाले आदमियों को, उनके ईमान को, उनकी आत्मा को ही खरीदने की कोशिश करते हैं और आमतौर से खरीद भी लेता है। ऊपर से चाहे यह भले ही न मालूम हो। मगर भीतर से तो हमारी आत्मा विक जाती ही है अगर हम दूसरों के पैसों का भरोसा करें। जवान से हम हजार इनकिलाव और किसान मजदूर राज की बातें बोलें। मगर इनमें जान नहीं होती। दिल से हम पैसे वालों की ही जय बोलते है। उन्हीं की राय से उन्हीं के इशारे पर चलते हैं। पैसे वाला हमें और हमारी लड़ाई को अपने काबू में ही सोलहों आने रखता हैं।

यही वजह है कि हमारी राय में किसानों और मजदूरों की लड़ाई उन्हीं के पैसे से चलायी जानी चाहिए। इसीलिए लड़ाई के लिए आदमी रुपया और सामान (Men, money and Material) खुद जुटायें, अपने पास से ही मुहैय्या करें। खुद भूखे नंगे रहके यह काम उन्हें करना ही होगा। हमें उनसे दो टूक कह देना चाहिए कि अगर वे ऐसा नहीं करते, इसके लिए तैयार नहीं हैं तो हम उनकी लड़ाई से बाजी दावा देते हैं—हम उसमें हरगिज न पड़ेंगे। हम उनसे साफ-साफ कह दें कि इस तरह उसमें पड़ने पर तो हम उन्हें खामखा धोखा देंगे, गो हमें सस्ती लीडरी अवश्य ही मिल जायगी।''

इन रचनाओं के अध्ययन से, जिनके कुछ उद्धरण ऊपर दिए गए हैं, इतना स्पष्ट है कि इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति-विज्ञान तथा दर्शनशास्त्र को लिखने में ये अमूल्य स्रोत और विश्लेषण का कारक बन सकते हैं। साथ ही व्यावहारिक राजनीति में यह मार्ग-दर्शक का भी काम बड़ी सफलत पूर्वक कर सकेगा। सच तो यह है कि कम्युनिस्ट और नक्सलपंथी इन रचनाओं से प्रेरणा पाकर उन रचनाओं का मात्र पुनर्मुद्रण ही नहीं कर रहे हैं अपितु अपने राजनैतिक कार्यक्रमों में उनके आदर्शों को मसत्वपूर्ण स्थान दे रहे हैं। यह स्थापना हाल के वर्षों में उनके कुछ भूले हुए ग्रन्थों को उनके द्वारा पुनर्मुद्रण तथा उनकी भूमिका से स्पष्ट हो जायगा। ठीक इसके विपरीत प्रतिक्रियावादी तथा अवसरवादी तत्व उनकी रचनाओं और आदर्शों को उपेक्षित कर अपनी निहित स्वार्थ-सिद्धि में तल्लीन हैं। उनकी शतवार्षिकी को अनदेखी करना उसकी एक कड़ी प्रतीत होती है। इसको भूलना नहीं चाहिए कि समाजशास्त्री के साथ-साथ साहित्यकार और वैज्ञानिक लोग भी अपने-अपने शोध-क्षेत्र के लिए उन्हें उपयोगी पा रहे हैं और हाल के वर्षों में अपनी-अपनी दृष्टि से उनके कृतित्व पर नया प्रकाश डाल रहे हैं जैसा कि इसी संकलन के अनेक निवन्ध से स्पष्ट है।

□

संदर्भ-सूची :

1. सरस्वती, **काँग्रेस-तब और अब**, पृ० 2-4.
2. सरस्वती, **बिहार प्रान्तीय किसान सम्मेलन**, 16वाँ अधिवेशन ? ढ़काईच, शाहावाद, 12-13 मार्च, 1949, पृ० 13.
3. वही, पृ० 19-25.
4. सरस्वती, **गया जिले में सवा दो मास**, पृ० 3.
5. सरस्वती, किसान सभा के संस्मरण, पृ० 207-9.

11

पत्रकारिता एवं अप्रकाशित चिट्ठियाँ

—सुरेश पासवान

स्वामी सहजानन्द सरस्वती कई पत्र-पत्रिकाओं से संपादक या लेखक की हैसियत से अभिन्न रूप से जुड़े हुए थे। इसकी एक विस्तृत सूची अध्याय आठ में उपलब्ध है। ये सीधी-सादी भाषा में अपने लेख या संपादकीय को रखने में निपुण थे, इनकी लेखनी का प्रभाव आम जनता तक पहुँचती थी और उन्हें महसूस होता था कि उनकी समस्या को उनकी ही अपनी बोली में कोई रख रहा है। फलस्वरूप इन लेखों का मानस-पटल पर वेसुमार स्थायी असर होता था। लगभग ये विशेषताएँ स्वामीजी के पत्राचारों में भी था। इस छोटे निबन्ध में हम उनके कुछ प्रतिनिधि लेख और पत्र को ही दे रहे हैं। विस्तार में जाना इस संकलन में सम्भव नहीं है।

देश के विभाजन के संदर्भ में अपनी तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए स्वामीजी ने नेताओं की गलत समझदारी पर प्रहार कर लिखा :[1]

"हमारे नेताओं के समझौते की मनोवृति ने गुड़-गोवड़ कर दिया। हमारे जैसे लोग बराबर विदेशी हुकूमत से लड़कर स्वराज हासिल करने पर जोड़ देते थे, पर सुनता कौन है ? हमने हिन्दुस्तान को दो हिस्सों में विभाजित करने का सदा विरोध किया; पर हमारे नेताओं ने हमारी एक भी न सुनी। उनका कहना था कि दंगें और खून खरावी को रोकने के लिए हिन्दुस्तान का बँटवारा होना जरूरी है। मैं पूछता हूँ कि आज जो सांप्रदायिक दंगे, खून खराबी और औरतों की बेईज्जती हो रही है, उससे ज्यादा पहले कभी हुयी ?"

आजादी के वाद जो सरकार बनी, उसके वर्ग-चरित्र के असली रूप को चित्रांकित करते हुए स्वामीजी ने स्वीकार किया कि "आज सरकार की सारी ताकत जमीन्दारों के लिए, पूँजीपतियों के लिए सारी सहूलियतें मुहैय्या करने में लगी है, उनके लिए सरकार की पूरी तैयारी है,...... उसमें बिड़ला, डालमियाँ, टाटा, सिंहांनियाँ को कारखाना खोलने में सहूलियत मिलेगी, किसानों और मजदूरों को कोई सुख-सुविधा नहीं मिल सकती। यह सरकार मालादारों की है, जमीन्दारों की है ... " कहा जाता है, अपनी सरकार वन गई, अंगरेज चले गए; लेकिन किसान और मजदूर को क्या मिला.... जिनके बल पर सरकार बनी और कायम है ?.... आपने देखा उन्होंने (कांग्रेस) एसेम्वली में किनलोगों को भेजा ?—सिर्फ जमीन्दारों या उनके पिट्ठुओं को। किसानों की बात बोलने वाला वहाँ कौन है ? जहाँ ऐसी एसेम्बली है, वहाँ किसानों का खुदा हाफिज.........स्वराज नहीं यह तो पुलिस राज है। एम० एल० ए० का राज है। पुलिस जो चाहती है, कर रही है, पुलिस का

रवैया तो पहले से खराब है ....एम०एल० ए० जो चाहते हैं कर रहे हैं।"[2]

स्वामीजी ने स्वीकार किया कि "मैंने किसानों से कहा था कि कांग्रेस के उम्मीदवारों को वोट दो, ठीक है, परन्तु कब ? जब अंगरेजी हुकूमत यहाँ थी और उसको हमें मार भगाना था। उस समय यदि कांग्रेस की हार होती, तो अंगरेजों के खिलाफ जो हमारा मोर्चा था, वह कमजोर होता और अंगरेजों की जड़ इस मुल्क में मजबूत होती।"[3]

स्वामीजी की स्पष्ट और सही स्थापना थी कि साम्राज्यवादी विरोधी खेमे को मजबूत करने के लिए इस तरह की नीति और संयुक्त मोर्चा आवश्यक था, किन्तु अब इस वदली हुई परिस्थिति में "एसेम्बली में भेजनेवालों में छटैया करने के बाद कहीं किसानों और मजदूरों की ऐसेम्ली बनेगी। अब ऐसे आदमियों को वोट दो जिनके कंधे पर हल और हाथ में कुदाल है। अब सिद्धान्त बना लो कि जो अन्न-वस्त्र उपजाएगा, अब सो कानून बनाएगा ? अगर ऐसा आदमी कानून बनाएगा और गड़बड़ करेगा, तो उसे कान पकड़ कर दो तमाचे भी लगा सकोगे परन्तु आजकल के एम० एल० ए० लोगों की तो शकल भी देखने में नहीं आती।"[4]

स्वामीजी ने स्पष्ट किया कि "हमारा बादशाह किसान-मजदूर है, जिसकी कमाई से बासमती, गेहूँ, दूध, घी, चीनी-शक्कर, कपड़े और हमारे आराम की तमाम चीजें तैयार हो रही है, हमारा बादशाह दूसरा कौन ? जिस बादशाह की कमाई हम खाते हैं, हम उसी की सरकार अपने मुल्क में चाहते हैं।"[5]

हमारे लिए अन्य पत्र-पत्रिकाओं से कुछ ज्यादा देना संभव नहीं है, क्योंकि आकार की सीमा सुनिश्चित है। लेकिन यह स्मरण रखने योग्य है कि हुंकार का संपादन कठिन परिस्थितियों में स्वयं स्वामी सहजानन्द सरस्वती ही करते थे। हुंकार के उनके एक सहयोगी के शब्दों में "उसका संपादकीय स्वर्गीय स्वामीजी ही लिखते थे। मैं पटना से प्रति सप्ताह अग्रलेख के लिए स्वामीजी के यहाँ बिहटा जाता था। स्वामीजी लिखाते थे और मैं लिखता था। स्वामीजी की घुड़ दौड़ चलती थी और मेरी गाड़ी मन्द गति से चलती थी जिसके कारण खूब डांट सुनता था।"[6]

पत्रकारिता के संबंध में दूसरी बात भी ध्यान देने योग्य है। स्वामीजी की सशक्त लेखनी से विभिन्न पत्रिकाओं में ऐसे-ऐसे निबंध निकलते थे जिनका जनसमूह पर वेइन्तिहा असर होता था। अब **भूमिहार ब्राह्मण** पत्रिका को ही लें। उसमें आर्ष दर्शन सरणि, तिलक और गीता सरीखे अन्यान्य विषयों पर धारावाहिक अनेक निबन्धावली प्रकाशित हुई, जिसने जनता को आंदोलित किया।

इसी तरह की महत्वपूर्ण कोटि में स्वामीजी के पत्राचार आते हैं जो शनैः-शनैः लुप्त भी हो रहे हैं और गायब भी। सुभाषचन्द्र वोस और अम्बेडकर के साथ पत्राचार की उनकी फाईल चोरी होकर अमेरिका पहुँच चुकी है जैसा कि पीछे के अध्याय में वर्णित है। फिर भी देश में बहुत सारे उनके पत्र बिखड़े पड़े हैं जिसके संकलन पर किसी का ध्यान नहीं जा रहा है। हम यहाँ उनके वैसे अप्रकाशित पत्रों में से दो का उद्धरण देकर उनके महत्व को दर्शाना चाहते हैं। स्वामीजी कितने व्यस्त और कर्मठ थे, उसका अन्दाजा अधोलिखित पत्र से मिल जायगा[7] :—

"हम कल भर यहाँ हैं। परसों तारीख 1.8.47 को रात में नौ बजे 12 नंबर डाउन एक्सप्रेस से रवाना होकर तारीख 2.8.47 को सवेरे कानपुर पहुँचेंगे। वहाँ दिनभर रहकर साम को दिल्ली मेल से रवाना होना है पाँच बजे और रात नौ बजे इलाहाबाद पहुँचना है। रात में वहीं रहना है। तारीख 3.8.47 को सवेरे 14 न० डाउन एक्सप्रेस से रवाना होकर उसी दिन तीन बजे दिन में विहटा पहुँचूँगा, यदि कोई गड़बड़ हुयी तो रात में उसी दिन पैसेन्जर से जरूर पहुँचना हैं या बनारस एक्सप्रेस से। मगर भरसक तो 14 नंबर डाउन एक्सप्रेस से ही आना है। आप आश्रम में खबर दे देंगे जरूर।"

उनके दूसरे अधोलिखित पत्र[8] से मिश्रित विषयों की जानकारी और विभिन्न विषयों पर उनकी रूचि की जानकारी मिलती है :—

'पत्र मिला। मेरी सभी पुस्तकें प्रेस में जा चुकी है। **गीता-हृदय** तो जुलाई में तैयार हो जायगा, ऐसी खबर आई है। प्रयाग के प्रकाशक, किताब महल को छापने का अधिकार दिया है। **तगने का दूसरा रूख** अंगरेजी में है। हिन्दी वाला नहीं है।

"अब तो स्वयंक्तता खेती का युग है। उसी में सबों को लगना ही होगा। वह वड़ा ही हिम्मती और महान होगा जो आगे पांव वढ़ावे।

"150 लोग मिलकर खेती करें तो ठीक ही है, यह तो जरूरी है। सरकार को भी इसे प्रोत्साहित करना ही होगा। खेतों के मिलान में कानूनी दिक्कतें हटानी ही होगी। तभी यह बात होगी।

"हलवाहे और बैलों के मुख ताकने वाले खत्म हो जाँयगें। दोनों का ही अभाव है जो ट्रेक्टर की ओर हमें बलात घसीट रहा है। उधर तो हमें जाना ही है, पर देर होने से वंटाधार होगा। हल छूने से धर्मनाश का भूत देखनेवाले टिक न सकेंगे।

"मिसन (क्रिप्स) की घोषणा चातुर्यपूर्ण जाल है। ठीक वही बात है कि वंशी में लगा आटा: खाकर मछली खुश हैं कि खूब हुआ। वंशीवाले ने रस्सी ढ़ील दी है। मगर वह मानता है कि मछली ने वंशी गड़क ली है और हमारा पौवारह है :

"वंशी ने ढ़ील पाई है, लुफ्ते वैशाद है।
सैयाद मुतमइन है, कि काटा निगल गई।"

"मगर आखिर में कुछ होने जाने का नहीं। अड़ंगे ही अड़ंगे हैं। प्रभुओं ने अपने को सँभाल लिया है जरूर। उनकी पाँचों घी में हैं।

"आशा है आप अच्छे हैं।"

रोचक यह है कि स्वामीजी का हर पत्र 'नारायण' से शुरु होता है। भाषण, लेख और पुस्तकों की तरह पत्रों की भी भाषा सीधी, सरल और सटीक है जो वोधगम्य होने के साथ-साथ दिमाग को भी आंदोलित करता है। समकालीन सामाजिक विकास की क्रिया और प्रतिक्रिया का जीवन्त प्रतिबिंब उनकी पत्रकारिता और पत्रों में उपलब्ध हैं जो इतिहास-लेखन और समकालीन समाजिक स्थिति की जानकारी हेतु अत्यन्त लाभकारी है।

संदर्भ-सूची :

1. हुंकार, वर्ष, 9, अंक 7, 16 जु० 1950.
2. वही ।
3. वही ।
4. वही ।
5. वही ।
6. पंडित हरिवल्लभ शास्त्री का साक्षात्कार जो इस संकलन में स्वतंत्र अध्याय के रूप में प्रस्तुत किया गया है ।
7. नई दिल्ली से स्वामीजी द्वारा सरयू सिंह, ग्राम + पो० बिहटा, जिला पटना (बिहार) को दिनांक 30.7.47 को लिखा गया पोस्टकार्ड ।
8. बिहार प्रांतीय किसान सभा, बिहटा, से 28 मई 1946 को स्वामीजी द्वारा पंडित रघुनाथ मिश्र ग्राम पतोर, पो० अनंतपुर, जिला दरभंगा को लिखा गया पत्र ।

12

भाषा, शैली एवं सामयिक उपादेयता

—रामचन्द्र प्रसाद

यों तो स्वामी सहजानन्द ने ऐसे कई सुन्दर सुभाषित ग्रन्थों का प्रणयन किया है जो उनके प्रकांड वैदुष्य के परिचायक हैं और जिनकी निर्मिति वेदों, महाभारतादि ग्रन्थों, पुराणों तथा उपपुराणों के गाढ़ अनुशीलन से हुई है, फिर भी जिस कृति से उनकी शास्त्रीय साहित्यिक प्रतिभा एवं स्वानुभूत प्रौढ़ जीवन-दर्शन की यथेष्ट परिचिति हो जाती है, वह उनका ग्रन्थ 'गीता-हृदय' है। यह उनकी जीवनानुभूतियों की सारी गहराई, उनकी बहुआयामी प्रतिभा की समग्र ऊर्जस्विता से आप्लावित है और अधिकारी विद्वान् इसे गीता की श्रेष्ठतम विवृतियों में अप्रतिम स्थान देते हैं। इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण स्वामीजी की भावापन्न, सुभग-सरल तथा प्रवाहमयी भाषा ही नहीं, वरन् वह दृष्टि भी है जो विभिन्नता में एकता का संधान करती है, वह कल्पना-शक्ति है जो सृष्टि की परस्पर-विरोधी अनेकता में भी उस सूत्र को खोज निकालती है जो 'सामंजस्यपूर्ण अन्विति' का संजनन करता है। वे इस अर्थ में कवि हैं कि उनकी भाषा 'प्रबल एवं लाक्षणिक होती है, अर्थात् उसमें वस्तुओं के सम्बन्धों का ऐसा बोध परिलक्षित होता है जो पहले नहीं होता था।'[1] वे इस अर्थ में भी कवि हैं कि वे "नियमों

के प्रतिष्ठापक, नागर-समाज के जन्मदाता, जीवन-कलाओं के आविष्कर्ता तथा अदृश्य जगत् की शक्तियों के आंशिक बोध को—जिसे धर्म कहते हैं—सत्य और सुन्दर के विशेष सान्निध्य में ले जानेवाले गुरू भी थे।"[2]

स्वामीजी की सर्जनात्मक चेतना का एक ज्वलन्त संपिण्डित उदाहरण वहाँ मिलता है जहाँ वे सत्त्व, रज और तम की परस्पर-विरोधी सत्ता में एक आपसी समझौता देखते हैं और उस महनीय सामंजस्य की ओर परस्पर-विच्छिन्न मानव-समुदाय का ध्यान आकृष्ट करते हैं। उनका प्रवृत्तिमूलक और रचनात्मक चिन्तन तम का निषेध नहीं करता, क्योंकि उसे इस तथ्य का ज्ञान है कि शरीर के लिए पित्तादि तीनों की जरूरत है। इसी प्रकार संसार के लिए सत्त्वादि की आवश्यकता होती है।[3] स्वामीजी इस बात पर बल देते हैं कि इन तीनों गुणों में "समझौता है कि हमलोग मिल के रहेंगे, नहीं तो किसी की खैर नहीं!"[4] राजनीति में धर्मों और देशों का जो परस्पर विरोध देखने को मिलता है, वह इन गुणों के परस्पर वैधर्म्य के सामने फीका पड़ जाता है। गुणों का वैपरीत्य तो ऐसा है कि वे मौका पाकर 'एक दूसरे को खा जायें'। मगर खूबी यह है कि इन्होंने अपना आपसी वैमनस्य मिटा लिया है। तो क्यों न इनसे सह-अस्तित्व की शिक्षा ली जाय? क्यों न हमारे समग्र धर्म-विरोध मिट जायँ, भाई-भाई की लड़ाई खत्म हो जाय? ऐसे सामयिक प्रश्नों के उठते ही स्वामीजी की भाषा-शैली अत्यन्त प्रभविष्णु, रससान्द्र और प्राणवंत हो जाती है। वे कहते हैं:

"इन्हें (इन गुणों को) दुनिया में सर ऊँचा करके रहना जो है और हमें? हमें तो गोरों के जूते सहने और गुलामी करनी है न? फिर हमारा मेल कैसे हो? हाँ, तो इनने यह समझौता कर लिया है कि एक वक्त में हममें एक ही प्रधान होगा, नेता होगा, मुखिया होगा; बाकी दो उसी के साथ, उसी के अनुकूल चलेंगे, उसी की मदद करेंगे बावजूद इसके कि ये दो दोनों ही उसके सख्त दुश्मन हैं!"[5]

स्पष्ट है कि स्वामीजी प्रसादमयी हृदयावर्जक भाषण-शैली के आचार्य हैं। उनका अध्ययन विशाल था और वे वेद-पुराणों के गुणग्राही अध्येता थे, फिर भी वे अपने पांडित्य का अनावश्यक प्रदर्शन नहीं करते। सच तो यह है कि वे जो कुछ लिखते हैं, बोल-चाल की मुहावरेदार भाषा में प्रौढ़ता, अनुभूति तथा भावुकता के साथ लिखते है। और यह भी सच है कि संसार की विपुल अनुभूति की पृष्ठभूमि पर गीता के श्लोकों की तत्त्वज्ञानात्मक मीमांसा उनके अनुभव की विशालता, राजनीति की पटुता तथा भावाभिव्यंजन की चातुरी का पर्याप्त द्योतन करती है। धर्म, जाति और रंग-भेद के नाम पर आये दिन जो संघर्ष होते रहे है, उनसे उत्पन्न दुर्दशा का चित्र दिखलाकर युयुत्सा उत्पन्न करना उपर्युक्त पंक्तियों का विशिष्ट लक्ष्य है।

जीवन में संतुलन, संयम और विवेक न हो तो वह निरर्थक हो जाता है। सत्त्व वरेण्य है सही, पर उसका भी आधिक्य 'रस्सी' है जो बाँधती है—गुण अर्थात् रस्सी। संतुलन और सामंजस्य की यह व्याख्या किसी नीरस व्याख्याकार द्वारा उद्भावित कोई शुष्क मीमांसा नहीं, प्रत्युत एक सरस साहित्यिक व्याख्या है:

"तम का तो फँसाना काम प्रसिद्ध ही है। वह तो हमेशा का ही बदनाम है। मगर जो उससे अच्छा रज है और जो महान् माने जानेवाला सत्त्व है वह भी फँसाने में किसी से पीछे नहीं है। "छोटी बहू तो छोटी, बड़ी बहू शुभानल्ला !" और यह तो जानते ही हैं कि फाँसने और बाँधने का काम रस्सी करती है। फिर चाहे वह सूत् की बारीक या मोटी हो, या और चीज की हो। संस्कृत में रस्सी को गुण कहते हैं। इसी का अपभ्रंश हो के गोन शब्द हो गया। नाव खींचने की रस्सी को गोन कहते हैं। फलतः फँसाने और बाँधने की ताकत इन गुणों में होने के ही कारण इन्हें गुण कहा है, ताकि लोग इनसे सजग रहें।"[6]

स्वामीजी के गीता-हृदय में उपन्यस्त व्यावहारिक तत्त्वज्ञान को हृदयंगम किया जाय तो साम्प्रदायिक दंगे-फसाद बराबर के लिए मिट जायँ, सामाजिक भेद-भाव न रहें, नागपाश जैसी जाति-प्रथा से उत्पन्न समस्याएँ स्वतः सुलझ जायँ। आज—विशेषतः वर्तमान भारत में—स्वामीजी का यह कथन स्मरणीय है कि "परस्पर मेल से ही दीपक जलता है,"[7] "ज्ञान और क्रिया के बिना कुछ हो ही नहीं सकता,"[8] और "पंडित लोग समदर्शी होते या सम नामकी चीज को ही देखते हैं, 'पंडिताः समदर्शिनः' 'साम्ये स्थितं मनः'।"[9]

'हाय-हाय में जिन्दगी गुजारना' आधुनिक सभ्यता का कैसा घोर अभिशाप है, इससे स्वामीजी अच्छी तरह परिचित थे और वे इस तथ्य से भी परिचित थे कि सत्त्व के पिपासु भी ज्ञानादि में फँसकर वैसे ही बँध जाते हैं जैसे रजोगुणी लोग क्रिया और लोभ में। हास्य और व्यंग्य के मिश्रित पुट से स्फूर्त, समृद्ध तथा परिपुष्ट शैली अपनी समस्त विभूतियों के साथ यहाँ प्रकट हो जाती हैं। इसका कारण ऊपर के विवेचन में देखिए। स्वामीजी के व्यक्तित्व में उपर्युक्त तीनों गुण एक साथ साकार थे। एक ओर अध्यात्म और सत्त्व था तो दूसरी ओर कर्मप्रधान राजनीति। इनमें कोई विरोध न था। "संसार के पदार्थों का जो बाहरी रूप नजर आता है उसे विवेकी या गीता का योगी एकमात्र नट, नर्त्तक या स्वाँग बनानेवाले की बाहरी वेशभूषा ही मानता है। इसीलिए इन सभी बाहरी आकारों के भीतर या पीछे किसी ऐसी अखंड, एकरस, निर्विकार—सम—वस्तु को देखता है जो उसकी अपनी आत्मा या ब्रह्म ही है। उसे समस्त दृश्य भौतिक संसार उसी आत्मा या ब्रह्म की नटलीला मात्र ही बराबर दीखता है।"[10] इस नटलीला की ओर दृष्टि न करके भी स्वामीजी उसी सम या एकरस पदार्थ को ही देखते थे। बाहरी परदे या नकाब को उतार फेंकने और परदानशीन या नकाबपोश को हूबहू देखने में उनकी पटुता बेजोड़ थी। उनकी राजनीति उनके अध्यात्म में निबद्ध थी। उनमें दलित मानवता के प्रति अपार वेदना थी, उस अमुक्त देश की स्वाधीनता के प्रति अगाध मोह था जो युग-युग से प्रपीड़ित और संतप्त थी, उस किसान की विवशताओं का कटु अहसास था जिसे यदि कुछ मुयस्सर था तो केवल जमीन्दारों द्वारा किया गया शोषण। राजनीति और धर्म की मिलित नींव पर अवस्थित स्वामीजी का जीवन एक असामान्य कर्मयोगी का—राजनीति के नरसी मेहता[11] का जीवन था।

'ब्रह्मर्षि-वंश-विस्तर' में भी उनका दृष्टिकोण कठोर नैतिकता और

स्वदेशानुराग से ही आप्यायित है। कहीं-कहीं उनकी यह देशभक्ति कितनी उग्र और संकुचित हो जाती है, इसका एक उदाहरण इन पंक्तियों में दर्शनीय है :

"वैदेशिक लोग यदि हमारे ही देश में जन्म बितावें तब भी हमारे आचारों तथा विचारों के पूरे-पूरे ज्ञाता नहीं हो सकते। फिर दो-चार या दस-बीस वर्ष ही रहनेवालों की बात ही क्या है? परन्तु हमलोग तो इतने बह गए कि इस विषय में भी उन्हीं का उच्छिष्ट स्वीकार करने लग गए हैं। हमारी बुद्धि इस प्रकार मारी गई है कि हम अपने ही देश, जाति और कुल के मनुष्यों को नीच बनाने के लिए सहस्त्रों कुकल्पनाएँ तथा रचनाएँ करने में तनिक भी नहीं हिचकते; जिसका फल यह होता है कि हम भी उसी अन्धकूप में बलात् ढकेले जाते हैं।"[12]

'वैदेशिक' लोगों और 'हमारी बुद्धि' पर यह निर्मम प्रहार स्वामीजी के उफनते देशानुराग की ही ज्वलंत निदर्शना है। ऐसे स्थलों पर उनकी विवेचन-शैली में वर्तुलाकार तर्क की अगतिकता और शैथिल्य की जगह प्रचंड भावावेश की उत्ताल गरिमा मिलती है, उनके वाक्यों, शब्दों और अनुच्छेदों से दहकते स्फुलिंग फूटते नजर आते हैं, भाषा अभिजात शास्त्रीय प्रतिबंधों को तोड़कर 'गणतांत्रिक' हो जाती है—उपर्युक्त पंक्तियों में प्रतीकित समुज्ज्वल राष्ट्र-प्रेम के अनुकूल बन जाती है। **विचार जिस सूत्र में पिरोये जाते हैं, वह 'भारतीय, और 'आर्यता' का ही सूत्र रहता है।**

भारतीय सांस्कृतिक एवं सामाजिक मूल्यों पर हो रहे 'बौद्धिक' प्रहार के लिए स्वामीजी वैदेशिक अभिप्रेरणाओं के साथ-साथ भारतीयों के पारस्परिक द्रोह को भी जिम्मेदार मानते हैं।[13] देशीय नवीन बाबुओं की गर्हणा के अनेक उदाहरण स्वामीजी देते हैं।[14]

लातिन गद्य में लिखनेवाले सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण लेखक सिसरो के कथनानुसार भिन्न-भिन्न शैलियों के विवेकशील प्रयोक्ता ही सफल वक्ता होते हैं। उसने कहा है कि "वक्तव्य को चाहे जिस शैली की अपेक्षा हो, आदर्श वक्ता उसी में भाषण करे।"[15] सिसरो के मंतव्यानुसार शैलीकार के लिए उपयुक्त शब्द-भांडार की आवश्यकता होती है। बोलने के क्रम में सामान्य प्रयोग में आनेवाली भाषा की उपेक्षा करना अक्षम्य दोष है। अच्छी शैली उपयुक्त एवं शोभन शब्दों के चयन पर आधृत होती है और ये शब्द उस भाषा से लिये गए होते हैं जो मनुष्यों द्वारा सचमुच बोली जाती है, फिर भी जो देशज प्रयोगों, पिष्टपेषणों एवं उच्छिष्ट तत्त्वों से सर्वथा मुक्त होती हुई असमान्य रूपों और अलंकारों (रूपकों) के प्रयोग के कारण उन्नीत और रंजित होती है। इसमें संदेह नहीं कि (1) स्वामीजी की भाषा-शैली आवेगपूर्ण वाग्मिता के सर्वथा योग्य है और उसकी सफलता अधिक से अधिक श्रोताओं को हृदयावर्जक लगने में है; (2) उनकी शैली का सौन्दर्य कहीं भी श्रमसाध्य नहीं दीखता और (3) पारंगत कवियों की तरह वे जनसमूह के प्रयोग के लिए गड़े हुए शब्दों को भी उखाड़ लेते और उन्हें पुनरुज्जीवित करते हैं। एक ऐसा ही शब्द 'लिखखाड़' है। कहते हैं कि भाषण का कलागत प्रभाव ऐसा स्वाभाविक होना चाहिए कि इसके मूलभूत सिद्धान्तों से अनभिज्ञ व्यक्ति भी इससे प्रभावित हो उठे। स्वामीजी की रचनाओं का प्रभाव ऐसा ही होता है।

स्वामीजी के विचार कितने अपारंपरीण, क्रान्तिकारी एवं प्रासंगिक हैं,

इसका परिचय उनके 'कर्म और धर्म' के विवेचन में मिलता है। वर्तमान भारतीय परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में इस विवेचन का महत्त्व असंदिग्ध है और यह इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि इससे इस बात का समूल खंडन हो जाता है कि स्वामीजी किसी जाति-विशेष के पक्षधर थे अथवा उनकी धर्म-सम्बन्धी मान्यताओं में किसी प्रकार की संकीर्णता थी। धार्मिक विषयों पर लिखे गए उनके ग्रन्थों को देख-पढ़कर कुछ लोगों को भ्रम होता है कि स्वामीजी की दृष्टि मुख्यतः साम्प्रदायिक थी और वे धार्मिक दलबन्दी के आग्रही थे, जबकि तथ्य यह है कि वे आध्यात्मिक साम्यवाद के प्रस्तावक थे और चाहते थे कि "सभी कामों को धर्म के भीतर डाल दिया जाय।" उनके कथनानुसार ऐसा करते ही "धर्म बहुत बड़ा एवं व्यापक बन जाता है और उसका सर्वजनप्रसिद्ध संकुचित रूप जाता रहता है।"[16] वह धर्म ही क्या जो संकुचित हो, जो साम्प्रदायिक दंगे—फसाद करवाये, जो विभिन्नता में समता स्थापित न करे ? स्वामीजी धर्मों की विविधता से उत्पन्न समस्या की ओर संकेत ही नहीं करते, प्रत्युत एक सर्वसुलभ समाधान भी प्रस्तुत करते है। वे चाहते हैं कि 'व्यापक एवं उदार बुद्धि' से सभी समाजोपयोगी कामों को धर्म समझ के ही कराया जाय। इससे एक लाभ तो यह होगा कि "धर्म के नाम पर धर्मशास्त्रों, धर्मशास्त्रियों तथा धर्माचार्यों का जो नाहक का नियंत्रण लोगों की समझ और उनके कामों पर रहा करता है, वह खत्म हो जाता है। जब धर्म अत्यन्त व्यापक बन जाता है, जब सभी काम उसमें आ जाते हैं, तब धर्म के ठेकेदारों की गुंजाइश रह ही कहाँ जाती है ?——तब तो रोजा, नमाज, संध्या, पूजा वगैरह भी साँस लेने आदि की ही श्रेणी में आ जायेंगे और वहाँ से भी धर्मध्वजियों की बेदखली हो ही जायगी, चाहे देर से हो या सबेरे।"[17] वस्तुतः ऐसी दृष्टि से लाभ ही लाभ है। 'धर्म के फन्दे' से निकलते ही मनुष्य व्यावहारिक और सामाजिक दुनियाँ में आ जाता है और तब उसके भले-बुरेपन की जाँच स्वर्ग और नरक की दृष्टि से नहीं होती। उसकी जाँच इस बात से होती है कि उससे 'अपना और समाज का भौतिक लाभ' क्या है, उससे "सामाजिक, वैज्ञानिक या सांस्कृतिक विकास में कहाँ तक फायदा पहुँचता है, समाज के स्वास्थ्य की उन्नति इससे कहाँ तक होती है।" धर्म को श्रद्धा - भक्ति, स्वर्ग-नर्क और पंडित-मौलवियों से जोड़ने की परिपाटी है, किन्तु स्वामीजी के अनुसार ऐसे ही मतवाद से साम्प्रदायिकता और परस्पर वैमनस्य की उद्भूति होती है; कारण कि श्रद्धा-भक्ति, स्वर्ग-नर्क आदि को व्यावहारिक दृष्टि की अपेक्षा नहीं होती और "बिना व्यावहारिक दृष्टि के ही तो सब गुड़ गोबर हो रहा है, स्वामीजी कहते हैं :[18]

"नहाने में भी जब धर्म की बात घुसती है तो उससे शरीर या वस्त्रादि की स्वच्छता न देखकर स्वर्ग-नर्क को ही देखने लगते हैं ! जैसे ऊँट की नजर हमेशा पश्चिम के रेगिस्तान की ही तरफ होती है, ऐसा कहा जाता है, ठीक उसी तरह हमें हर काम में ठेठ स्वर्ग, वैकुण्ठ या नर्क ही सूझता है। इस पतन का कोई ठिकाना है ! इस अन्धी धर्मबुद्धि ने हमें—मानव-समाज को—निरा भोंदू और बुद्धिहीन बना डाला है, मशीन करार दिया है !"[19]

'अन्धी धर्मबुद्धि' से मनुष्य मनुष्य नहीं रह जाता, रोबॉट बन जाता हैं, यंत्रपुत्रक, पतित और 'निरा भोंदू, हो जाता है। बुद्धिहीनता ही साम्प्रदायिकता की जननी होती है और वही हर काम में ठेठ स्वर्ग और नर्क सुझाती है।

पंडितों और मौलवियों ने धर्म के नाम पर जो एकाधिकार प्राप्त कर रखा है, वह कैसे छिन जाता है इसका निरूपण करते हुए स्वामीजी कहते हैं कि जब धर्म कर्म हो जाता है और कर्म के जाँचने की कसौटी दूसरों के पास न होकर प्रत्येक व्यक्ति के पास 'अपनी-अपनी अलग' होती है, तब पंडित और मौलवी अर्थहीन हो जाते हैं। उनकी जगह 'सोलह आना स्वावलम्बन' ले लेता है---'अपनी-अपनी डफली अपना-अपना गीत' हो जाता है। पंडितों और मौलवियों से शून्य धरती ही चैन की सांस ले सकती है; कारण कि "तब धर्म के नाम पर झमेले और झगड़े भी क्यों होगे ?" तात्पर्य यह कि अन्धी धर्मबुद्धि 'सेडेटिव' होती है, उपशामक का काम करती है, विवेक को सुला देती है और अपनी अन्धश्रद्धा के कारण उसके जागरण की आवश्यकता नहीं समझती, जिसके परिणामस्वरूप विवेक कालक्रम से पंगु और मनुष्य परमुखापेक्षी तथा 'निरा भोंदू' हो जाता है। कौन नहीं जानता स्वार्थांध सत्ताधिकारी तथा धर्मगुरू हमारी विचार-शक्ति की हत्या करने में ही अपनी भलाई देखते हैं ? वे जानते हैं कि जहाँ विचार-शक्ति और विवेक है, वहाँ विद्रोह की सम्भावना है, सत्य की खोज के जन्म होने का भय है। असत्य और अधर्म की नींव पर अवस्थित उनकी प्रभुता सत्य की इस खोज से डरती है। इसलिए वह धर्मगुरुओं और मौलवी-मुल्लाओं के माध्यम से सूक्ष्म मानसिक बन्धनों का निर्माण करवाती है। 'अन्धी धर्मबुद्धि' खोज का आरम्भ नहीं, अन्त है। आरम्भ तो व्यावहारिक दृष्टि ही है और व्यावहारिक दृष्टि न तो हर काम में 'ठेठ स्वर्ग' सुझाती है और न पंडितों और मौलवियों के फैसले पर निर्भर होती है; उसमें, स्वामीजी के शब्दों में, "परमुखापेक्षिता के लिए स्थान रह ही नहीं जाता।"

पूर्वोक्त चर्चा के आलोक में एक नया तथ्य उभरकर सामने आता है कि भारतीय समाज में शोषक वर्गों में केवल जमीन्दार ही नहीं, पुरोहित भी सम्मिलित हैं। अपनी शोषण-नीति की सफलता के लिए जिस प्रकार जमीन्दार नये-नये हथकंडों का प्रयोग करते हैं, उसी प्रकार पुरोहितों के भी नये-नये शोषण-यंत्र हैं। धर्म-कर्म के नाम पर जब पुरोहित अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए इन यंत्रों का प्रयोग करते हैं, तब वेचारा धर्म पुरोहित-जमीन्दारों द्वारा होनेवाले अनर्थों का उत्पादक हो जाता है। स्वामीजी के अनुसार पुरोहित-वर्ग अपनी शोषण-नीति की सफलता और मनोरथ-सिद्धि के लिए निम्नांकित कार्य-प्रणाली का अनुसरण करता है :[20]

1. वह धर्म-कर्म के नाम पर सिर्फ स्वांग करता है, कारण कि प्रायः सभी यजमान और पुरोहित अज्ञान में सुप्रतिष्ठ होते हैं;
2. वह धार्मिक कर्त्तव्यों की नकल करके अपनी दूनी दक्षिणा वसूल करता है। इससे एक ओर लाभ यह होता है कि वह अपने सगे-सम्बंधियों के पेट दही, चीनी, पूड़ी और मालपूए से भर देता है;
3. वह हिन्दू-जगत् को धर्म-कर्म के ज्ञान से और उनके करने-कराने की विधि से अनभिज्ञ रखता है, जिससे कि मूर्ख पुरोहित, आचार्य और गुरु नामधारियों का और उनके वंशजों एवं सगे-सम्बन्धियों का इसी बहाने नित्य सत्कार होता रहे ;
4. वह अपने ब्राह्मण यजमानों और इतर वर्ण के लोगों को संस्कृत के ज्ञान से वंचित रखता है, जिससे कर्मकाण्ड में उनका प्रवेश न हो और वे

कर्म कराने की प्रक्रिया में रोक-टोक न करें। यदि रोक-टोक का सिलसिला शुरू हुआ तो जड़ पुरोहितों की 'पोपलीला और ढोल की पोल खोली जाकर भरी सभा में घोर अप्रतिष्ठा' होगी।

कुछ लोगों ने कर्मकांड में प्रवेश करने की कोशिश जरूर की, लेकिन (निकोलाई अलेक्जान्द्रोविच दोब्रोल्युबोव[21] के शब्दों में) "जो प्रमुख नाचनेवाले थे, उन्होंने गहरी अमित्रतापूर्ण नजर से इन लोगों की ओर देखा, मानो ये लोग बेबुलाये मेहमान हों और उन्हें अपनी बिरादरी में शामिल करने से इनकार कर दिया। इस पर संघर्ष का सूत्रपात हुआ। एक सुदीर्घ संघर्ष ने अनेक रूप धारण किये—ऐसे जो नवागन्तुकों के प्रतिकूल बैठते थे; उनका उपहास किया गया। उन्हें धकेला गया। मेले का खर्च उनके सिर पर लादा गया, उनके जोड़ीदारों और उनकी बीवियों को छीना गया और अन्त में, उन्हें महफिल से एकदम निकाल बाहर किया गया।" पुरोहितों के कारण वैदिक धर्मावलम्बी यजमानों की हालत जितनी ही बदतर होती गई, उतनी ही प्रबलता के साथ स्वामीजी ने चीजों को बदलने, उन्हें बेहतर बनाने की आवश्यकता का अनुभव किया। सभी जानते हैं कि "अभाव माँगों का मुँह बन्द नहीं करता, बल्कि वह उन्हें और मुँहजोर बनने के लिए उकसाता है।" पुरोहितों द्वारा उकसाये जाने का ही सुफल कर्मकलाप' है। इसकी रचना के मूल में स्वामी जी का उद्देश्य वही है जो ईसाइयों के लिए आधुनिक यूरोपीय भाषाओं में बाइबिल के अनुवाद का था। 'कर्मकलाप' इस बात का साक्षी है कि सभी युगों में मानवीय गतिविधि के प्रत्येक क्षेत्र में ऐसे स्वस्थ, सबल एवं अन्तर्दृष्टि सम्पन्न महापुरुषों का उदय होता रहा है जिन्होने अत्यन्त सशक्त और दुर्निवार रूप से जन-जीवन की आकांक्षाओं को अमर वाणी प्रदान की है। कहना न होगा कि किसानों की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई निर्धनता और उनकी मूक विवशताओं तथा अन्धविश्वासों से स्वामीजी के मन में जो क्षोभ उत्पन्न हुआ था, वह उस क्षोभ से भिन्न न था जो उन्होंने पुरोहितों के प्रति दरसाया है। उनकी समस्त गतिविधियों के मूल में लोक-कल्याण की भावना और प्रवर देशानुराग की तप्ति थी। यही भावना उनके क्रान्तिकारी राष्ट्रीयतावाद में, 4 मार्च 1928 को औपचारिक रूप से स्थापित किसान सभा में,[22] नवम्बर 1929 में सोनपुर मेले के अवसर पर स्थापित प्रांतीय किसान-सभा की अध्यक्षता में,[27] 1933 की प्रान्तीय किसान-सभा की कार्यकारिणी समिति द्वारा संगिठित जाँच-समिति की सदस्यता में,[24] प्रतिबिंबित होती है। इतिहासकार कहते हैं कि स्वामी सहजानन्द, यहाँ किसान-आन्दोलन के मूल अनुप्रेरक थे और "मरते दम तक यही (किसान-आन्दोलन) उनके जीवन का मूल लक्ष्य बना रहा।"[25] उन्होंने जमीन्दारों से ही नहीं, जमींदारों के समान निष्ठुर, लेकिन उनसे बढ़े-चढ़े पाखंडी पुरोहितों से भी किसान-जीवन की अनुपम आदिम सरलता की रक्षा की।

'सहचिन्तन'[26] में परम्परा के जिन सात चरणों का विशद वर्णन है उनमें प्रेमचन्द के व्यक्तित्व के वैशिष्ट्यों का उद्घाटन करते हुए अमृतराय ने आज के साहित्यकारों के सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय बात यह कही है कि "आज अपने साहित्यकारों की जमात में जिधर भी नजर दौड़ाता हूँ उधर मुझको असली चेहरे कम और मुखौटे ज्यादा नजर आते हैं। कुछ ऐसा मालूम होता है जैसे हर आदमी अपनी दूकान जमाने में लगा हुआ है और इस फिक्र में है कि कैसे उसी की दूकान सबसे ज्यादा धड़ल्ले से चल निकले।"[27] कहना अनपेक्षित है कि स्वामीजी इन

साहित्यकारों की श्रेणी में नहीं आते। उनकी रचनाओं में उनका असली चेहरा ही प्रतिबिम्बित होता है और एक ऐसा व्यक्तित्व उभरकर सामने आता है जो 'सर्वभूतहिते रताः' है, जो किसी तरह की इश्तहारबाजी में विश्वास नहीं करता और न 'मान-मनौअल चिरौरी-विनती' करके अपने ऊपर लेख लिखवाता है। आज के लेखकों की तरह स्वामीजी ने न तो अपनी कोई टोली बनायी थी और न साहित्यकारों, पंडितों और राजनीतिज्ञों के बीच महन्त बनकर बैठना ही पसन्द किया था। अमृतराय का यह ख्याल सही है कि आजकल के साहित्यकार महन्त "अपने इर्द-गिर्द चार-छः दस-बीस चेले-चपाटे इकट्ठा कर लेते हैं, और फिर लाजमी तौर पर एक टोली का दूसरी टोली से महायुद्ध होता है—जिसे होली का हुड़दंग भी नहीं कह सकते....।"[28] जिस सांस्कृतिक वातावरण में स्वामीजी की शिक्षा-दीक्षा हुई थी, उसकी हवा में स्वभावतः वह 'मायावी लास्य' न था जो आज की हवा दिखला रही है। उनमें अन्तर्निहित योगी साहित्यकार कितना पारदर्शी है! उसके ग्रामीण शब्द भी कितने व्यंजक हैं! कहीं भी गुरु-गम्भीर तत्सम शब्द नहीं, कहीं कोई अध्यारोपित कृत्रिम चारुत्व नहीं। उनके जैसे महान् अनुसन्धित्सु, असाधारण विद्वान् एवं मनीषी अध्येता पर भी यदि हमारा अपेक्षित ध्यान न जाय तो इसे हम अपना दुर्भाग्य ही समझेंगे।

□

संदर्भ-सूची—

1. द्रष्टव्य शेली-रचित 'काव्य का महत्त्व' (**पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा**, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रधान सम्पादक : डॉ० नगेन्द्र पृ० 170।
2. उपरिवत्, पृ० 171।
3. **गीता-हृदय** (इलाहाबाद : किताब महल, 1948), पृ० 265।
4. उपरिवत्।
5. उपरिवत्, पृ० 266।
6. उपरिवत् पृ० 267।
7. उपरिवत्, पृ० 268।
8. उपरिवत्, पृ० 269।
9. उपरिवत्, पृ० 180।
10. उपरिवत्, पृ० 181।
11. नरसी मेहता की कथा के लिए देखिए **गीता-हृदय**, पृ० 181-182।
12. स्वामी सहजानन्द सरस्वती, **ब्रह्मर्षि-वंश-विस्तर** (बिहटा : श्री सीतारामाश्रम, 1971, तृ० सं०), पृ० 19।
13. उपरिवत्, पृ० 18-19।
14. उपरिवत्, पृ० 20. विस्तार के लिए अध्याय आठ में वर्णित पुस्तकें देखें।
15. देखिये रामचन्द्र प्रसाद, **शैली** (बिहार ग्रंथ अकादमी, 1973), पृ० 42।

16. **गीता-हृदय**, पृ० 176।
17. उपरिवत्, पृ० 177।
18. उपरिवत्, पृ० 178।
19. उपरिवत्।
20. द्रष्टव्य : **कर्मकलाप** (बिहटा : सीतारामाश्रम, 1976), प्रथम भाग, पृ० क ('यह क्यों ?')
21. मार्क्सवादी आलोचक (1836-1861)। देखिए **पाश्चात्य काव्यशास्त्र : मार्क्सवादी परम्परा** (दिल्ली विश्वविद्यालय) पृ० 27।
22. डॉ० कालिकिंकर दत्त, **बिहार में स्वातंत्र्य आंदोलन का इतिहास** (बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, 1974), खंड-2, पृ० 225।
23. उपरिवत्।
24. उपरिवत्, पृ० 235।
25. उपरिवत्, पृ० 225।
26. सर्जना प्रकाशन, धूपछाँह, अशोक नगर, इलाहाबाद, 1967।
27. अमृतराय, **सहचिन्तन**, पृ० 169।
28. उपरिवत्।

◆

13

दलितों का सन्यासी

—रामधारी सिंह 'दिनकर'

निज से विरत, सकल मानवता, के हित में अनुरत वह।
निज कदमों से ठुकराता मणि, मुक्ता स्वर्ण रजत वह॥
वह आया, जैसे जल ऊपर, आये फूल कमल का।
वह आया, भूपर आये ज्यों, सौरभ नभ मण्डल का॥
लोक-भाव अंजलि ये सबके, लिए लिए कल्याण।
आया है वह तेज गति से, धीर वीर गुणवान॥
आया है जैसे सावन के आते मेघ गगन में।
आया है, जैसे आता कभी, सन्यासी मधुवन में॥
हवन पूत कर में सुदण्ड ले, मुण्डित चाल विरागी।
आया है नव पथ दिखलाने, दलितों का सन्यासी॥
आया है शर-चाप उठाये, राग क्रांति का गाते।
गानवना पर पड़े हुए, पर्वत की धूल उड़ाते॥

◆

खण्ड क

स्वामी सहजानन्द सरस्वती : परिवेश एवं जीवन-चरित

लेखक-परिचय :

1. **अमरेन्द्र कुमार ठाकुर** :—सम्प्रति आप अरूणाचल विश्वविद्यालय के जवाहरलाल नेहरू कॉलेज में इतिहास के व्याख्यता हैं । आप ने ए स्टडी ऑफ पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ बिहार (1370-1576) विषयक शोध-प्रबन्ध पर पी० एच० डी० किया है । आप श्री सी० शर्मा द्वारा सम्पादित पुस्तक इतिहास लेखन में आंचलिकता के सह-लेखक भी हैं । इनके अतिरिक्त आपके अनेक शोध-निवन्ध विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं । आप लगभग तीन वर्षों तक मगध विश्वविद्यालय के पटना स्थित कॉलेज ऑफ कामर्स में व्याख्याता रह चुके हैं। फिलहाल आप कुछ शोध-योजनाओं में भी कार्यरत हैं ।

2. **शिवेन्द्र प्रसाद** :—आप भारतीय डाक-तार विभाग, पटना डिविजन में कार्यरत हैं । इतिहास में एम० ए० करने के पश्चात् आपने कुछ शोध-योजनाओं में स्वतंत्र-रूप से अध्ययन किया है ।

3. **चन्द्रभूषण पाण्डेय** :—आप बिहार विश्वविद्यालय में बिहार प्रेस एण्ड सोसल अवेकनिंग पर पी० एच० डी० का शोध-प्रबन्ध तैयार कर रहे हैं ।

4. **कुलदीप नारायण 'झड़प'** :—आप उत्तर प्रदेश के वलिया में अध्यापन कर रहे हैं । आप विभिन्न सामाजिक एवं शोध-संस्थाओं से जुड़े हुए हैं । साथ ही शोधपूर्ण निवन्धों के लेखक भी हैं । आप ऋषिवामि पत्रिका के सम्पादक भी हैं ।

5. **राकचन्द्र शर्मा** : —आप स्वामी सहजानन्द सरस्वती के अपने भतीजा हैं तथा आपकी प्रारम्भिक शिक्षा सीताराम आश्रम, बिहटा, में हुई है । आपने एम० फिल० दिल्ली विश्वविद्यालय से किया तथा संस्कृत व्याकरण बोध एवं अनुवाद सौरभम् नामक दो पुस्तकें भी लिखी हैं । इनके अतिरिक्त आपके कई शोध-निबन्ध भी प्रकाशित हैं । साथ ही आपने गाजीपुर नागरी प्रथारिणी सभा पत्रिका एवं हृदयेश अभिनंदन स्मारिका का सम्पादन भी किया है । आपकी अन्य दो पुस्तकें सूरसागर और प्राकृत–अपभ्रंश का कृष्ण-साहित्य तथा प्राचीन काल के प्रतिनिधि कवि प्रकाशित हो चुकी हैं । सम्प्रति आप सहजानन्द महाविद्यालय, गाजीपुर में हिन्दी विभाग के रीडर एवं अध्यक्ष के पद पर हैं ।

6. **सुरेन्द्र नाथ दीक्षित** :—डा० दीक्षित पवनधारी सिंह महिला महाविद्यालय के प्राचार्य हैं । आपकी अनेक पुस्तकें एवं शोध-निवंध प्रकाशित हैं । बिहार विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग से रीडर के पद से अवकाश प्राप्त करने के पश्चात् विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के तहत वर्तमान हिन्दी के विकास में उत्तर बिहार का योगदान विषय पर आप शोध-निर्देशक की हैसियत से भी कार्यरत हैं ।

7. **दण्डी स्वामी विमलानंद सरस्वती** :—आप स्वामी सहजानन्द-स्मारक-

न्यास के अध्यक्ष हैं । साथ ही भोजपुरी कवि एवं साहित्यकार भी हैं । आपने स्वामीजी के गीता-हृदय का नया संस्करण प्रकाशित कराया है । आपके अनेक लेख एवं कविताएँ प्रकाशित हैं । अभी-अभी आपने स्वामीजी के जीवन पर देवा की दिव्य विभूती शीर्षक गाथा-काव्य लिखा है जिसका प्रकाशन भी शीघ्र होनेवाला हैं । उसी के एक अंश को हमलोगों ने निवेदनानकूल इस संकलन में प्रकाशित किया है ।

8. **संजय सिंहा** :—आप केन्द्रीय सरकार में भारतीय खेल-प्राधिकरण के सहायक निदेशक के रूप में कार्यरत हैं । आपने बिहार विश्वविद्यालय से इतिहास में पी० एच० डी० की डिग्री प्राप्त की है ।

9. **अस्फाक अंजुम** :—आप बिहार विश्वविद्यालय के बी० एम० डी० कॉलेज, दयालपुर में मनोविज्ञान के व्याख्याता हैं । आपने अलीगढ़ विश्वविद्यालय में एम० एड० की डिग्री प्राप्त करने के क्रम में गांधी और नेहरू की शैक्षिक विचार-धारा पर शोध-प्रबंध तैयार किया था । आपके पी० एच० डी० का शोध-प्रबंध साइको-सोसल फैक्टर्स इन क्रियेटीविटी : ए केस स्टडी ऑफ हाई स्कूल स्टयूडेण्ट्स ऑफ बैशाली डिस्ट्रिक्ट है । आप कई लेखों के लेखक हैं ।

10. **अरविन्द कुमार चौधरी** :—आप ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय के महावीर प्रसाद सिंह महाविद्यालय दरभंगा में इतिहास के व्याख्याता हैं । आप पटना विश्वविद्यालय से मौर्यकालीन भारतीय शिक्षा पर पी० एच० डी० का शोध-प्रबंध तैयार किया है ।

11. **सुरेश पासवान** :—मगध विश्वविद्यालय के कॉलेज ऑफ कॉमर्स में आप इतिहास विभाग में रीडर के पद पर कार्यरत हैं ।

12. **रामचन्द्र प्रसाद** :—आप पटना विश्वविद्यालय के अंग्रेजी के विभागाध्यक्ष हैं । आपने एडिन्वरा (इंगलैंड) से अंग्रेजी में पी० एच० डी० की डिग्री प्राप्त करने के पश्चात् हिन्दी में अत्यन्त शोधपरक कीर्त्ति के लिए पटना विश्वविद्यालय से डी० लिट० की डिग्री प्राप्त की । आप देश-विदेश में अपनी विद्वता के लिए स्थान रखते हैं तथा दर्जनों पुस्तक एवं एक-आध सौ शोध निवंधों के प्रशंसित लेखक भी हैं ।

13. **रामधारी सिंह 'दिनकर'** :—राष्ट्रकवि दिनकर का परिचय देकर बौद्धिक जगत को एक तरह से अपमानित करना है । देश-विदेश में इनके परिचय की कोई आवश्यकता नहीं है ।

□

14

भारत के तीन सन्यासी :

दयानन्द, विवेकानन्द और सहजानन्द

—त्रिवेणी शर्मा सुधाकर

हमारे देश के बहुतेरे संतों, ऋषियों एवं मुनियों की गौरवपूर्ण श्रृंखला में आधुनिक भारत के तीन सन्यासियों का विशिष्ट स्थान है। कार्य-क्षेत्र की भिन्नता के बावजूद इन तीन महान सन्यासियों में एक समानता नजर आती है। ये तीनों अपने आस-पास के लोगों के प्रति, देश और समाज के प्रति कभी उदासीन नहीं रहे। वास्तव में, आधुनिक भारत के ये तीनों आदर्श प्रतिनिधि हैं। ये तीन महापुरुष हैं—स्वामी दयानंद, स्वामी विवेकानंद और स्वामी सहजानंद।

भारत में अपने प्रभुत्व काल के प्रारंभ से ही अंग्रेजों का यह प्रयत्न रहा कि राजसत्ता के क्रमशः विस्तार के साथ इस देश के सामाजिक, सांस्कृतिक, प्रशासनिक तथा आर्थिक ढांचे को छिन्न-भिन्न कर दिया जाय। अंग्रेजी सरकार की यह योजना थी कि यहाँ की संस्थाओं, व्यवस्थाओं और परम्पराओं को नष्ट कर इसकी समस्त आंतरिक शक्ति, आस्था तथा विश्वास को तोड़ दिया जाय जिसके फलस्वरूप प्रत्येक क्षेत्र में भारतीय समाज मूल्यहीन एवं दिशाविहीन बन जाय। भारतीय जन-समाज को उसके स्वीकृत आधार से उन्मूलित कर, ग्राम समाज और पंचायतों के ढाँचों को विश्रृंखल कर, सांस्कृतिक आस्थाओं को खंडित कर तथा उद्योग-धंधों और व्यापार को विनष्ट कर अंग्रेजों ने भारत में अंग्रेजी साम्राज्यवाद को उपनिवेशवादी जड़ें मजबूत कर ली थी।

उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध भारतीय इतिहास का एक महत्वपूर्ण काल है जिसने देशव्यापी राष्ट्रीय जागृति की लहर फैला दो। इस व्यापक राष्ट्रीय जागृति की पृष्ठभूमि में हम स्वामी दयानंद के दर्शन करते हैं।

दयानंद का जन्म गुजरात के टंकारा नामक नगर में सन् 1824 ई० में हुआ था। यह वही समय था जब बंगाल में राजाराम मोहन राय भारतीय पुनरुत्थान और जागरण के कार्य में संलग्न थे। ब्रह्म समाज एवं प्रार्थना समाज ने देश में पुनर्जागरण का शंखनाद किया था। ब्रह्म समाज की स्थापना 1830 में राजाराम मोहन राय ने की थी। उन्होंने हिन्दू धर्म में फैली कई बुराईयाँ, कुरीतियों, और रुढ़ियों का प्रखर विरोध किया। मूर्तिपूजा एवं सती प्रथा का खुलकर विरोध किया। सती प्रथा को रोकने के लिए आन्दोलन कर कानून भी बनवाया। राजाराम मोहन राय पूर्व एवं पश्चिमी संस्कृति का मेल चाहते थे। वे अंगरेजी शिक्षा प्रणाली और पश्चिमी संस्कृति के समर्थक थे। सबसे बड़ी विडम्बना यह थी कि तत्कालीन भारतीय सुधारवादी नेता ब्रिटिश राज की आवश्यकता महसूस करते थे। राजाराम मोहन राय भी उन दिनों भारत में ब्रिटिश राज के पक्षधर थे। स्वामी दयानंद का सम्पर्क जब ब्रह्म समाज और उनके नेताओं से हुआ, तब उन्हें

काफी निराशा हुई। उन्होंने सारे उत्तर भारत का दौरा किया। उस समय के सुधारकों से सम्पर्क स्थापित किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भारत की दुर्दशा एवं उसकी गरीबी का कारण अंग्रेजीराज का होना है।

सन् 1857 की क्रांति के समय दयानन्द की आयु 33 वर्ष की थी। अपनी चढ़ती हुई जवानी में भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की क्रांति को न केवल बहुत नजदीक से देखा, बल्कि उसमें योगदान भी किया था। राजस्थान के प्रसिद्ध इतिहासकार श्री पृथ्वी सिंह मेहता ने तात्याटोपे और स्वामी दयानन्द के पारस्परिक क्रांतिकारी संबंधों का उल्लेख किया है। कुछ लोगों का कथन है कि वे बैरकपुर में छद्म रूप में जाकर मंगल पांडेय से भी मिले थे और उन्हें आशीर्वाद दिया था। यह भी कहा जाता है कि नाना साहब को स्वामी दयानंद ने सन्यास की दीक्षा दी थी और इनका नाम दिब्यानन्द रखा गया था। (धर्मयुग मई 15, 1976 में प्रकाशित लेख "गदर के बाद नाना साहब कहाँ रहे")

सन् 18-2-73 में भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड नार्थब्रूक से स्वामी दयानंद की वार्ता हुई थी। इस भेंट का आयोजन लार्ड विशप पादरी ने किया था जो दुभाषिया का कार्य भी सम्पन्न कर रहा था। लार्ड नार्थब्रुक ने स्वामी दयानन्द से आग्रह किया कि जब उनके धर्म प्रचार में ब्रिटिश सरकार बाधक नहीं है, तब आप (स्वामी दयानंद) अपनी प्रार्थनाओं में इस देश पर अखंड अंग्रेजी शासन रहे, ऐसी कामना भी प्रकट करें।

स्वामी दयानंद ने स्पष्ट ही कह दिया—"श्रीमान जी, मैं तो ईश्वर से नित्य ही इस देश को विदेशियों की दासता से मुक्ति की प्रार्थना करता हूँ।" स्वामी दयानंद के उत्तर को सुनकर नार्थब्रुक काफी घबड़ा गया और वार्त्तालाप बन्द कर दिया। उसने इस घटना को अपनी साप्ताहिक गुप्त डायरी में लिख कर 'इंडिया आफिस, लंदन" को भेजा और इस बागी फकीर की गतिविधियों पर कड़ी निगरानी के लिए गुप्तचर नियुक्त किया।

19वीं शताब्दी राष्ट्रीय पुनर्जागरण के जितने भी ज्योतिधर हैं, उनमें स्वामी दयानंद ने ही सर्व प्रथम 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग किया। 10 अप्रैल 1874 में दयानन्द ने आर्य समाज की स्थापना की। आपने 59 वर्ष की आयु पूरा कर 1883 में शरीर त्याग किया। स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित सामाजिक एवं राजनीतिक कार्यों में से कुछ को महात्मा गांधी ने भी अपनाया। सभी लोगों को एक सूत्र में बाँधने के लिए सामुहिक प्रार्थना सभा की योजना बनायी।

स्वामी दयानंद की समग्र विचारधारा का आधार और स्रोत भारत का अतीत था। वे विदेशियों की विचारधारा से प्रभावित होकर अपने समाज का निर्माण करना नहीं चाहते थे। उनका दृष्टिकोण राजाराम मोहन राय और अन्य आधुनिक सुधारकों से मूलतः भिन्न था। उन्होंने राष्ट्रीय एकता के लिए आवाज उठायी तथा राष्ट्रीय जागरण, स्वदेशी की भावना, स्त्री-शिक्षा, अछूतोद्धार और देशोद्धार की प्रबल भावना भी जगायी। उन्होंने अपने देश में एक प्रकार से जर्मनी के विद्रोही धार्मिक नेता मार्टिन लूथर की भूमिका अदा की। जिस तरह मार्टिन लूथर ने पोंगापंथी पोपों के विरूद्ध बगावत का झंडा उठा लिया और एक नयी जर्मन राष्ट्रीयता को जन्म दिया, उसी तरह दयादन्द ने धर्माडंबरों की धज्जियाँ

उड़ाते हुए आर्य जाति के नवजागरण का शंखनाद किया तथा लोगों को भौतिक अनुसंधानों से लाभ उठाने की सलाह दी।

स्वामी दयानन्द की राष्ट्रीय एकता की अवधारणा सभी भारतवासियों द्वारा वेदों की सत्ता और हिन्दू धर्म को स्वीकार करने पर आधारित थी। उनके अनुसार मुसलमान और ईसाई आर्य संस्कृति के शत्रु थे। अपने 'सत्यार्थ प्रकाश' में उन्होंने न केवल बौद्ध धर्म, जैन धर्म, इस्लाम और ईसाई धर्म को झूठे धर्म कहकर उनकी निन्दा की, वरन उनके दृष्टिकोण को आर्य चिन्तन से संश्लेषित और समन्वित करने के किसी भी प्रयत्न का बड़ी ही उग्रता से विरोध किया। प्रार्थना समाज और ब्रह्म समाज के सामाजिक सुधारकों की निन्दा की और कहा कि इन लोगों में देश भक्ति का अत्यधिक अभाव है।

स्वामी दयानन्द ने 'ब्रह्म-समाज, और 'प्रार्थना समाज' के सम्बन्ध में सत्यार्थ-प्रकाश' में स्पष्ट लिखा है—"ब्रह्म-समाज' और 'प्रार्थना समाज' वालों ने ईसाई मत में मिलने से लोगों को बचाया है और मूर्त्ति-पूजा का विरोध किया है, जाल ग्रंथों के फंदों का भंडाफोड़ किया है, यह अच्छी बातें हैं, परन्तु इन लोगों में स्वदेश भक्ति बहुत ही न्यून है। ईसाईयों के आवरण बहुत से लिए हैं। व्याख्यानों में ईसाई और अंगरेजों की प्रशंसा भरपेट करते हैं।"

स्वामी दयानन्द और आर्य समाज ने आरम्भ में राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत करने में प्रभावशाली भूमिका अदा की, परन्तु उपनिवेशवाद विरोध के साथ-साथ इस्लाम और ईसाई विरोध के कारण फूटपरस्त और संकीर्णतावादी नीतियों का शिकार हो जाने से आगे प्रगति के मार्ग में बाधक बन गये।

स्वामी दयानन्द और उनके द्वारा स्थापित आर्य समाज ने जनता में देश-भक्ति की भावनाएँ पुनरुत्थानी नारे के आधार पर जगाने की कोशिशें की। उन्होंने 'वेदों की ओर लौटो' का नारा दिया। वह वेदों को ईश्वर का वाक्य मानते थे। दयानन्द के अनुसार वेद न केवल अतीत के सम्बन्ध में, वरन भविष्य के बारे में भी ज्ञान के मूर्त रूप थे। उन्होंने कहा कि—"जिस प्रकार सूर्य अथवा दीपक अपने प्रकाश से स्वयं अपने स्वरूप तथा ब्रह्माण्ड की अन्य वस्तुओं, जैसे पृथ्वी आदि को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार वेद प्रकाशित है।"

पंडित जवाहरलाल नेहरू ने एक बार स्वामी विवेकानन्द के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहा था,—"मैं नहीं जानता हमारी युवा पढ़ी में कितने लोग स्वामी विवेकानन्द के भाषणों और लेखों को पढ़ते हैं, परन्तु मैं उन्हें यह निश्चित बता सकता हूँ कि मेरी पीढ़ी के बहुतेरे युवक उनके द्वारा अत्याधिक मात्रा में प्रभावित हुए थे। मेरे विचार में यदि वर्त्तमान पीढ़ी के लोग स्वामी विवेकानन्द के भाषणों और लेखों को पढ़े तो उन्हें बहुत बड़ा लाभ होगा और वे बहुत कुछ सीख पाएँगे।"

इसमें संदेह नहीं कि स्वामी विवेकानन्द में राष्ट्रीयता को पूर्ण आत्मा प्रकट हुई थी, उन्हें भारत के प्रति अगाध श्रद्धा थी। स्वामी विवेकानन्द के जन-जागरण का परिणाम वंग-भंग आन्दोलन तथा क्रान्तिकारी आन्दोलन पर गहरे रूप में पड़ा। 'गीता' लेकर फांसी के फन्दे पर हँसते-हँसते झूल जाने वाले क्रांतिकारियों पर विवेकानन्दजी की शिक्षाओं का गहरा प्रभाव था।

काफी निराशा हुई। उन्होंने सारे उत्तर भारत का दौरा किया। उस समय के सुधारकों से सम्पर्क स्थापित किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भारत की दुर्दशा एवं उसकी गरीबी का कारण अंग्रेजीराज का होना है।

सन् 1857 की क्रांति के समय दयानन्द की आयु 33 वर्ष की थी। अपनी चढ़ती हुई जवानी में भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की क्रांति को न केवल बहुत नजदीक से देखा, बल्कि उसमें योगदान भी किया था। राजस्थान के प्रसिद्ध इतिहासकार श्री पृथ्वी सिंह मेहता ने तात्याटोपे और स्वामी दयानन्द के पारस्परिक क्रांतिकारी संबंधों का उल्लेख किया है। कुछ लोगों का कथन है कि वे बैरकपुर में छद्म रूप में जाकर मंगल पांडेय से भी मिले थे और उन्हें आशीर्वाद दिया था। यह भी कहा जाता है कि नाना साहब को स्वामी दयानंद ने सन्यास की दीक्षा दी थी और इनका नाम दिव्यानन्द रखा गया था। (धर्मयुग मई 15, 1976 में प्रकाशित लेख "गदर के बाद नाना साहब कहाँ रहे")

सन् 18-2-73 में भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड नार्थब्रूक से स्वामी दयानंद की वार्ता हुई थी। इस भेंट का आयोजन लार्ड बिशप पादरी ने किया था जो दुभाषिया का कार्य भी सम्पन्न कर रहा था। लार्ड नार्थब्रुक ने स्वामी दयानन्द से आग्रह किया कि जब उनके धर्म प्रचार में ब्रिटिश सरकार बाधक नहीं है, तब आप (स्वामी दयानंद) अपनी प्रार्थनाओं में इस देश पर अखंड अंग्रेजी शासन रहे, ऐसी कामना भी प्रकट करें।

स्वामी दयानंद ने स्पष्ट ही कह दिया—"श्रीमान जी, मैं तो ईश्वर से नित्य ही इस देश को विदेशियों की दासता से मुक्ति की प्रार्थना करता हूँ।" स्वामी दयानंद के उत्तर को सुनकर नार्थब्रुक काफी घबड़ा गया और वार्त्तालाप बन्द कर दिया। उसने इस घटना को अपनी साप्ताहिक गुप्त डायरी में लिख कर 'इंडिया आफिस, लंदन" को भेजा और इस बागी फकीर की गतिविधियों पर कड़ी निगरानी के लिए गुप्तचर नियुक्त किया।

19वीं शताब्दी राष्ट्रीय पुनर्जागरण के जितने भी ज्योतिधर हैं, उनमें स्वामी दयानंद ने ही सर्व प्रथम 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग किया। 10 अप्रैल 1874 में दयानन्द ने आर्य समाज की स्थापना की। आपने 59 वर्ष की आयु पूरा कर 1883 में शरीर त्याग किया। स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित सामाजिक एवं राजनीतिक कार्यों में से कुछ को महात्मा गांधी ने भी अपनाया। सभी लोगों को एक सूत्र में बाँधने के लिए सामुहिक प्रार्थना सभा की योजना बनायी।

स्वामी दयानंद की समग्र विचारधारा का आधार और स्रोत भारत का अतीत था। वे विदेशियों की विचारधारा से प्रभावित होकर अपने समाज का निर्माण करना नहीं चाहते थे। उनका दृष्टिकोण राजाराम मोहन राय और अन्य आधुनिक सुधारकों से मूलतः भिन्न था। उन्होंने राष्ट्रीय एकता के लिए आवाज उठायी तथा राष्ट्रीय जागरण, स्वदेशी की भावना, स्त्री-शिक्षा, अछूतोद्धार और देशोद्धार की प्रबल भावना भी जगायी। उन्होंने अपने देश में एक प्रकार से जर्मनी के विद्रोही धार्मिक नेता मार्टिन लूथर की भूमिका अदा की। जिस तरह मार्टिन लूथर ने पोंगापंथी पोपों के विरूद्ध बगावत का झंडा उठा लिया और एक नयी जर्मन राष्ट्रीयता को जन्म दिया, उसी तरह दयादन्द ने धर्माडंबरों की धज्जियाँ

उड़ाते हुए आर्य जाति के नवजागरण का शंखनाद किया तथा लोगों को भौतिक अनुसंधानों से लाभ उठाने की सलाह दी ।

स्वामी दयानन्द की राष्ट्रीय एकता की अवधारणा सभी भारतवासियों द्वारा वेदों की सत्ता और हिन्दू धर्म को स्वीकार करने पर आधारित थी । उनके अनुसार मुसलमान और ईसाई आर्य संस्कृति के शत्रु थे । अपने 'सत्यार्थ प्रकाश' में उन्होंने न केवल बौद्ध धर्म, जैन धर्म, इस्लाम और ईसाई धर्म को झूठे धर्म कहकर उनकी निन्दा की, वरन उनके दृष्टिकोण को आर्य चिन्तन से संश्लेषित और समन्वित करने के किसी भी प्रयत्न का बड़ी ही उग्रता से विरोध किया । प्रार्थना समाज और ब्रह्म समाज के सामाजिक सुधारकों की निन्दा की और कहा कि इन लोगों में देश भक्ति का अत्यधिक अभाव है ।

स्वामी दयानन्द ने 'ब्रह्म-समाज, और 'प्रार्थना समाज' के सम्बन्ध में सत्यार्थ-प्रकाश' में स्पष्ट लिखा है—"ब्रह्म-समाज' और 'प्रार्थना समाज' वालों ने ईसाई मत में मिलने से लोगों को बचाया है और मूर्त्ति-पूजा का विरोध किया है, जाल ग्रंथों के फंदों का भंडाफोड़ किया है, यह अच्छी बातें हैं, परन्तु इन लोगों में स्वदेश भक्ति बहुत ही न्यून है । ईसाईयों के आवरण बहुत से लिए हैं । व्याख्यानों में ईसाई और अंगरेजों की प्रशंसा भरपेट करते हैं ।"

स्वामी दयानन्द और आर्य समाज ने आरम्भ में राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत करने में प्रभावशाली भूमिका अदा की, परन्तु उपनिवेशवाद विरोध के साथ-साथ इस्लाम और ईसाई विरोध के कारण फूटपरस्त और संकीर्णतावादी नीतियों का शिकार हो जाने से आगे प्रगति के मार्ग में बाधक बन गये ।

स्वामी दयानन्द और उनके द्वारा स्थापित आर्य समाज ने जनता में देश-भक्ति की भावनाएँ पुनरुत्थानी नारे के आधार पर जगाने की कोशिशें की । उन्होंने 'वेदों की ओर लौटो' का नारा दिया । वह वेदों को ईश्वर का वाक्य मानते थे । दयानन्द के अनुसार वेद न केवल अतीत के सम्बन्ध में, वरन भविष्य के बारे में भी ज्ञान के मूर्त रूप थे । उन्होंने कहा कि—"जिस प्रकार सूर्य अथवा दीपक अपने प्रकाश से स्वयं अपने स्वरूप तथा ब्रह्मण्ड की अन्य वस्तुओं, जैसे पृथ्वी आदि को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार वेद प्रकाशित है ।"

पंडित जवाहरलाल नेहरू ने एक बार स्वामी विवेकानन्द के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहा था,—"मैं नहीं जानता हमारी युवा पढ़ी में कितने लोग स्वामी विवेकानन्द के भाषणों और लेखों को पढ़ते हैं, परन्तु मैं उन्हें यह निश्चित बता सकता हूँ कि मेरी पीढ़ी के बहुतेरे युवक उनके द्वारा अत्याधिक मात्रा में प्रभावित हुए थे । मेरे विचार में यदि वर्त्तमान पीढ़ी के लोग स्वामी विवेकानन्द के भाषणों और लेखों को पढ़े तो उन्हें बहुत बड़ा लाभ होगा और वे बहुत कुछ सीख पाएँगे ।"

इसमें संदेह नहीं कि स्वामी विवेकानन्द में राष्ट्रीयता की पूर्ण आत्मा प्रकट हुई थी, उन्हें भारत के प्रति अगाध श्रद्धा थी । स्वामी विवेकानन्द के जन-जागरण का परिणाम बंग-भंग आन्दोलन तथा क्रान्तिकारी आन्दोलन पर गहरे रूप में पड़ा । 'गीता' लेकर फांसी के फन्दे पर हँसते-हँसते झूल जाने वाले क्रांतिकारियों पर विवेकानन्दजी की शिक्षाओं का गहरा प्रभाव था ।

स्वामी विवेकानन्द का जन्म कलकत्ते के एक मध्यवर्गीय परिवार में 1863 हुआ था। उनके बचपन का नाम नरेन्द्र था। नरेन्द्र छात्र जीवन में ही राजाराम मोहन राय द्वारा स्थापित ब्रह्म समाज के आधुनिक विचारों की ओर आकृष्ट हुए। 1881 में सत्रह वर्षीय युवक नरेन्द्र स्वामी रामकृष्ण परमहंस के सम्पर्क में आये।

विवेकानन्द अत्यन्त प्रतिमा सम्पन्न बुद्धिजीवी थे। कई अर्थों में वह अपने गुरु स्वामी रामकृण परमहंस से भी अधिक प्रतिभा सम्पन्न थे। एक छात्र के रूप में उन्होंने आधुनिक विज्ञान, विश्व इतिहास और दर्शन में असाधारण दक्षता प्राप्त कर ली थी।

1886 में स्वामी रामकृष्ण परमहंस का देहावसान हो गया। अब विकेकानन्द ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की । इसका उद्देश्य नये संदेश का प्रचार और जनता में नयी चेतना जगाना था। विवेकानन्द ने पाँच वर्ष तक समूचे देश का भ्रमण किया और जनता से प्राप्त भिक्षा पर गुजारा किया। इस अनुभव के फलस्वरूप उन्हें भारत में विविधता के पीछे अन्तर्निहित एकता का ज्ञान हुआ। उन्होंने भारतीय जनता की शक्ति और उसकी कमजोरियों को समझा। उन्हें अनुभव हुआ कि कंगाली की समस्या को सुलझाये बिना, जनता को नैतिक और बौद्धिक रूप से सुदृढ़ बनाये बिना और उन्हें अपने पैरों पर खड़ा किये बिना कोई भी धर्म कारगर नहीं हो सकता।

अपने विश्व दृष्टिकोण के कारण विवेकानन्द यह मानते थे कि भारत की प्रगति समूचे विश्व की प्रगति के साथ सम्बद्ध है। उन्होंने घोषणा की थी— "समूचा संसार जबतक एक साथ आगे कदम नहीं बढ़ाता, तबतक कोई प्रगति सम्भव नहीं है ।"

एक भिक्षुक के रूप में अपने भ्रमण के दौरान स्वामी विवेकानन्द इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि गरीबों के रहन-सहन के स्तर को उन्नत करना हमारे मिशन का सर्व प्रमुख कर्तव्य होना चाहिए। हरेक के लिए रोटी, हरेक के लिए काम की अधिक सुविधाएँ चाहिए। साथ ही, उन्होंने जनता की कमजोरियों और दुर्बलताओं की भी तीव्र निन्दा की। उन्होंने अस्पृश्यता, जाति-श्रेष्ठता और पंडे-पुरोहितों के धार्मिक आतंक की कटु निन्दा की। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की,—"मैं आप लोगों को अंधविश्वासी मूर्खों के बजाय पक्के अनीश्वरवादियों के रूप में देखना ज्यादा पसंद करूँगा।" स्वामी विवेकानन्द यद्यपि अपने धार्मिक विचारों के मूल आधार के लिए वेदों और उपनिषदों की ओर लौटे, किन्तु उन्होंने हमेशा आधुनिक सभ्यता के मूल्यों को भी स्वीकार किया। उन्होंने सदैव अपने धार्मिक विचारों का विज्ञान से सामंजस्य स्थापित किया।

स्वामी विवेकानन्द अपने को वेदान्ती कहते थे। अद्वैत वेदान्त के लिए उनके हृदय में विशेष आकर्षण था। वह यहाँ तक मानते थे कि अद्वैत ही सर्वाधिक वैज्ञानिक धर्म है। उनका विश्व दृष्टिकोण मूलतः आदर्शवादी था, हालांकि उसमें भौतिकवाद के कुछ तत्व मौजूद थे।

विवेकानन्द ने बताया कि स्वतंत्रता उन्नति की पहली शर्त है। उन्होंने अपने एक सन्देश में कहा हैं—"गर्व से कहो कि मैं भारतवासी हूँ और प्रत्येक भारतवासी मेरा भाई है। तुम चिल्लाकर कहो कि मूर्ख भारतवासी, दरिद्र भारत-

वासी, ब्राह्मण भारतवासी, चाण्डाल भारतवासी, सभी मेरे भाई हैं। भारत के दीन-दुखियों के साथ एक होकर गर्व से पुकार कर कहो, प्रत्येक भारतवासी मेरा भाई है, भारतवासी मेरे प्राण हैं, भारत के देव-देवियाँ मेरे ईश्वर हैं, भारत का समाज मेरे बचपन का झूला, जवानी की फुलवारी और बुढ़ापे की काशी है, भाई कहो कि भारत की मिट्टी मेरा स्वर्ग है, भारत के कल्याण में मेरा कल्याण है।…"

सन् 1893 में धर्मों की विश्व काँग्रेस में भाग लेने के लिए भारतीय प्रतिनिधि की हैसियत से स्वामी विवेकानन्द संयुक्त राज्य अमेरिका गये और उन्होंने राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को काफी ऊँचा किया।

विदेशों में भ्रमण के बाद स्वामी विवेकानन्द भारत लौटे। साधारण जनता में उनकी आस्था अब अकूत रूप से बढ़ चुकी थी। उन्होने कहा, भारत को अब एकमात्र सामान्य जनों से आशा है। उच्च वर्ग भौतिक और नैतिक रूप से खोखले हो चुके हैं। उन्होंने सामाजिक व्यवस्था में आमुल परिवर्त्तन का आवाहन किया।

स्वामी विवेकानन्द ने यह स्पष्ट लिखा है,— "मानव समाज पर बारी-बारी से चार जातियों का राज्य होता है—पुरोहितों, सैनिकों, व्यापारियों और मजदूरों का। सबसे आखिर में मजदूरों (शुद्रों) का राज्थ आयेगा। पहली तीन जातियों के शासन के दिन अब लद चुके हैं। अब इस आखिरी वर्ग का समय आया है। उसे शासन मिलना ही चाहिए। कोई इस बात को रोक भी नहीं सकता। स्वामी विवेकानन्द का निधन 1902 में केवल 39 वर्ष की आयु में हो गया, किन्तु अपनी आयु की छोटी अवधि में ही उनके विराट व्यक्तित्व में धर्म, राजनीति, राष्ट्रीयता, अन्तर्राष्ट्रीयता, वेद और विज्ञान सब समाहित होते हैं।

दयानन्द पुनरुत्थानवादी और विवेकानन्द आधुनिक सन्यासी थे। दोनों ने धर्म और संस्कृति के नायक के रूप में आत्म-निर्भरता और स्वाभिमान के भाव जगाये। प्रत्यक्ष रूप से उनलोगों ने राजनीति का सुस्पष्ट संदेश दिये बिना ही देशभक्ति और राजनीतिक मानसिकता के निर्माण में अग्रणी भूमिका अदा की। स्वामी विवेकानन्द ने एक निर्भीक सांस्कृतिक योद्धा की भाँति अपने देश के शोषित-पीड़ित जनगण के प्रति गहरी सहानुभूति प्रकट की। उनके जीवन-काल में मजदूर वर्ग का न कोई आंदोलन था न संगठन, क्योंकि इस वर्ग का उदय अभी शुरू ही था फिर भी एक महान क्रांतिकारी की ओजस्विता से उन्होंने अपनी अंतिम रचनाओं में मजदूर वर्ग के प्रति अटूट श्रद्धा और आस्था व्यक्त की। उन्होंने भारत के लिए एक महान भविष्यवाणी की—स्वतंत्रता ही नहीं बल्कि समाजवाद की भविष्यवाणी। इस सन्यासी ने रूस की समाजवादी क्रांति से भी दो दशक पहले भारत में समाजवाद की उद्घोषणा की थी।

स्वामी सहजानन्द सरस्वती ने दयानन्द और विवेकानन्द से भिन्न मार्ग अपनाया। उन्होंने शोषित-पीड़ित जनता के भौतिक उत्थान में गतिरोध उत्पन्न करनेवाले सभी तत्वों का क्रियात्मक विरोध करते हुए एक क्रांतिकारी जननायक की भांति राजनीतिक संघर्षों का मार्ग प्रशस्त किया। एक महान क्रान्तिकारी सन्यासी, वैज्ञानिक समाजवादी, जननायक स्वामी सहजानन्द सरस्वती भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के महान योद्धा, किसान आन्दोलन के जनक, पीड़ितों के मसीहा और संम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय के अत्यन्त ही गम्भीर अध्येता थे।

आमतौर पर 'सन्यासी' शब्द से मन में जो बिंब उभरता है, वह शिखा-सूत्र-धारी त्यागी, गैरिक वस्त्रधारी घर-वार से विरक्त और माया के सभी बंधनों से मुक्त तथा निरन्तर आध्यात्मिक चिंतन में लीन रहने वाला व्यक्ति। किन्तु स्वामी सहजानन्द ने अपने जीवन से यह स्पष्ट कर दिया कि सन्यासी होकर भौतिक समस्याओं से जुझना उसके निदान के लिए अनबरत प्रयत्नशील रहना तथा लोक-कल्याणकारी भावनाओं से जीवन संघर्ष करने में जीवन की सच्ची सार्थकता है। इसी लिए उन्होंने अपनी आत्म कथा का नाम—"मेरा जीवन संघर्ष" ही रखा।

एक ओर घर और परिवार की झंझटों से मुक्त, दूसरी ओर संपूर्ण समाज, देश और मानवता, विशेष रूप से शोषित, पीड़ित और दलितों को स्वजन मानकर उनके अधिकारों के लिए सतत् संघर्ष —यह स्वामी सहजानन्द की सच्ची पहचान है जिन्हें दिनकर ने अपनी कविता (अध्याय 13) में बड़े ही स्पष्ट शब्दों में रखा है।

स्वामी सहजानंद के जीवन के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध खंडों की अलग-अलग भूमिकाएँ हैं। अपने जीवन के पूर्वार्द्ध काल में सहजानन्द आध्यात्मिक, पुनरुथान-वादी और सामाजिक कार्य में बंधे रहे, लेकिन शीघ्र ही वे उस घेरे से मुक्त होकर अपने जीवन के उत्तरार्द्ध काल में भारत के राजनीतिक मंच पर एक महान क्रांतिकारी जननायक के रूप में प्रकट हुए।

सहजानन्द अपने राजनीतिक जीवन के पहले दौर में महात्मा गाँधी और गाँधीवाद से प्रभावित थे, किन्तु व्यावहारिक रूप से उनका मोह भंग होने में अधिक समय नहीं लगा और उन्होंने अनुभव से यह समझ लिया कि भारत को राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक गुलामी के बंधनों से तभी मुक्ति मिलेगी, जब भारत के राजनैतिक नेता पूँजीवाद की जड़ों को मजबूत करनेवाले समझौतावादी पथ का परित्याग कर आम जनता की मूलभूत समस्याओं का समाधान करनेवाले वैज्ञानिक समाजवादी मार्ग का अनुसरण करेंगे।

स्वामीजी के व्यक्तित्व की निम्नलिखित विशिष्टाएँ गहन अनुसन्धान और अध्ययन योग्य हैं :—

किसी व्यक्ति, सिद्धान्त या संगठन से चिपके रहना सहजानन्द को स्वीकार्य नहीं था। उन्होंने तर्क के अधार पर जिसे उचित नहीं समझा उससे पिंड छुड़ा लिया।

स्वामी सहजानन्द इस शताब्दी के उन महान भारतीयों में से एक हैं, जिन्हें 'युग पुरुष' कहा जा सकता है। उनका सम्पूर्ण जीवन देश, समाज और सर्वाधिक उपेक्षित वर्ग 'किसान' के प्रति समर्पित था। वे प्रथम कोटि के चिन्तनशील विचारक थे।

स्वामी सहजानन्द की विचार यात्रा कल्पना से यथार्थ की ओर, आध्यात्म से भौतिकवाद की ओर, वेद से विज्ञान की ओर और गांधीवाद से मार्क्सवाद की ओर अग्रसर होती गयी।

1907 में सहजानन्द संन्यासी हो गये। संन्यासी बनकर सच्चे योगी और भगवान की प्राप्ति में दर-दर की ठोकरें खाई। तीर्थ स्थानों और जंगलों में धुनी

रमायी। पोथी, पुराण और ग्रन्थों में ढूँढ़ने का प्रयास किया, कहीं साक्षात्कार नहीं हुआ। अन्त में उसे दु:खी जन-गण में, शोषित किसानों में पाने की कोशिश की और अन्त तक समर्पित भाव से यह काम करते रहे। दु:खियों, शोषितों को छोड़ मुक्ति की कामना उनके मन में नहीं थी। पलायनवादी बनकर वह जीवित रहना नहीं चाहते थे और उन्होंने क्रांतिकारी मार्ग प्रशस्त किया।

स्वामी सहजानन्द के हृदय में देश की मुक्ति के लिए गहरी तड़प थी। विदेशी शासन से होने वाली राष्ट्रीय क्षति को उन्होंने गम्भीरता से अनुभव किया था। "जालियां वाला बाग" के काण्ड से उस सन्यासी के मन में विद्रोह की भावना भर चुकी थी। 4 दिसम्बर 1920 को पटना में मौलाना मजहरुल हक के मकान पर स्वामी सहजानन्द ने महात्मा गांधी से भेंट की। दोनों की लम्बी वार्त्ता हुई। सहजानन्द स्वतंत्रता संग्राम में जुझारु तेवर के साथ उतरे। 1920 में नागपुर और 1921 में अहमदाबाद कांग्रेस अधिवेशन में भाग लिया। अहमदाबाद कांग्रेस अधिवेशन से लौटने पर गिरफ्तार कर लिए गए। उनपर राजद्रोह का मुकदमा चला। जेल में पंडित जवाहर लाल नेहरू से विशेष बातचीत और परिचय हुआ। सन् 1923 में जेल से मुक्त हो गये। सन 1930 में नमक कानून भंग करने के कारण स्वामीजी फिर पकड़े गये और छ: महीने की कारावास की सजा पाई। 1940 में रामगढ़ में समझौता विरोधी सम्मेलन के बाद उन्हें 3 वर्ष की कारावास की सजा मिली।

स्वामी सहजानन्द का जीवन 1920 तक योग, तप, अध्ययन और सामाजिक-सांस्कृतिक कार्यों में, 1920 से 1934 पक्के गांधीवादी के रूप में और 1935 से 1940 तक भारतीय राजनीति में वामपक्ष की विचारधारा के साथ प्रतिबद्ध रहा।

1927 से सहजानन्द किसानों को संगठित और आन्दोलित करने में लग गये। 1929 के 17 नवम्बर को बिहार राज्य किसान सभा और 1936 के 11 अप्रैल को अखिल भारतीय किसान सभा की स्थापना स्वामी सहजानन्द की अध्यक्षता में हुई। स्वामी सहजानन्द ने किसान संघर्ष को राष्ट्रीय संघर्ष की मुख्य-धारा से जोड़ने का प्रयास किया। पटना जिले के बिहटा में उनका आश्रम है। अनवरत किसानों के बीच उनका तूफानी दौरा होता रहता था। वे देश में 'मजदूर किसान राज' चाहते थे। 'कमानेवाला खायेगा' 'लूटनेवाला जायेगा' 'नया जमाना आयेगा' यही सहजानन्द के नारे थे। स्वामी सहजानन्द ने एक दर्जन से अधिक पुस्तकों की रचना की। दयानन्द और विवेकानन्द ने उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में एक राष्ट्रीय सांस्कृतिक जागरण पैदा किया, जिससे पराधीन राष्ट्र में अपनी अस्मिता के पहचान के लिए नव जागरण आया था। वैसा ही कार्य बीसवीं शती के तृतीयदशक में सहजानन्द ने किया। स्वतंत्रता के संघर्ष को वैचारिक धरातल से उतार कर किसान, मजदूरों के संघर्षों के साथ जोड़ा।

स्वामी सहजानन्द ने किसान समस्या को सशक्त एवं सक्रिय ढंग से समाज के सामने रखकर शोषित, पीड़ित, मूक, समस्या-ग्रस्त भारतीय जनता को वाणी देने का सार्थक प्रयास किया। बड़े-बड़े किसान आंदोलनों का नेतृत्व किया और नये भारत के निर्माण के लिए एक स्पष्ट कार्यक्रम दिया।

वामपक्षी जनवादी शक्तियों का विकल्प खड़ा कर ही स्वामी सहजानन्द के मजदूर किसान राज के सपने को साकार किया जा सकता है।

15

हिन्दू-मुस्लिम सम्प्रदायवाद : धर्म बनाम अर्थ

—प्रभाकर प्रसाद सिंह

आधुनिक भारतीय समाज को विघटित एवं विखण्डित करने में सर्वाधिक प्रभावशाली भूमिका सम्प्रदायवाद की ही रही है। 'गो-रक्षा' या 'गो-हत्या', मध्यमवर्गीय अवसरवादिता, धर्म एवं राजनीति का सम्मिश्रण आदि बातें सम्प्रदायवाद के पोषक तत्व के रूप में विद्यमान रही हैं। सम्प्रदायवाद के पोषक तत्वों के सम्बन्ध में स्वामी सहजानन्द के विश्लेषण एवं निष्कर्ष वस्तुगत तथा व्यवहारिक अनुभव के ठोस धरातल पर आधारित थे। मूल ऐतिहासिक स्रोतों के आलोक में स्वामीजी द्वारा इंगित सम्प्रदायवाद के लिए उत्तरदायी कुछेक प्रधान कारणों को सम्पुष्ट करने का प्रयास प्रस्तुत लेख में किया गया है।

यह एक विडम्बना है कि यदि एक ओर जीव-विज्ञान के लौकिक विश्लेषण ने सामान्य प्राकृतिक गुणों के आधार पर मनुष्य, गाय एवं सूअर को एक ही प्रकार के स्तनधारी जीवों की श्रेणी में रखा गया है, तो दूसरी ओर धर्म-शास्त्रों ने गाय एवं सूअर की बदौलत मानव-समाज, विशेषत: भारतीय जन-समूह के हिन्दुओं एवं मुसलमानों को इस तरह विभाजित कर दिया कि किसी पशु-विशेष के प्रति श्रद्धा एवं घृणा के कारण वे लोग एक दूसरे के साथ हिंसक पशुवत व्यवहार करने लगे। सम्भवत: आज की वैज्ञानिक-तकनीकी क्रांति भी उनकी मानसिकता को परिवर्त्तित करने में नाकामयाब सिद्ध हो रही है।

प्रारम्भ में चर्चा कर देना आवश्यक है कि गो-रक्षा या गो-मांस भक्षण-निषेध के प्रति समर्थन मात्र में साम्प्रदायिक कुंठा एवं तनाव अन्तर्निहित नहीं होते थे। कभी-कभार तो इनका आधार स्पष्टतया जीवन-सम्बन्धी होता था। उदाहरण के तौर पर अठारहवीं शताब्दी के फ्रांसीसी चिंतक मान्टेसक्यू ने लिखा था[1] :—

"भारत जैसे मुल्क में जहाँ पर गर्मी के कारण चारागाह बर्वाद हो जाते हैं एवं पशु के आहार के लिए बहुत थोड़ा बच जाता है, वहाँ पर पशु के जीवन की रक्षा के लिए धार्मिक कानून आर्थिक दृष्टिकोण से आवश्यक हैं। इसके अलावा गर्म आबोहवा जहाँ पर (गो) मांस स्वादहीन होता है, वहीं पर इससे प्राप्त दूध और घी प्रधान आहार के रूप ग्रहण किए जाते हैं। इस प्रकार गो-रक्षा एवं गो-मांस भक्षण को निषेध करने वाले कानून युक्तिसंगत हैं।"

यहाँ पर यह चर्चा करना आवश्यक है कि अपवाद स्वरूप ही, जीवन-सम्बन्धी अथवा आर्थिक कारणों से किसी हिन्दू द्वारा गो-रक्षा का समर्थन हिन्दुओं एवं मुसलमानों के बीच व्याप्त पारस्परिक संदेह एवं अविश्वास के वातावरण में अपनी पहचान गैर- साम्प्रदायिक नहीं बना सका। वास्तव में, हिन्दू धार्मिक भावना,

कठमुल्लेपन एवं अंधविश्वास से उत्प्रेरित गो-रक्षा आन्दोलन हिन्दू व्यक्तित्व या हिन्दू संगठन से अविच्छिन्न रूप से जुड़ जाता था जिसका चरित्र साम्प्रदायिक हो जाता था। इससे भी इन्कार करना मुश्किल है कि धार्मिकता एवं हठधर्मिता के आवरण में वर्गीय एवं वैयक्तिक आर्थिक—राजनीतिक स्वार्थ प्रचुर मात्रा में विद्यमान रहा करते थे।

स्पष्टतया 19वीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश से लेकर लगभग तीस वर्षों बाद तक गाय की कुर्बानी भारत के विभिन्न स्थानों, विशेषतः स्वामीजी की सामाजिक-राजनीतिक गतिविधियों के मुख्य केन्द्र, उत्तर प्रदेश एवं बिहार में हिन्दू-मुस्लिम तनाव के प्रधान कारण के रूप में बनी रही। विविध वर्गीय आर्थिक-राजनीतिक एवं निहित स्वार्थों ने इस आन्दोलन को अभिप्रेरित, उत्प्रेरित एवं संचालित करने[2] में चाहे जो भी भूमिका निभाई हो, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि धार्मिकता के आधार पर ही इसे साम्प्रदायिक उन्माद फैलाने के हथियार के रूप में इस्तेमाल किया गया।

यद्यपि ऐसे हिन्दुओं एवं मुसलमानों की कमी नहीं थी जो क्रमशः बकरीद के अवसर पर गाय की कुर्बानी बाधित करने के प्रयास को निन्दनीय एवं इसके व्यवहार के प्रति प्रदर्शित कटिबद्धता को धार्मिक रूप से अनावश्यक[3] मानते थे, फिर भी गो-हत्या से सम्बन्धित हिन्दू-शास्त्र सम्मत निषेध[4] एवं कुरान में इसकी अनुमति[5] के परिप्रेक्ष्य में सम्भवतः हिन्दू-मुस्लिम टकराव को भयंकर रूप से तीव्रतर बनाने के प्रयास किए गए[6]। तत्कालीन सरकारी दस्तावेजों एवं पत्रिकाओं पर दृष्टिपात करने से यह तथ्य सम्पुष्ट होता है कि गो-रक्षा हेतु वितरित किए जाने वाले विभिन्न प्रकार के साहित्य-'पतिया एवं पर्चे'—धार्मिकता से ओत-प्रोत होते थे।[7]

इस प्रकार धार्मिक मान्यताओं की अतिसंवेदनशील पृष्ठभूमि में गो-रक्षा आन्दोलन एक ऐसे प्रतीक के रूप में उभरा जो "वर्ग एवं जाति की विभाजन-रेखा को मिटाता हुआ"[8] हिन्दू-समाज को एकता के सूत्र में बाँध दिया करता था। इस तथ्य को स्वीकारते हुए लार्ड लैंड्सडाउन ने लिखा था[9] :—

"मुझे संदेह है कि सिपाही विद्रोह के बाद इतनी भारी मात्रा में अपने में गर्भित शरारत के साथ किसी भी आन्दोलन ने भारत सरकार का ध्यान आकृष्ट किया है। खतरा का परिमाण इस बात में है कि इस आन्दोलन ने भारतीय समुदाय के सम्पूर्ण देशद्रोही तत्वों को एक वैसा जन-समर्थन प्रदान कर दिया है, जो उन्हें किसी भी अन्य माध्यम से उपलब्ध नहीं हो सकता था" होम रूल आन्दोलन (आयरलैंड में) तब खतरनाक बन गया जब पारनेल की विचक्षणता ने इसे भूमि-सम्बन्धी सवालों से जोड़कर होम रूल में प्रत्येक आईरीश किसान के आर्थिक हित का भी सवाल खड़ा कर दिया। उसी प्रकार भारत में कांग्रेस आन्दोलन एवं अन्य राजनीतिक गठबन्धनों में अभिव्यक्ति पाने वाले असंतोष एवं उथल-पुथल, मैं चिंतित हूँ, अपरिमित रूप से इसलिए खतरनाक हो जायेंगे, क्योंकि हिन्दू-समुदाय के शिक्षित एवं अशिक्षित तबके की शक्ति को एकजुट होने के लिए एक सामान्य भूमि तैयार हो जाएगी।"

तत्कालीन पत्रिकाओं में प्रकाशित टिप्पणियों एवं दंगे घटित होने के समय

आधार पर 1892 ई० के लेजिसलेटिव काउंसिल सुधार के मुद्दे पर उत्पन्न कांग्रेस मुस्लिम असहमति,[10] "शहरी आभिजनों की पेशकश,"[11] राजाओं एवं बड़े-बड़े जमींदारों द्वारा अपने "निहित स्वार्थों एवं गरीब रैयतों को दमित करने के निमित्त अपनाए गए तकनीक एवं हथियार,"[12] औपनिवेशिक अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत असंतालित एवं अल्प आर्थिक विकास के वातावरण में संघर्षरत, भयाक्रांत एवं हताश "निम्न मध्यम वर्गीय पहचान एवं अहंभाव से सहबद्ध धार्मिक भावुकता" जैसे विविध संदर्भों को केन्द्र में रखकर इस गो-रक्षा आन्दोलन की व्याख्या विद्वत् जनों ने की है। उसी प्रकार स्वामी सहजानन्द ने भी इस आन्दोलन का चित्रण आर्थिक संदर्भों में रखकर किया है।

स्वामीजी तो स्वयं ही गो-रक्षा के प्रबल समर्थक थे. परन्तु शाहाबाद जिला (जहाँ पर 1917 ई० में गो-हत्या के कारण भीषण दंगा हुआ था) के ब्रह्मपुर पशु-मेले (जहाँ भी दंगा हो चुका था) में जब उन्होंने सक्रिय रूप से भाग लिया, तब धार्मिक आवरण में छिपे क्षणिक आर्थिक लोभ-लालच की वास्तविकता उनके सामने उभर कर आयी जिससे सम्बन्धित कुछ तथ्य पहले कहे जा चुके हैं।[14] उन्होंने पाया कि सही ढंग से प्रयत्न करने पर मुसलमान कसाई बिना कोई लाभ लिए तो मान सकते हैं,[15] लेकिन गो-हत्या के माध्यम से आर्थिक लाभ का रसास्वादन करने वाले हिन्दू समाज के निहित स्वार्थ वाले तत्व गो-रक्षा आन्दोलन की सफलता से क्रोधित हो उठे। गो-रक्षा के सफल अभियान ने मेले के अस्तित्व पर ही प्रश्न-चिन्ह लगाना शुरू कर दिया, जिसका आर्थिक प्रभाव स्वयं स्वामीजी के शब्दों में कुछ वर्गों के लिए भयावह था :[16]

"हिन्दू एजेन्टों की बात तो मामूली थी। ज्यों ही हमने मेले के चारो ओर पिकेटिंग शुरू की कि वहाँ के जमीन्दार हम पर आग बबूला हो गए। वे कहने लगे आप तो हमारा मेला तोड़कर हमारी आमदनी चौपट कर रहे हैं। मन्दिर के पण्डे अलग बिगड़े। उन्होंने हो—हल्ला मचाना शुरू किया कि जब गाय बैल यहाँ आयेंगे ही नहीं तो आदमी क्या आयेंगे? फिर तो हमारा चढ़ावा ही जाता रहेगा, हमारी आमदनी घट जाएगी। इसलिए आपलोग हमारे शत्रु हैं। जो लोग झुण्ड के झुण्ड पशु लाते थे रोकने पर उनने अलग चिल्लाना शुरू किया ... हजारों रुपये लगाकर हमने पशु खरीदे हैं। हम तो एक ही बार लौटाने पर उजड़ जायेंगे और हमारे बाल-बच्चे मर जायेंगे। उधर गंगा के किनारे घाट का ठीकेदार और मल्लाह कहते थे कि पशुओं की आमदनी ही तो असली चीज है। अगर आपने यही रोक दी हमारा तो दिवाला ही समझिए ...... घरबार बेचकर हमें सरकार को ठीके का पैसा चुकाना पड़ेगा। ...देहात के लोग अलग बिगड़ते थे कि हमलोगों का बराबर का प्रोग्राम ही खत्म हो रहा है।"

इस प्रकार स्वामीजी ने पाया कि पैसे के भगवान के सामने धर्म का भगवान अत्यधिक निर्बल एवं निस्सहाय हो जाता है। इस सन्दर्भ में स्वामीजी द्वारा स्थापित निष्कर्ष अन्य ऐतिहासिक तथ्यों से सम्पुष्ट होते हैं। निहित स्वार्थों एवं संदिग्ध चरित्रों के साथ गो-रक्षा आन्दोलन के सम्बन्ध के अनेकानेक प्रमाण उपलब्ध हैं। उदाहरणार्थ 1893 ई० में विभिन्न स्थानों, विशेषतः आजमगढ़ में हिन्दू-मुस्लिम दंगा उकसाने वाले गो-रक्षा के प्रबल अधिवक्ता, श्रीमन स्वामी जो पहले डाक-तार विभाग में कार्यरत थे, "जालसाजी के अपराध में जेल जा चुके थे" और सरकारी सेवा से

बरखास्त होकर देश-भर में गो-रक्षा की गुहार करते फिर रहे थे ।[17] उसी प्रकार धर्म को भ्रष्ट करने वाले चर्बीयुक्त घी की बिक्री बन्द कराने के लिए बिहार के बहुत से अखबार सरकार को बंगाल की तरह इसके विरुद्ध निषेधात्मक कानून बनाने की गुहार कर रहे थे ।[18] धर्म के नाम पर गो-रक्षा की गुहार करनेवाले स्वयं हिन्दुओं द्वारा गाय का शोषण किए जाने के अनगिनत प्रमाण गो-रक्षा के हिमायती लेखकों द्वारा दिए गए हैं ।[19]

इसमें सन्देह नहीं कि अपने आर्थिक स्वार्थों की कीमत पर हिन्दू समाज गो-रक्षा के प्रति अपनी धार्मिक प्रतिबद्धता रखने के लिए किसी भी रूप में तैयार न था । धर्म बनाम अर्थ के विवाद ने स्वयं हिन्दू समाज को एक विचित्र द्वन्द्वात्मक स्थिति में रखते हुए उसमें चारित्रिक दोहरापन, विखण्डित व्यक्तित्व एवं मानसिक उच्छृंखलता पैदा कर दी थी, जिस पर पर्दा डालने के लिए वह गो-रक्षा के प्रति अपने 'निष्कपट समर्पण तथा धार्मिक पवित्रता' को सिद्ध करने का स्वांग रचा करता था । यही कारण है कि गो-रक्षा के सवाल पर वे विद्युत गति से एक जुट हो जाते थे, जिसका इस्तेमाल सम्प्रदायवादी शक्तियाँ करने लगती थी और इस वीभत्स नाटकीयता की अभिव्यक्ति हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक दंगों में हुआ करती थी । वास्तव में 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' की कहावत चरितार्थ होने का ऐसा मिसाल दुर्लभ है ।

गो-रक्षा दगा उकसाने के एक माध्यम के रूप में इस्तेमाल कर मुसलमानों को दबाया जाता था । केवल मुसलमानों को इसके लिए जिम्मेदार मानते हुए यूरोपीय कोयला-खान एवं अंगरेजी सैनिक छावनियों की वधशालाओं के बारे में चुप्पी बनाए रखना इसका प्रमाण है कि हिन्दू केवल कमजोर मुसलमानों पर ही दबाव डालते थे ।[20] गाँधी ने भी कहा था, "एक सह-पशु को बचाने के लिए एक सह-मानव की हत्या करना मूर्खता एवं नासमझी के साथ-साथ अमानवीय अपराध भी है ।"[21]

धर्म के इस दिखावटी रूप के साथ-ही-साथ स्वामीजी सम्प्रदाय के फैलाव के लिए मध्यम वर्गीय चरित्र को भी जिम्मेदार मानने लगे थे । कहना न होगा आधुनिक इतिहास-लेखन की वैज्ञानिक एवं वस्तुनिष्ठ व्याख्यायें[22] भी इसी मध्यम वर्ग को प्रधान रूप से सम्प्रदायवाद के लिए जिम्मेदार मानती हैं । वास्तव में, साम्राज्यवादी पूँजीवाद के संरक्षण में जनित भारतीय मध्यम वर्ग के उद्भव एवं विकास के परिवेश पश्चिमी जगत से सर्वथा भिन्न थे जहाँ पर मध्यम वर्ग सामन्तवाद के विरुद्ध संघर्ष करने के बाद उदित हुआ था ।[23] देशी सामन्तवाद एवं विदेशी पूँजीवाद के बीच त्रिशंकु की भाँति लटका भारतीय मध्यम वर्ग कोई अपनी स्वतन्त्र विचारधारा एवं पहचान नहीं बना सका । इसके संघर्ष सरकारी सेवा पाने एवं वैयक्तिक आर्थिक लाभ तक ही सीमित रहे । इसके परिणामस्वरूप मध्यम वर्गीय व्यक्तित्व सकीर्ण, अवसरवादी एवं सिद्धान्तविहीन बन गया, जिसे गाँधी, नेहरू एवं डॉ० डी० कौशाम्बी जैसे चिंतक स्वीकार करते हैं ।[24]

स्वामीजी ने गाजीपुर एवं बनारस जेल की अपनी यात्रा की चर्चा करते हुए मध्यम वर्गीय पृष्ठभूमि से आये गाँधीवादी सत्याग्रहियों की चारित्रिक उच्छृंखलता, विरोधाभास एवं सुविधापरस्ती का बड़ा ही जीवंत चित्रण प्रस्तुत किया है ।[25] गाजीपुर जेल (1922) एवं हजारीबाग जेल में उन्होंने अपनी आँखों यह देखा कि

जेल नियमों का पालन करने के लिए गाँधी के सख्त आदेशों के बावजूद ये शिक्षित सत्याग्रही "महात्मा गाँधी की जय" चिल्लाते हुए उन नियमों की अवहेलना बेझिझक कर डालते थे।[26] सुस्वादु भोजन एवं अन्य सुविधाओं की खातिर बनारस जेल में सत्याग्रहियों द्वारा हो रहे संघर्ष ने स्वामीजी के अन्दर यह प्रश्न खड़ा कर दिया, "तब नौकरियाँ, वकालतें, कौंसिलें आदि क्यों छोड़ी ? वह भी तो आखिर सरकार की रियायतें हैं। यह तो वही हुआ कि "जन्म भर सेई काशी, पर मरने की बेर मगह के बासी।" मात्र सुविधा की खातिर अपने सहयोगी कैदियों को छोड़ प्रथम श्रेणी में जाने की बात से वे व्याकुल हो सोचने लगे कि "जब बिना स्वराज्य मिलने ही सरकार की दी हुई रियायतों को हमने स्वीकार कर लिया, तो स्वराज्य मिलने पर उनकी पर्वा कौन करेगा … क्योंकि हमारे वे साथी जो साधारण कैदी बन के रहेंगे, पीछे हमारा साथ छोड़ देंगे"[27]

उसी प्रकार फैजाबाद जेल में भी लाख समझाने के बाद इन सत्याग्रहियों ने जेल में होली जलाने की जिद पकड़ ली और अन्त में "धर्म के नाम पर दावा ठोका गया कि हिन्दुओं का त्योहार है। न जाने कितने लोग बाहर इस धर्म का पालन करते थे। उसने (जेल सुपरिन्टेन्डेन्ट) गाँधीजी की दुहाई दी। मगर कोई सुने भी तो।"[28] 'क्षणे रूष्टा क्षणे तुष्टा' वाले इस मध्यम वर्ग की क्षणभङ्गुर सैद्धांतिकता एवं प्रचण्ड अवसरवादिता तथा उसके कथनी-करनी के बीच पाए जाने वाले अद्भूत विरोधाभास ने स्वामीजी को यह कटु, लेकिन सही भविष्यवाणी करने के लिए विवश कर दिया कि "एक दिन" "गाँधी जी की जय" बोलकर उनकी हत्या लोग ठीक इसी प्रकार कर सकते हैं यदि जरूरत समझें, जिस तरह आज उनके आदर्शों की हत्या कर रहे हैं। "महावीर की जय" बोलकर लूट-पाट करने, आग लगाने या मुसलमानों के साथ मार पीट का अर्थ भी मैं उसी समय समझ गया"[29] सचमुच ही मध्यम वर्गीय साम्प्रदायिक उत्तेजना ने गाँधी के प्राण की आहुति ले ही ली।

स्वामीजी द्वारा इंगित सम्प्रदायवाद के फैलाव के लिए उत्तरदायी मध्यम वर्गीय स्वार्थ एवं अवसरवादिता का सत्यापन अन्य ऐतिहासिक तथ्यों से भी होता है। उदाहरण के तौर पर "बिहार बिहारियों के लिए" के सिद्धांत के आधार पर बिहार के हिन्दू एवं मुसलमान, विशेषतः उनके मध्यम वर्ग ने एकजुट होकर बंगाली शोषण के विरुद्ध सफल संघर्ष किया[30] जिसके फलस्वरूप 1 अप्रैल, 1912 को बिहार प्रांत का सृजन हुआ। परन्तु इस घटना के एक माह भी नहीं बीते कि बिहारी-बंगाली द्वन्द के साथ-साथ प्रभुत्वाकांक्षी कायस्थों एवं मुसलमानों के बीच नगरपालिका के निर्वाचन को लेकर पटना एवं तिरहुत कमिश्नरी में सम्बन्ध तनावपूर्ण होने लगे।[31]

उसी प्रकार प्रथम विश्व युद्ध के दौरान ब्रिटेन एवं तुर्की के बिगड़ते संबंधों का लाभ उठाने के उद्देश्य से 1917 ई० के शाहबाद दंगे के क्रम में हिन्दू दंगाईयों ने एक सरकारी डिप्टी मैजिस्ट्रेट को कहा था कि "हमलोगों को ब्रिटिश सरकार ने मुसलमानों को लूटने की अनुमति दी है। आप कैसे साहब हैं कि ऐसा करने से रोक रहे हैं।"[32] दूसरी तरफ दंगे के दौरान "अंगरेजों का राज उठ गया" का नारा हिन्दू दंगाइयों द्वारा बुलन्द किया जा रहा था।[33] इतना ही नहीं, पीरो थाना के इन्सपेक्टर लक्ष्मी नारायण मिश्रा ने स्थिति को नियंत्रण से बाहर जाते देख अपने

जनेउ की शपथ दिलाते हुए दंगाईयों को यह कहकर रोकना शुरू तो कर दिया कि 'मुसलमानों को आहत करने के पहले मुझ ब्राह्मण को मार डालो,34 परन्तु प्रारम्भ में उसी इन्सपेक्टर महोदय ने सेवा में प्रोन्नति पाने के उद्देश्य से साम्प्रदायिक शक्तियों को प्रोत्साहित किया था, क्योंकि उनकी जानकारी में उनके एक मित्र अधिकारी ने दंगा को उकसाया और बाद में उसे नियंत्रित कर दिया, जिसके फलस्वरूप उसे अत्याधिक ख्याति प्राप्त हुई थी।35

मध्यम वर्गीय चरित्र को ही ध्यान में रखते हुए स्वामीजी धर्म एवं राजनीति के सम्मिश्रण के विरोधी थे। चाहे वह खिलाफत आन्दोलन हो या राष्ट्रवाद या सफी दाउदी एवं गाँधी जैसे व्यक्ति हो, वे राजनीति में धर्म पर अतिशय बल देने को खतरा से खाली नहीं समझते थे।36 समाजवाद के लिए तो वे मानते थे कि "धर्म का सम्मिश्रण होते ही उसमें गड़बड़ियाँ आयेंगी और अपने लक्ष्य से वह च्युत हो जाएगा।"37 वे इस बात से भली-भाँति अवगत थे कि धर्म एवं राजनीति के सम्मिश्रण होने से ही "मध्यम वर्गीय नटलीला" अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए किसी को मसीहा बना देती है।38 यही कारण है कि स्वामीजी धर्म के बारे में भिन्न दृष्टिकोण रखने लगे थे39 :—

"धर्म तो मेरे विचार से सोलहो आने व्यक्तिगत वस्तु है, जैसे अक्ल, दिल, आँख, नाक आदि। दो आदमियों की एक ही बुद्धि या आँख नहीं हो सकती। तो फिर धर्म कैसे दो आदमियो का एक होगा।"

इस प्रकार सम्प्रदायवाद के सम्बन्ध में स्वामीजी के विचार यदि एक ओर धार्मिक आवरण में छिपे आर्थिक-राजनीतिक स्वार्थ के कपटी चेहरा को बेनकाब करते हैं, तो दूसरी ओर उनके विवरण वस्तुगत सम्प्रदायवाद से सम्बन्धित वस्तुगत एवं वैज्ञानिक इतिहास-लेखन के निष्कर्षों से इस हद तक समानता रखते हैं कि दोनों एक दूसरे के पूरक नजर आने लगे हैं।

उपर्युक्त तथ्य हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाते हैं कि निहित आर्थिक-राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए धार्मिक दिखावा के फलस्वरूप ही सम्प्रदायवाद पनपता है। किसी सम्प्रदाय का कोई धर्म अवश्य होता है, लेकिन वह सम्प्रदायवाद के लिए नहीं होता है। स्वामीजी ने "गीता-हृदय" लिखकर स्वयं ही सिद्ध कर दिया है कि परम्परागत रूप से मान्य आध्यात्मिक या धार्मिक ग्रन्थ में भी भौतिकवादी मार्कसवाद के तत्व प्रचुर मात्रा में विद्यमान रहते हैं। वास्तव में, विघटनकारी शक्तियों को साम्प्रदायिक कटुता फैलाने के लिए कोई मुद्दा होना चाहिए। "आजादी के पहले यदि साप्रम्दायिक तत्वों द्वारा मध्यकालीन मुस्लिम शासकों एवं हिन्दू शासित के बीच तनाव एवं वैमनस्यता का प्रचार किया जाता था, तो स्वातंत्र्योत्तर भारत में जंग-ए-आजादी के दौरान हिन्दू-मुस्लिम तनाव, कटुता एवं विश्वासघात पर बल दिया जाता है।"40 इस प्रकार साम्प्रदायिक विकास की प्रक्रिया के अतीत एवं वर्त्तमान के बीच एक तादात्म्य बना रहता है और 'ऐतिहासिक समग्रता' के ऐसे ही वातावरण में कभी गो-हत्या, कभी शुद्धि-आन्दोलन, कभी रामजन्मभूमि जैसे धार्मिक मुद्दे उन ताकतों के अचूक मोहरे बन जाते हैं जो उग्र साम्प्रदायिक मानसिकता विकसित करने के लिए मौके की तलाश में रहते हैं। स्वामीजी के आदर्शों

को एक व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिए आवश्यक है कि एक ओर धर्म-धूरन्दरों की धूर्तता को जन-मानस के सामने रखा जाए तथा दूसरी ओर भारतीय शास्त्रों की धर्म-निरपेक्ष परम्पराओं एवं मान्यताओं को उद्भासित किया जाए।

□

संदर्भ-सूची :

1. Dubois, Abbe J. A., *Hindu Manners, Customs and Ceremonies*, (Fourth impression, New Delhi, 1983) n. I., p. 187.
2. For details see Gyan Pandey's article "Rallying round the cow" in Guha, Ranjit (ed.), *Subaltern Studies*, (Delhi, 1983), Vol. II, pp. 60-129.
3. *Prayag Samachar*, March 17, 1888., *Bangavasi*, 7th July, *Sanjivani*, 8th July, 1893, *Go Dharm Prakash*, September, 1893, Also see *Bangavasi*, May 22 and December 4, 1897. Some of the Muslim papers of U.P. treated cow-sacrifice as unnecessary, See Home Poll. Deposit, Procds. November 1916, No. 52. (National Archives of India. Hereafter N.A.I.)
4. Ram, L. L. Sundara, *Cow-protection in India*, (Madras, 1937) pp. 17-61, Desai, Valji Govindji *Cow-Protectian*, Gosevasngh, Sabarmati, 1930) pp. 95-108.
5. The Koran, Dawood, N. C. (translated, Penguin, 1966) pp. 330-31.
6. *Wafadar* October 15, *Sudhakar* July 7 &14, *Sulabh Dainik*, July 7, 1893. Also see *Behar Advocate*, October 30, 1916.
7. *Dacca Gazette* July 17, 1893. *Hindi Beharee*, October 15, *Dalnik Bharat Mitra*, October 18 and *Tirhut Somachar*, November 23, 1916., *Express*, October 5, 1917. Also see Bihar & Orissa Police Abstract of Intelligence week ending June 15, 1912, para 166, p. 72.
8. Guha, Ranjit, op. cit, pp. 89, 109., 125; Narain, Prem, *Press and Poltics in India* 1885-1905 (Delhi 1970) p. 112 For some details about Hindu-Muslim riots in Bengal, Bihar and U. P. due to cow-sacrifice, see Government of Bengal, Political Department, File No. 93 of 1897 (Bihar State Archives. Hereafter B. S. A.) Home Poll, Deposit, Procds, November, 1916, No. 52 (N. A. I,) Government of Bihar & Orissa, Political Department Spe-

cial Section (Hereafter GBO PDSS) File No. 112 of 1917 (B. S. A)

9. Minute of Landsdowne correspondence, December 28, 1893. Landsdowne correspondence, (N.A.I.)
10. Mclane, J. R. *Indian Notionalism and the early Congress* (princeton, 1977), pp. 273, 326-27.
11. Robinson, Francis, *Scparatism among Indian Muslims* (Cambridge, 1975), p· 6.
12. Chaudhary, V. C. P., *Secularism Versus Communalism* (Patna, 1977), pp- 21-23.
13. Chandra, Bipan, *Communalism in Modern India* (New Delhi, 1984), pp· 34-36.
14. See chapter 3, p. 14.
15. Saraswati, Swami Shahjanand, *Mera Jeewan Sangharsh* (Hindi), pp. 206-7.
16. Ibid, pp. 207-208
17. *Sahchar*, August 16, Sudhakar August 18, 1893.
18. *Patliputra* and *Mithila Mihir*, September 8, *Narad*, September 9, *Tirhut* Samachar September 13, *Bajrangi Samachar* October 20, 1917.
19. Desai, Valji Govindji op. cit, pp. 35-63.
20. Swami Biswanand and Muzharul Haqq's statement, GBO PDSS, File No. 341 of 1921, Reports of the D, I. G, police Crime & Railways to the Chief Secretarp Memo No. 242-21 dated 1. 4, 21 and Memo No. $\frac{8451}{242\text{-N-}21}$ dated 24th June 1921 (B. S. A.)
21. Cutting of the *Statesman*, dated 19-1-18 GBOPDSS, File No. 151 of 1918 (B.S.A)
22. Chandra, Bipan, op. cit, pp. 33-54, Sarkar, Sumit, *S G. Desukar Memorial Lectures on Indian History* (Rept. Calcutta, 1985) pp. 35-36 and n·147, p, 185.
23. Simoniya, N. A , *Destiny of Capitalism in the* Orient, (Moscow 1985), pp. 7-8., C. H. Hanumantha Rao and P. C. Joshi's article "Political Stability At Centre", Times of India, August 4, 1987.

24. Tendulkar, D. G., Mahatma, (Bombay, 1953), Vol. VII, p. 186; Nehru, J.R., An Autobiography (Oxford, 1980) p. 591. Kosambi, D. D , *Exasperatin*ვ *Essays*, (Rept. 1986) p. 33.
25. Saraswati, op. cit, pp. 215-32.
26. Ibid, pp. 215-16.
27· Ibid, p. 231.
28. Ibid, p. 226.
29. Ibid, p. 217.
30. For details see Chaudhary, V.C.P., *The Creation of Modern* Bihar, (Patna, 1964).
31. Home Poll. A., Procds., June, 1912, Nos, 15-18 From Chief Secretary to the government of Bihar & Orissa to the Secretary to the Government of India, No. 18-C, dated Ranchi, the 14th May, 1912; Home Poll. A Procds September 1912. No. 65, From Chief Secretary to the Government of Bihar and Orissa to the Secretary to the Government of India, No. 253-C, dated Ranchi, 14th October, 1912 (N,A,I,)
32 M.L. Hashmi's Report on Bakrid disturbances, GBOPDSS File No. 137 of 1918· B.S.A.
33. Proposal to publish Oldham Commissioner's Report on Bakrid disturbance, GBOPDSS File No. 112 of 1918, Commissioner Patna Division to Chief Secretary, Bihar and Orissa Government, letter No. 1-C dated 31 December 1917 (B.S A.).
34. Ibid, Appendix III, Report by the S D.O. Sadar.
35. GBOPDSS, FileN. 223 of 1919, D.I G. Police, Crime & Railways, letter No. 1583, S.B. dated 13 th April, 1919 (B.S A)
36. Sarsawati, op cit, pp. 182-89, 251-53.
37 Ibid, p, 445,
38. Saraswati, *Kranti Aur Sanyukta Morcha* (Hindi), pp. 471-72,
39. Saraswati, *Mera Jeevan Sangharsh*, p. 447.
40. See author's article in the *Vichar Bodh* (Hindi Patna) 21-27, September, 1987.

☐

16

कम्युनिस्ट या कर्मयोगी ?

—कौलेश्वर राय

विश्व इतिहास को अलंकृत करने वाली महानतम विभूतियों के जीवन-चरित का सिंहावलोकन करने से एक बात स्पष्टतया सामने आती है कि मानव-कल्याण ही उनके जीवन का सर्वोत्तम लक्ष्य रहा है जिसकी प्राप्ति वे सुखद सैद्धान्तिक विश्लेषण के माध्यम से नहीं, अपितु अपनी अनवरत, संघर्षपूर्ण कर्मशीलता के माध्यम से करना चाहते हैं। स्वामी सहजानन्द भी एक ऐसी ही विभूति थे जिनके जीवन-संघर्ष के विविध अनुभवों, असंख्य चुनौतियों एवं कठोर यातनाओं ने उनकी कर्मशील प्रतिवद्धता को और तीव्रतर एवं गम्भीर वना दिया था, जैसा कि संकलन के खण्ड एक के विभिन्न लेखों से ज्ञात हो जाएगा।

अन्याय के विरुद्ध आवाज बुलन्द करना तो स्वामीजी का स्वभाव-सा बन गया था। भूमिहार-ब्राह्मण जातीय उद्धार के ही सवाल को लें। पूर्वी उत्तर प्रदेश और विहार में ब्राह्मणों की एक शाखा भूमिहारों ने अपने को ब्राह्मण-वृत्ति से अलग कर लिया, अर्थात् परस्परागत धार्मिक कर्मकाण्डों को सम्पन्न कराने के वदले दान-दक्षिणा ग्रहण करना वन्द कर दिया। इसके परिणामस्वरूप शेष ब्राह्मण समुदाय ने उन्हें हेय दृष्टि से देखना शुरू कर दिया। सामाजिक श्रेणीवद्धता में भूमिहारों पर ब्राह्मणों द्वारा अनुचित ढंग से अरोपित हीनता ने स्वामीजी को भूमिहार-ब्राह्मण के जातीय पुनरुद्धार जैसे सामाजिक कार्य में कूदने को वाध्य कर दिया।

उसी प्रकार पददलित किसानों की समस्या ने उन्हें सर्वाधिक वेग से आन्दोलित किया। शोषण, दोहन, अत्याचार एवं अन्याय की नींव पर निर्मित जमीन्दारी व्यवस्था की अट्टालिका को ध्वस्त करना वे अपना परम कर्त्तव्य समझने लगे थे। सामाजिक न्याय उनका लक्ष्य वन गया जो भूमि के समान वितरण एवं जमीन्दारी व्यवस्था के उन्मूलन से ही सम्भव था।

कुत्सित जमीन्दारी प्रथा के उन्मुलन के विना न तो आर्थिक विकास सम्भव था और न सामाजिक परिवर्तन ही। यही कारण है कि स्वामीजी ने आर्थिक विकास एवं सामाजिक परिवर्तन के लिए किसान आन्दोलन का श्रीगणेश किया। इस प्रकार स्वामीजी एक ऐसे समाज-सुधारक थे जो यह मानते थे कि "आर्थिक विकास और सामाजिक परिवर्तन में अन्योन्याश्रय सम्वन्ध है।"

स्वामीजी महान राष्ट्रवादी भी थे। 1920 में पटना में आयोजित एक सभा में महात्मा गांधी आए थे जिसमें स्वामीजी ने भी भाग लिया था। सभा-समाप्ति के

बाद स्वामीजी ने महात्मा गाँधी से धार्मिक और राजनीतिक विषयों पर एक घंटे तक बातचीत की। इस घटना का अपनी आत्मकथा में उल्लेख करते हुए स्वामीजी ने लिखा है, "वार्ता के बाद मैंने राजनीति में प्रवेश करने का निश्चय किया। इससे न केवल देश का कल्याण होगा बल्कि मुझे सन्यासी बनने में भी मदद मिलेगी।" इसके बाद नागपुर कांग्रेस अधिवेशन के कार्यक्रमों से प्रभावित होकर वे राष्ट्रवाद की मुख्यधारा में शामिल हो गए।

स्वामीजी इस तथ्य को भली-भाँति जानते थे कि जबतक इस देश से अंगरेजी राज और जमीन्दारी प्रथा की समाप्ति न होगी तब तक इस देश का कल्याण नहीं होगा। उनकी इसी दूरदर्शिता ने किसान-आन्दोलन का सूत्रपात किया। स्वामीजी किसानों से प्रेम एवं जमीन्दारों से घृणा करने लगे थे। यही कारण था कि वे गांधीजी को खटकने लगे। यह उल्लेखनीय है कि गांधीजी ने उन्हें स्वतंत्रता-संग्राम में भाग लेने के लिए प्रेरित किया, किन्तु वे गांधीजी के इस विचार से सहमत नहीं थे कि राम-राज्य में जमीन्दार और किसान साथ-साथ रहेंगे। उनका विचार था कि किसान क्रांति के लिए जेहाद छेड़ना ही पड़ेगा जो भारत से अंग्रेजी राज को निकाल बाहर कर दे और यह आन्दोलन किसी भी मामले में राष्ट्रीय आन्दोलन से कम महत्वपूर्ण न होगा। गांधीजी और राजेन्द्र बाबू को स्वामीजी का यह क्रांतिकारी चिन्तन पसन्द नहीं था। यह स्वाभाविक था, क्योंकि कांग्रेस प्रारम्भ से ही उदारवादी विचारधारा का पृष्ठपोषण करने के साथ-साथ किसान-मजदूर आन्दोलन आदि से एक दूरी कायम रखना चाहती थी, क्योंकि ये आन्दोलन तो मार्क्सवादी विचारधारा के पोषक थे और कांग्रेस कोई कम्युनिस्ट पार्टी तो थी नहीं।

दृढ़ संकल्पों के साथ स्वामीजी ने किसान क्रांति को साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलनों से जोड़ना शुरू कर दिया। इस प्रक्रिया में वे कांग्रेस से बाहर आ गए। 1939 ई० में द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ हो गया और जब नाजियों ने सोवियत भूमि पर आक्रमण कर दिया तो स्वामीजी ने महसूस किया कि स्वतंत्रता संग्राम का अर्थ फासिस्ट शक्तियों से सम्पूर्ण विश्व को उन्मुक्त करने से है। यह कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि स्वामीजी प्रारम्भ से ही अत्याचार एवं अन्याय के विरोधी थे। उनके दृष्टिकोण में नाजीवाद और फासीवाद अत्याचार एवं अन्याय के प्रतीक थे।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि जमीन्दारों द्वारा किसानों को शोषण एवं अत्याचार के खिलाफ संघर्ष के लिए अपनी अडिग प्रतिबद्धता के कारण ही स्वामीजी कांग्रेस से अलग हो गए। 1927 में उन्होंने किसान-सभा की स्थापना की। किसान सभा की राजनीति के प्रति कांग्रेसी नेताओं की नापसंदगी के बावजूद स्वामीजी ने 1936 ई० में अखिल भारतीय किसान सभा की स्थापना में महत्वपूर्ण योगदान दिया। अब उनका लक्ष्य किसान सभा के संदेशों को देश के कोने-कोने तक पहुँचाना रह गया। अपने जीवन के अंतिम काल तक वे इसके लिए संघर्षरत रहे।

उनके नेतृत्व में किसान सभा दिनानुदिन सुदृढ़ होती चली गई तथा भारतीय

राजनीतिक मंच पर एक शक्ति के रूप में उभर आई। अखिल भारतीय किसान सभा 'लाल ध्वज' का उपयोग करने लगी। जब कांग्रेसी नेताओं ने इस 'लाल-ध्वज' के उपयोग का विरोध किया, तब स्वामीजी ने किसान-सभा के अध्यक्षीय भाषण में स्पष्ट स्वरों में यह प्रत्युत्तर दिया था, "तिरंगा झंडा राष्ट्रवाद का प्रतीक है और यह लाल झंडा अन्तर्राष्ट्रीय एकता का प्रतीक है। इस अन्तर्राष्ट्रीयता के युग में किसान आन्दोलन ने अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप ग्रहण कर लिया है। इसके बिना यह अपने उद्देश्यों की प्राप्ति नहीं कर सकता।"

यह कहना भी कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि स्वामीजी दलित किसानों के दुख-दर्द को अपना ही दुख-दर्द समझते थे और किसान-आन्दोलन को एक अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान करना चाहते थे। दलित-किसानों के प्रति अपनी अटूट सक्रिय सहानुभूति के कारण वे मानवता के पुजारियों की प्रथम श्रेणी में आ गए। अतः उन्हें कम्युनिस्ट न कहकर कर्मयोगी कहना अत्यधिक उपयुक्त होगा।

□

17

ऋषि और कृषि का समन्वय

—दशरथ तिवारी

महाप्रज्ञ स्वामी सहजानन्द सरस्वती के राजनीति में प्रवेश से जहाँ एक तरफ भारत के कृषकों को एक मसीहा मिला, वहीं विद्वता के क्षेत्र को महान् क्षति हुई। भारत के महान् पुराविद एवं विद्वान डॉ० काशी प्रसाद जायसवाल ने एक प्रसंग में कहा था कि यदि स्वामीजी ने राजनीति में प्रवेश नहीं किया होता तो आधुनिक भारत को एक अभिनव शंकराचार्य प्राप्त हुआ होता। स्वामीजी संस्कृत वाङ्मय के प्रकाण्ड विद्वान् थे। यदि वे चाहते तो अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य के बल पर अकूत सम्पत्ति अर्जित कर सकते थे, परन्तु सांसारिक भोगों के प्रति वे बाल्यकाल से ही उदासीन थे। उस समय महात्मा गाँधी के नेतृत्व में स्वतंत्रता-संग्राम छिड़ा हुआ था। स्वामीजी स्वतंत्रता-संग्राम में कूद पड़े और उन्हें कई बार जेल-यात्राएँ करनी पड़ी। आधुनिक भारत में स्वामी सहजानंद सरस्वती के समान स्पष्टवक्ता, तुष्टिकरण की नीति के विरोधी, अपने विचारों और सिद्धान्तों पर अटल रहनेवाले बहुत ही कम राजनीतिज्ञ हुए हैं।

स्वामीजी का जन्म एक मध्यवर्गीय किसान परिवार में हुआ था। वे निरंकुश सामन्तवाद के समक्ष किसानों की व्यथा से पूर्णतः परिचित थे। अतः स्वामीजी के लिये हस्तिदन्त-निर्मित अध्यात्मवाद के बुर्ज में सीमित रहना असम्भव था। सन्यास ग्रहण करने के बाद भारत के प्रमुख धर्मस्थलों की यात्रा कर चुके थे। आध्यात्म के ऐकान्तिक साधन के द्वारा व्यक्तिगत मुक्ति के स्थान पर उन्होंने कोटि-कोटि कृषकों

को सामन्तवादी उत्पीड़न से मुक्ति दिलाने के कंटकाकीर्ण मार्ग का चयन किया। किसानों को सामन्तवादी उत्पीड़न से मुक्त करने हेतु स्वामीजी ने किसान सभा की स्थापना की। शीघ्र ही बिहटा का सीतारामाश्रम अखिल भारतीय किसान सभा का केन्द्र हो गया।

समाजशास्त्र के विद्वानों द्वारा भारत की विभिन्न जातियों के सम्बन्ध में आज काफी शोध किया जा रहा है। स्वामीजी का 'ब्रह्मर्षि-वंश-विस्तार' समाजशास्त्र का एक गम्भीर ग्रन्थ है। 'कर्मकलाप' स्वामीजी का दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ कर्मकाण्ड सम्बन्धी विधियों का आधिकारिक संग्रह है। तत्कालीन पौरोहित्य वृत्ति करने वाला ब्राह्मण समाज तरह-तरह की विकृतियों से ग्रस्त था। उसे कर्मकाण्ड की शास्त्रीय विधियों का सम्यक् ज्ञान नहीं था। स्वामीजी ने पुरोहित समाज को सम्यक् मार्गदर्शन देने हेतु इस दीर्घकाय ग्रन्थ का संकलन किया था। पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इस ग्रन्थ की भूरि-भूरि प्रशंसा की है और कहा है कि इस पुस्तक में कोई भी बात छूटने नहीं पाई है।

अनुभवों की इसी पृष्ठभूमि के साथ स्वामीजी ने 1914 में समाज सेवा के क्षेत्र में तथा 1920 में सक्रिय राजनीति में प्रवेश किया। काँग्रेस के प्रतिनिधि की हैसियत से उन्होंने काँग्रेस के सभी वार्षिक अधिवेशनों मे भाग लिया। उनका विश्वास था कि केवल राजनैतिक स्वतंत्रता से भारत का उद्धार नहीं हो सकता। राजनैतिक स्वतंत्रता के साथ-साथ किसानों की आर्थिक दशा दुधारने की दिशा में भी कार्यक्रम बनाना आवश्यक है। उन्होंने काँग्रेस के अधिवेशनों में किसानों की तरफ भी नेताओं का ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास किया। परन्तु काँग्रेस के द्वारा किसानों की समस्याओं की उपेक्षा से स्वामीजी को घोर निराशा हुई और उन्होंने किसानों की समस्याओं के समाधान के लिये एक स्वतंत्र मंच की कल्पना की। सीतारामाश्रम में आने के बाद स्वामीजी किसानों के निकट सम्पर्क में आए और उन्हें जमीन्दारों और पूँजीपतियों के शोषण तथा अत्याचार के नानाविध तरीकों को निकट से देखने, सुनने और जानने का अवसर मिला। वे इस शोषण की समाप्ति चाहते थे। फलत: उन्होंने 1927 में पश्चिम पटना किसान सभा की स्थापना की। स्वामीजी प्रारम्भ में पक्के गाँधीवादी थे और वे जमीन्दारों से बातचीत और समझौता के द्वारा किसानों की समस्याओं का समाधान चाहते थे। परन्तु जमीन्दारों के प्रतिनिधि स्वामीजी की आँखों में धूल झोंककर नकली किसान नेताओं से समझौते पर हस्ताक्षर करा लेना चाहते थे। परन्तु स्वामीजी ने उनकी एक नहीं चलने दी। नवम्बर में बिहार प्रान्तीय किसान सभा की स्थापना हुई जिसके प्रथम अध्यक्ष स्वामीजी चुने गये। बिहार प्रान्तीय किसान सभा के नेतृत्व में किसानों ने आततायी जमीन्दारों से अनेकानेक ऐतिहासिक लड़ाईयाँ लड़ी। स्वामीजी ने 1931 में गया जिले का परिभ्रमण कर किसानों की दु:स्थिति की जाँच की और "गया के किसानों की करूण कहानी" के नाम से पुस्तक प्रकाशित करायी। इस पुस्तिका में किसानों की दशा का हृदयविदारक वर्णन किया गया है। यह जाँच कार्य स्वामीजी, श्री यमुनाकार्यी, डा० युगल किशोर सिंह तथा श्री यदुनन्दन शर्मा द्वारा सम्पन्न हुआ। 1935 में मेरठ में अखिल भारतीय किसान सभा के संगठन हेतु एक संगठन समिति बनाई

गई जिसके मंत्री स्वामीजी, श्री एन० जी० रंगा तथा श्री मोहनलाल गौतम नियुक्त किये गये। अखिल भारतीय किसान सभा का अधिवेशन 1936 ई० में लखनऊ में कांग्रेस के अधिवेशन के अवसर पर सम्पन्न हुआ। इसके अध्यक्ष स्वामीजी बनाये गये। इसके बाद कई वर्षों तक किसान सभा का अधिवेशन कांग्रेस के अधिवेशन के अवसर पर होता था। इस तरह स्वामीजी के अथक प्रयास से किसानों की दयनीय दशा की तरफ कांग्रेस का ध्यान भी आकृष्ट हुआ। लखनऊ प्रस्ताव के अनुसार विहार में किसानों के सम्बन्ध में एक जाँच समिति का गठन हुआ जिसके अध्यक्ष राजेन्द्र बाबू थे। समिति ने सारे प्रान्त में घूम-घूम कर जाँच की, परन्तु जाँच रिपोर्ट प्रकाशित नहीं हुई। स्वामीजी को रिपोर्ट दिखलाई भी नहीं गई। फलतः वे बहुत ही क्रुद्ध हुए।

जाँच समिति के समक्ष जो साक्ष्य दिये गये वे क्रूरतम हृदयों को भी हिलाने वाले थे। "कई जगहों में बहनों और लड़कियों को बेचकर जमीन्दारों का लगान देने के बयान किसानों ने दिये, जो अखबारों में भी छपे थे। दरभंगे में तो एक औरत ने यहाँ तक कहा कि महाराजा दरभंगा के तहसीलदार ने मुझे और मेरे ससुर को बुलाकर लगान माँगा। न दे सकने पर हुक्म दिया कि इसके कपड़े छीनकर इसे नंगी करो और ससुर की टाँग में इसकी टाँग बाँध दो।"

इसके पूर्व 1931 में भी कांग्रेस के द्वारा जाँच कराई गई थी, परन्तु वह रिपोर्ट भी प्रकाशित नहीं कराई गई। इन घटनाओं से स्वामीजी को कांग्रेस की मंशा में संदेह होने लगा। कांग्रेस सम्भवतः जमीन्दारों के जुल्म पर पर्दा डालना चाहती थी।

बिहार प्रान्तीय किसान सभा की स्थापना के बाद स्वामीजी का सारा जीवन किसानों के लिए समर्पित था। वे शोषण और उत्पीड़न के विरूद्ध कालाग्निरुद्र थे। उन्होंने किसानों को आत्मरक्षार्थ डंडे आदि का प्रयोग करने पर बल दिया। स्वामीजी के इस 'डंडावाद' से किसानों की आँखें खुलीं और दो-एक जगह उन्होंने शैतानों को दुरुस्त भी किया, परन्तु इससे गाँधीवादी क्रुद्ध हुए और स्वामीजी के विरूद्ध हिंसा का आरोप लगाया गया। 1938 की फरवरी में राजेन्द्र बाबू की अध्यक्षता में प्रान्तीय कांग्रेस कार्यकारिणी समिति में स्वामीजी तथा किसान सभा के विरूद्ध निन्दा का प्रस्ताव पारित किया गया। स्वामीजी के साथियों ने भी इसे छोड़ने का आग्रह किया, परन्तु स्वामीजी इसे किसानों के लिये अमृत और कानूनी हक मानते थे। स्वामीजी सारा शासन-सूत्र कमानेवाली जनता के हाथ में सौंपने के पक्ष में थे। वे इस अधिकार को लड़कर छीनना चाहते थे। उनकी मान्यता थी कि समझौता या दबाव के बल पर प्राप्त अधिकार पुनः छिन जायेगा।

◆

18

किसानों के प्राण

—उपेन्द्र नारायण सिंह

द्वन्द्वात्मक मानव-इतिहास के गत्यात्मक परिवेश में चल रहे वर्ग-संघर्ष में किसान वर्ग मात्र महत्वपूर्ण भूमिका ही नहीं अदा करता है, बल्कि काल-क्रम में अंततोगत्वा वह वर्ग-मुक्त समाज के लिए हो रहे संघर्ष का नेतृत्व भी करने लगता है। "जर्मनी में किसान-युद्ध" में एंगेल्स ने यह दर्शाया है कि किस प्रकार किसान क्रांतिकारी एवं उग्रवादी बन गए, जबकि उन्हें जागृत करना कठिन था। उसी प्रकार स्वामी सहजानन्द ने भारतीय किसानों को उस समय क्रांतिकारी एवं उग्रवादी बना दिया, जिस समय भारतीय समाज इसके लिए परिपक्व नहीं हुआ था। देशव्यापी चल रहे किसान आन्दोलन में बिहार को अग्रणी कतार में खड़ा करने का श्रेय स्वामी सहजानन्द को ही जाता है। किसान समस्यायों से उनकी सर्वाङ्गीनता में जुड़े रहने वाले स्वामी सहजानन्द किसान को शोषित भारतीय मानवता का पर्याय मानते थे। भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ों के स्वामी अथवा भूमिहीन एवं समरूपता से वंचित भिन्न एवं दूरस्थ क्षेत्रों में रहनेवाले ये किसान, आम तौर पर भारत में एवं विशेष रूप से बिहार में, परम्परावादिता, धार्मिक शोषण एवं अन्य प्रकार की रूढ़ियों की गिरफ्त में थे। स्वामीजी स्वयं इसके साक्षी थे कि कर्ज का बोझ लिए किसान पैदा होता था, इसी से दबा जीता था और उसी को लादे मर ही नहीं जाता था, बल्कि अपना बोझ अपनी संतति को सौंप जाता था।

ब्रिटिश शासन के प्रारम्भिक काल से ही भूमि लगान की उत्तरोत्तर वृद्धि, अवैध आहरणों एवं विभिन्न प्रकार के अबवाबों के दवाव से भारतीय किसान संत्रास, अकुलाहट एवं ग्लानि की स्थिति में रह रहे थे। इसके अलावा साम्राज्यवादी-सामन्तवादी-महाजनी-प्रशासनिक मिली-भगत से चलाए जा रहे शोषण-दमन-चक्र के परिणामस्वरूप चिलचिलाती धूप, रीढ़ भेदती ठण्ढ एवं कीचड़ की सड़ाँध में पीढ़ी-दर-पीढी परिश्रम करता हुआ किसान शोषक की चाबुक के भय से मात्र अपनी उपजाई हुई फसल से ही वंचित नहीं करा दिया जाता था, बल्कि अपनी भूमि एवं झोपड़ियों से भी वंचित कर दिया जाता था। इस प्रकार किसानों के खून-पसीने पर निर्मित समृद्धि एवं वैभव की इमारत में मौज कर रहे सत्तासीन शोषक वर्गों ने स्वयं किसानों के लिए अभिशाप एवं यातना के अलावा उसमें और कुछ नहीं छोड़ रखा था। ऐसी असहाय स्थिति ने किसानों को बिल्कुल भाग्यवादी बना दिया। यह उल्लेखनीय है कि जहाँ पर बहुतेरे साधुओं एवं फकीरों ने किसानों की दुःखद स्थिति के लिए उनके पूर्व जन्म के कर्मों या ईश्वरीय इच्छा की दुहाई दी, वहीं पर किसानों की अर्द्ध-क्षुधित एवं अर्ध-नग्न अवस्था ने सहजानन्द को आंदोलित कर दिया।

वास्तव में, ब्रिटिश युग के पूर्व भारतीय किसानों की वैसी स्थिति नहीं थी, क्योंकि ये किसान सदियों से अपने कार्यों का निष्पादन आक्रमणों एवं युद्धों से अप्रभावित उन्हीं आत्म निर्भर ग्रामों के दायरे में कर रहे थे जो हमारे महान् एवं वैभवशाली अतीत का केन्द्र बिन्दु थे।[1] ब्रिटिश प्रशासनिक संस्थाओं के आरोपण, भारतीय ग्राम की प्राचीन आत्म निर्भर आर्थिक व्यवस्था पर उदयीमान पूँजीवादी राष्ट्र के प्रभुत्व के प्रसार एवं अपने शासन के प्रारम्भिक वर्षों में ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रदर्शित हृदयहीनता ने आत्म निर्भर ग्राम्य व्यवस्था को विध्वंस करने के साथ-साथ दस्तकारी पर आश्रित जन समुदाय को अपने जीवन-यापन के लिए पुनः कृषि की ओर उन्मुख होने को विवश कर दिया। भूमि पर भीषण दबाव बढ़ जाने के कारण जोत का विभाजन एवं उपविभाजन होने लगा। अभूतपूर्व अकाल एवं भूखमरी ने असंख्य प्राणों की आहुति ली।[2]

स्थायी बन्दोवस्त ने जमींदारों को भूमि के स्थायी स्वामित्व का अधिकार तो दिया, लेकिन किसानों के प्रचलित अधिकारों की रक्षा के लिए कोई प्रावधान नहीं दिया। भूमि-लगान की वसूली में कठोरता बढ़ती चली गई। जमींदारों एवं किसानों के परस्पर विरोधी अधिकारों एवं दावों के कारण उन दोनों के बीच उत्पन्न सामाजिक तनाव के परिणामस्वरूप जमीन की बिक्री एवं जमीन सम्बन्धित मुकदमों तथा हिंसक वारदातों में वृद्धि होने लगी, जिसने बिहार की ग्रामीण शांति को समाप्त कर दिया। इसकी ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि प्राचीन क्षेत्रीय सूती उद्योग के ध्वंसावशेषों पर नील एवं अफीम की खेती बड़े पैमाने पर होने लगी। नील के उत्पादन पर ग्रामीण क्षेत्रों में आतंक फैलानेवाले यूरोपीय बागान-मालिकों का वस्तुतः एकाधिकार हो गया।

स्थायी बन्दोवस्त के समय से ही अंगरेजी सरकार जमींदारों द्वारा किसानों पर किए जा रहे दमन को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से संरक्षण प्रदान कर रही थी। जान-माल की कोई सुरक्षा नहीं रह गई थी।[3] 1857 के आंदोलन के बाद भी अंगरेजी सरकार की किसान विरोधी नीति में कोई परिवर्त्तन नहीं आया। साम्राज्यवादी-सामन्तवादी शोषण के विरुद्ध किसानों में असंतोष, विरोध एवं आक्रोश व्याप्त होने लगा जिसकी विस्फोटक अभिव्यक्ति 1855-56 के संथाल विद्रोह, 1860 में बंगाल के नील-कृषक आंदोलन, 1872 में पबना तथा बोगरा एवं 1875 में दक्कन के किसान-आन्दोलनों में हुई। उसी प्रकार 1907 में लाहौर तथा रावलपिंडी में किसान आंदोलन हुए। दमन एवं शोषण के विरूद्ध वीरोचित संघर्ष प्रस्तुत करने के साथ-साथ ये किसान आन्दोलन साम्राज्यवाद के विरुद्ध चल रहे संघर्ष के सन्दर्भ में ऐतिहासिक निरन्तरता भी दिग्दर्शित करते हैं।[4]

वास्तव में, अनाज की सस्ती कीमत, अत्यधिक लगान तथा सिंचाई के कुप्रबन्ध ने किसानों की आर्थिक स्थिति को दयनीय बना दिया था। हजारों किसान परिवार अपनी उर्वर भूमि को छोड़कर प्रवासी बनते जा रहे थे। उदाहरण के तौर पर मात्र गया जिले में लगान नहीं देने के कारण किसानो की हजारों बीघे जमीन नीलाम कर दी गई, क्योंकि जमीन की सारी उपज, अपने पशुधन एवं अन्य श्रोतों से प्राप्त आय को भी देकर वे लगान की अदायगी करने में सक्षम नहीं थे।[5]

इसके विपरीत जमींदार बेश्यागमन एवं विलासिताओं पर लाखों रुपये उड़ा देते थे। भरत शिवशंकर भारती ने जमींदारों की क्रूर एवं विलासी हठधर्मिता को रौंदने के लिए किसानों का आह्वान करते हुए इस जमीन्दारी प्रथा के सम्बन्ध में कहा था, “यह एक विचित्र प्रकार की दलाली है जिसमें गरीब रैयतों से शत-प्रतिशत वसूलकर उसका दसांश भी सरकार को नहीं दिया जाता है।”[6] किसानों को जागृत करते हुए यदि एक ओर गाँधी एवं पटेल ने लगान माफ करने की अपील की, तो शिवशंकर भारती ने मात्र लगान अदायगी बन्द करने की ही नहीं, बल्कि जमींदारी प्रथा ही समाप्त कर देने की घोषणा कर दी।[7]

इस प्रकार बिहार में किसान-आंदोलन के लिए एक उर्वर पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी, जिसे स्वामीजी के क्रांतिकारी भाषणों एवं सतत् ग्रामीण भ्रमण ने एक नयी दिशा, नयी गति एवं नयी शक्ति प्रदान कर दी। किसान क्रांति को साम्राज्यवाद के विरूद्ध चल रहे संघर्ष का एक अभिन्न अंग मानते हुऐ स्वामीजी की अवधारणा थी कि शोषित बहुमत के सहयोग के बिना भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम की सफलता असम्भव है। इन्हीं मान्यताओं के कारण स्वामीजी ने बिहार में किसान सभा को संस्थापित करने की पहलकदमी उस समय की जिस समम देश के बहुत-से भागों में किसी प्रकार का किसान संगठन अस्तित्व में नहीं आया था।[8] किसान-समस्यायों के प्रति अपनी सतत् जागरूकता, निष्ठा एवं कटिबद्धता के कारण ही स्वामीजी ने 1928 में पटना तथा 1929 में सोनपुर मेले में जिला-स्तरीय किसान-सभाओं का आयोजन ही नहीं किया, बल्कि बिहार प्रांतीय किसान-सभा को संस्थापित भी किया, जिसके अध्यक्ष या सचिव के पद पर लगभग एक दशक से भी अधिक तक आसीन रहे।

स्वामी सहजानन्द की ही यह देन है कि किसान-आंदोलन की दृष्टि से बिहार के इतिहास में 1930 का दशक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण बन गया। 1933 के अप्रैल एवं 1935 के नवम्बर के बीच की अवधि ने बिहार के दस जिलों में लगभग पाँच सौ किसान.सभायें आयोजित की गईं। 1933 के हाजीपुर में प्रांतीय किसान-सम्मेलन के आयोजन के साथ-साथ इन जिलों में सैकड़ों छोटी-छोटी किसान-सभायें भी आयोजित की गईं। पटना में 88, गया में 38, मुंगेर में 57, शाहावाद में 39, भागलपुर में 22, दरभंगा में 38, मुजफ्फरपुर में 43, सारण में 19, पूर्णियाँ में 13 तथा चम्पारण में 2 आयोजित किसान-सभाओं को स्वामीजी ने सम्बोधित किया था।[9] काश्तकारी के नियमों में सुधार इन सभाओं का मुख्य मुद्दा था।

प्रांतीय एवं जिला-स्तरीय किसान-सभायें विभिन्न स्तरों पर किसानों की दशा की जाँच स्वयं करवाने लगी तथा अपनी जाँच के उपरान्त रैयतों को अवैध आहरणों का विरोध करने के लिए प्रेरित करने के साथ-साथ उनमें अपने अधिकारों के प्रति वैधानिक चेतना को भी विकसित करने का यत्न करने लगीं।[10] इस संदर्भ में स्वयं स्वामीजी लिखित “गया के किसामों की करूण कहानी” उल्लेखनीय है। किसान-आन्दोलन की व्यापकता तो इसी से प्रमाणित होती है कि बिहार प्रांतीय किसान सभा की सदस्यता 1935 में बढ़कर 35,000 से, 1936 में 7,0000 तक पहुँच गई।[11] अपने भाषणों में किसानों की राहत के लिए कम-से-कम एक वर्ष तक का लगान माफ करने की वकालत करते हुए स्वामीजी ने जमींदारों के अमला,

अबवाब लेने की प्रथा एवं जमींदारी प्रथा पर तीखा प्रहार किया। दरभंगा में तो उन्होंने किसानों को लगान नहीं देने की सलाह दी। 10 जून, 1934 को उन्होंने किसानों के मौलिक अधिकार की घोषणा की जिसे हम बिहार के किसानों का महाधिकार-पत्र (मैगनाकार्टा) कह सकते हैं। स्वामीजी की अध्यक्षता में बलदेव सहाय के निवास स्थान पर आयोजित किसान-सम्मेलन में किसान को परिभाषित करते हुए यह प्रस्तावित हुआ कि अपने जीवन-यापन के लिए मुख्य रूप से कृषि पर अवलम्बित कोई भी व्यक्ति किसान है।[12] इस घोषणा-पत्र में भूमि पर रैयतों के अधिकार एवं लगान-सम्बन्धी नियमों की स्पष्ट व्याख्या ने किसानों को संघर्ष के लिए सैद्धांतिक हथियार से लैस कर दिया[13] इसके परिणामस्वरूप दिनांक 29 जनवरी, 1935 को आयोजित किसान-सभा ने यह प्रस्ताव पारित किया कि "वैसा कोई भी काश्तकारी कानून स्वीकार्य नहीं होगा, जो किसानों के मौलिक अधकारों पर आधारित नहीं है।"[14] इस प्रकार स्वामीजी ने किसानों की मूक जिह्वा को यह कहने की वाणी प्रदान की—

"जमींदार लगान ले सकते हैं, लेकिन पैदा करने वाले के आहार के लिए भी कुछ छोड़ दें।"

यह उल्लेखनीय है कि गाँधी के प्रभाव में राजनीति में आने के बावजूद स्वामीजी का कांग्रेस से मतभेद एवं टकराव इसलिए भी प्रारम्भ हो गया, क्योंकि कांग्रेस में विराजमान कुछ तत्व जमींदारों के पक्षधर बन बैठे थे। साम्राज्यवादी ढाँचा को समाप्त कर स्वामीजी एक ऐसे राज्य का निर्माण करना चाहते थे जो भूमि पर किसानों के अधिकार को स्थायी तौर पर कायम कर सके लेकिन 1937 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के फैजपुर अधिवेशन के किसान कार्यक्रमों में यह बात शामिल नहीं की गई।[15] इस प्रकार किसान-समुदाय को वर्गीय आधार पर संगठित करने वाले स्वामी सहजानन्द का महात्मा गाँधी एवं राजेन्द्र प्रसाद से मतभेद प्रारम्भ हो गया।[16]

स्वामीजी के विचारों एवं संघर्षों ने शोषित एवं दमित किसानों के बीच नयी आशा की किरण बिखेर दी। किसान-आंदोलन की उग्रता ने राष्ट्रवाद की धारा को और अधिक तीव्र बना दिया। यद्यपि "स्थायी बन्दोबस्त" अभी भी बहुत दूर है, फिर भी स्वामीजी के प्रति सच्ची निष्ठा की अभिव्यक्ति यही होगी कि उन्हीं की तरह आज भी किसान-आंदोलन को प्रगतिशील वर्ग-चेतना से लैस कर जुझारू बनाया जाए तथा क्षणिक राजनीतिक स्वार्थों से वशीभूत प्रतिक्रियावादी ताकतों द्वारा गुमराह किए जाने से रोका जाए।

⁂

संदर्भ-सूची :

1. Malaviya, H. D., Land Reforms in India (New Delhi, 1954) p. 1.
2. Hume, A. O., Agricultural Reforms in India.
3. Revenue Consultations, vol. 808, dated 16th May 1854.
4. Verma, V. P. Freedom struggle, (Patna, 1980) p. 58.
5. File No. 71/R, 20th June, 1934, Home Deptt., Govt. of India.
6. Ibid, Hand Bill circulated in Gaya by Bharat Shivshankar Bharati from Gaya Jail.
7. Ibid.
8. Times of India, Patna, March 19, 1989.
9. Sinha, Awadheshar Prasad, Kisan Sabha Aur Kashtkari Kanoon Sansodhan, (Hindi), p. 6; Gupta, Rakesh, Bihar Peasantry And The Kisan Sabha, (New Delhi, 1982), p. 96.
10. Home Poll., (Special) Memo No. 16/1935, Govt, of Bihar and Orissa.
11. Sinha Awadheshwar Prasad, Bihar Provincial Kisan Sabha Rapat (Bihar, 1936)
12. Extract from (Special) Branch Inspector's Report, dated Patna 11th June, 1934, File No. 10 of 1934, Home Poll., (Special), Branch Govt. of Bihar and Orissa.
13. Ibid.
14. Home Poll. (Special), Memo No. 16/1935, Govt, of Bihar and Orissa.
15. Gupta, R, op cit. p, 101.
16. Times of India, March 19, 1989.

☐

19

जोतेदार बनाम जागीरदार

—वीरेन्द्र प्रसाद सिंह

विश्व इतिहास में 18वीं शताब्दी के चतुर्थांश की यह एक विचित्र एवं रोचक घटना है कि स्वतंत्र अमेरिका द्वारा अस्वीकृत एवं क्रांतिकारी फ्रांस द्वारा विध्वंसित जमींदारी प्रथा भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा कर्नवालिस की कन्या के रूप में प्रजनित, सम्पोषित एवं सम्मानित की गई। इतना ही नहीं, जिस समय बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में रूसी समाजवादी क्रांति के मर्मांतक प्रहार से जमींदारी प्रथा दम तोड़ चुकी थी, उसी समय भारत में विदेशी साम्राज्यवाद अपने शोषण एवं दमन की प्रक्रिया को बरकरार रखने के लिए देशी सामंतवादी शक्तियों को और अधिक वेग से प्रोत्साहित कर रहा था।

इस प्रकार भारत में जमींदारी प्रथा के उद्भव एवं विकास दोनों ही सामाजिक इतिहास की प्रगतिशील एवं गत्यात्मक धारा के प्रतिकूल थे। सामंतवादी व्यवस्था के विरूद्ध सफल विश्वव्यापी संघर्ष एवं भारत में इसके दाकियानूस एवं प्रतिगामी चरित्र ने ही स्वामीजी के अन्दर यह विचार पैदा कर दिया कि इस जमींदारी प्रथा का भारत में अंत सबसे बाद में इसलिए होगा, क्योंकि इसका यहाँ पर आगमन ही सबसे बाद में हुआ है। इस प्रथा के अवश्यमभावी विनाश की प्रक्रिया के असली चरित्र का वर्णन करते हुए स्वामीजी ने लिखा था, "भारत की जमीदारी' ? यह बड़ी दकियानूस चीज है। अतः यह अपनी हस्ती बनाए रखने के लिए, वह जो न करे, थोड़ा है । जमींदारी के समर्थन में वे जो कुछ भी कर रहे हैं, केवल एक अड़ंगा है, रोक रखने की नीति मात्र है, इस तरह वे चाहते हैं कि जमींदारी के बदले उन्हें अधिक से अधिक पैसे मिल जायें, अधिक से अधिक सुविधायें मिल जायें। उन्हें इस अड़ंगें से ऐसी आशा है। मुआवजे के बारे में जब-तब फेडरल कोर्ट में केस करने की बातें भी सुनी जाती हैं। अतः ऐसा कहने में कोई अत्युक्ति नहीं कि जमींदारी जरूर ही जाएगी।"[1]

किसानों की समस्यायों एवं जमींदारों द्वारा उनके हो रहे शोषण ने उनके अन्दर इस जमींदारी प्रथा के प्रति एक अमिट घृणा-भाव पैदा कर दिया, जिसके सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था[2] :

"जमींदारी एक ऐसी जोंक और ऐसी पिशाची है कि किसानों का रक्त बूँद-बूँद करके चूस लेती हैं और उन्हें मरणासन्न छोड़ देती है। जमींदारों के अमले प्लेग के कीटाणुओं की तरह जहाँ पहुँचे उसे उजाड़ा। उनके नाम किसानों का कलेजा काँपता है।"

भारत ही नहीं, बल्कि विश्व के अन्य देशों में व्याप्त जमींदारी प्रथा एवं इससे जनित किसानों के अमानवीय शोषण के गहन अध्ययन के बाद समाज एवं राष्ट्र के विकास के लिए किसानों को आवश्यक एवं जमींदारों को महत्वहीन मानते हुए उन्होंने लिखा[3] :

"जमीन में खेतीबारी करके समाज एवं राष्ट्र के लिए आवश्यक अन्नादि उत्पन्न करने को किसानों का होना आवश्यक है। यह काम दूसरा नहीं कर सकता। पर, वह जमींदार क्या करता है? किसानों से जमीन का कर या लगान लेकर उसका अल्प अंश सरकार को देते हैं, और बस। मगर यह काम तो सरकार खुद कर सकती हैं, रैयतवारी इलाकों में जहाँ—जमींदार नहीं हैं, स्वयं करती ही है। तब जमींदारों की क्या जरूरत, खासकर इस जनतंत्र के युग में ?·········नेपाल की तराई में आज भी जिम्मेदार पाए जाते हैं न कि जमींदार। समस्त भारत में पहले यही जिम्मेदार थे, जो कमीसन पर सरकारी जमा वसूलते थे।"

निश्चित तौर पर जमींदारों द्वारा किसानों के हो रहे विभिन्न प्रकार के शोषणों[4] ने स्वामीजी को किसान-आन्दोलन की ओर प्रेरित किया। किसान-आन्दोलन की बदौलत उन्होंने देश की राजनीतिक आजादी के साथ इसकी आर्थिक आजादी को अविच्छिन्न रूप से जोड़ दिया। उन्हीं के प्रभाव में नेहरू एवं सुभाष ने कांग्रेस अधिवेशन में किसान-समस्या पर प्रस्ताव पारित कराया। बिहार प्रांतीय किसान सभा की रपट में उल्लिखित है कि "किसानों के स्वराज्य" का अर्थ है 'दलितों का स्वराज्य'। सारे भारत के किसान समस्या ग्रस्त हैं। अतएव उन्हें संगठित होना होगा।[5]

इसी किसान आन्दोलन के क्रम में जातीयता की मानसिकता से ऊपर उठकर स्वामीजी ने अपनी ही जाति के टिकारी, बेतिया, अमावा, हथुआ आदि के बड़े-बड़े सामन्तों को धराशायी कर दिया। अपनी साहित्यिक प्रतिभा का प्रयोग भी उन्होंने किसान-जागरण के लिए ही किया जैसा कि इस संकलन के पहले भाग में उनकी रचनाओं की दी गई सूची से ज्ञात होता है। संक्षेप में, स्वामीजी किसानों को भूमि के उत्पादन का अपरिहार्य साधन मानते हुए उन्हें भूमि का स्वामी, न कि कर का माध्यम मानते थे।

यह उल्लेखनीय है कि जमींदारी प्रथा के तहत भूमि पर स्वामित्व से वंचित किसानों को उनका हक दिलाने तक ही स्वामीजी का आन्दोलन सीमित नहीं था, बल्कि जमींदारी प्रथा का समूल नाश करने के बाद किसानों के सर्वाङ्गीण उत्थान हेतु एक व्यापक मार्ग प्रशस्त करना उनका लक्ष्य था। इस संदर्भ में उन्होंने लिखा[6]—

"यदि खेतों की पैदावार काफी हो, तो भी भारत के खेती योग्य भूमि से सिर्फ आज के आधे लोगों की ही गुजर हो सकती है·······इसलिए गाँवों के लोगों को खेती से हटाकर दूसरी जीविका देना सरकार का पहला काम होगा।·······दूसरा काम है भूमि के उत्पादन को बढ़ाने तथा समुन्नत कृषि के सभी साधनों को सम्पन्न कर देना। ·······सरकार का तीसरा काम होगा, लम्बी मुद्दत के लिए

नाम मात्र के ब्याज पर किसानों को खेती-बारी तथा घर गिरहस्ती के कार्यों के लिए ऋण देने की समुचित व्यवस्था करना।"

वे किसानों में मात्र संघर्षशील ही नहीं, बल्कि प्रगतिशील चेतना का विकास करना चाहते थे। किसानों के अंधविश्वान को दूर कर महाजनों के विरूद्ध वे जन-जागरण करना चाहते थे। फसल-बीमा, पशु-बीमा, स्वास्थ्य-कोष, खेत-मजदूरों की मजदूरी का नियमन आदि उद्देश्यों के लिए ही उन्होंने जमींदारी प्रथा समाप्त करने का सुझाव दिया था। लखनऊ कांग्रेस में तो उन्होंने बिना मुआवजा दिए ही जमींदारों की भूमि छीनकर किसानों को दे देने का सुझाव रखा था। आजादी के बाद भी कांग्रेसी सरकार ऐसा न कर सकी।

किसान-आन्दोलन को एक सुदृढ़ एवं व्यापक आधार प्रदान करने के उद्देश्य से द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान स्वामीजी ने लिखा कि "देश में शांति बनाई जाए, किसान पंचायत बनावे, हिन्दू-मुस्लिम जातियाँ कटुता न करें। सोवियत दोस्तों का मंडल कायम करें, पैदावार बढ़ाई जाए। जिस प्रकार रूस की स्त्रियों एवं पुरूषों ने देश की रक्षा के लिए युद्ध किया है वैसे ही भारत के किसानों को करना चाहिए।"[7]

1938 के अखिल भारतीय कोमिला अधिवेशन में "कैसे लोगे मालगुजारी, लठ हमारा जिन्दावाद" का नारा बुलन्द करनेवाले स्वाजी इस बात से भी अवगत थे कि मजदूरों एवं किसानों के स्वार्थ परस्पर विरोधी होते हैं जिसके परिणामस्वरूप उनके बीच टकराव की संभावना बनी रहती है। मजदूर मिल का सामान मंहगा करना चाहता है ताकि उसका वेतन बढ़े जबकि किसान खेत में पैदा की हुई वस्तुओं को मंहगा बेचना चाहता है ताकि आर्थिक लाभ मिले। पूँजिपति इन्हीं दोनों को लड़ाकर मौज करता है। इसी संदर्भ में उनका मानना था कि समाजवादी क्रांति के लिए किसानों को साथ लेना आवश्यक है। अतएव जमींदारी का नाश कर सारी जमीन छोटे किसानों में वितरित कर देने के वे पक्षधर थे।

किसानों के उद्धार के लिए किए जा रहे संघर्ष को कितनी बाधाओं एवं विपत्तियों का सामना करना पड़ा, यह स्वामीजी के निम्नलिखित शब्दों से स्पष्ट है[8]:

"जिस ईमानदारी और नेकनीयती के साथ विश्वासपूर्वक मैंने जमींदारी और जमींदारों को सुधारने और किसानों एवं उनके बीच सद्भाव लाने की कोशिश की थी, उसका परिणाम सिवाय परेशानी और भयंकर निराशा के दूसरा कुछ न हुआ उल्टे जमींदारों का कुचक्र दिनरात बढ़ता गया। भूकम्प के बाद जिस हृदयहीनता का परिचय उन्होंने दिया, वह मेरी आँखों के सामने आज नाचता है। बिहार में सरकार के ही कथनानुसार गल्ले का दाम साठ फी सदी घट गया। फलतः, किसानों को ढाई रूपये की जगह सिर्फ एक रूपया दाम मिलने लगा।"

कठिनाईयाँ एवं विरोधों के बावजूद स्वामीजी दृढ़ संकल्पित मुद्रा में किसानों की दशा सुधारने के कार्य में लगे रहे। स्वामीजी के विविध योगदानों की

चर्चा करते हुए एन० जी० रंगा ने बताया कि उन्होंने स्वामीजी के साथ अपने जीवन के सभी संस्मरणों को अपनी पुस्तक "Acquaintances of Evidence" में भावी पीढ़ी के लिए लिपिबद्ध कर दिया है।[9] स्वामीजी के मार्क्सवादी दृष्टिकोण पर प्रकाश डालते हुए सी० राजेश्वर राव ने कहा है :[10]—

"अखिल भारतीय किसान सभा की स्थापना से किसानों को उनके जन-संगठन के अन्दर ही संगठित करने के भारतीय कम्युनिष्ट पार्टी के प्रयास बहुत लाभकारी सिद्ध हुए। "--स्वामीजी सामंतों के शोषण की समाप्ति और राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन दोनों को एक साथ संगठित कर पाए और उन आन्दोलनों को शक्ति प्रदान की।"

1942 के आन्दोलन के दौरान जब स्वामीजी जेल में बन्द थे तब उनके अनुयायियों ने किसान-सभा के संचालकों एवं उनके द्वारा संचालित 'हुंकार' प्रेस के कार्यकर्त्ताओं ने किसानों की समस्याओं को किसान और सरकार तक पहुँचाया। हुंकार पत्र के कुछ अप्रकाशित समाचार 'हुंकार' नामक संचिका में सुरक्षित हैं जिनसे किसान-जागरण पर प्रकाश मिलता है।[11]

संक्षेप में हम कह सकते हैं, जैसाकि स्वामीजी के एक प्रमुख सहयोगी एवं वर्तमान में अखिल भारतीय स्वतंत्रता सेनानी संगठन के अध्यक्ष ने स्वामीजी के वैज्ञानिक समाजवादी एवं समझौता विरोधी रुख का वर्णन करते हुए बताया कि "वे असमानता तथा अन्याय के जन्मजात विरोधी थे। उनका विश्वास था कि साम्राज्यवाद, सामंतवाद तथा पूँजीवाद में संघर्ष करने में अवधि के विभाजन का मापदंड नहीं होना चाहिए। आज बिहार में जो किसानों को हक मिले, जमींदारी प्रथा खत्म हुई तथा कास्तकारी कानून में मौलिक परिवर्त्तन या संशोधन हुए, इन सबों का श्रेय स्वामीजी को ही है।"[12]

□

संदर्भ-सूची :

1. श्री कृष्ण अभिनंदन ग्रंथ, 1947 पृ० स० 246-47.
2. त्रिवेणी शर्मा 'सुधाकर' (सम्पादित) स्मृति-ग्रंथ जून, 1982, पृ० स० 94.
3. श्री कृष्ण अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० स० 247.
4. देखें बिहार प्रांतीय किसान सभा की रपट; बिहार सरकार, होम पोलीटिकल, फाइल न० 163/1934.
5. बिहार प्रान्तीय किसान-सभा की रपट, पृ० स० 71.
6. श्री कृष्ण अभिनन्द ग्रन्थ, पृ० स० 250-5.
7. स्वामी सहजानन्द सरस्वती, जंग एवं राष्ट्रीय लड़ाई, पृ० स० 15-16.

8. सहजानन्द, **मेरा जीवन संघर्ष** (1952) पृ० स० 442-43.
9. रंगा, एन० जी०, सम्प्रति सदस्य, राज्य-सभा से साक्षात्कार, दिनांक 11-2-1989.
10. ब्रह्मर्षि संदेश, सहजानन्द स्मृति अंक, मार्च 1986, पृ० स० 25.
11. बिहार सरकार, गृह विभाग, पी० पी० ए० फाईल न० 40/1942.
12. श्री शीलभद्रयाजी, अध्यक्ष, अखिल भारतीय स्वतंत्रा सेनानी संगठन से साक्षात्कार दिनांक 1-5-89.

20

वर्ण से वर्ग की ओर

—रेणु शर्मा

सेवा, वैराग्य और बलिदान भारतीय संस्कृति की उपलब्धियों के शिखर हैं। इन तीन गुणों के प्रतीक स्वामी सहजानन्द सरस्वती आधुनिक भारत के उन महापुरुषों की परम्परा में आते हैं, जिनका सम्पूर्ण जीवन राष्ट्र सेवा के लिए समर्पित था। इसीलिए अपनी पुस्तक मेरा जीवन संघर्ष में स्वामीजी ने अपने सिद्धांत के संदर्भ में निम्नलिखित उद्देश्य को प्राथमिकता प्रदान की है :

"मुनी लोग तो स्वामी बन के अपनी ही मुक्ति के लिए एकांत वास करते हैं। लेकिन मैं ऐसा हर्गिज नहीं कर सकता। सभी दुखियों को छोड़ मुझे सिर्फ अपनी मुक्ति नहीं चाहिए। मैं तो इन्हीं के साथ रहूँगा और मरूँगा-जीऊँगा।"[1]

फलस्वरूप वे अपने जीवन के अंत में इस निष्कर्ष पर पहुँच गए कि आज दैववाद प्रगति के पथ में बाधा है।[1] अतः जो भी प्रगति चाहते हैं उन्हें दैववाद और संगठित धर्म का विरोध करना पड़ेगा। अपनी पुस्तक "गीता-हृदय" में तो उन्होंने इतना तक लिखा है कि आज जबकि शोषण के विरुद्ध लोगों को चेतना जगानी है, तो आस्तिकता-नास्तिकता का झगड़ा बेमानी है। पहले के लोगों के इहलोक को सुधारने की आवश्यकता है न कि उन्हें परलोक के सपने दिखाने की जरुरत।[2]

धर्म के विषय में स्वामी सहजानन्द के वैज्ञानिक दृष्टिकोण का पता हमें स्वामीजी के इन वाक्यों से लगता है—

"धर्म में तर्क, दलील और विचार का स्थान नहीं है। यही उसका व्यवहारिक रुप है। पंडित, मौलवी और धर्माचार्य जो कहें उसे आँख मूँद कर मानो नहीं तो तुम्हारे विरूद्ध फतवा निकल जायगा। फलतः वे लोग प्रायः निरक्षर भट्टाचार्य भी होते हैं। मगर मंतर और दीक्षा देकर बैकुण्ठ या वहिस्त पहुँचाने का दावा जरूर रखते हैं यहाँ तक कि सर्वाधिकार संरक्षित। फलतः धर्म के नाम पर सबसे ज्यादा अंधेर खाता देखते हैं।"[3]

आगे स्वामीजी पुनः लिखते हैं : "मैं इस धर्म को कतई नहीं मानता। बल्कि कह सकते हैं कि मैं ऐसे धर्म का समाज, देश और मानवता का शत्रु मानता हूँ। यह हमारी आजादी का भी बन्धक है। जहाँ विवेक को स्थान नहीं और फतवा या आदर्श चले, मैं उस चीज को नहीं मानता। यदि बुद्धि ही कुंठित कर दी गई और विवेक का ही स्थान न रहा, तो फिर सब खत्म ही हो गया। मैं विवेक के ऊपर लगाम चढ़ाना बर्दास्त नहीं कर सकता और जो बात बुद्धि में न समाये विवेक में न आये उसे धर्म के नाम पर मानने मनवाने का मैं सख्त दुश्मन हूँ।"[4]

स्वामीजी का जीवन क्रान्तिकारी परिवर्त्तन का सर्वोत्तम उदाहरण है। एक साधारण किसान परिवार में नौरंगराय से दंडी सन्यासी बनने की प्रक्रिया इतनी ही विस्मयकारी है जितनी बिहार की प्रमुख जाति "भूमिहार ब्राह्मण" को ब्राह्मणों के समकक्ष स्थापित करनेवाले एक निर्भीक नेता से भारतवर्ष के किसानों के सबसे प्रमुख प्रवक्ता के रुप में उभरने की प्रक्रिया तथा घनघोर साम्राज्यवाद-विरोधी साम्यवादी नेता के रूप में परिवर्तित होने की। बीच में एक पड़ाव है, वह है स्वामीजी की गाँधीवादी दर्शन में अटूट आस्था और गाँधीजी के कट्टर समर्थक के रुप में राजनीतिक जीवन में प्रवेश।

इसी तरह जातीय सभाओं के विषय में स्वामी सहजानन्द सरस्वती के विचारों में आये परिवर्त्तन की जानकारी के लिए हमें उनकी पुस्तक "किसानों को फँसाने की तैयारियाँ" में प्राप्त होती है। जिस स्वामी ने एक जाति विशेष की हक की लड़ाई के लिये अपने राजनैतिक जीवन की शुरूआत एक जातीय सभा से सम्बन्धित होकर की थी उसी ने सन् 1929 में मुंगेर में उस सभा को विध्वंस करने में सबसे बड़ी भूमिका निभाई और उसके बाद सहजानन्द लगातार हर तरह की जातीय सभाओं के संगठनकर्त्ताओं पर प्रहार करते रहें। स्वामीजी ने स्पष्ट रूप से कहा—"बहुत ही अदब पर स्पष्टता के साथ मैं कह देना चाहता हूँ कि चाहे पहले कुछ भी स्थिति रही हो, और मेरे जानते पहले भी यही थी, आज तो जातीय संस्थायें एकमात्र कुछ इने-गिने प्रतिष्ठित, चलते-पूर्जे तथा धनिकों के राजनीतिक स्वार्थ साधन की सामग्री बन गई है और खूबी यह है कि खुल्लम-खुल्ला तो वहाँ समाज सुधार की बातें की जाती हैं, लेकिन चुपके-चुपके राजनीतिक स्वार्थ साधन का षड्यंत्र किया जाता है। जहाँ पहले किसी उच्च पदस्थ अफसर की दरबारदारी और स्वागत कर देने एवं राजभक्ति का बाहरी स्वांग भरने से सभाओं के ये चतुर खिलाड़ी, अपने नजदीकियों तथा पिट्ठूओं के लिये नौकरियाँ, ऊँचे पद और दूसरी रियायतें हासिल कर लेते थे वहीं उनके साथ-साथ ही अब चुनावों के युद्ध में भी सफलता पाते और पाना चाहते हैं।"[5]

इन सभाओं के विषय में स्वामीजी के विचार अनुभव पर आधारित थे। उन्होंने देखा था कि किस तरह कौंसिलों और बोर्डों के चुनाव के समय के 'आते ही कुछ खास किस्म के लोग जातीय हित की दुहाई देकर अपनी स्वार्थ-सिद्धि करते थे। इन नेताओं में से अधिकांश समाज के उच्च वर्गों से आते थे। इन नेताओं के स्वार्थ पर आधारित जातीय प्रेम पर प्रहार करते हुए स्वामीजी ने लिखा—"जातीय प्रेम की भी सीमा है और जातीय नेता लोग भी उसका अतिक्रमण करने में साफ खतरा देखते हैं। फलतः समाज की आँखें ये खोल नहीं सकते। वलि के वकरे के साथ भी तो मुहब्बत की ही जाती है और उसे खिला-पिलाकर मोटा किया जाता है— उसमें स्वार्थ है। लेकिन उस बकरे को बाघ वनाने की बेवकूफी कौन करेगा सिवाय उस हितोपदेश के ऋषि के जिसने चूहे को बाघ बना कर अपनी जान खतरे में डाली ? यही है जातीय प्रेम और जातीय संस्थाओं की लीडरी का वास्तविक रहस्य। एक स्वार्थ के धनी या गरीब किसान या जमींदार आदि अपनी-अपनी सभायें करें तो यह बात समझ में आ सकती। लेकिन धनी-गरीब किसान, जमींदार की खिचड़ी सभा का मतलव समझना—असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।"[6]

व्यक्तिगत अनुभव और सामाजिक—राजनीतिक आंदोलनों का विश्लेषण स्वामीजी को वर्ग-चरित्र की वैज्ञानिक व्याख्या तक ले गया। मार्क्सवाद का गहन अध्ययन तो उन्होंने वहुत बाद में किया। उसके पहले ही उन्होंने व्यक्तिगत सूझबूझ के आधार पर लिखा—

"सभी धर्मों और जातियों के अमीरों का एक ही समाज होता है और वे एक जगह वैठकर एक ही दृष्टिकोण से सोचते हैं। हमारी मिलों का माल महंगा हो, हमें मजूरों को कम मजूरी देनी पड़े, हमें सूद भरपूर मिले, हमारी जमींदारी की आमदनी खूब वढ़े, समूची जमीन हमारी वकाश्त और जिरात हो जाय और कोई भी रैयत हमारे सामने सिर न उठा सके, फलतः हम और हमारे अमले उसे जिस घाट पानी पिलावे—पिये, इत्यादि। सभी धर्म और जाति के अमीर और धनी जमींदार चाहते हैं।"[7]

स्वामी सहजानन्द को एक विद्वान ने स्वामी विवेकानन्द की अगली कड़ी माना है। कुछ लोगों को यह बात कुछ अजीव सी लगती है। लेकिन अगर हम ध्यान से देखें और स्वामी सहजानन्द के क्रिया कलापों को, अध्ययन तथा चिन्तन की गतिशीलता को देखें तो यह सत्य के करीव मालूम होता है। स्वामी विवेकानन्द की तरह सहजानन्द ने भी पहले रोटी की समस्या हल करने की बात की—"मेरी पक्की धारणा है कि वर्त्तमान परिस्थिति में जबकि हरेक जाति और धर्म और समाज के अधिकांश लोग यथार्थतः भूखे और नंगे हैं और आत्म सम्मान रहित जीवन व्यतीत करने को वाध्य किये जा रहे हैं हर जातीय प्रेमी, धर्म-सेवक, समाज-सुधारक नेता की हर सभा का और सभी जातीय एवं धार्मिक पत्र-पत्रिकाओं का यह पवित्र कर्त्तव्य है कि इमानदारी के साथ इस रोटी, वस्त्र और आत्म सम्मान की समस्या को सबसे पहले हल करने के लिये पूरी शक्ति के साथ जुट जायें और इसे हल करके ही छोड़े। नहीं तो आज इस प्रश्न को न उठाकर धर्म सदाचार, सुधार, नैतिकता आदि की बातें करना इस बात का सबूत देना है कि उनमें वस्तु स्थिति का सामना करने की हिम्मत नहीं है।"[8]

जाति और धर्म के प्रचार करने वाले पेशेवर लोगों को चुनौती देते हुए उन्होंने स्पष्ट किया—"इस समय इस प्रश्न को उठाना जनता को गुमराह करने की कोशिश करना है। क्योंकि इन प्रश्नों और बातों को सुनकर भोली जनता धोखे में आ जाती है और रोटी तथा कपड़े के असली प्रश्न की ओर से उसका ध्यान फिर जाता है और वह नाटक ही समझने लगती हैं कि धर्म और सदाचार आदि का प्रश्न ही वास्तविक प्रश्न है और रोटी का सवाल गौण है। बहुत दिनों के धर्म के प्रति जो मूक जनता में अत्यधिक सम्मान है उसका अनुचित लाभ उठाकर जाति और धर्म के पेशेवर लोग जो इस प्रकार उसे पथभ्रष्ट और गुमराह कर रहे हैं यह उनका अक्षम्य अपराध है।"[9]

लोकहित विरोधी विचारों के निर्मम विरोध ने ही गाँधीवाद से प्रभावित मानववादी चिंतक को मार्क्सवादी चिंतक के रूप में परिवर्त्तित कर दिया। जैसा कि हम जानते है स्वामीजी ने अपने राजनैतिक जीवन की शुरूआत एक कट्टर गाँधीवाद के रूप में की थी। उन्होंने गाँधीजी के हरेक आदेश का पालन अक्षरशः करने की कोशिश में चरखा और तकली चलाना भी शुरू कर दिया।[10] यहाँ तक कि 1929 में किसान सभा की शुरूआत भी उन्होंने गाँधीवादी समझौते के सिद्धांत की नीति के तहत ही की थी। इतना ही नहीं जबकि सभा की स्थापना के तुरंत बाद 1920 ई० में सविनय अवज्ञा के आंदोलन की शुरूआत हो गयी तो गाँधीवादी नीति के तहत ही सभा के कार्यों को स्थगित कर दिया गया, क्योंकि उन्हें डर था कि कहीं यह आंदोलन कांग्रेस के बहुवर्गीय चरित्र के खिलाफ न चला जाय, उसे कमजोर न कर दें।[11]

किन्तु सविनय अवज्ञा आंदोलन के दरम्यान स्वामीजी की जेल-यात्रा और वहाँ के अनुभव तथा जेल से आने के बाद 1934 में बिहार में आये प्रलयकारी भूकम्प के विध्वंस के बाद ही किसानों पर जमींदारों द्वारा किये गये अत्याचार ने स्वामीजी को यह सोचने पर मजबूर कर दिया कि गाँधीवादी रास्ते से जमींदारों-पूँजीपतियों के हृदय की कल्पना करना भी सत्य से बहुत दूर भागना है।

एक अतीव भावुक स्वामीजी के हृदय पर तब और भी चोट पहुँची जब भूकम्प के बाद महात्मा गाँधी के बिहार के दौरे के समय स्वामीजी और गाँधीजी के बीच जमींदारों के आतंक से सम्बन्धित विस्तृत वार्ता हुई। स्वामी सहजानन्द सरस्वती ने गाँधीजी को यह बताया कि किसानों को खेतों से बालू के ढेर निकालने के लिये जो रिलीफ या कर्ज सरकार या विभिन्न सामाजिक संस्थाओं द्वारा दिया जा रहा था उसे भी जमींदार लोग बलपूर्वक मालगुजारी के एवज में अपने सिपाहियों द्वारा वसूल कर रहे थे।[12] इन जमींदारों में दरभंगा महाराज भी एक थे। लेकिन गाँधीजी ने उत्तर दिया "ये शिकायतें यदि दरभंगा महाराज को मालूम हो जाय तो मुझे विश्वास है कि वह जरूर उन्हें दूर करेंगे। श्री गिरीन्द्र मोहन मिश्र उनके मैनेजर हैं। वह कांग्रेसी है। स्वामीजी ने लिखा है, "उस दिन की बात के बाद उन पर, गांधीजी पर, मेरी अश्रद्धा हो गयी और उसी दिन से मैं सदा के लिये उनसे अलग हो गया। उस भूकम्प के बाद ही वह दूसरा मानसिक भूकम्प मेरे अन्दर आया। एक धक्का तो मुस्लिम नेताओं के सम्बन्ध में मेरे उत्तर से लग ही चुका था। यह दूसरा और आखिरी धक्का था। पीछे पता लगा कि मधुबनी जाने पर एक सभा में लोगों

ने उनसे जब जमींदारी में महाराज दरभंगा के अत्याचार की बात कहीं, तो वही उत्तर उन्होंने दिया जो मुझे दिया था। खैर अच्छा ही हुआ। प्रायः चौदह वर्षों की बनी बनाई गाँधी भक्ति आज खतम हुई।"[13]

इस मानसिक भूकम्प ने स्वामी सहजानन्द को एक ऐसे प्रगतिवादी रास्ते पर ला दिया जिसका अन्त था एक ऐसे समाजवादी समाज की स्थापना जो सदा के लिये शोषण से मुक्त हो। स्वामीजी ने सोचना शुरू किया कि अब किसानों को अपने ऊपर अत्याचार के लिये कुछ ही प्रतिरोध करना पड़ेगा। स्वामीजी की नजरों में यह अब क्रान्ति के सिद्धांतों पर चल कर ही हो सकती है। 1934 के अपने भाषणों में उन्होंने बराबर ही किसानों के बीच रूसी क्रांति की बातें की। 8 अगस्त 1934 के मुंगेर जिले के सूरजगढ़ा थाने के धोसैठ गाँव में बोलते हुए स्वामीजी ने कहा—"उन्हें भय है कि अगर गरीब किसानों की स्थिति में सुधार लाने के लिये कुछ नहीं किया गया तो वे सभी किसानों की तरह निराश होकर विद्रोह करेगें ही।"[14]

इस सभा में दिये गये भाषण के विश्लेषण से स्वामी सहजानन्द के विचारों का उद्वेलन स्पष्ट दिखाई पड़ता है। एक तरफ तो पहले के गाँधीवादी और कांग्रेसी प्रभाव के कारण वे कोई क्रांति नहीं चाहते, वे तो केवल यह चाहते हैं कि जमींदार अपने में सुधार लायें और रैयतों पर ज़ुल्म नहीं करें।[15] किन्तु आगे वही कहते है—यहाँ के किसान नपुंसक हो गये हैं। वे जुल्म के खिलाफ अपना सर भी नहीं उठा सकते। उन्हें अपना सर उठा के चलना चाहिए। उन्हें अपने शरीर की रक्षा करने का पूरा अधिकार है। अगर उनके सर पर कोई लाठी से वार करे तो वे उसे बन्द करे या फिर किसानों की लाठी खाने के लिए तैयार रहे। जिस दिन वे इस तरह अपना सर उठा के चलेगें उन पर होने वाले सभी जुल्म अपने आप बन्द हो जायेगें।[16]

स्वामीजी ने अपने दूसरे दिन के भाषण में पुनः किसानों को यह बतलाया कि रूस में किसानों ने अपने ऊपर जुल्म करने वाले सारे आततायीयों को मारकर अपनी सर्वोच्चता स्थापित कर ली। इतना ही नहीं उन्होंने यह भी कहा कि जमीन के मालिक जमींदार नहीं किसान हैं। इसलिये अपने परवरिश के लिए जितनी भी आवश्यकता हो उतनी मात्रा में अन्न को रखकर ही बची हुई मात्रा में वे जमींदार को कुछ दे दें।[17]

स्वामीजी द्वारा रूसी किसानों के उदाहरण देने के कारण सरकारी अधिकारियों के बीच एक भय का वातावरण व्याप्त हो गया और उनके भाषणों पर पाबन्दी ही नहीं वरन् धारा 505 (सी) के तहत उन पर मुकदमा चलाने की भी बात की गई।[18]

1934 के बाद मुजफ्फरपुर जिला किसान सभा के अधिवेशन में बोलते हुए उन्होंने कहा—"जमींदारों के अत्याचार की दवा न सरकार के पास है और न नेताओं और किसान सभा के पास, इसका उपचार तो किसानों के पास ही है। वे एकजुट हो जाये। स्पष्ट रूप से जमींदारों को यह कह दे कि अगर वे उन्हें गाली दें तो उनकी जबान खींच लेगें। अगर वे उनकी बहू-बेटियों को गाली दें तो वे इसे

बर्दाश्त नहीं करें। किसान कभी आक्रामक नहीं हों, लेकिन अगर उन पर कोई आक्रमण हो तो उन्हें अपनी सुरक्षा का पूरा अधिकार है।"[19]

इस सभा में भी स्वामीजी ने दुहराया कि जमीन के वास्तविक मालिक किसान ही हैं। इतना ही नहीं उन्होंने स्पष्ट रूप से घोषणा की कि यद्यपि वो वर्ग-संघर्ष चाहते नहीं, किन्तु अगर एक वर्ग कमजोर होगा और दूसरा बलशाली तो वर्ग-संघर्ष को कोई रोक नहीं सकता।[20]

यही थी स्वामी सहजानन्द की व्यावहारिक समझ। यद्यपि स्वामी सहजानन्द ने बाद में चलकर मार्क्सवादी साहित्य का गहन अध्ययन किया और इस अध्ययन का उनके चिंतन पर गहरा प्रभाव भी पड़ा किन्तु मार्क्सवाद के निकट आने का उनका असल कारण यह था कि उनके अनुभवों से मार्क्सवाद की स्थापनायें मेल खाती थी।

विचारधाराओं के संघर्ष में व्यावहारिकता का सहारा लेने के कारण ही 1935 में बिहार प्रदेश किसान सभा ने हाजीपुर में अपने प्रांतीय अधिवेशन में जमींदारी उन्मूलन का प्रस्ताव पारित कर दिया। इस अधिवेशन के बाद तो स्वामी सहजानन्द और बिहार प्रदेश किसान सभा की समानान्तर चलती हुई गतिशीलता और भी गतिमान हो गयी। इसी गतिशीलता और प्रगति ने स्वामीजी को कांग्रेस मंत्रीमंडल (1937-39) के काल में बिहार किसानों की सबसे बड़ी लड़ाई लड़ने पर मजबूर किया। स्वामीजी ने कांग्रेस द्वारा लगाए गए किसी भी पाबन्दी की परवाह नहीं की। प्रदेश कांग्रेस की कार्यकारिणी के द्वारा पूरे बिहार में उनकी सभाओं पर प्रतिबन्ध लगा दिए गए और कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं को उसमें किसी भी तरह से शरीक न होने की आज्ञा दी। किन्तु कबीर की तरह के अक्खड़ और आक्रामक व्यक्तित्व के स्वामी सहजानन्द को कौन रोक सकता था? किसान आन्दोलन इस बीच अपनी तीव्रतम बिन्दु पर पहुँच गया। इस काल में हुए नवादा जिले में रेउड़ा, मझियावां और मुंगेर जिले के बड़हिया टाल के किसान सत्याग्रह अपना ऐतिहासिक महत्व रखते हैं।[21]

बड़हिया टाल के किसानों, जिनमें दुसाध, धांगर, धानुक, मल्लाह, ढाढी जाति के लोग प्रमुख थे, की तीव्र बकाश्त संघर्ष तथा धनी किसानों की सभा से दुराव ने स्वामीजी को गरीब किसानों के करीब ला दिया। उन्हें यह विश्वास हो गया कि क्रान्ति की अगुआई यही किसान कर सकते हैं। 1940 के बाद की जेल-यात्रा और जेल में मार्क्सवादी साहित्य के गहन अध्ययन ने स्वामीजी की स्थापनाओं को और भी बल दिया। जेल से निकलने के बाद 1942 में शेरघाटी में बिहार प्रांतीय किसान सभा के नवें अधिवेशन में सभापति के पद से भाषण करते हुए स्वामीजी ने कहा—सभा के वास्तविक आधार छोटे किसान और खेत मजदूर ही है।[22]

विजयवाड़ा सम्मेलन में अध्यक्ष पद से बोलते हुए उन्होंने कहा—मध्यम और बड़े किसान आज किसान सभा का इस्तेमाल अपने फायदे के लिए कर रहे हैं, जबकि हम उनका उपयोग सबसे गरीब और त्रस्त तबकों में वर्ग-चेतना जगाने के लिए करना चाहते हैं। हमारे विचार से किसान वही हैं जो या तो बिल्कुल भूमिहीन हैं या जिनके पास बहुत कम जमीन हैं। ऐसे ही सर्वहारा अर्द्ध-सर्वहारा का संगठन किसान सभा है।

स्वामीजी ने अपनी मृत्यु के कुछ ही दिनों पूर्व 1949 में अपनी पुस्तक महारूद्र के महातांडव में लिखा—ग्रामीण सर्वहारा वर्ग अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो रहा है। जब वह पूरी तरह से सचेत हो जाएगा तव महातांडव की शुरूआत होगी। आज की ग्रामीण शोषक व्यवस्था का विध्वंस हो जाएगा।

स्वामीजी के जीवन का इतिहास क्रांतिकारी परिवर्त्तनों की एक लम्बी कहानी है। जाति विशेष के वर्चस्व के विरोध में आवाज बुलन्द करने वाले संन्यासी से साम्राज्यवाद विरोधी घनघोर गांधीवादी और फिर समाजवादी समाज की स्थापना करने के लिये सतत संघर्षशील क्रान्तिकारी रूप में स्थापित होनेवाले स्वामी विचारों और कर्मों में लगातार प्रगति के उच्चतम उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। यह एक ऐसे व्यक्ति की कहानी है जो अपने मोक्ष के लिये उपासना और धार्मिक चिन्तन में लगा हुआ था, लेकिन उसने अनुभव किया कि जनता की सेवा ही भगवान की असली पूजा है। विचारों के ऐसे उद्वेलन से आलोकित होकर उसने एकान्त जीवन को त्याग कर राजनीतिक और सामाजिक आन्दोलन को अपना लिया और इस काम में अथक एवं अटूट कान्तिकारी शक्ति के साथ एक संत की, भक्ति को जोड़ दिया। मानव के उत्थान के लिये उसका यह धर्म युद्ध नये से नये क्षेत्रों एवं नई-नई समस्याओं तक उन्हें ले गया। लेकिन वह उनमें से किसी एक से भी नहीं हटा। उसकी विचारधारा तेजी से बदलती गई। उसने नई-नई विचारधाराओं का ग्रहण कर समस्याओं को नये परिप्रेक्ष्य में देखा तथा "वहुजन हिताय, वहुजन सुखाय" हेतु नवीनतम युद्धों के लिये जनता को तैयार किया।

□

संदर्भ-सूची :—

1. अरविन्द नारायण दास, बिहार किसान संभा : कल, आज और कल नवभारत टाइम्स, 2 मार्च, 1989।
2. वही।
3. सरस्वती, स्वामी सहजानन्द, **मेरा जीवन संघर्ष**, पृ॰ सं॰ 272।
4. वही, पृ॰ 253।
5. सरस्वती, स्वामी सहजानन्द, **किसानों को फँसाने की तैयारियाँ**, पृ॰ सं॰ 4-5
6. वही, पृ॰ 13।
7. वही, पृ॰ 22।
8. वही, पृ॰ 38।
9. वही।

10. सरस्वती, स्वामी सहजानन्द, **मेरा जीवन संघर्ष** पृ० 118.
11. अरविन्द नारायण दास, **अग्रेरियन अनरेस्ट एण्ड सोशियो-इकोनोमिक चेंज**, दिल्ली 1983.
12. सरस्वती, उपरिविद पृ० 259.
13. वही ।
14. किसान सभा मीटिंग एट धोसठ, पी० एस० सूरजगढ़ा, जिला मुंगेर, फाईल नं० 10/34, बिहार राज्य अभिलेखागार, पटना ।
15. वही ।
16. वही ।
17. किसान सभा मीटिंग, नवगढ़ी, मुंगेर थाना, 9 अगस्त, 34, फाईल 10/34.
18. भागलपुर के आयुक्त ई० आर० कजीन्स द्वारा बिहार के मुख्य सचिव आर० ई० रेरसेल को भेजा गया भाषण, डी० ओ० न० 370-सी०, 26 अगस्त, 1934.
19. मुजफ्फरपुर जिला किसान सभा गोरौल पुलिस की विशेष शाखा की रपट, 24-8-34, फाईल 10/34.
20. वही ।
21. कौशल किशोर शर्मा, **अग्रेरियन मुवमेन्टस एण्ड कांग्रेस पालिटिक्स इन बिहार**, दिल्ली, 1989.
22. सरस्वती, स्वामी सहजानन्द, अध्यक्षीय भाषण, नवां बिहार प्रांतीय किसान सम्मेलन, शेरघाटी, गया, 1942.

◆

21

साम्राज्यवाद का राष्ट्रवादी विरोध

—अरुण कुमार राय

स्वामी सहजानन्द के नेतृत्व में 1936 में शुरू हुआ बकास्त संघर्ष 1939 में अपने चरम बिन्दु पर पहुँच चुका था। ठीक उसी समय जून 1939 में बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई जिसमें कार्य-समिति की तरफ से यह प्रस्ताव लाया गया कि बिना प्रांतीय कांग्रेस की आज्ञा के कोई सत्याग्रह न करे और न ही प्रांतीय कांग्रेस कमिटियाँ मंत्रियों के रास्ते में दिक्कतें पैदा करें। इसका सीधा अर्थ था बिहार के किसान सत्याग्रह को स्थगित करना और कांग्रेस को मंत्रियों के

अधीन करके उस पर वैधानिकता की मुहर लगाना। सहजानन्द ने कांग्रेस के इन दोनों ही प्रस्तावों का विरोध किया और इसे मानने से इन्कार कर दिया। उन्होंने कहा कि कांग्रेस यदि चाहती है कि हम उसमें न रहें तो यह स्पष्ट कहे। स्वामी सहजानन्द के प्रयास से जून 1939 में बम्बई में ही फारवर्ड ब्लाक के प्रथम सम्मेलन के समय सभी वामपंथी गुटों का भी सम्मेलन हुआ और कौमी एकता समिति का गठन हुआ जिसमें फारवर्ड ब्लाक, कांग्रेस समाजवादी दल, कम्युनिस्ट पार्टी, एम० एन० राय की रेडिकल कांग्रेसमेन्स लीग तथा किसान सभा की तरफ से स्वामी सहजानन्द ने वाम एकता कमिटी के साथ मिलकर 9 जुलाई 1939 को भारत भर में इन दो प्रस्तावों का विरोध करना तय किया। लेकिन एम० एन० राय अपने दल सहित 9 जुलाई को ही इस समिति से अलग हो गये। दूसरे दल तो अलग नहीं हुए, लेकिन बहुत सक्रिय भी नहीं रहे। समाजवादी भी सुस्त पड़े थे। सहजानन्द ने इसमें काफी सक्रिय होकर भाग लिया और पटना में इस दिन विरोध दिवस मनाया। कलकत्ता में पुनः वाम एकता समिति की बैठक हुई जिसमें 31 अगस्त से 6 सितम्बर तक राष्ट्रीय संग्राम सप्ताह मनाना तय हुआ, लेकिन इसमें भी कुछ लोग जैसे एम० एन० राय और जयप्रकाश नारायण जैसे लोग अनुशासनात्मक कार्यवाही के भय से सम्मिलित नहीं हुए। अन्य समाजवादी सहजानन्द के बार-बार कहने पर भी सक्रिय नहीं हुए और इस सप्ताह में एक दिन भी मीटिंग नहीं की। लेकिन स्वामी सहजानन्द, सुभाष बोस और शीलभद्र याजी जैसे लोगों के साथ पूरे सप्ताह सक्रिय रहे। फलतः बिहार प्रांतीय कांग्रेस ने स्वामीजी को निष्कासित कर दिया।

1939 में यूरोपीय महायुद्ध की शुरूआत होने पर अक्टूबर में नागपुर में "साम्राज्य विरोधी सम्मेलन" सबकी सहमति से होना तय हुआ। लेकिन फिर समाजवादी इसमें सम्मिलित नहीं हुए। हालांकि जयप्रकाश नारायण से स्वामी सहजानन्द ने पहले ही स्वीकृति प्राप्त कर ली थी।

सितम्बर 1939 को पोलैण्ड पर हिटलर द्वारा आक्रमण के साथ ही यूरोपीय महायुद्ध की शुरूआत हुई। इंगलैंड ने फ्रांस के साथ मिलकर जर्मनी के विरुद्ध सितम्बर 1939 को युद्ध की चंद घंटे में घोषणा की। इसके बाद ही वाइसराय ने भारतीय प्रतिनिधियों से राय लिये बिना ही, भारत को युद्ध में शामिल कर दिया। राष्ट्रीय नेताओं का विरोध एक रूप नहीं था। कांग्रेस के अन्दर दक्षिणपंथी नेता इस स्थिति से फायदा उठाने के लिए केवल दबाव डालकर ब्रिटिश शासकों से ज्यादा से ज्यादा कुछ पा लेना चाहते थे। वामपंथी नेतृत्व इस साम्राज्यवादी युद्ध को भारत मुक्ति-युद्ध में बदल देना चाहता था।

पट्टाभि सीतारमैया ने (कांग्रेस का संक्षिप्त इतिहास) में लिखा है कि "वैयक्तिक नैतिक सहयोग" और "विशुद्ध मानवीय दृष्टिकोण" के नाम पर महात्मा गाँधी को पूरी सहानुभूति ब्रिटेन के साथ थी। कांग्रेस कार्य-समिति ने सरकार से अपनी स्थिति स्पष्ट करने को कहा। यह भी कहा गया कि सरकार "जनतंत्र और साम्राज्यवाद" के बारे में अपने युद्ध के लक्ष्यों की घोषणा करे। कार्य-समिति ने सरकार को सहयोग देने से इन्कार कर दिया, लेकिन तत्काल किसी प्रकार के सत्याग्रह करने के खिलाफ भी चेतावनी दी। समिति ने आत्म-निर्णय तथा सम्प्रभु विधान-निर्मात्री परिषद की मांग दुहराई, लेकिन भारत सरकार ने इस मांग को अस्वीकार

कर दिया। फलतः काग्रेस ने 31 अक्टूबर तक सभी कांग्रेस मंत्रिमंडलों को इस्तीफा देने का निर्देश दिया। मार्च 1940 के रामगढ़ अधिवेशन के बाद ही कांग्रेस ने कोई कदम उठाया, जन सत्याग्रह के बजाय व्यक्तिगत सत्याग्रह का जिसकी शुरुआत अक्टूबर 1940 में की गई।

कांग्रेस समाजवादी दल का युद्ध के मुद्दे पर कांग्रेस से मतभेद था। कांग्रेस ब्रिटेन से सहयोग करने को इच्छुक थी बशर्ते सरकार अपने युद्ध-उद्देश्यों की घोषणा कर दे। जबकि कांग्रेस समाजवादी प्रारम्भ से ही यह चाहते थे कि कांग्रेस भारत को युद्ध में किसी भी प्रकार शामिल किये जाने का विरोध करे और समूचे भारत के जन, धन स्रोतों का युद्ध में उपयोग करने के विरुद्ध अवरोध के लिये तैयार करे तथा इस संकट का स्वराज्य प्राप्ति के लिये उपयोग करे, लेकिन समाजवादी दल ने अलग से कुछ नहीं किया। इसका नेतृत्व यह चाहता था कि कांग्रेस ही संघर्ष शुरू करे। इस सवाल पर समाजवादी और कम्युनिस्ट एक थे। उनका विश्वास था कि केवल कांग्रेस के नेतृत्व में ही संघर्ष किया जा सकता है। जब महात्मा गांधी ने "व्यक्तिगत सत्याग्रह" की शुरूआत की तब समाजवादी ने भी सहयोग दिया।

युद्ध के सन्दर्भ में फारवर्ड ब्लाक द्वारा जो नीति अख्तियार की गई उसको स्पष्ट करते हुए सुभाष बोस ने "इण्डियन स्ट्रगल" में लिखा, "गाँधीवादी पक्ष के विरुद्ध फारवर्ड ब्लाक ने यह नीति अपनाई कि कांग्रेस ने 1927 से बार-बार घोषणा की है कि भारत को ब्रिटेन के युद्ध में सहयोग नहीं देना चाहिए। कांग्रेस को अब वह नीति काम में लानी चाहिए। फारवर्ड ब्लाक के सदस्यों ने भी खुलेआम घोषणा की कि वे नहीं चाहते कि युद्ध में ब्रिटेन की विजय हो, क्योंकि केवल उसकी हार और 'ब्रिटिश साम्राज्य के टूट जाने के बाद ही भारत स्वतंत्र होने की आशा करता है।" फारवर्ड ब्लाक का इस वार के लिए आग्रह था कि काँग्रेस के हरिपुरा अधिवेशन के प्रस्ताव को अमल में लाये जो युद्ध के प्रति ब्लाक की नीति का आधार था। उसने मांग की कि भारत को युद्ध में शामिल करने की ब्रिटिश शासकों की घोषणा को जबर्दस्त चुनौती दी जाय, युद्ध में भारत के साधनों के इस्तेमाल करने का डटकर विरोध किया जाय और सरकार के युद्ध प्रयासों में बाधा डाली जाय। ब्लाक का भी कार्यक्रम सेना में रंगरुटों की भर्ती को रोकना, ब्रिटिश माल का बहिष्कार और हड़ताल करना वगैरह था।

स्वामी सहजानन्द अपनी वैचारिकी व कार्य के आधार पर फारवर्ड ब्लाक के साथ थे। उन्होंने युद्ध-विरोधी युद्ध की नीति अख्तियार की। उनका विचार था कि "इस यूरोपीय महायुद्ध के खिलाफ हमें युद्ध करना है और इस प्रकार अंग्रेजी सरकार के युद्धोघोष में, जहाँ तक हो सके बाधा पहुँचानी है।" मार्क्स, एंगेल्स तथा लेनिन के लेखों व मंतब्यों से उन्होंने यही सीखा था कि साम्राज्यवादी युद्ध को सफल न होने देना। उन्होंने सुभाष चन्द्र बोस के साथ युद्ध विरोधी प्रचार हेतु तूफानी दौरा किया। 2 दिनों में उन्होंने 1938 आम सभाओं में भाषण देकर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ जनता को जगाने का प्रयास किया। इसी पृष्ठभूमि में समझौता विरोधी सम्मेलन हुआ।

ब्रिटिश सरकार के "सक्रिय विरोध" के सवाल पर जब कांग्रेस ने मौन

साध लिया तब जनमानस में सन्देह और अविश्वास का घेरा बढ़ता जा रहा था। ऐसी स्थिति में मौलाना अबुल कलाम आजाद की अध्यक्षता में रामगढ़ में कांग्रेस का अधिवेशन, (20-22 मार्च 1940) करने का निश्चय किया गया। यह क्षेत्र कामाख्या नारायण सिंह, राजा रामगढ़ और आदिवासी नेता जयपाल सिंह का था। इनकी काफी प्रतिष्ठा थी। अत: अपनी दृष्टि से सुरक्षित समझ कर कांग्रेस ने यहाँ अधिवेशन करने का निश्चय किया, लेकिन हुआ ठीक उलटा।

रामगढ़ में जिस समय कांग्रेस का यह अधिवेशन हो रहा था ठीक उसी समय समानान्तर अधिवेशन के रूप में स्वामी सहजानन्द और सुभाष चन्द्र बोस के नेतृत्व में "अखिल भारतीय समझौता-विरोधी सम्मेलन" किया गया। स्वामी सहजानन्द का यह मानना था कि समझौते की मनोवृत्ति कांग्रेस में दृढ़ हो रही है। राष्ट्रीय मुक्ति की लड़ाई वह नहीं लड़ेगी। अतः कांग्रेस के समझौतावादी रुझान के खिलाफ उन्होंने सम्मेलन करने का निश्चय किया। दूसरी तरफ सहजानन्द वामपंथी दल से भी निराश थे।

समझौता विरोधी सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष स्वामी सहजानन्द थे। अपने भाषण में उन्होंने कांग्रेस की समझौतावादी नीति की आलोचना करते हुऐ इसे 'राष्ट्रीय तत्व का शर्मनाक प्रयास" कहा। उन्होंने कहा कि जो लोग यह सोचते है कि "पूर्ण और विशुद्ध स्वाधीनता हिन्दुस्तान में समझौते के परामर्श के जरिये आ सकती है" ऐसी स्थिति में उनको राजनीतिक दिवालियापन और राष्ट्रीय पतन और आगे कहा जा सकता है जिसको समझा जा सकता है। तत्कालीन राष्ट्रीय नेतृत्व से जो लोग संघर्ष छेड़ने की आशा लगाये हुए थे उनको सजग करते हुए उन्होंने कहा—"निकट भविष्य में अपने नेताओं की ओर से किसी लड़ाई की प्रतीक्षा करना भारी भूल है।" क्योंकि जो प्रस्ताव पास किये गये हैं वह मौजूदा परिस्थितियों के ऊपर पांव रखकर आगे नहीं बढ़ पाया है। प्रस्ताव रचना की बड़ी चतुर और चालपूर्ण कला की दृष्टि से यह आगे जरूर है और मैं स्वीकार करता हूँ कि हमारे नेता इसमें बेबाई है।"

उन्होंने राष्ट्रीय नेतृत्व से मतभेदों के सन्दर्भ में चरखा और ग्रामोद्योग की चर्चा करते हुए कहा "देश की मौजूदा अर्थनीति में हम उनकी जगह भी कबूल करते हैं, लेकिन गाँधीवादी विचारधारा की तरह हम इन्हें भावी समाज का आधार नहीं मान सकते। बल्कि हम तो विश्वास करते हैं कि ये उस समाज से सदा के लिए मिट जायेंगे....।" अहिंसा की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा "उसे तो हम एक नीति के रूप में स्वीकार करने को तैयार हैं लेकिन जहाँ समाज निर्माण की समस्या आती है मैं साफ कहूँ, तो मैं कभी इसमें विश्वास नहीं रखता।"

"मैं तो विश्वास करता हूँ कि सिर्फ मार्क्सवादी प्रणाली पर ही समाज का पुनर्निर्माण किया जा सकता है, ताकि सभी तरह की हिंसा और शोषण से मुक्ति मिले। यहाँ हम गाँधीवाद से आसमान जमीन की दूरी पर हैं।"

अपने भाषण का समापन करते हुए उन्होंने जनता का सीधी कारवाई के लिए आह्वान किया, क्योंकि "एकमात्र उसी हालत में हम राष्ट्र को आत्म-समर्पण तथा घुटने टेकने से बचा सकेंगे।"

सुभाष चन्द्र बोस ने अपने अध्यक्षीय भाषण में सम्मेलन और स्वामी सहजानन्द के महत्व को इंगित करते हुए कहा—"यह सम्मेलन देश की साम्राज्य से समझौता करने वाली ताकतों को बेनकाब करने के लिए देश की तमाम साम्राज्यवाद विरोधी ताकतों की एकता को प्रदर्शित करने का माध्यम है। इस प्रकार के सम्मेलन की अध्यक्षता करना कोई साधारण काम नहीं है और यह काम तब और भी मुश्किल हो जाता है जब स्वागत समिति के अध्यक्ष स्वामी सहजानन्द सरीखा साथी हो। यह स्वामीजी का ही स्पष्ट आवाहन है जिसके फलस्वरूप हमलोग यहाँ एकत्रित हुए हैं।"

इस सम्मेलन में युद्ध के विरुद्ध और स्वाधीनता के लिए संघर्ष छेड़ने का फैसला लाया गया। इसके अनुसार 6-13 अप्रैल तक राष्ट्रीय सप्ताह मनाने का निर्णय लिया गया।

इस सप्ताह के दौरान स्वामी सहजानन्द ने पूरे बिहार में दौरा करके अपने भाषणों में युद्ध-विरोधी प्रचार किया। फलस्वरूप सरकार ने आपत्तिजनक भाषण देने के आरोप में उन्हें 29 अप्रैल 1940 को गिरफ्तार कर लिया।

लेकिन अबतक जो लोग संघर्ष टाल रहे थे उन्होंने सारा श्रेय ले लिया। जो अब तक जन-दबाव पड़ रहा था उसको भुनाने के लिए, द्वितीय विश्वयुद्ध की शुरूआत, बाद 1942 में भारत छोड़ो आन्दोलन का नारा दिया गया।

जिस हिंसा के नाम पर स्वामी सहजानन्द जैसे लोग कांग्रेस से अलग किये गये उसी हिंसा का सहारा लेते हुए गाँधी और कांग्रेस को कोई परहेज नहीं हुआ। वस्तुतः "भारत छोड़ो" आन्दोलन की घोषणा 9 अगस्त को नहीं, 20 मार्च को 1942 में, बम्बई से नहीं, रामगढ़ से हुई थी। 1940 में कांग्रेस का सम्मेलन समझौता के पक्षधरों का सम्मेलन था।

□

22

क्रांति और संयुक्त मोर्चा : एक मूल्यांकन

—पशुपति कुमार

आदर्श लोक से यथार्थलोक होते हुए वैज्ञानिक समाजवाद तक की प्रक्रिया ही स्वामीजी की जीवन-यात्रा का सार है। शंकराचार्य से शुरू करें, दयानन्द सरस्वती होते हुए राहुल सांकृत्यायन तक पहुँच जायें—स्वामीजी में तीनों का छायाभास मिलेगा।

'क्रांति और संयुक्त मोर्चा' की लघु प्रस्तावना 'यह यों हुआ' में स्वामीजी

ने क्रांति की अहमियत और संभावित संयुक्त मोर्चे के वस्तुपरक अनुशीलन का सवाल उठाया है, जिसका विश्लेषण आगे विभिन्न अध्यायों में उन्होंने किया है।'

पुस्तक के प्रथम अध्याय में क्रांति का शाब्दिक और पारिभाषिक अर्थ किया गया है। यह विश्लेषण सरल शब्दों और मुहावरों के माध्यम से हुआ है। क्रांति का अर्थ बतलाने के बाद स्वामीजी ने क्रांति को दो भागों में बाँटा है—(1) अल्पमत क्रांति, बुर्जुआ क्रांति, पूँजीवादी क्रांति या जनवादी क्रांति और (2) बहुमत क्रांति, सर्वहारा क्रांति, मजदूर क्रांति या समाजवादी क्रांति। यह विभाजन उन्होंने क्रांति के उद्देश्यों और उसमें भाग लेनेवाले समूहों के आधार पर किया है। तत्पश्चात उन्होंने क्रांति की पूर्णता और सफलता के लिए आवश्यक कारकों तथा क्रांति के उपयुक्त समय का भी जिक्र किया है। इसी अध्याय में उन्होंने क्रांति के नेताओं के उस गुण की भी चर्चा की है जिससे वे जनता की मनोवृत्ति को परख सकें और उनकी राय आम राय हो जाय।

पुस्तक के दूसरे अध्याय "पूँजीवादी क्रांति और सर्वहारा क्रांति" के प्रथम भाग में इन दोनों क्रांतियों में शामिल वर्गों के गुण-दोषों का विवेचन कर इस आधार पर दोनों प्रकार की क्रांतियों में निहित अन्तर को स्पष्ट किया गया है। अध्याय के दूसरे भाग में पूँजीवादी क्रांति को समझाने के लिए सामन्ती व्यवस्था की वर्ग-व्यवस्था के ढाँचे को स्पष्ट किया गया है। यहीं पर फ्रांस में पूँजीवाद के विकास और किसानों के साथ उसके सम्बन्धों का विश्लेषण कर स्वामीजी ने किसान वर्ग की स्वाभाविक प्रवृत्ति और उसे साथ लेकर चलने की ऐतिहासिक आवश्यकता पर बल दिया है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि पूँजीवादी क्रांति को कृषक क्रांति क्यों कहते हैं। तत्पश्चात उन्होंने पूँजीवादी क्रांति को जनवादी क्रांति कहने का रहस्य भी स्पष्ट किया है। उन्होंने लिखा है कि इस स्तर पर बुर्जुआ वर्ग शासन सूत्र अपने हाथ में ले लेता है, परन्तु शासितों का शोषण पूर्ववत जारी रहता है। इसीलिए उन्होंने अन्त में पूँजीवादी क्रांति के विभिन्न नामों की जगह 'पूँजीवादी जनतन्त्र क्रांति नाम का प्रयोग सटीक समझा है। अध्याय के तीसरे भाग में स्वामीजी ने हर तरह की क्रांति में विभिन्न वर्गों की भूमिकाओं और नेतृत्व का खुलासा किया है।

एक अन्य अध्याय है—'सर्वहारा का नेतृत्व'। इसमें स्वामीजी ने सर्वहारा के नेतृत्व की पहचान, उसका अर्थ एवं उसकी भूमिका का विशद वर्णन किया है। इसकी पुष्टि में उन्होंने रूस के 1905 से 1917 ई० तक की घटित घटनाओं से विस्तृत उदाहरण दिये हैं।

'वर्ग-संघर्ष और सरकार' नामक अध्याय में स्वामीजी ने वर्ग-संघर्ष की अनिवार्यता पर बल दिया है और उसके बाद राज्य के दमनकारी स्वरूप और शासन के वर्गीय चरित्र का सांगोपांग उल्लेख किया है। हिन्दी में प्रचलित मुहावरों एवं कहावतों द्वारा निम्न मध्यम वर्ग के दोहरे चरित्र की व्याख्या इस अध्याय की एक अन्य विशेषता है।

इस अनुपम कृति का एक ऐतिहासिक अध्याय है—"सर्वहारा का एकतन्त्र

और गणतन्त्र"। इस विषय पर हिन्दी में इतना सुन्दर विश्लेषण आज करीब 46 वर्ष बाद भी कोई दूसरा नहीं मिलता तथा इसमें वर्णित बुर्जुआ लोकतन्त्र का रूप आज हम व्यवहार में अनुभव कर रहे हैं।

इस पुस्तक का महत्वपूर्ण विषय किसान और उसकी क्रांतिकारिता से सम्बद्ध है, जिसके वर्णन पुस्तक में यत्र-तत्र भरे पड़े हैं। क्रांति में किसानों की भूमिका के प्रश्न पर स्वामीजी ने अपने को मार्क्सवादी धारणाओं से प्रतिबद्ध साबित किया है।

इस पुस्तक के अन्तिम अध्याय 'संयुक्त मोर्चा' में स्वामीजी ने यह बताने का प्रयास किया है कि कब, कहाँ और कौन-सा मोर्चा बनाना चाहिए। उन्होंने यह बतलाया है कि सामान्य दुश्मन के विरूद्ध सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन तमाम वर्गों की एकता हो सकती है—जो इस उद्देश्य की पूर्ति होना अपने हित में जरूरी समझते हैं।

स्वामीजी की इस पुस्तक के पढ़ने के बाद ऐसा महसूस होता है कि इस पुस्तक का पुनः प्रकाशन जरूरी है। इस पुस्तक में वर्णित विचारों का प्रचार-प्रसार वर्त्तमान संदर्भ में अत्यावश्यक प्रतीत होता है। आज किसान संघ और किसान के नाम पर भारत का कुलक समुदाय भारतीय राजनीति पर अपना वर्चस्व स्थापित करना चाहता है। ऐसे किसान संघ और किसान सम्मेलन चलानेवाले लोग स्वामीजी की याद जरूर करते हैं, किन्तु उनको गलत अर्थ में पेश करना चाहते हैं। इन कुलक नेताओं के जबाव के लिए स्वामीजी की तत्सम्बन्धी विचारधाराओं का प्रचार जरूरी है ताकि इनका नंगा स्वरूप जनता के सामने आ सके। इससे भारत के गरीब किसानों का उद्धार होगा और भारतीय राजनीति में वामपक्षी तथा जनवादी पक्ष भी सबल होगा।

□

23

राष्ट्रवाद एवं किसान आन्दोलन

—कौशल किशोर शर्मा

असहयोग-आन्दोलन (1920-22) में किसानों की प्रभावोत्पादक भागीदारी पर प्रशंसनीय टिप्पणी करते हुए स्वामी सहजानन्द ने लिखा था :—'राजनीतिक जागृति ने कठोरतम दमन के शिकार किसानों की अग्निदीक्षा कर दी.......लोग यह समझने लगे कि ब्रिटिश साम्राज्य रूपी सिंह के विरूद्ध आश्चर्यजनक व्यापक सफलता हासिल करने वाले किसान चूहे सदृश जमीन्दार, तालुकदारों, साहुकारों,

पूँजीपतियों को विश्वास के साथ पलक झपकते ललकार बैठेगें, क्योंकि ये सभी मात्र उस सिंह की कृति ही नहीं हैं, बल्कि इनका अस्तित्व भी उसी के संरक्षण पर टिका है।"

परन्तु, यह किसान नव-जागरण शोषणात्मक भूमि सम्बन्धी संरचना को समाप्त करने की दिशा में प्रवाहित न किया जा सका। यद्यपि किसान सभा की शुरूआत स्वामीजी के नेतृत्व में एक निष्ठावान सहयोगी वर्ग के रूप में ग्रामीण तनाव कम करने के उद्देश्य से हुई, लेकिन विवेकहीन जमीन्दारों की हृदयहीनता ने स्वामीजी की आशाओं पर तुषारपात कर दिया। सविनय अवज्ञा के आन्दोलन के अवसर पर भी राष्ट्रीय आन्दोलन की प्राथमिकता स्वीकारते हुए स्वामीजी ने स्वतंत्र किसान आन्दोलन को निलम्बित कर दिया था। यह गौर करने की बात है कि किसान आन्दोलन के सुधारवादी दृष्टिकोण के साथ भी राष्ट्रीय आन्दोलन का सामन्जस्य सम्भव न हो सका।

बिहार में किसान आन्दोलन मात्र सैद्धान्तिक प्रभावों के कारण[2] ही नहीं, बल्कि सविनय अवज्ञा आन्दोलन के दौरान बिहार के कांग्रेस नेतृत्व से जनित घोर निराशा के कारण भी पुनर्जीवित हुआ। स्पष्ट तया छोटे-छोटे जमीन्दारों एवं समृद्ध किसानों से जुड़ा कांग्रेस नेतृत्व आर्थिक मन्दी से त्रस्त एवं सामन्ती क्रूरताओं से दमित किसानों के न्यायोचित अधिकारों के लिए संघर्ष करने में असमर्थ था। इसके भी स्पष्ट संकेत मिलने लगे कि बिहार में कांग्रेस का उच्च नेतृत्व उत्तर प्रदेश की तरह "लगान न दो अभियान" चलाने के बजाए राष्ट्रवादी आन्दोलन के प्रसार के लिए किसानों का इस्तेमाल 'युद्धवलि' के रूप में करते हुए किसान आन्दोलन को अपने नियन्त्रणकारी प्रभाव में रखना चाहता था।[3] निस्संदेह किसान समुदाय पर अपनी अत्यधिक निर्भरता के बावजूद 1920 ई० के बाद से कांग्रेस नेतृत्व किसान-असन्तोष को एक सीमा में ही मुखर होने का प्रयास करता रहा।[4]

इसके अलावा बिहार के कांग्रेस नेतृत्व में कराची कांग्रेस अधिवेशन की प्रगतिशील घोषणाओं के प्रति कोई विशेष उत्साह दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था। उसी समय किसान आन्दोलन के साथ-साथ काउंसिल के सम्भावित निर्वाचन में कांग्रेस की सफलता को बाधित करने के उद्देश्य से बिहार के जमीन्दारों ने सरकार के प्रोत्साहन एवं समर्थन पर सितम्बर, 1932 ई० में एक यूनाइटेड पोलिटिकल पार्टी गठित की।[5] 'दयालुता' के छलावा से किसान-कांग्रेस गठबंधन को तोड़ने एवं 'किसानवाद' को समाप्त करने के मुख्य उद्देश्य से यह दल अभिप्रेरित था। इन सामन्तों ने पुरानी किसान सभा के विरूद्ध यत्र-तत्र किसान सभायें भी संगठित कर ली। जमीन्दारों के हित में बंगाल काश्नकारी अधिनियम संशोधन के लिए आतुर इस नकली किसान सभा का असली चेहरा उस समय बेनकाब हो गया[6] जब 1933 ई० में पटना में इसी के द्वारा आयोजित सभा में स्वामीजी बड़े ही नाटकीय ढंग से उपस्थित हो गए। किसान सभा के नाम पर जमीन्दारों द्वारा खेली जा रही द्वयर्थक चालबाजी की निन्दा स्वामजी ने बड़े ही कड़े शब्दों में की। इसी घटना ने, स्वामीजी के अनुसार, उन्हें पुन: 'राजनीतिक चक्रवात' में डाल दिया तथा इसके बाद ही सही किसान आन्दोलन एवं बिहार किसान सभा की शुरूआत हुई।[7]

इसके बाद स्वामीजी के नेतृत्व में बिहार प्रदेश किसान सभा ने किसानों को जागृत एवं आन्दोलित करके के लिए बहुतेरे कार्य किए जिनकी चर्चा पूर्व के अध्यायों में की जा चुकी है। यह उल्लेखनीय है कि अभी भी किसान आन्दोलन एक सुधारवादी ढाँचे के अन्तर्गत ही कार्य कर रहा था, क्योंकि किसान सभा जीवन यापन के लिए कृषि पर आधारित जमीन्दार एवं रैयत दोनों ही को किसान मानती थी तथा दोनों के बीच टकराव उत्पन्न करना नहीं चाहती थी।[8]

स्वामीजी के नेतृत्व में किसान सभा की बढ़ती हुई शक्ति एवं युयुत्सा ने बहुतेरे समाजवादियों को अपनी ओर आकर्षित किया। किसान सभा में समाजवादियों के शामिल हो जाने से इसे सामाजिक विकास की एक वैज्ञानिक दृष्टि प्राप्त हुई। 1934 ई० में भूकम्प के दौरान गाँधी एवं उनके अनुयायियों के व्यवहार से निराश स्वामीजी ने समाजवादियों का स्वागत खुले दिल से किया, धीरे-धीरे किसान सभा पर समाजवादी प्रभुत्व बढ़ने लगा।[9]

1935 ई० के अंत तक किसान-सभा की राष्ट्रीय आन्दोलन को वल प्रदान करती हुई एक सर्वाधिक शक्ति के रुप में उभर तो चुकी थी परन्तु कांग्रेस पार्टी के एक उपांग की तरह नजर आ रही थी, क्योंकि इसके बहुत से नेता कांग्रेस के भी सदस्य थे। किसान सभा के अध्यक्ष सहित कुछ चतुर कांग्रेसी राजनीतिज्ञों की यह मंसा थी कि किसान सभा को कांग्रेस के सहायक संगठन के रूप में कायम रखा जाए। इससे भिन्न सामाजिक विकास की एक नयी विचारधारा से अनुप्राणित किसान सभा के लिए किसानों के एक वर्ग संगठन के रुप में कांग्रेस का उपांग बने रहने में कठिनाई थी। मुजफ्फरपुर जिला किसान सभा के तृतीय वार्षिक अधिवेशन की स्वागत समिति के अध्यक्ष ने कहा था :

"किसानों के आर्थिक हितों पर संगठित किसान सभा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस जैसे राजनीतिक एवं बहुवर्गीय दल के समानान्तर संगठन नहीं हो सकती है ....कांग्रेस के रहते किसान सभा की क्या आवश्यकता है ? प्रत्येक वर्ग को आर्थिक संघर्ष के लिए अपने वर्ग संगठन की आवश्यकत्ता पड़ती है।"

इस विचार का समर्थन करते हुए वर्ग-चेतना से लैस होकर स्वामीजी एवं उनके सहयोगियों ने जमींदारों पर तीखा प्रहार करना शुरू कर दिया। कांग्रेस के जमीन्दार सदस्य भी बख्शे नहीं गए। प्रदेश कांग्रेस कार्य-समिति के दीप नारायण सिंह को स्वयं स्वामीजी ने एक दमनकारी जमींदार बताया। इसके परिणामस्वरूप वर्ग सहयोग में आस्था रखनेवाला प्रादेशिक कांग्रेस नेतृत्व अत्यधिक चिंतित हो उठा। किसान सभा को प्रभावहीन बनाने के उद्देश्य से प्रदेश कांग्रेसी ने किसानों की शिकायतों की जाँच करने के लिए एक समिति गठित की, जिसमें एक भी किसान कार्यकर्त्ता शामिल नहीं किए गए।[13] वास्तव में यह समिति किसान सभा के विरूद्ध एक प्रचार-हथकंडा के रूप में काम करने लगी अन्यथा कांग्रेस जमींदार के विश्वास एवं समर्थन से हाथ धो बैठती। अपने भ्रमण के क्रम में यह समिति जमीन्दारों को इस बात से अवगत कराती चल रही थी कि किसान सभा द्वारा उन पर किए जा रहे प्रहारों से कांग्रेस का कोई लेना-देना नहीं है। इस समिति की अप्रकाशित रपट में किसान-सभा, उसके नेताओं एवं कार्यक्रमों की भरपूर निन्दा की गई थी।[14]

इस प्रकार किसानों के हित में किसान सभा द्वारा दिए जा रहे दबाव को कांग्रेस बड़ी धूर्त्तता से टालती जा रही थी। इसी समय अखिल भारती किसान यूनियन स्थापित हुई जिसके प्रथम अधिवेशन की अध्यक्षता स्वामीजी ने अप्रैल 1936 ई० में लखनऊ में की। अखिल भारतीय किसान यूनियन के कार्यक्रम कांग्रेस एवं समाजवादियों की तुलना में कहीं अधिक प्रगतिशील एवं क्रांतिकारी थे। सम्भवतः इसी के फलस्वरूप किसान सभा एवं कांग्रेस के बीच विवाद क्रियाशील प्रतिनिधित्व के प्रश्न को लेकर 1936 ई० के उत्तरार्ध में बड़ी तीव्रता से गहराता चला गया।

लेजिसलेटिव एसेम्बली के चुनाव के अवसर पर भी टिकट एवं रकम वितरित करने के क्रम में प्रदेश कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने चुनावी कलावाजियाँ दिखानी शुरू कर दीं। कांग्रेस के प्रतिगामी तत्वों ने वामपंथियों एवं किसान नेताओं को जवर्दस्त शिकस्त दी। चुनाव अभियान में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करने वाले अनुग्रह नारायण सिंह ने भी स्वीकार किया कि घोषित कांग्रेसी उम्मीदवार अधिकाशतः जमीन्दार थे जो किसान आंदोलन के कारण कांग्रेस की ओर झुके थे। नव परिवर्तित राष्ट्रवादी जमीन्दारों के प्रति उदासीनता के वावजूद कांग्रेस को उन्हें भारी आर्थिक मदद के बदले टिकट देना पड़ा। स्वामीजी के लिए ऐसी गंदी राजनीति असाध्य थी। उन्होंने कांग्रेस कार्य-समिति की सदस्यता से इस्तीफा दे दिया। यद्यपि राजेन्द्र प्रसाद के समझाने एवं चुनाव पर इसके संभावित बुरे असर को ध्यान में रखते हुए उन्होंने इस्तीफा वापस ले लिया, फिर भी उन्हें एक झटका अवश्य लगा।[15]

फैजपुर अधिवेशन में अपनाए गए प्रावधिक भूमि-सम्बन्धी कांग्रेस ने चुनाव कार्यक्रम में हिस्सा लिया, जिसमें किसान सभा के सक्रिय सहयोग से इसे अभूतपूर्व सफलता मिली। किसान सभा की वदौलत ही इस चुनाव में बिहार के कुछ शरारती जमींदार को मुँह की खानी पड़ी।[16] निहित स्वार्थों एवं साम्राज्यवादी आधार को सुदृढ़ता प्रदान करने की नीयत से वनाए गए 1935 के भारत अधिनियम[17] के कारण कांग्रेस द्वारा सरकारी पदभार स्वीकार करने के सम्बन्ध में अपनी गम्भीर आपत्तियों[18] के वावजूद किसान सभा ने अंततोगत्वा यह सोचा कि सरकारी पदभार ग्रहण करने से किसान की समस्याओं का यथेष्ट निराकरण करने का एक अवसर मिलेगा।

यद्यपि कांग्रेस मंत्रिमण्डल द्वारा काश्तकारी कानून के प्रति प्रदर्शित दिलचस्पी ने जनाकांक्षाओं को उत्तेजित तो कर दिया, फिर भी किसान नेता शोषक एवं शोषित के परस्पर विरोधी हितों के बीच सामन्जस्य स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील दल से किसानों के अधिकार की रक्षा के लिए दृढ़ वचनवद्धता की अपेक्षा कर रहे थे। उधर कांग्रेस मन्त्रिमण्डल के पास किसानों के हित में अपने द्वारा पारित विधेयक को भी कार्यान्वित करने का मनोबल नहीं था। उदाहरण के तौर पर वकाश्त भूमि अधिनियम (1938) की कानूनी पेचीदगी एवं इसके लिए आवश्यक आर्थिक व्यय ने किसानों को और भी परेशान कर दिया जिसका लाभ जमीन्दारों ने भरपूर उठाया। बकाश्त कानून ने किसानों को राहत देने की जगह

जमीन्दारों के दमन-चक्र को एक नयी शक्ति प्रदान कर दी, जिसके फलस्वरूप बिहार में बकाश्त आन्दोलन उत्तेजित हो उठा ।[19]

जमीन्दार-कांग्रेस गठवंधन के कारण किसान नेताओं के सामने संघर्ष के अलावा कोई और विकल्प न रह गया। इस प्रकार बड़हिया में प्रारम्भ बकाश्त आन्दोलन पटना, शाहाबाद, दरभंगा, सारण एवं अन्य जिलों में फैल गया। सरकार ने बड़ी बेशर्मी के साथ गोरखा सैन्य पुलिस एवं घुड़सवार सैनिकों जैसे अंगरेजी राज के हथियारों का इस्तेमाल किसान आन्दोलन को दमित करने के लिए किया। राहुल साकृत्यायन, कार्यानन्द शर्मा, यदुनन्दन शर्मा जैसे किसान नेताओं के साथ बहुत से किसानों को कैद कर लिया गया और कुछ का तो सफाया भी कर दिया गया।

किसान नेता कांग्रेस की असफलता को उसके वर्ग चरित्र के आलोक में देखने लगे।[20] 6 नवम्बर 1938 को सिवान में एक किसान रैली को सम्बोधित करते हुए स्वामीजी ने कहा :

"कांग्रेस के सभी संघर्ष जनता द्वारा लड़े गए, जब पूँजीपति एवं जमीन्दार साम्राज्यवादी शक्तियों का साथ दे रहे थे। साम्राज्यवादियों से जब कोई आशा न रह गई, तब जमीन्दार एवं पूँजीपति कांग्रेस में शामिल होने लगे तथा इस पर अपना एकाधिकार स्थापित करने लगे।"[21]

क्रांतिकारी मार्क्सवाद से प्रभावित किसान आन्दोलन गाँधी सहित कांग्रेस नेतृत्व द्वारा फासीवादी तक करार किया जाने लगा। कांग्रेस सदस्यों को किसान सभा में भाग लेने से प्रतिबंधित कर दिया गया। कांग्रेस नेतृत्व के विरोध के बावजूद स्वामीजी के नेतृत्व में किसान आन्दोलन का प्रसार होता रहा और लगभग एक लाख किसानों ने गया में आयोजित अखिल भारतीय किसान सभा में भाग लिया।[22] कांग्रेस-सोशलस्टों से घनिष्ट सम्पर्क एवं मार्क्सवाद के गहन अध्ययन के कारण स्वामीजी कांग्रेस से पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद की दिशा में सोचने लगे, यद्यपि राष्ट्रवाद के हित में ऐसा नहीं किया गया।[23]

संक्षेप में, भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की परिधि में रखकर किसानों को संगठित करने के प्रयास को आंशिक सफलता ही मिल सकी, क्योंकि किसान असंतोष जनित करने वाले तत्व विशुद्ध राष्ट्रीय राजनीति की सीमा के बाहर रहने के साथ-साथ भूमि सम्बन्धी वर्गीय संरचना एवं ग्रामीण क्षेत्र में उभरते नए द्वन्द्वों के साथ भी घनिष्ट रूप से जुड़े हुए थे।[24] किसान आन्दोलन की अपनी अवश्यमभावी गत्यात्मकता एवं अनिवार्यता तथा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की नीतियों के बीच पनपती विसंगतियों ने कुछ पारिस्थितक विवशतायें उत्पन्न कर दीं। फलतः मात्र स्वामीजी ऐसे महान गाँधीवादी का क्रांतिकारी रूपांतरण ही नहीं हुआ, बल्कि भूमि-सम्बन्धी समस्यायों के प्रति सुधारवादी दृष्टिकोण रखनेवाली[25] कांग्रेस की अनुचरी बिहार प्रदेश किसान सभा के सैद्धान्तिक आधार भी परिवर्तित हो गए जो अब आर्थिक-सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन की माँग करने लगी।

□

संदर्भ-सूची :

1. Saraswati, Swami Shahjanand, The Origin and Growth of the Kisan Movements in India (Bihta), unpublished manuscript, cited in Das, Arvind N., (ed.) *Agrarian Movement in India* (London, 1982) p. 54.
2. Chaudhary, B. B., "Agrarian Movements in Bengal and Bihar 1919-1939", Desai, A. R. (ed.), *Peasant Struggles in India*, p. 348.
3. Sharma, K. K., Congress, Civil Disobedience and the Peasants, *Social Scientist*, No. 178, March, 1988.
5. Dhanagare, D. N., Peasant Movement in India, p. 227.
4. Datta, K. K., *History of Freedom Movement in Bihar*, Vol. II, p. 245.
6. Das, Arvind N. op. cit. p. III.
7. Prasad, Rajendra, *Autobiography*, p. 387.
8. The Searchlight, 12 May, 1933.
9. Government of Bihar and Orissa, Home Special, File No. 10 of 1934.
10. Saraswati; *Mera Jeewan Sangharsh*, pp. 418-21.
11. Singh, A. P., *Bihar Prantiya Kisan Sabha ki Rapat*, p. 546.
12. Fortnightly Report for the second half of March 1935.
13. Fortnightly Report for the second half of January 1936.
14. Tomlinson, B. R., *Indian National Congress and the Raj. Penultimate Phase*, 1929-1942 (London), pp. 77-78,
15. Saraswati, op. cit. pp. 479-81.
16. Ibid, p. 482.
17. *Amrit Bazar Patrika*, 27 February, 1937.
18. Chaudhary, B.B. op. cit., p. 363.
19. Swami, *The Other Side of the Shield*, p. 14.
20. Sharma, Yadunandan, Address of the Chairman, Reception Committee, All India Kisan Sabha, Fourth session, Gaya, 1939, p. 13.
21. *Amrit Bazar Patrika*, 12 January, 1938.
22. Ranga, N. G., Report of the General Secretary of the All India Kisan Sabha, 1939.

23. Rahul, A., *History of the All India Kissan Sabha*, pp. 53-54.
24. Dhanagare, D. N., op. cit. p. 227.
25. Hauser, walter, *The Bihar Provincial Kisan sabha, 1929-1942 : A Study oj An Indian Peasant Movement*, Ph. D. Thesis, University of Chichago, 1961, pp. 35-43.

24

नए भारत के नए नेता

—महापण्डित राहुल सांकृत्यायन

होश सँभालते ही जिसे योग, वैराग्य और वेदान्त ने अपनी ओर खींचा, जिसे मायामय संसार छोड़ अद्वैत ब्रह्म में लीन होने की एक समय बड़ी साध थी, किसको पता था कि वह संसार के सबसे उपेक्षित, शिक्षा संस्कृति में सबसे पिछड़े भारतीय किसानों को अपने पैरों पर खड़ा करने की प्रतिज्ञा लेगा। वह मेधावी बालक के तौर पर शिक्षा के जिस रास्ते पर जा रहा था, उससे वह विश्वविद्यालय का एक सम्मानित स्नातक बनता, कानून पेशा, वकील, सरकारी नौकर या प्रोफेसर बनता, मगर रास्ता एकाएक मुड़ा और वह दूसरे-भारतीय प्राचीन विद्या के रास्ते पर चला गया। वह विद्वान सन्यासी के तौर पर अपनी प्रौढ़ प्रतिभा और ब्यापक ज्ञान से एक सर्वमान्य सन्यासी सैकड़ों छात्रों और शिष्यों का गुरु होता, मगर ब्राह्मणों के मिथ्याभिमान ने व्यक्ति नहीं, एक गौरवपूर्ण जाति को अपमानित करना चाहा; और उसे बर्दाश्त नहीं कर सका। उसने अपने दण्ड को उठाया और कुछ ही सालों में भूमिहारों में वह भाव भर दिया कि ब्राह्मणों को अपनी शेखी छोड़नी पड़ी। लेकिन समय आया, जब उसकी तीक्ष्ण प्रतिभा ने बतलाया कि उसका कार्य क्षेत्र इतना संकुचित नहीं होना चाहिए, भूमिहार या ब्राह्मणों के मानने या न मानने से देश के आत्म-सम्मान का सवाल हल नहीं हो सकता और फिर असहयोग आंदोलन में पड़कर एक व्यापक क्षेत्र में अपनी शक्ति लगा दी। फिर एक समय आया जब कि राजनीति के भीतर भी जाँत-पाँत के नाम पर एक जाति ने दूसरी जाति को दबाना चाहा, उसके हृदय में भूमिहारों के लिए किए अपने काम की स्मृति से कुछ लोगों ने नाजायज फायदा उठाया, और एक बार फिर उसी संकीर्ण क्षेत्र में वह जाता दिखाई पड़ा। लेकिन उसका हृदय पीड़ित, गरीब जनता की मार्मिक व्यथा को सबसे पहले अनुभव करता और विचलित हो जाता। उसे इस षड्यन्त्र का पता लगते देर न लगी कि किस तरह सत्ताधारी धनिक, जात-पाँत के नाम पर, उसको भ्रम में डाल अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं। वह विस्तृत क्षेत्र में आया,

फिर जेल गया। वहाँ पक्के गाँधी-शिष्यों की करतूतों को देख कर उसके देह में आग लग गई।

राजनीतिक आन्दोलन में उसे कोई भी आशा नहीं रह गयी। जिसने योग-साधन, पवित्र जीवन और मोक्ष-प्राप्ति के लिए दर-दर ठोकरें खाई, वर्षों तकलीफें सही, उसके मन में इस तरह का भाव आना जरूरी था। वह सब को सन्त के रूप में देखने की आशा तो नहीं रखता था, मगर यह आशा जरूर रखता था कि गाँधीजी के विश्वसनीय भक्त कुछ ज्यादा ईमानदार होंगे। उसने अपने जानते राजनीति से सदा के लिए सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। वह नहीं जानता था कि उसके दिल में एक भारी कमजोरी है। वह गरीबों के ऊपर होते अत्याचार को सहन करने की शक्ति नहीं रखता। हुआ वही और तब वह नाव को डुबोंकर पहले पार उतर गया। भारत के किसान-आन्दोलन को उठाने और आगे बढ़ाने में जो काम उसने किया है वह सदा स्मरणीय रहेगा। वह व्यक्ति है—स्वामी सहजानन्द।

□

स्वामी सहजानन्द सरस्वती :
सामाजिक-राजनीतिक जागरण के अग्रदूत

खण्ड ख

लेखक-परिचय :

14. **त्रिवेणी शर्मा 'सुधाकर'** : आप स्वामी सहजानन्द सरस्वती विचार-मंच के महासचिव हैं। आपके कई पत्र-पत्रिकाओं में—**नौजवान, नवराष्ट्र, हुंकार, कृषक, जनशक्ति** में शोधपूर्ण निबन्ध प्रकाशित हो चुके हैं। स्वामीजी के किसान-आन्दोलन से आप जुड़े रहे हैं। तत्काल भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के राष्ट्रीय परिषद के सदस्य हैं। आपकी स्वामीजी पर निम्नलिखित पुस्तकें नई रोशनी प्रदान करती हैं : **जननायक स्वामी सहजानन्द सरस्वती, स्वामी सहजानन्द की विचरधारा, स्वामी सहजानन्द स्मृति ग्रन्थ** (सं) तथा **स्वामी सहजानन्द का वसीयतनामा** (सं)।

15. **प्रभाकर प्रसाद सिंह** : बिहार विश्वविद्यालय के बी० एम० डी० कॉलेज, दयालपुर के इतिहास विभाग में व्याख्याता हैं। आप अनेक शोध-निबन्धों के प्रशंसित लेखक होने के साथ-साथ **भारतीय इतिहास लेखन : एक अन्तराष्ट्रीय विवाद; मार्क्सवादी इतिहास लेखन : एक बहस, इतिहास-लेखन में आंचलिकता** पुस्तकों के सह-लेखक भी हैं। **अनक्लासिफायड कलास औप्रेशन अन्डर दी क्राउन** नामक पुस्तक के संयुक्त सम्पादक हैं तथा शीघ्र ही **राइज एण्ड ग्रोथ आफ कम्यूनलिजम इन बिहार** (1905-1921) विषयक शोध-प्रबन्ध बिहार विश्वविद्यालय में पी० एच० डी० हेतु दाखिल करने जा रहे हैं।

16. **प्रोफेश्वर कौलेश्वर राय** : पी० एच० डी० और डी० लिट्० के साथ-साथ अनेक शोध-निबन्ध और पुस्तक के लेखक भी हैं। प्रो० राय

अभी मगध विश्वविद्यालय के एच०डी० जैन कॉलेज; आरा, के इतिहास के स्नातकोत्तर विभाग के अध्यक्ष हैं।

17. **दशरथ तिवारी :** बिहार विश्वविद्यालय तथा कामेश्वर सिंह संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा, में अंगरेजी के व्याख्यता रह चुके हैं। अनेक शोधपूर्ण निबन्ध आपने प्रकाशित कराया है। संप्रति बिहार सरकार की शिक्षा-सेवा में बिहार माध्यमिक शिक्षा बोर्ड के उपसचिव हैं।

18. **प्रोफेसर उपेन्द्र नारायण सिंह :** ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय के सहरसा कॉलेज में इतिहास के स्नातकोत्तर विभागाध्यक्ष हैं। आप पी०एच०डी० के साथ-साथ अनेक पुस्तकों एवं शोध-निवन्धों के लेखक हैं।

19. **वीरेन्द्र प्रसाद सिंह :** बिहार सरकार के राज्य अभिलेखागार निदेशालय में पुराभिलेखपाल के पद पर कार्यरत हैं। इतिहास में एम० ए० के साथ-साथ वी० एड०, एल० एल० वी० तथा डिप्लोमा इन आरकाईव्स स्टडीज की डिग्री भी प्राप्त की हैं। पूर्व में आई० सी० एच० आर० प्रोजेक्ट में सोर्सेज आफ दी हिस्ट्री आफ माडर्न बिहार विषय पर शोध-सहायक के रूप में कार्य कर चुके हैं।

20. **रेणु शर्मा :** कई शोधपूर्ण लेखों की लेखिका के साथ-साथ **स्वामी सहजानन्द और बिहार का किसान आन्दोलन** मौलिक शोध प्रवन्ध के लिए पी० एच० डी० की डिग्री बिहार विश्वविद्यालय से आपने प्राप्त की है।

21. **अरूण कुमार राय :** बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से अभी-अभी इन्हें भारतीय किसान आन्दोलन में **स्वामी सहजानन्द सरस्वती का योगदान** विषय पर मौलिक शोध प्रवन्ध लिखने के लिए पी० एच० डी० की डिग्री मिली है। आप स्वामी सहजानन्द सरस्वती शताब्दी समारोह समिति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, के संयोजक हैं।

22. **पशुपति कुमार :** बी०एम०डी० कॉलेज, दयालपुर, में राजनीति विज्ञान के रीडर एवं विभागाध्क्ष हैं। आपका पी० एच० डी० शोध-प्रबंध **स्वामी सहजानन्द सरस्वती का राजनीतिक आदर्श** है।

23. **कौशल किशोर शर्मा :** बिहार विश्वविद्यालय के लंगट सिंह कॉलेज में इतिहास विभाग के रीडर के पद पर कार्यरत हैं। आपका पी० एच० डी० शोध प्रवन्ध **एग्रेरियन मूवमेंटस इन बिहार** शीर्षक से प्रकाशित हो चुका है। अनेक शोधपूर्ण निबन्ध के प्रशंसित लेखक हैं।

24. **महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन :** अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के इस महापुरुष के परिचय की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती है।

□

25

जनवादी विज्ञान का वर्ग-चित्रण

—महेश राय

मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में गोता लगाते मस्तिष्क एवं दिल की धड़कनों में गीता की आध्यात्मिकता संजो के रखनेवाले व्यक्ति का वैचारिक वाङ्मय तो भारतीय परिवेश में यथार्थ, व्यावहारिकता और आदर्श का मिलन-बिन्दु बन ही जाएगा। गायत्री के पावन जप के साथ समाजवादी क्रांति के कठोर तप के लिए समर्पित स्वामीजी के व्यक्तित्व में धर्म एवं विज्ञान के सहज ही अन्तर्गुम्फित हो जाने की अत्यधिक गुन्जाइश थी। किसी कन्दरा में मृगछाले पर आसीन हो तप साधना में लीन योगी से भिन्न स्वामीजी ने सामाजिक समस्यायों से जूझकर ही अपने सन्यास को और अधिक सुदृढ़, परिष्कृत एवं व्यापक बनाया। जिस प्रकार कोई वैज्ञानिक वस्तुपरक विश्लेषण एवं प्रयोग के आधार पर किसी सिद्धान्त को निरुपित करता है उसी प्रकार स्वामीजी ने समाज, राजनीति, धर्म, जाति, व्यक्ति आदि के सम्बन्ध में अपनी जीवन-यात्रा में प्राप्त अनुभवों को राग-द्वेष से परे होकर बेबाक कह डाला। इस प्रकार वे एक वैज्ञानिक कहे जा सकते हैं।

अगले तथा इस अध्याय के विवरण से यह स्पष्ट होगा कि स्वामीजी वैज्ञानिक विकास की धारा को साम्राज्यवाद-सामन्तवाद विरोधी संघर्ष की दिशा में प्रवाहित करने के साथ-साथ इसे किसान विकासोन्मुखी भी बनाना चाहते थे। उनकी तरह धर्म-समाज सुधारक एवं आध्यात्मिक चिन्तन के विज्ञान-सम्बन्धी विचारों की व्याख्या करने के पूर्व कुछ बिन्दुओं पर प्रकाश डालना आवश्यक है। प्रथम, यह कि धर्म, दर्शन, विज्ञान आदि के पारस्परिक सम्बन्ध सामान्य तौर पर मानव-इतिहास में एवं विशेष तौर पर आधुनिक भारतीय इतिहास में कैसे रहे हैं? दूसरा यह कि आधुनिक भारत में वैज्ञानिक प्रगति का वर्ग-चरित्र कैसा था? तीसरा यह कि आधुनिक भारत की वैज्ञानिक प्रगति के प्रति किसान समुदाय की संवेदनशीलता का चरित्र कैसा था तथा यह किस हद तक उनको लाभान्वित कर पाई?

यह स्पष्ट है कि सामाजिक विकास की प्रक्रिया में तकनीक, विज्ञान, परम्परा, धर्म एवं दर्शन के बीच सभ्यता के अभ्युदय काल से ही एक जटिल अन्तस्क्रिया भी होती रही है।[1] समाज में विज्ञान सर्वप्रथम परम्परा एवं धर्मविधि के रूप में मूर्त ही नहीं हुआ,[2] बल्कि मध्यकालीन यूरोप में विज्ञान एवं तकनीक के उदय एवं लूथर, काल्बिन आदि के नेतृत्व में चल रहे धर्म-सुधार आन्दोलनों के बीच एक समकालिकता भी देखने को मिलती है। सम्भवतः कोपरनिकन पद्धति तभी मान्य हो सकी जब कैथोलिक चर्च ईसाई धर्म का एक मात्र केन्द्र नहीं रह गया।[3] यह

ध्यान देने योग्य है कि कैथोलिक पुरोहिती विचारधारा सामन्तवादी समाज की शासकीय विश्वदृष्टि थी जिसके प्रभुत्व के विरुद्ध 17वीं शताब्दी के इंगलैंड में प्रोटेस्टेंट काल्विनवाद ने बुर्जुआ क्रांति को तैयार भी किया तथा इसका नेतृत्व भी किया। इस प्रकार धर्म सर्वदा प्रतिक्रियावादी शक्तियों के हथियार के रूप में इस्तेमाल नहीं किया गया है, बल्कि इसकी प्रगतिशील व्याख्या क्रांतिकारी आन्दोलनों में उत्प्रेरक का भी काम करती है।[4]

इसके अलावा यह भी स्मरणीय है कि विज्ञान एवं धर्म द्वारा अपनाए गए मार्गों की भिन्नता के बावजूद दोनों ही ज्ञान की खोज, अन्याय की समाप्ति एवं मानव-समाज के विकास के उद्देश्यों से मूलतः अनुप्राणित हुए हैं।[5]

आधुनिक भारतीय परिप्रेक्ष्य में भी धर्म-परम्परा एवं विज्ञान-तकनीक के बीच के सम्बन्ध प्रेम-घृणा के द्वैधभाव से प्रभावित हुए। ब्रिटिश सत्ता द्वारा भारत में प्रवर्तित नयी संस्थाओं, शिक्षा, तकनीक एवं उनके द्वारा स्थापित नए मूल्यों के परिणामस्वरूप यहाँ की परम्परागत सामाजिक संरचनाओं में मूलभूत एवं अप्रत्याशित परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई।[6] नयी शिक्षा पद्धति के एक अंग के रूप में ही विज्ञान एवं तकनीक का प्रसार होने लगा। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरोध के प्रभाव में यहाँ के एक तबके ने विज्ञान की शिक्षा को धर्म-विरोधी करारते हुए अस्वीकार कर दिया।[7] वैज्ञानिक प्रगति के प्रति रूढ़िवादी शक्तियों की प्रतिक्रिया ईश्वरचन्द विद्यासागर द्वारा 19 वीं सदी के मध्य में कहे गए निम्नलिखित शब्दों से स्पष्ट होती है :[8]

"हाल में भारत, विशेषतः कलकत्ता एवं उसके पड़ोस के विद्वानों में एक यह प्रवृत्ति देखने को मिलती है कि जब वे किसी उस वैज्ञानिक सत्य से परिचित होते हैं जिसके आद्यावशेषों को वे अपने शास्त्रों में खोज सकते हैं, तब उस सत्य के प्रति आदर दिखाने के बदले वे विजयोल्लसित महसूस करने लगते हैं और अपने शास्त्रों के प्रति उनका अन्धविश्वासी सम्मान दोगुना हो जाता है।"

इसके विपरीत वैकल्पिक दर्शन की तलाश में संलग्न भारतीय अभिजात एवं मध्यम वर्गीय मस्तिष्क ने आर्थिक-सामाजिक रूपांतरण की प्रक्रिया के अनुरूप अपनी धार्मिक परम्परागत मान्यताओं को ढालने के प्रयास में इनका पुनर्मूल्यांकन प्रारम्भ कर दिया, जो 19वीं शताब्दी के धर्म-समाज सुधार आन्दोलन के रूप में प्रतिफलित हुआ।[9] राम मोहन, दयानन्द, परमहंस, विवेकानन्द, बालगंगाधर तिलक, अरविन्द घोष आदि के द्वारा प्रस्तुत धर्म की प्रगतिशील व्याख्यायों में भारत में उदीयमान मध्यम वर्गीय विचारधारा एवं उसके प्रभाव में विकासशील राष्ट्रीय चेतना प्रतिध्वनित है।[10] सामन्तयुगीन रूढ़िवादी एवं प्रतिक्रियावादी धार्मिक मान्यताओं के विपरीत उदीयमान पूँजीवाद से प्रभावित 19वीं शताब्दी के प्रगतिशील धार्मिक चिन्तन वैज्ञानिक उपलब्धियों से लाभान्वित होने के साथ-साथ अपनी धार्मिक मान्यताओं को भी आवश्यकतानुसार बदलना चाहते थे। वेद को ज्ञान ही नहीं, बल्कि आधुनिक विज्ञान का भी भंडार माननेवाले स्वामी दयानन्द[11] भी इस बात के कायल थे कि विज्ञान की मदद से ही मानव प्राकृतिक संसाधनों का शोषण कर अपनी स्थिति और बेहतर बना सकता है।[12] जैसा कि अगले तीन

अध्यायों में व्यक्त स्वामीजी की विचारधारा से स्पष्ट होगा। वास्तव में, आधुनिक भारतीय परिप्रेक्ष्य में आधुनिकीकरण एवं परम्परा के बीच का विरोध दिखावटी ही रह गया, क्योंकि आधुनिकीकरण के तहत आर्थिक-सामाजिक रूपांतरण की चल रही प्रक्रिया में परम्परागत मूल्यों पर आधारित भारतीय सामाजिक व्यवस्थायें सहायक सिद्ध होने लगीं।[13]

धर्म एवं विज्ञान, परम्परा एवं परिवर्तन के बीच चल रहे द्वन्द्वों एवं अन्तःक्रिया के प्रति स्वामीजी जैसा राष्ट्रवादी एवं प्रगतिशील चिंतक संवेदनाशून्य कैसे रह सकता था ? भारतीय पुनर्जागरण के चिंतकों की भाँति ही उन्होंने वैज्ञानिक प्रगति की जोरदार वकालत की। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा :[14]

"हमें आज लाखों-करोड़ों इन्जीनियरों, मिस्त्रियों, डाक्टरों आदि की आवश्यकता है, हर चीज के लिए लक्ष-लक्ष विशेषज्ञों की जरूरत है। लेकिन यदि बच्चे के दिमाग को अच्छी तरह विकसित होने न दिया गया तो आगे का रास्ता बन्द समझिए।"

उपर्युक्त कथन में वैज्ञानिक विकास के प्रति अभिव्यक्त राष्ट्रवादी एवं प्रगतिशील विचार के सही मूल्यांकन के लिये आवश्यक है—वैज्ञानिक प्रगति के वर्ग-चरित्र को समझना, विशेषतः भारतीय संदर्भ में। यह सत्य है कि वैज्ञानिक सिद्धान्त का कोई वर्ग-चरित्र नहीं होता है, परन्तु सामाजिक विकास के क्रम में जब उस सिद्धांत को कार्यान्वित किया जाता है, तब वह वर्गीय राग-द्वेष से परे नहीं रह जाता है। लौह—निर्मित कुलहाड़ी की बदौलत जीवन-यापन करनेवालों के वंशजों को ब्रह्मांड में उपग्रह नियन्त्रित करने में सक्षम बना देने वाले वैज्ञानिक आविष्कार एवं चिन्तन की सम्पूर्ण प्रक्रिया प्रत्येक युग में समाज के सत्तासीन एवं प्रभावशाली वर्गों के हितों द्वारा ही निर्धारित हुई है।[15] वास्तव में, ज्ञान के उत्पादन का इतिहास वर्ग-संघर्ष के इतिहास से न तो परे है और न अलग ही।[16]

भारत में भी ब्रिटिश सत्ता द्वारा प्रारम्भित पाश्चात्य विज्ञान एवं आधुनिक शिक्षा का मुख्य उद्देश्य था—औपनिवेशिक अर्थ-तन्त्र एवं साम्राज्यवादी प्रशासन के हित में कार्यरत एक वफादार शिक्षित मध्यम वर्ग पैदा करना।[17] भारतीयों को तकनीकी-वैज्ञानिक शिक्षा प्रदान करना अपने आप में कोई लक्ष्य नहीं था, बल्कि विशेष हितों को प्राप्त करने का साधन मात्र था। भारत में विज्ञाम के क्षेत्र में ब्रिटिश शासन अन्वेषकों का नहीं, बल्कि नक्कालों की कतार खड़ा करना चाहता था। यही कारण है कि भारतीयों को विज्ञान की मुख्यधारा से जान-बूझकर अलग रखा गया। निस्सन्देह औपनिवेशिक प्रकृति एवं रंग-भेद चेतना ने भारत में आधुनिक विज्ञान के विकास एवं प्रसार को निस्तेज कर दिया।[18]

वैज्ञानिक विकास की साम्राज्यवादी अभिप्रेरणाओं एवं उनके अनुरूप भारतीय मध्यम वर्ग की प्रतिक्रिया के बावजूद यह भी सत्य है कि 1870-1914 की अवधि में सुधारवादी धर्म, प्रयोगाश्रित विज्ञान एवं उदीयमान राष्ट्रवाद के सान्निध्य ने उन्हें विरोधात्मक स्थिति में नहीं बल्कि परस्पर अन्तर्वेधित कर दिया जो तत्कालीन राजनीतिक संघर्ष में प्रतिबिम्बित होने लगे। उदीयमान राष्ट्रवाद के प्रभाव में विज्ञान भारतीय बुद्धिजीवियों की राजनीति का एक अंग बन गया। यह

कहना गलत न होगा कि भारतीय स्वतन्त्रता की ब्रिटिश मान्यता की शुरूआत 1947 से नहीं, बल्कि 1914 में आयोजित प्रथम इण्डियन साइन्स कांग्रेस से होती है।[19] स्वामीजी के उपर्युक्त कथन में भी औपनिवेशिक निर्भरता का मार्ग प्रशस्त करने हेतु वैज्ञानिक विकास का आह्वान किया गया है।

स्वामीजी के विज्ञान से सम्बद्ध चिन्तन को समझने के लिए यह आवश्यक है कि जिस सामाजिक परिवर्तन के लक्ष्य की ओर वे बढ़ना चाहते थे उसकी प्राप्ति में विज्ञान की अहं भूमिका की बात की गई थी। प्रोफेसर स्पूनर की पुस्तक 'वेल्थ फ्रॉम वेस्ट' में लॉर्ड लिवरहम की भूमिका से अपनी सहमति प्रकट करते हुए स्वामीजी ने स्वीकार किया कि "विज्ञान ने अबतक जितने साधन हमें दिये हैं, उनके बल से सभी लोगों—हरेक की—भोजन, घर, कपड़े अदि की जरूरतों को पूरा किया जा सकता है यदि हममें हर आदमी स्कूल जाने की उम्र से लेके बुढ़ापा आने के पहले तक हफ्ते में केवल एक घंटा काम करें।"[20]

इंजीनियर जे० एल० हॉगसन को अपने तर्क के साक्ष्य के रूप में रखते हुए स्वामीजी ने स्वीकार किया कि विज्ञान की प्रगति से इतना तकनीकी ज्ञान बढ़े हैं कि "प्रति सप्ताह पन्द्रह बीस मिनट काम कर देना ही मानव समाज की सभी जरूरी चीजों के पैदा कर देने के लिए काफी हैं। इसीलिए समाजवाद और साम्यवाद के युग में हमें शेष समय में अपनी सर्वतोमुखी उन्नति करने, दिल-दिमाग को पूर्ण विकसित बनाने और कल एवं विज्ञान को चरम-सीमा पर पहुँचाने का पूरा अवसर मिल सकता है। हम इतनी प्रगति कर सकते हैं कि बीमारियों की जड़ ही खत्म कर दें, मौत को भी मिटा दें, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि को होने दें ही न और आकाशस्थ अन्य ग्रह-उपग्रहों के साथ आवागमन जारी कर दें। यह बात विज्ञान के लिए असम्भव नहीं जान पड़ती।"[21]

स्वामीजी की विज्ञान के प्रति इस अटूट निष्ठा ने उनकी विज्ञान की उपलब्धियों से सम्बन्धी अधिकांश भविष्यवाणियों को संपुष्ट कर दिया है। उनकी समस्या यह थी कि विज्ञान के चरम विकास की संभावना उन्हें समाजवादी सामाजिक व्यवस्था में ही परिलक्षित होती थी। इसलिए वे सर्वहारा क्रांति के माध्यम से समाजवाद स्थापित करने के पक्षधर थे और उनकी मान्यता थी कि उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पूँजीवादी या कृषक क्रांति [22] आवश्यक है जिसमें सान्तशाही को खत्म करने के पूँजीवादी प्रयास में सर्वहारा वर्ग को भी उनके पक्ष में सहयोग देना होगा: स्वामीजी के निम्नलिखित वक्तव्य वर्णित निष्कर्ष को संपुष्ट करते हैं :[23]

"सर्वहारा क्रांति की सफलता के लिए जिस दल के कुशल नेतृत्व की जरूरत है, वह है वही सर्वहारा और उसका पूर्ण विकास विना निरंकुश पूँजीवाद के हो सकता ही नहीं। जैसे-जैसे पूँजीवाद बढ़ता है वैसे-वैसे सर्वहारा वर्ग संगठित और मजबूत बनता जाता है। इसीलिए पूँजीवादी क्रांति के बिना सर्वहारा क्रांति होई नहीं सकती। वह अनिवार्य है।

"पूँजीवादी क्रांति के जरिये उत्थान के साधनों का पूरा प्रसार करके हम समाजवादी क्रांति का रास्ता साफ करते हैं। जैसे दधीचि की अस्थि की जरूरत

इन्द्र को हुई, वैसी ही समाजवाद और साम्यवाद को इन अत्यन्त समुन्नत उत्पादन-साधनों की जरूरत है। इनके बिना काम चल नहीं सकता····जितने ही पिछड़े मुल्क में सर्वहारा या समाजवादी क्रांति होगी उतनी ही हमारी दिक्कतें बढ़ेगी। क्योंकि नये सिरे से सभी कल-कारखानों, वैज्ञानिक खेती आदि का संगठन भगीरथ प्रयत्न के बिना हो नहीं सकता।"

इसी यथार्थवादी और सैद्धांतिक पृष्ठभूमि में स्वामीजी के विज्ञान के प्रति सकारात्मक रूझान और आस्था का मूल्यांकन किया जा सकता है।

□

संदर्भ-सूची :

1. For details see Bernal, J. D., *Science in History*, 4 vols. (1969 Pelican).
2. Ibid, Vol. 1, p. 3.
3. Rahman, A. (ed.), *Science and Technology in Indian* Culture (New Delhi, 1984), p. 39.
4. Brodov, V., Indian Philosophy in Modern Times, (Moscow, 1984), p. 17
5. Rahman, A., op. cit., p. 38.
6. Marx, K., "The British Rule in India", in Marx, K., Engels, F., *Collected Works*, (Moscow, 1979), Vol. 12, p. 126; Jordens, J. T. F., "Hindu Religious and Social Reform in British India," in Basham, A. L. (ed.), A *Cultural History of India* (Delhi, 1983), p. 365; Desai, A. R., *Social Background of Indian Nationalism*, (Hindi, New Delhi, 1977), pp. 24-29; Saran, A. K., "Western Impact on Indian Values" in Thapar, Romesh (ed.), Tribe, Caste and Religion in India (Delhi, 1977), p. 121.
7. Rahman A., op. cit., p. 32.
8. Quoted by Haldar, M. K., "Hindu values : Myth and Reality" in Thapar, Romesh, op. cit., p. 114.
9. Spear, P, A *History of India*, (Penguin, 1977), pp. 158-168; Misra, B.B., *The Indian Middle classes*, (New Delhi, 1978),

p. 16; Jordens, J. T. F., op. cit., pp. 365-382; Desai, A. R., op. cit, pp. 191-192. For some details about religious reforms see, Baird, Robert D., *Religion in Modern India* (New Delhi, 1981).

10. Brodov, V., op. cit., pp. 35-36, 168, 180, 189.
11. Baird, Robert D., op. cit. p. 179.
12. Brodov, V., op. cit. p. 182.
13. See Rudolph & Rudolph, *The Modernity of Tradition* (Orient Longman, 1967), pp. 3-64, Ganguly, S. N., *Tradition, Modersity and Development*, (Macmillan, 1977), pp. 43-59.
14. सरस्वती, बिहार प्रांतीय किसान सम्मेलन, 16वाँ अधिवेशन, ढकाइच, 1949, पृ०-8-9.
15. Bernal, J. D.. op.cit., pp. 34, 49-50. Also see *Social Scientist*, March-April, 1989, Nos. 190-191, pp. 3-12.
16. Habib, Irfan and Raina, Dhruv "Copernicus, Colombus, Colonialism and the Role of Science in Nineteenth Century India" in Social Scientist, op. cit., p. 49.
17. Misra, B. B., op. cit. p. 152, Jayaram, N., "Colonial Legacy, Neo-colonial Dependency" in *Mainstream*, April 27, 1985, pp. 19-23.
18. Sangwan, Satpal, "Science Policy of the East India company" in Rahman, A., op., cit., pp. 170-180, Mahajan, S. M. and Sudarshan, E.C.G. "The Indian scientist : Some Reflections" in *Mainstream*, May 4, 1985, pp. 24-27.
19. *Social Scientist*, op. cit, pp. 50-65.
20. सरस्वती, स्वामी सहजानन्द; **क्रांति और संयुक्त मोर्चा**, पृ०-125-26.
21. वही, पृ०-126.
22. इस संकलन के अध्याय 37 को देखें ।
23. सरस्वती, उपर्युक्त, पृ०-127-28.

26

किसानोन्मुखी विज्ञान

—तेज नारायण सिंह

स्वामीजी वैज्ञानिक विकास की धारा को किसानोन्मुखी बनाना चाहते थे। यह उल्लेखनीय है कि साम्राज्यवादी-सामन्तवादी गठबंधन के परिणामस्वरूप किसानों के व्यापक शोषण-दमन[1] की चल रही प्रक्रिया ने बीसवीं सदी तक आते-आते उनकी स्थिति अत्यन्त ही दयनीय बना दी थी। इसके अलावा वैज्ञानिक विकास के प्रति किसानों द्वारा प्रदर्शित ग्रहणशीलता के बावजूद कृषि-विज्ञान के विकास के प्रति ब्रिटिश शासन द्वारा अपनाई गयी उपेक्षापूर्ण नीति[2] अंग्रेजी भाषा में प्रदत्त वैज्ञानिक शिक्षा[3] आदि कारणों ने किसान-समुदाय को वैज्ञानिक शिक्षा के लाभ से वंचित कर रखा था। प्रथम विश्व युद्ध के बाद राष्ट्रवादी आन्दोलनों में किसानों की भागदारी ने उन्हें मजबूती एवं व्यापकता तो प्रदान की, परन्तु उनके विकास की गति में कोई स्पष्ट परिवर्तन न आया। इस संकलन के बहुतेरे लेखों से स्पष्ट हैं कि स्वामीजी के प्रधान कार्यक्षेत्र बिहार में किसानों की स्थिति और भी दयनीय थी।

पिछले अध्याय की पृष्ठभूमि में स्वतंत्र भारत में भी स्वामीजी के अग्रलिखित प्रिय नारे के प्रति प्रतिबद्धता को समझा जा सकता है :[4]

> "जो अन्न-वस्त्र उपजायेगा, अब सो कानून बनायेगा।
> भारतवर्ष उसी का है, अब शासन वहीं चलायेगा।
> किसान सभा—जिन्दाबाद! मजूर सभा—जिन्दाबाद!
> किसान—मजूर राज्य—जिन्दाबाद, जय किसान, जय मजूर!"

सामाजिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन लाने और सर्वहारा क्रांति तक पहुँचने के लिए किसान और उनकी मदद में विज्ञान की, स्वामीजी की दृष्टि में, अहं भूमिका थी। उनका स्पष्ट मत निम्नलिखित था :[5]

"जमीन्दारी मिटाने की बात से जो लोग घबराते हैं, उन्हें भूलना न चाहिए कि जमीन का एक ही काम है कि मुल्क के सभी लोगों को सुन्दर खाना दे और कारखानों के लिए पूरा कच्चा माल पैदा करे। आवश्यकता भर गेहूँ, बासमती, साग-भाजी, फल-मेवे और घी-दूध जब तक न पैदा हो, स्वराज्य क्या—किसान-मजदूर राज्य क्या? अगर लाखों कारखानों के लिए कच्चा माल न पैदा हो तो मुल्क का काम कैसे चलेगा?....जमीन के ऊपर से व्यक्ति-विशेष की मिल्कियत हटाकर उसे खेती करने वालों के हवाले कर देना और उन्हें विश्वास दिला देना है कि खूब अन्न आदि उपजाओ, स्वयं डटकर खाओ, पीओ, भोगो

और जो बचे उनमें से सरकार को दो—समाज को दो। जमीन की उपज आज से कई गुना किये बिना काम न चलेगा और यह बात असंभव है जब तक मोटर के हलों से खूब गहरी जुताई, काफी सिंचाई, भरपूर खाद और अच्छे बीजों का प्रबन्ध सरकार खुद नहीं करती। इसीलिए हमें एक ओर फौरन ऐसी सरकार बनानी है जो किसानों मजदूरों की अपनी हो, जिसका इनके साथ दिली अपनापन हो, जिसे ये समझ कि वास्तव में हमारी है। दूसरी ओर सभी मिल्कियतों को जमीन के ऊपर से फौरन मिटा देना है ताकि किसान जमीन को भी सरकार की ही तरह अपनी समझने लगें, यह उनकी अपनी हो जाय।

"इसी के साथ खेतों की बीच वाली सीमाओं और मेंड़ों को भी मिटा देना है, तभी ट्रैक्टरों से खेती होगी। नन्हें-नन्हें खेतों में ट्रैक्टर चल नहीं सकते। हर गाँव में इन मेड़ों के मिटाने से पचासों बीघे जमीन और भी निकल आयेगी। अगर खाद, सिंचाई, जुताई आदि की पूरी सुविधा होगी तो किसान पैदावार काफी बढ़ायेगा।"

ऐसी ही परिस्थिति में स्वामीजी कृषि के लिए ट्रैक्टर के इस्तेमाल, कृषि-सहकारी समितियों के गठन की बात करते हैं और कृषक लोक जैसी पत्रिका से निकट का संपर्क बनाते हैं। वे किसानों को राजनैतिक विकास की मुख्य धारा से ही नहीं बल्कि वैज्ञानिक बिकास की मुख्य धारा से भी जोड़ना चाहते हैं। वैज्ञानिक उपकरणों के इस्तेमाल की बदौलत आर्थिक विकास तक ही स्वामीजी नहीं रूकते। उनका तो मानना है कि कृषि में उत्पादन मन्त्र एवं जप के द्वारा नहीं, बल्कि मेहनत के द्वारा हो सकता है। फसल में लगे कींड़े को मारने के लिए दवा की आवश्यकता पड़ती है, न कि किसी धार्मिक अनुष्ठान की।[6] स्वामीजी पशु पक्षी और पेड़-पौधों को भी संकरण से नस्ल सुधार कर खाद्यान्न के निरन्तर बढ़ती माँगों की पूर्ति की बात करते थे। इस सम्बन्ध में उनका निम्नलिखित मन्तव्य द्रष्टव्य है :[7]

"आज तो पशु-पक्षियों और पेड़-पौधों में सम्मिश्रण के जरिये नयी-नयी नस्लें पैदा की जा रही हैं जो हमारी बढ़ती हुई जरूरतों को पूरा कर रही हैं। पुराने पशु-पक्षी और पेड़-पौधे इस वात के लिए नाकाबिल सिद्ध हो चुके हैं कि अव हमारी जरूरतों को पूरा कर सकें।"

यह ज्ञातव्य है कि इस तरह की वैज्ञानिक प्रक्रियाओं से अधिकांश लाभ उठाने में साम्राज्यवादी तथा सामन्ती शोषणात्मक व्यवस्था बाधक सिद्ध हो रही थी। इसकी मार्मिक स्थिति का निम्नलिखित चित्रांकन प्रस्तुत किया गया है :[8]—
"कोशी की धारा जिधर जाती है, मलेरिया का प्रकोप होता है··· इसी से जंगल तैयार होता है और मच्छरों की फौज पैदा होती। उस पानी में एक प्रकार का धान बोया जा सकता है, मगर उस पर आफत यह होती है कि जब धान में बालें लगती और पकती हैं तो रात में जल वाले पक्षियों का गिरोह लाखों की तादाद में आकर खा डालता है········· सैकड़ों-हजारों आदमी सारी रात जगते तथा हू-हू करते रहें, तब कहीं जाके शायद पिण्ड छूटे। किन्तु आश्चर्य तो यह है कि जमीन्दार उन्हें ऐसा करने ही नहीं देते····नौगछिया के जमीन्दार भूपेन्द्र नारायण

सिंह को चिड़िये के शिकार का बड़ा शौक है। खुद तो खुद, दूर-दूर से दोस्त और सरकारी अफसर भी निमंत्रित किये जाते हैं····अब यदि कहीं किसान ने उन्हें उड़ाना शुरू किया अपनी फसल बचाने के लिए, तो जमीन्दार साहब और उनके दोस्त शिकार कैसे खेलेंगे ? यही कारण है कि किसानों को सख्त मनाही है कि चिडियों को हर्गिज रात में या दिन में उड़ाये न। कैसी नवाबी और ताना-शाही है ?"

इसी तरह की एक दूसरी करूण कहानी का वर्णन इस सन्दर्भ में आवश्यक है कि फसल और जान की बर्बादी को रोकने के अभियांत्रिक प्रयास को कैसे बाँध काटने की मनाही कर विफल किया जा रहा है तथा वैज्ञानिक विकास को उल्टी दिशा में अपने शौक-मौज और आर्थिक दोहन के लिए किया जा रहा है। एक भुक्त भोगी के शब्दों में दरभंगा महाराज द्वारा सताये जाने का निम्न वर्णन हृदय-द्रावक हैं :[9]

"मैं मैथिल ब्राह्मण हूँ और महाराजा का सताया हूँ। मेरे गाँव (मधुबनी) में बाढ़ का पदार्पण रह-रहके होता रहता है जिससे हमारी फसलें, झोपड़ें और मकान भी डूब जाते हैं····गिर जाते हैं। पानी रोकने के लिए जगह-जगह बाँध बने हैं। यदि वे फौरन काट दिये जायँ तो चटपट पानी निकल जाय और हम, हमारे पशु, हमारी खेती—सभी बच जायँ। मगर हम ऐसा नहीं कर सकते। महाराजा की सख्त मनाही है···यदि पानी बह जाय तो मछलियाँ कैसे पैदा होंगी ? जितनी ही ज्यादा दूर तक पानी रहेगा, सो भी देर तक जमा रहेगा, उतनी ही अधिक मछलियाँ होंगी और उतनी ही अधिक आमदनी महाराजा को जलकर से होगी। सिंघारे वगैरह से भी आय होगी ही।"

स्वामीजी विज्ञान के प्रति एक वैसी दृष्टि विकसित करना चाहते थे जो मात्र वैज्ञानिक ज्ञान के प्रसारण से नहीं बल्कि उत्पादन प्रक्रिया के तहत व्याप्त विचार-पद्धतियों एवं सामान्य-बुद्धि में योजनाबद्ध समावेशन से ही सार्थक होती है।[10] भारतीय सन्दर्भ को ध्यान में रखकर एक समाजशास्त्री ने ठीक ही कहा है[11] कि "पाश्चात्य तकनीक के परिचालन का यह अर्थ नहीं है कि परिचालक ने युक्तिमूलक एवं वैज्ञानिक विश्व-दृष्टि स्वीकार कर ली है····दशहरा (विश्वकर्मा) के उत्सव पर औजारों एवं मशीनों की पूजा यह दर्शाती है कि परम्परागत ऐंद्रजालिक धार्मिक विश्वासों का आधुनिक तकनीक की दुनिया में समावेश हो गया है।"

स्वामीजी एक जनवादी वैज्ञानिक आन्दोलन का प्रतिनिधित्व कर रहे थे, क्योंकि वे विज्ञान के विकास को समाज के शोषित बहुमत तक पहुँचाना चाहते थे। उनके जैसे आध्यात्मिक चिंतक का विज्ञान के प्रति ग्रहणशील दृष्टिकोण किसी सैद्धांतिक विकृति का नहीं, बल्कि उनके मानसिक क्षितिज की व्यापकता का परिचायक है। इस लक्ष्य की पूर्ति में स्वामीजी ने स्पष्ट तौर पर साम्राज्यवादी-सामन्ती गठबन्धन को अपने-अपने वर्ग-हित में प्रतिगामी भूमिका अदा करते देखा।

◆

संदर्भ-सूची :

1. For details see, Chaudhary, V. C. P., *Imperial Honeymoon with Indian Aristocracy* (Patna, 1980).
2. Kumar, Deepak, "Science in Agriculture. A Study in Victorian India", in Rahman, A (Ed) Science and Technology in Indian Culture (New Delhi, 1984), pp-189-209.
3. Ibid, p, 37.
4. बिहार प्रांतीय किसान सम्मेलन, 16वाँ अधिवेशन, ढकाइच, 1949, पृ०-35.
5. वही, पृ०-31-32.
6. सरस्वती, किसान क्या करें ? पृ०-स ।
7. सरस्वती, किसान सभा के संस्मरण, पृ०-165.
8. वही, पृ०-83-84.
9. वही, पृ०-28.
10. Raghunandan, D., "Walking on Three Legs : Science, Common Sense and Ideology" in *Social Scientist*, op. cit. p. 100.
11. Srinivas, M. N., Social Change in Modern India, p-55

◆

27

विज्ञाननिष्ठ और वैज्ञानिक शिक्षा के प्रवक्ता

—नवल किशोर शर्मा

भारत कृषि प्रधान और औद्योगिक दृष्टि से भी काफी पिछड़ा हुआ देश रहा है। स्वामी सहजानन्द सरस्वती ने महसूस किया कि इस पिछड़ेपन की जड़ में सामन्तवाद और साम्राज्यवाद का नापाक गठबन्धन, विवेकहीन राजनैतिक नेतृत्व तथा वैज्ञानिक शिक्षा की उपेक्षा है। उनकी रचनाओं तथा कार्यकलापों से स्पष्ट है कि वे एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था के घोर पक्षधर थे जो अन्ततोगत्वा समाजवाद की नींव डाल सके।

स्वामीजी की दृष्टि में भारतीय आर्थिक व्यवस्था पूर्ण रूप से साम्राज्यवादी-सामन्ती गिरफ्त में थी, जो इसके पिछड़ेपन का मूल कारण था। यूरोप और अमरीका के उन्नतशील देश आधुनिक काल में अपनी-अपनी आर्थिक समृद्धि के लिए

औद्योगीकरण की ओर अग्रसर थे किन्तु भारत को वर्णित नापाक गठजोड़ इससे वंचित रखने पर आमादा था। इसमें साम्राज्यवादी हित यह था कि वे अपने देश, समाज और पूँजी की समृद्धि के लिए अपने यहाँ द्रुत गति से औद्योगीकरण करते थे तथा अपने अधीनस्थ गुलाम देशों को कृषि प्रधान ही रखना चाहते थे जिससे उन्हें अपने उद्योगों के लिए सस्ता कच्चा माल उन मुल्कों से उपलब्ध हो सके। इसका दूसरा लाभ यह था कि उन्हें अपनी औद्योगिक वस्तुओं को अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में खपाने के लिए इन कृषिप्रधान देशों से बाजार में कोई प्रतिस्पर्धा नहीं होती और ऐसी व्यवस्था को कायम रखने के लिए यह आवश्यक था कि गुलाम देशों में सामन्ती व्यवस्था बरकरार रहे जो जमीन और शान-शौकत को महत्व देता है—औद्योगिक क्रांति और प्रावैधिकी पर आधारित सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था को नहीं।[1] इससे एक और लाभ यह था कि अंगरेजों द्वारा सामन्तवाद को बरकरार रखने के प्रयास से भारत तथा इस तरह के अन्य गुलाम देशों में जमीन्दारों का एक ऐसा वर्ग स्थापित हो गया जो राष्ट्रीय लहर और औद्योगीकरण के विरुद्ध विदेशी शक्तियों को हर तरह की मदद देने को उद्यत रहते थे।

स्वामीजी इन पेचीदगियों से भलीभाँति अवगत थे और उन्होंने निम्नलिखित शब्दों में स्वीकार किया[2] : "जमींदारी पैदा करने में अंगरेजी सरकार का स्वार्थ कई प्रकार से सिद्ध हुआ। एक तो हमारे देश की सम्पत्ति वाणिज्य व्यापार में न लग कर जमीन के खरीदने में लगी और इस प्रकार से विदेशी व्यापार के लिए यहाँ काफी गुन्जाइश रही। दूसरे, सरकार और जनता के बीच में एक ऊँची दीवार खड़ी हो गयी जिसके पीछे रहकर सरकार अपना सारा काम चलाती रही और जनता देख नहीं सकी, इसलिए उसपर आक्रमण भी न कर सकी। जमीन्दारी मेशिनरी के जरिये किसान नामर्द और पस्तहिम्मत बना दिये गये। फिर सल्तनत का मुकाबला कौन करे?"

इसलिए स्वामीजी सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक पुनरूद्धार के लिए विज्ञान की मदद लेने में अटूट विश्वास रखते थे। वह ऐसी शिक्षा के पक्षधर थे जिसमें विज्ञान का प्रमुख स्थान हो और जिसके माध्यम से नया सामाजिक जागरण, औद्योगीकरण और आर्थिक विकास हो सके; इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए देश को हजारों इन्जीनियर, डाक्टर और इस तरह के अन्य वैज्ञानिक विशेषज्ञों की जरूरत है। इसलिए इस देश को ऐसी शिक्षा प्रणाली उपलब्ध हो जो इस लक्ष्य की पूर्ति का सशक्त माध्यम बन सके और वह प्रणाली कांग्रेसी बेसिक शिक्षा नहीं प्रदान कर सकती। अपने मन्तव्य को उन्होंने निम्नलिखित शब्दों में जोरदार ढंग से व्यक्त करते हुए कांग्रेसी शिक्षा योजना के विरुद्ध संघर्ष का आह्वान किया :[3]

" एक और बात याद आती है जिसका ताल्लुक पूरी शिक्षा से है। मेरा मतलब बेसिक शिक्षा से है जिस पर हमारे नये शासकों का बड़ा जोर है।....चाहे जो हो यह बेसिक या बुनियादी शिक्षा शैतान की तरह फैल रही है और डर है, मुल्क की दिमागी तरक्की को ले डूबेगी, यदि फौरन से पेश्तर इस पर रोक न लगी। जो मुल्क अपने बच्चों के छे घन्टे में कम-बेश चार घन्टे केवल चर्खा, तकली, धुनकी, पूनी आदि में लगायेगा वह मस्तिष्क के विकास और ज्ञान की दृष्टि से रसातल जायगा इसमें शक नहीं। हमें आज लाखों-करोड़ों इन्जीनियरों,

मिस्त्रियों, डाक्टरों आदि की आवश्यकता है, हर चीज के लक्षलक्ष विशेषज्ञों की जरूरत है। लेकिन यदि बच्चों के दिमाग को अच्छी तरह विकसित होने न दिया गया तो आगे का रास्ता ही बन्द समझिए।....मगर आज तो शिक्षा का बँटाधार होने जा रहा है। पुराने शासकों ने राष्ट्रीयता से भयभीत हो शिक्षा पर अपने ढंग से यहां जंजीर जकड़ी जो अभी तक ज्यों की त्यों है। नये शासक उस पर गांधी-वादी ढंग की यह दूसरी जंजीर कसने जा रहे हैं। इससे मुल्क के ज्ञान का दिवाला निकलेगा अवश्य। सम्भव है, नौकरियों के अपनाने की घुड़दौड़ में किसी छोटे-मोटे दल को इससे लाभ हो—शिक्षा पर जंजीर जकड़ने की इस नयी प्रणाली से विशेष फायदा हो। फिर भी मुल्क को तो इसका बागी बनाना ही होगा।"

स्वामीजी ने स्पष्ट शब्दों में वर्णित पंक्तियों में आजाद भारत के नये शासक की शोषणात्मक वर्ग-स्वार्थ की प्रतिबद्धता को अंकित किया जिसके माध्यम से देश को वैज्ञानिक और औद्योगिक युग में न प्रवेश कराकर लिपिकों और कृषकों के पुराने भ्रमजाल में फँसाने की कोशिश की गयी जिससे नये शासकों की प्रभुसत्ता और अक्षुण्ण आधिपत्य बना रह सके। स्वामीजी परंपरागत शिक्षा के विरोधी नहीं थे, लेकिन वे उसमें भी नये सिरे से विज्ञान और शोध के वर्चस्व को प्राथमिकता देने के पक्षधर थे। उनके निम्नलिखित वक्तव्य इसे संपुष्ट करते हैं :[4]

"ये बाबू आज शिक्षा के साथ मखौल कर रहे हैं, खासकर संस्कृत शिक्षा के साथ। मिडिलों में दो-चार संस्कृत की किताब पढ़ाने से संस्कृत का उद्धार होने के बजाय वह अधकचरी बन जायगी और देश में अधकचरे संस्कृतज्ञों की बाढ़ लायेगी। फिर तो प्रगाढ़ विद्वानों और संस्कृत के महारथियों को कोई पूछेगा तक नहीं। आज संस्कृत साहित्य के अगाध समुद्र के महामंथन की आवश्यकता है जिससे अमूल्य रत्न निकलें। घर-घर, गाँव-गाँव मथानी चलाने से यह काम न चलेगा। मुल्क में सैकड़ों संस्कृत विश्वविद्यालय हों जिनसे सम्बद्ध लाखों संस्कृत विद्यालय एवं महाविद्यालय और हजारों अण्वेषणशालाएँ हों, जहाँ साहित्य, आयुर्वेद आदि के सम्बन्ध में सभी प्रकार के अन्वेषण, सब तरह की खोज निराबाध चलें। एतदर्थ प्रत्येक सरकारों को करोड़ों रुपये हर साल खर्च होंगे। संस्कृत के मुख-चुम्बन मात्र की जगह सर्वांग प्रगाढ़ आलिंगन की आवश्यकता है। उन्हें पुष्ट-प्रौढ़ बनाने की जगह दूषित-कलुषित करने का यह प्रयत्न निन्दनीय है। यह सही है कि कुछ नामधारी पंडितों को टुकड़े मिलेंगे और लोगों की धार्मिक भावना की तुष्टी भी होगी। इस तरह शासकों के पोषकों का एक नया दल देश में तैयार होगा जो हाँजी-हाँजी करेगा। मध्यमा परीक्षोत्तीर्ण लोग आगे बढ़ने के बजाय टुकड़खोरी में लगेंगे। संस्कृत विद्या ज्ञान और सम्मान की वस्तु रही है, न कि महज दुर्भलखोरी की। उसे उस उच्च स्थान से गिराने का राजनीतिक कुयत्न बर्दाश्त के बाहर है।"

आज के सन्दर्भ में जबकि संस्कृत भाषा की वैज्ञानिकता तथा इसके वाङ्मय में वैज्ञानिक[5] तत्व की उपस्थिति स्वयंसिद्ध हो चुकी है, स्वामीजी के उपर्युक्त उद्धरण की उपादेयता सहज ही परिलक्षित होती है। आधुनिक वैज्ञानिक शोधों से यह सिद्ध हो चुका है कि संस्कृत दुनिया की सर्वाधिक वैज्ञानिक भाषा है और इसको यदि कम्प्यूटर में डाटा प्रोसेसिंग के लिए कूट-भाषा के रूप में इस्तेमाल किया जाय तो कम्प्यूटर का आकार दस गुना छोटा हो जायगा। इसके अतिरिक्त पश्चिमी

जगत के वैज्ञानिक संस्कृत वाङ्मय से 'ध्वनि बम' इजाद करने के तरीके पर शोधरत हैं और चिकित्सा के क्षेत्र में तो 'अमृत कलश' का पदार्पण एक सपने का साकार होना होगा जिसे आयुर्वेदिक औषधि के रूप में एक भारतीय डाक्टर ने अमरीका की प्रयोगशाला में तैयार किया है। काश ! स्वामीजी की उपर्युक्त सलाह को मानकर भारत के शासकगण आयुर्वेद और संस्कृत को उनके मार्गदर्शन के अनुकूल प्रस्फुटन और अन्वेषण के मौके प्रदान किये होते जिससे उपर्युक्त आविष्कारों की जननी स्वयं भारत की समृद्धशाली भूमि ही होती। किन्तु, नये शासक तो इससे अपनी वर्गीय स्वार्थ-सिद्धि के लिए टुकड़खोरों की पलटन तैयार कर रहे हैं जिसकी अधुनातन कड़ी के रूप में बिहार के वर्तमान मुख्यमन्त्री डा० जगन्नाथ मिश्र द्वारा संस्कृत शिक्षण-संस्थानों के अधिग्रहण की घोषणा को देखा जा सकता है। यह कैसी बिडम्बना है कि गुलाम भारत में अंगरेज मैकाले द्वारा चलायी गयी शिक्षा-नीति के नीति-निर्देशक तत्व[5] आजाद भारत के शासक वर्ग के हित में लगभग उन्हीं उद्देश्यों से आज भी कायम हैं ?

□

संदर्भ-सूची :

1. विस्तार के लिए देखें, Chaudhary, V. C. P., *Imperial Policy of the British in India* (1876-80) : *Birth of Indian Nationalism, Imperial Honeymoon with Indian Aristocracy*, Basu, B.D., *Ruin of Indian Trade Industries*
2. सरस्वती, जमीन्दारी क्यों उठा दी जाय ? पृ० क से च, 1-10.
3. सरस्वती, बिहार प्रांतीय किसान सम्मेलन, 16 वाँ अधिवेशन, ढकाइच, 1949, पृo 8-9.
4. वही, पृ० 7-8.
5. Chaudhary, V. C. P., *Imperial Honeymoon with Indian Aristocracy*, pp-59-60.

□

28

अंतर्संकायी शोध-क्षमताओं से परिपूर्ण

—रामेश्वर चौधरी

स्वामी सहजानन्द सरस्वती सर्वतोमुखी वैज्ञानिक चिन्तन के उद्भासित पिण्ड थे। बौद्धिक विधाओं के विभिन्न क्षेत्रों से सम्बद्ध लोगों के लिए उनके कृतित्व और चिन्तन शोध की अभिवांछित क्षमता से संपन्न हैं। सीमाओं को ध्यान में रखते हुए यह कहना पर्याप्त होगा कि ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में काम करनेवाले भूगोल, अर्थशास्त्र, श्रम एवं समाज कल्याण, साँख्यिकी और कृषि-विज्ञान के शोधार्थियों के लिए उनके कृतित्व प्रचुर संभावनाएँ रखते हैं। इसी तथ्य के आलोक में 1936-37 से 1946-47 की अवधि के दरम्यान बिहार में ईख उत्पादकों की समस्याएँ और उनके निदान के लिए अभिव्यक्त स्वामीजी के अनुशीलन का आकलन तथा उनके द्वारा प्रदत्त आँकड़ों का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है ताकि विषय वस्तु के साथ न्याय किया जा सके। सरकारी आँकड़ों पर स्वामीजी और उनकी किसान सभा द्वारा दिये गये आँकड़ों को तरजीह देने का औचित्य स्वामीजी के ही शब्दों में इस प्रकार है :[1]

“समय-समय पर सरकार द्वारा नियुक्त जांच समितियाँ निस्सन्देह इस (ईख के उत्पादन पर) खर्च के आँकड़ों पर अपने ढंग से पहुँची हैं। खर्च के बहुत से मुख्य और बड़े मद, जैसे जमीन पर, जो कि अब प्रायः शत-प्रतिशत हस्तांतरित हो गई है, लगाई गयी पूँजी के ऊपर सूद का उन समितियों द्वारा कभी भी विचार नहीं किया गया है। अतः उनका हिसाब गलत और अमान्य है।”

कहना न होगा कि भारत के ईख उत्पादक राज्यों में बिहार अग्रणी है और यहाँ के अधिसंख्यक किसान नकद पैसे के लिए ईख की उपज पर आश्रित रहे हैं और अभी भी हैं। फलस्वरूप ईख की खेती पर प्रत्यारोपित दबाबों और नियंत्रण से यहाँ का बहुमत प्रभावित होता रहा है। इन्हीं आर्थिक कारकों और उनके दबावों का अध्ययन उपर्युक्त अवधि में विश्लेषणात्मक रूप में कर के प्रथम टैरिफ बोर्ड के अभिव्यक्त उद्देश्यों को व्यावहारिकता की कसौटी पर हम कस रहें हैं, जिसमें कहा गया है[2]—“हमारे सामने प्रधान समस्या है खेती से सम्बन्ध रखनेवाली और हमें सबसे पहले किसानों के स्वार्थों की रक्षा करनी है।”

बिहार में ईख की खेती की विकास-कथा नील की खेती से सम्बन्धित है। 20वीं सदी के प्रारम्भ में साम्राज्यवादी-सामन्ती गठबन्धन के निहित-स्वार्थों के बदलते स्वरूप के कारण नील की कृषि समाप्त प्राय हो गयी और नकदी फसल के रूप में ईख की महत्ता बढ़ने लगी। यह ध्यातव्य है कि ईख उत्पादन के क्षेत्र में भी राज्य के वही भाग अग्रणी बने और हैं जो कभी नील-उत्पादन के क्षेत्र में अग्रणी

थे। 1930-31 तक आते-आते बिहार में ईख की खेती काफी व्यागक पैमाने पर होने लगी थी, लेकिन विश्व के अन्य भागों की तुलना में यहाँ ईख का उत्पादन (प्रति एकड़) काफी कम था तथा 1934-35 तक औसत पैदावार में और भी कमी हुई। 1930-31 में जहाँ जावा और हवाई द्वीपों में ईख का औसत उत्पादन प्रति एकड़ 1446 मन था, वहीं भारत में प्रति एकड़ औसत उत्पादन मात्र 388 मन ही था। 1934-35 में जावा और हवाई द्वीपों में यह औसत उत्पादन बढ़कर 1515 मन प्रति एकड़ हो गया, परन्तु भारत में यह 1930-31 के प्रति एकड़ औसत उत्पादन से भी कम हो गया।[3]

औसत उपज के घटने के कारणों में ईख के पौधों द्वारा भूमि की उर्वरता कम कर देने के अन्तस्थ कारणों[4] के अतिरिक्त सघन खेती का न होना, फसल-चक्र का उपयोग न किया जाना, नयी तकनीकी एवं उपकरणों का उपयोग न किया जाना तथा सरकार और नौकरशाही का ईख-उत्पादकों के प्रति उपेक्षा और भेद-भावपूर्ण व्यवहार था।[5]

ईख की कीमत तय करने में साम्राज्यवादी-नौकरशाही गठबन्धन के मनमाने रवैये के कारण ईख-उत्पादकों और इसकी खेती पर प्रतिगामी प्रभाव पड़ रहा था। इस मनमाने रवैये को निम्नलिखित आँकड़ों से स्पष्ट किया जा सकता है :[6]

ईख की कीमत तय करने में क्षेत्रीय स्तर पर अंतर की सूचक सारणी (1944-45)

राज्य	वस्तु	कीमत प्रति मन (रुपये और आना में)	दाम में कटौती (रु० और आनामें)
वंगाल	ईख	1=) [1·12]	नहीं
पंजाब		।।।=) ॥ [·90]	नहीं
ग्वालियर		।।।) से ।।।=) [·75 से 87]	नहीं
बिहार		।।।) [·75]	=) [·12]
यू० पी०		।।।) [·75]	=) [·12]
आंध्र प्रदेश		।।=) [62]	महीं

उपर्युक्त सारिणी से स्पष्ट है कि विभिन्न राज्यों में ईख के दाम में मनमाना अन्तर था। यह ध्यातव्य है कि चीनी की कीमत भारत-सरकार द्वारा समान भाव पर तय और नियन्त्रित की जाती थी और उस स्थिति में यही आशा की जा सकती

थी कि खेती-बारी और भाड़ा आदि के स्थानीय खर्च में थोड़ा बहुत अन्तर होने के चलते इसके भाव में मामूली अन्तर रहेगा। किन्तु, बिहार में पड़ोसी राज्य बंगाल की तुलना में चीनी का मूल्य प्रति मन छः आना (37 पैसे) कम होना [बंगाल में ईख की कीमत का मात्र 66·6%] साम्राज्यवादी-नौकरशाही-सामन्ती त्रिगुट की मनमानी नीति[7] का ही परिचायक था। यह मनमानी भी सुनियोजित-सी थी क्योंकि बिहार और यू० पी० ईख-उत्पादन में अग्रणी थे।

उपर्युक्त वर्णित कारण के चलते ईख-उत्पादकों ने एक नया तरीका इजाद कर लिया। इनलोगों ने मिलों को ईख देना कम करके गुड़ बनाना शुरू कर दिया क्योंकि इसी में उन्हें अपना हित नजर आ रहा था और 80% उपभोक्ता भी प्रायः पूर्णतः गुड़ के उपभोग पर ही निर्भर थे। इस नई स्थिति से निबटने के लिए ऊपर वर्णित गुट ने भी अपनी रणनीति तैयार कर ली थी। यू० पी० और बिहार सरकारों ने सबसे अच्छे गुड़ की कीमत क्रमशः 8 और 8.50 रु० प्रति मन निर्धारित की। दो पड़ोसी प्रांतों के बीच 50 पैसे प्रति मन का अन्तर तत्कालीन कीमतों के अनुसार कायम करने का उद्देश्य सहज ही समझा जा सकता है। बिहार की प्रांतीय सरकार ने खानगी एजेंसियों द्वारा दूसरे प्रांतों में गुड़ का निर्यात करने पर रोक लगा दिया और सरकार ने स्वयं भी इस दिशा में कोई सार्थक प्रयास नहीं किया।[8] इतना ही नहीं बिना परमिट के, जो कि मिलना असंभव-सा था, प्रान्त के अन्दर भी गुड़ के आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिया। चीनी उद्योग को संरक्षण देने के लिए अपनायी जा रही भेद-भावपूर्ण नीति की अगली कड़ी में ईख की ऐसी किस्मों का प्रसार किया गया जिसे पेड़ कर गुड़ निकालने में दिक्कत हो तथा जिसकी पत्तियों का मवेशी के चारे के रूप में उपयोग नहीं किया जा सके।[9]

उपर्युक्त क्रिया-प्रतिक्रिया की अन्तस्क्रिया में ईख की खेती उपेक्षित होने लगी। साथ ही इससे चीनी उद्योग का भी फायदे के बजाय दिनानुदिन नुकसान ही हुआ, जिसे निम्नलिखित सारणी से स्पष्ट किया जा सकता है[10] :

बिहार में ईख की खेती और चीनी मिलों को मुहैया होनेवाली
ईख की मात्राको दर्शाने वाली सारणी

वर्ष	ईख उत्पादक क्षेत्र (एकड़ में)	मिलों को मिली ईख (टन में)	चीनी उत्पापक (टन में)
1936-37	491000	3·579520	·3291260
1939-40	अनुपलब्ध	3·331500	·308000
1945-46	397000	1·684113	·177052
1946-47	391000	1·38000 [अभिवांछित]	·138000 [अभिवांछित]

आँकड़ों से स्पष्ट है कि 1936-37 से 1946-47 के बीच ईख उत्पादक क्षेत्र के क्षेत्रफल में क्रमवार कमी हो रही थी। 1936-37 में जहाँ 491000 एकड़ भूमि में ईख पैदा हुई थी, वहीं 1945-46 में 397000 एकड़ में तथा 1946-47 में मात्र 391000 एकड़ में। यह भी स्पष्ट है कि साम्राज्यवादी-नौकरशाही-सामन्ती त्रिगुट की नियोजित नीति के बावजूद चीनी के उत्पादन में दिनानुदिन ह्रास हुआ क्योंकि उन्हें ईख की क्रमशः कम मात्रा मिली। इस सन्दर्भ में हम देखते हैं कि जहाँ 1936-37 में मिलों को मिली ईख और चीनी का उत्पादन क्रमशः 3.579520 टन और .329260 टन था, वहीं 1939-40 में क्रमशः 3·331500 टन और ·308000 टन तथा 1945-46 में क्रमशः 1.684113 टन और .177052 टन। अन्ततः 1946-47 में क्रमशः 1.38000 टन और ·138000 टन की ही आशा की गई थी। ये आँकड़े बोलते हैं कि तत्कालीन सामाजिक-आर्थिक और राजनैतिक शिकंजे की गिरफ्त में आकर बिहार में ईख की खेती और चीनी उद्योग अधोन्मुखी हो रहा था।

इन्हीं परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए स्वामी सहजानन्द सरस्वती ने अपने गम्भीर और यथार्थवादी चिन्तन के अनुरूप ईख उत्पादकों और चीनी उद्योग-दोनों को संरक्षित करते हुए ईख और उस पर आधारित उद्योगों के लिए एक कल्याणकारी कार्यक्रम 1947 में पटने के केन ग्रोवर्स को-आपरेटिव कांफ्रेंस में पेश किया था[11]—

“अगर सचमुच ये कारखाने रहना और जगमगाना चाहते हैं, तो इन्हें किसानों की कब्र पर अपने महल सजाने का रास्ता छोड़ दरअसल ऊख की खेती की तरक्की को दिलोजान से ईमानदारी के साथ अपनाना होगा।

“ऊख की उपज की तरक्की के मानी हैं उसकी घनी खेती (intensive cultivation), जिससे कम से कम जमीन में अधिक से अधिक तौल में ऊख पैदा हो। साथ ही, उसमें चीनी भी अधिक से अधिक निकले। इसके दो रास्ते हैं। सबसे पहले मिलवाले किसानों से सौदा करें और कहें कि हम तुम्हें नया बीज और उसके लिए जरूरी खाद मुफ्त ही देंगे, बशर्ते कि तुम हमारे बताए ढंग से खेती करो।....इस तरह खेती करने से मामूली उपज से जितनी अधिक उपज होगी, उसकी आधी तुम्हारी और आधी हमारी। अगर तुम अपने ही पैसे से खाद बीज लो तो सभी तुम्हारे।... दूसरा रास्ता है ज्यादा और पूरी कीमत देने का पक्का वादा करके किसान से शर्त कराना कि वह किस खेत में कौन सी ऊख किस तरह रोपेगा और तैयार करेगा। ज्यादा दाम पाने पर किसान सभी शर्तें मानने को तैयार होगा और अपना खून पसीना कर डालेगा। दुनिया का कायदा ही यही है। इस प्रकार जब थोड़े ही खेत में ज्यादा उपज होगी, तो वह और भी चसकेगा और उपज बढ़ाता जाएगा।.... केन डेवलपमेन्ट' करने का तरीका यही है।

“साथ ही चीनी बनाने के खर्च में कमी भी करनी होगी।....(इसके लिए) खोइया जलाने के बजाय मोटा कागज या ऐसी ही कीमती चीज बनाने के काम में लाई जाए। मोलासेज (molasses) या चोट्ठे से स्पिरिट तैयार की जाए। प्रेस मड (Press mud) और गन्दे पानी की सफाई हो और उनसे खाद का काम लिया

जाए। इसी तरह की और भी चीजें हैं, जिनके करने से आमदनी होगी और चीनी बनाने का खर्च घटेगा।…फिजूलखर्ची और यों ही नुकसान (waste) को खत्म करना होगा। मिल के मजदूरों को सन्तुष्ठ रखकर बहुत बड़े नुकसान (Colossal waste) को बचाया जा सकता है, बचाया जाना जरूरी है।

"कुछ लोगों के दिमाग में यह भय का भूत सवार है कि ऊख का दाम ज्यादा होने से उसकी उपज बेतहाशा बढ़ेगी जो बेकार होगी।…ऊख के दाम के बारे में ही यह बेसरपैर की बेहूदा दलील क्यों पेश की जाती है ?…आखिर जब सभी बातों में स्कीमों और योजनाओं की जरूरत महसूस हो रही है, जब उनका जमाना माने जाने लगा है, तो ऊख की खेती में भी वही योजना क्यों न लागू की जाए और हर किसान के साथ अलग-अलग लिखा-पढ़ी क्यों न की जाए कि कौन कितनी ऊख बोएगा ? अब तो ऐसा करना ही होगा। तभी मुल्क को भोजन मिल सकेगा।

"ऊखवालों की सोसाइटियों का संगठन भी इसमें पूरा मददगार होगा अगर वह सच्चा और जानदार हो।

"इसी सिलसिले में सरकारी अहकलकारों (अटकलकारों) का भी सवाल आ जाता है। तीस-चालीस रुपये महीने की तनखाह देकर जो सुपरवाइजर और कुछ ऐसी ही तनखाह पर जो ऑर्गनाइजर बहाल किए जाते हैं वह निरी मखौल है।… कम से कम दूनी तनखाह तो फौरन ही होनी चाहिए अगर बेशी न भी हो सके और यह नौकरी स्थाई हो। उन्हें आगे तरक्की करने का पूरा मौका भी रहे जो इसमें आयें। नहीं तो यों ही पढ़े-लिखे जवानों को जलील करना बुरा है। काम तो चौपट होता ही है।

"एक बात और कहनी है। अगर चीनी का कारबार चालू रखना और बढ़ाना है तो मजदूरों और किसानों का चीनी की मिलों के साथ पूरा सहयोग करना जरूरी है।…इसके लिए सबसे पहले मिलवाले अपना रवैया बदलें और इन दोनों को अपने हिस्सेदार की तरह मानकर ही सलूक करें और सन्तुष्ट रखें।"

ध्यान देने की बात है कि स्वामीजी द्वारा सर्वकल्याणकारी सुझाव को, जो कि ईख और चीनी उद्योग से सम्बन्धित थी, दो वर्ष बाद भी स्वतन्त्र भारत के अधीन की बिहार सरकार अंशतः भी लागू करने में असमर्थ रही थी और ईख उत्पादकों के प्रति उल्टे प्रतिगामी नीतियों का ही पालन किया गया था, जो कि उनके निम्नलिखित वक्तव्य से स्पष्ट है[12] :

"…ऊख वाले किसानों के गले पर छुरी चल रही है। उनकी ऊख का दाम पूरा-पूरा देना तो दूर, अधूरा भी नहीं दिया जाता है।…सरकार ने निहायत बेशर्मी और बेदर्दी से वह दाम (ईख का) पार साल से भी घटा दिया।…आगे ज्यादा घटेगा और गन्ने की खेती के विकास के अभाव में चीनी का कारबार खत्म होगा यह पक्की बात है। सरकार ने सेस के नाम पर कई करोड़ रुपये किसानों से ही लिये हैं—उन्हीं के दाम में से ये रुपये आए हैं। फिर भी ऊख के विकास और अधिक उपज के लिए क्या हुआ ?"

निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि प्रस्तुत लघु विवरण 1936-1947 तक ईख उत्पादकों की समस्या के साथ-साथ स्वामीजी द्वारा उनके व्यावहारिक निदानों की भी झाँकी प्रस्तुत करता है। इस सन्दर्भ में स्मरण रखने की जरूरत है कि विज्ञान और समाज विज्ञान के कुछ समूहों द्वारा अन्वेषण के लिए ये आँकड़े और विवरण काफी शोधमूलक और उपयोगी हैं। जहाँ उनके द्वारा प्रदत्त आँकड़े इस समस्या के सांख्यिकीय विश्लेषण और अन्वेषण के लिए उपयोगी हैं, वहीं बिहार की एक प्रमुख नकदी फसल का ऐतिहासिक अध्ययन ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में आर्थिक भूगोल तथा अर्थशास्त्र में ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था पर क्रिया-प्रतिक्रिया की वर्त्तमान अवस्था से तुलनात्मक अध्ययन के लिए शोध संभावनाओं से परिपूर्ण हैं। इतना ही नहीं, चीनी के उत्पादन में लागत की कमी लाने के लिए स्वामीजी द्वारा प्रदत्त सुझाव चीनी-प्रौद्योगिकी का एक भविष्यतकालीन रूप प्रस्तुत करते हैं और उस विचारित प्रौद्योगिकी का हम लक्ष्य और उपलब्धि के आलोक में अध्ययन कर सकते हैं और कृषि-विज्ञान की तत्कालीन और भविष्य के लिए निर्दिष्ट तकनीकों के आलोक में हम वर्तमान में ईख की खेती की समस्याएँ तथा उनके निदान पर विचार कर सकते हैं। अन्ततः चीनी उद्योग के सन्दर्भ में सुपरवाइजरों आदि के कल्याण का प्रदत्त सुझाव तथा मिलवालों और मजदूर एवं किसानों के बीच के सम्बन्ध के अपेक्षित स्वरूप के सम्बन्ध में कही गई बातें श्रम एवं समाज-कल्याण से सम्बन्धित अध्ययनों का आधार बन सकती हैं।

संदर्भ-सूची :

1. सरस्वती, **आल इण्डिया किसान सभा**, आठवाँ अधिवेशन, बेजवाड़ा, 1944.
2. First Tariff Board Report, p-54 in the address of Saraswati, Cane-growers Co-operative Conference, Patna, 1947, pp-1-2.
3. प्रस्तुत आँकड़े केन ग्रोवर्स कोपरेटिव कांफ्रेंस, पटना (1947) में सहजानन्द सरस्वती द्वारा व्यक्त किये गये ईख-विशेषज्ञों के कानपुर सम्मेलन (1944) के अध्यक्षीय भाषण में श्री लालचन्द हीराचन्द के उद्धरण से लिए गये हैं।
4. भारती, राधाकान्त, **बिहार का भूगोल**, 1976, पृ०-97-107.
5. विस्तार के लिए देखें, सरस्वती, **आल इण्डिया किसान सभा**, आठवाँ अधिवेशन बेजवाड़ा, 1944 तथा केन ग्रोवर्स को आपरेटिव कांफ्रेंस, पटना, 1947.
6. सरस्वती, **आल इण्डिया किसान सभा**, आठवाँ अधिवेशन, बेजवाड़ा, 1944, pp-11-12.
7. वही, पृ० 11.
8. वही पृ० 12.
9. सरस्वती, केन-ग्रोवर्स को-आपरेटिव कांफ्रेंस, पटना, 1947, पृ० 7.
10. वही, पृ० 9-10 [आँकड़ों को तुलनात्मक आधार पर पुनर्मूल्यांकित किया गया है]।
11. वही, पृ० 4-6 एवं 12-13.
12. सरस्वती, **बिहार प्रांतीय किसान सम्मेलन**, सोलहवाँ अधिवेशन, ढकाइच, जिला-शाहाबाद, 1949, पृ० 21.

□

29

क्रांति और वर्गाकांक्षाओं का मनोवैज्ञानिक आधार

—रामचन्द्र ठाकुर

यथार्थवादी वस्तुगत मनोचिंतन की अंतर्दृष्टि कितनीं पैनी और उसके मूल्य कितने स्थायी होते हैं, इसका सहज-आभास स्वामी सहजानन्द सरस्वती के जीवन-दर्शन में देखने को मिलता है। जीवन-पथ के विभिन्न मोड़ों से गुजरते हुए संचित होते कटु अनुभवों ने उन्हें किसानों का चहेता और उनका वास्तविक वर्ग-चिंतक बना दिया और जिस वस्तुगत सामाजिक दर्शन का प्रतिपादन उन्होंने किया वह वस्तुतः विलक्षण है। यह सामाजिक दर्शन न केवल सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के विभिन्न संस्तरणों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है, बल्कि आमूल परिवर्तन के निर्देशक—क्रांति और वर्ग-संघर्ष की भी अनोखी मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करता है।

स्वामीजी की अंतर्दृष्टि ने स्पष्ट अनुभव किया[1] कि, "सिर्फ एक ही श्रेणी के लोग-किसान ही हैं जिनके अनंत स्वार्थ-त्याग से ही यह दुनियाँ टिकी हुई है। सचमुच यह बड़े ही दुख की बात है कि जबकि वे "किसान अपने वार्षिक घरेलू बजट में दूसरे सबों के लिए पूरी ताकीद और गुंजायश रखते हैं—देवी और देवता, साधु और फकीर, भिखमंगे और नेता, पुलिस और मजिस्ट्रेट, शासक और शोषक, उपदेशक और गुरु और यहाँ तक कि मृतात्माओं के लिए भी—कोई किंचित् मात्र भी उनके लिए परवाह नहीं करता और न उनके सम्बन्ध में कुछ क्षण सोचने-विचारने का कष्ट ही उठाता है।" इस पर उन्होंने विचारना शुरू किया कि क्या यह अन्य लोगों के लिए न्याय्य और उचित नहीं है कि उनके लिए कुछ करें, जो उन्हें अन्न और वस्त्र देता है ? और, बस इसी सोच के चलते उन्होंने सत्य की बागडोर थाम ली और उनके ऋण से उऋण होने के लिए निःस्वार्थ भाव से अपनी सारी शक्ति, चातुरी और अक्ल को बिना किसी पारितोषिक की लोभ से किसानों के लिए उत्सर्ग कर दिया।

उपर्युक्त वर्णित मूल उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो उन्होंने एक नयी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का प्रतिमान निश्चित किया—एक यथार्थवादी दर्शन की पेशकश की, उसी के मनोवैज्ञानिक आधार को स्पष्ट करने के लिए इस लघु निबन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण कारकों का मनोवैज्ञानिक दर्शन प्रस्तुत किया गया है।

स्वामीजी का मानना था कि क्रांति के बिना समाज का निस्तार संभव नहीं था, परन्तु इस सम्बंध में वे बाहरी परिवर्तन से पहले भीतरी परिवर्तन के हिमायती थे। इसी के चलते वे बाहरी परिवर्तन से पहले हृदय-परिवर्तन, स्वभाव-परिवर्त्तन और पूरे दृष्टिकोण के परिवर्तन में विश्वास रखते थे क्योंकि उनकी नजर में 'अंतः क्रांति के द्वारा ही बाह्य क्रांति'[2], का होना संभव था।

अंत: क्रांति के घटित होने के लिए वे इच्छा-शक्ति के उद्बोधन में विश्वास रखते थे क्योंकि शोषण का स्थायित्व शोषित होते रहने की इच्छा[3] पर टिका होता है। पूरे सामाजिक-आर्थिक ढाँचे को तोड़ कर नये ढाँचें के निर्माण के लिए इच्छा-शक्ति को उद्बोधित करने और उसे दृढ़ बनाने के काम को वे काफी जटिल मानते थे क्योंकि उनका कहना था[4] कि, "शारीरिक क्रांति दिमागी क्रांति का ही प्रभाव है—और यही सबसे मुश्किल काम है। सदियों से प्रचलित आर्थिक और सामाजिक व्यवस्थाओं के संबंध की भावनाएँ कठिनाई से दूर होती हैं, खासकर दकियानूस भावनाएँ।....जोंक के जैसे चूसनेवाले लोग और वर्ग और उनके पिट्ठू निस्संदेह अपने अधिकार और सुविधाओं को देश के कानून और रिवाज पर आधारित बतलाते हैं। किंतु ये कानून स्वेच्छाचारी अथवा कुछ चालाक लोगों की इच्छामात्र और अंततोगत्वा जनता की इच्छा मात्र नहीं तो और हैं क्या ? अत: यदि जनता चाहे तो वे पूरे के पूरे क्षण भर में बदले जा सकते हैं। उस इच्छा को हटा लो और वे खत्म !"

फिर भी उनका मानता था[5] कि, "सचमुच कभी-कभी यह इच्छा बहुधा मतलबियों, स्वार्थी व्यक्तियों, थोड़े से चालाक लोगों और स्वेच्छाचारियों के हाथों अपना मतलब साधने के अनुकूल बना ली जाती है। और एक क्रांति की पूर्ण सफलता के लिए इस प्रकार की हरकत को होने देने का मौका नहीं देना चाहिए।"

उपर्युक्त हरकत होने का मौका न देने के लिए स्वामीजी अत्यंत ही विश्वासी किसान कार्यकर्ताओं की जमात को नितांत आवश्यकता अनुभव करते थे, जो किसानों के सच्चे पुजारी हों और जिनकी मानसिकता किसान वर्ग की मानसिकता के अनुरूप हो।[6] सच्चे और प्रतिबद्ध कार्यकर्ताओं द्वारा स्वामीजी जागरण के लिए उस दर्शन का प्रयोग करना चाहते थे, जो वर्गों के संघर्ष और 'हिंसक क्रांति में विश्वास, नहीं'[7] करता है। इस दर्शन को उन्होंने स्वयं निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है[8] :

"यह धारणा भी गलत है कि असल लड़ाई दो वर्गों की है। बात यह है कि वर्गों का विरोध उनके परस्पर विरोधी स्वार्थों के करते ही होता है—ये परस्पर विरोधी स्वार्थ ही वर्गों में विरोध पैदा करते हैं और इन्हीं स्वार्थों के संघर्ष से दलों का संघर्ष होता है। इसलिए एक ही गाँव में दो विरोधी दलों के रहने पर भी यदि वहाँ अग्निकांड हो जाय तो समूचे गाँव के बचाने में सभी दल मिलकर काम करते और आग बुझाते हैं। हमारा काम यह होना चाहिए कि हम अपना और किसान मजूरों का दृष्टिकोण विरोधी स्वार्थों तक ही सीमित रख के उसे विरोधी स्वार्थवाले मनुष्यों तक न जाने दें।.... इस प्रकार वर्गों का युद्ध स्वार्थों के युद्ध में बदल जाता है और इसमें हिंसा की गुंजाइश शायद ही रह जाती है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामीजी वर्गों की बात तो करते हैं, परन्तु मार्क्स के वर्ग-संघर्ष संबंधी आर्थिक-राजनैतिक दर्शन को भारतीय परिप्रेक्ष्य में ढालकर वर्ग-स्वार्थ संबंधी आर्थिक-मनोवैज्ञानिक दर्शन मे तब्दील कर देते हैं।

चूंकि स्वामीजी यथार्थवादी व्यावहारिक चिंतक थे और इस हैसियत से वह जानते थे कि परिस्थितिवश किसान जागरण, वर्ग-चेतना और शिक्षा से विहीन

हैं तथा इस स्थिति में इन हीनताओं को दूर कर उनमें शोषणात्मक व्यवस्था के अंत के लिए उद्बोधित करने का काम मध्यम वर्ग का ही एक विशिष्ट हिस्सा कर सकता है। अतः वे इस परिस्थिति में किसान को अपने सच्चे हितैषी की पहचान के लिए मध्यमवर्ग के वर्ग-चरित्र का वस्तुवादी मनोविश्लेषण और चयन का मापदंड भी प्रस्तुत करने से नहीं चूकते हैं।[9]

मध्यमवर्ग की पहचान के लिए वे चार लक्षण निर्धारित करते हैं। सर्वप्रथम, मध्यमवर्ग ढुलमुल स्वभाव का होता है। वह परिस्थितियों के दबाव के अनुसार कभी शोषितों के साथ हो जाता है तो कभी शोषकों के साथ। इसकी मनोवृत्ति शोषक मनोवृत्ति होती है, परन्तु इस वर्ग में गत्यात्मकता अधिक है। अतः इसका वर्तमान तो निश्चित होता है, परन्तु भविष्य शोषक या शोषित में से किसी एक में मिल जाने की संभावनाओं से परिपूर्ण। दूसरे, यह वर्ग विचार-स्वातंत्र्य और विवेक-बुद्धि से विहीन संकीर्णतावादी धर्म में पूरा-पूरा विश्वास करनेवाला होता है। इसका काम है बार-बार धर्म की दुहाई देना और उसके लिए खतरे की घंटी बजाना। क्योंकि धर्म उसकी हस्ती का अविभाज्य हिस्सा है। तीसरे, मध्यमवर्ग धार्मिक, राजनैतिक या आर्थिक क्षेत्र के अगुवे अर्थात् चलते-पुर्जे नेता की आवाज को बहुमत की आवाज मानता है। इस वर्ग की अंतिम पहचान यही है कि यह शोषकों एवं शोषितों के बीच मेल और स्वार्थ-सामंजस्य देखता, सोचता और करना चाहता है।

मध्यम वर्ग के चिन्तन और कार्यविधि का उपर्युक्त मनोविश्लेषण प्रस्तुत करके स्वामीजी किसानों को धोखे से बचाने के लिए इन शब्दों में सतर्क करते हैं[10] : "किसानों का काम है कि मध्यम श्रेणी के जो लोग उनका नेतृत्व करने आयें, उनमें उनके लक्षणों को बराबर गौर से देखें और पता लगायें। तभी उन्हें धोखा नहीं होगा।" इसके साथ ही वह यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि किसानों के असली नेताओं, जो कि परिस्थितिवश मध्यम वर्ग के ही होते हैं, में पूर्वोक्त चार लक्षणों में से एकाध ही नाम मात्र के पाये जाते हैं क्योंकि वे 'वस्तुगत्या दलित और शोषित श्रेणी के ही हैं[11] चूँकि वर्ग-निर्धारण के लिए मनुष्य की भीतरी बनावट (मनोवृत्ति) पर भी ध्यान देना आवश्यक है।[12]

अपनी सारी सीमाओं के बावजूद जब उपर्युक्त मापदंडों के आधार पर किसान असली नेताओं को पहचान लेंगे तो ऐसे ही असली नेता उन्हें सही रास्ते पर लेकर आगे बढ़ेंगे और उनमें दृढ़ इच्छा-शक्ति जगायेंगे—यही स्वामीजी की मान्यता थी। उनकी सोच थी कि वे सच्चे नेता किसानों के जागरण पर ज्यादा समय देकर वर्गों के युद्ध को स्वार्थों के युद्ध में बदल देंगे और इस तरह शांतिपूर्ण क्रांति हो जायगी और रूसी क्रांति की तरह अपेक्षाकृत रक्तपात का अनुपात कम होगा[13]।

अंततः इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि स्वामीजी के क्रांतिकारी दर्शन का मनोवैज्ञानिक आधार पूर्ण परिपक्व और उपयोगी था और किसी भी सामाजिक-आर्थिक या राजनैतिक रद्दोबदल के संदर्भ में इसकी उपादेयता आज भी अतुलनीय है।

◆

संदर्भ-सूची :

1. सरस्वती, **ऑल इंडिया किसान सभा**, आठवाँ अधिवेशन, बेजवाड़ा, 1944, p-2.
2. वही, p-4.
3. पूर्वोक्त।
4. पूर्वोक्त।
5. वही, पृ०-4-5.
6. वही, पृ०-5, **क्रांति और संयुक्त मोर्चा**, पृ०-65-71.
7. सरस्वती, **अब क्या हो?** पृ०-6-7, तथा **आल इंडिया किसान सभा**, तृतीय वार्षिक अधिवेशन, कुमिल्ला, 1938, पृ० 8-9.
8. वही।
9. सरस्वती, **किसान क्या करें ?**, पृ०—191-92, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयीदिल्ली, 1989.
10. वही, पृ० 196.
11. पूर्वोक्त।
12. सरस्वती, **क्रांति और संयुक्त मोर्चा** पृ० 67.
13. सरस्वती, आल इंडिया किसान सभा, कुमिल्ला, 1938 पृ० 9-10.

□

30

विज्ञान और प्रौद्योगिकी : वर्तमान और भविष्य

—अखिलेश कुमार ठाकुर

स्वामी सहजानन्द सरस्वती ने अपने ठोस व्यावहारिक अनुभवों और सोच के आधार पर विज्ञान की एक ऐसी भूमिका की कल्पना की, जो जनहितकारी हो अर्थात् समाज के विकास के रचनात्मक पहलुओं से उन्होंने विज्ञान को जोड़ा का यथार्थवादी दर्शन दिया। समाज और विज्ञान के बीच सामंजस्य स्थापित करने पर जो उन्होंने बल दिया, आज के आणविक युग में बढ़ रहे तनावों के कारण उन आदर्शों की याद ताजी हो जाती है। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने से यह स्पष्ट है कि प्राचीन और मध्यकाल में विज्ञान का सामाजिक, नैतिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक कारकों से अलग-अलग करके स्वरूप नहीं निर्धारित किया जाता था।

आधुनिक काल में उपर्युक्त मूल्यों से विज्ञान को अलग-थलग करने का सिलसिला चला ।[1] इससे एक ओर विज्ञान का तीव्र विकास तो हुआ है, परन्तु दूसरी ओर इसने सामाजिक अनेकता, शोषण और पर्यावरण के प्रदूषण का मार्ग भी प्रशस्त किया है ।[2] इन सबसे भी अलग तो यह है कि आज विज्ञान का विकास मानवता के लिए दुधारी तलवार बन गया है । अतः फिर से इस क्षेत्र में सोचा जाने लगा है कि विज्ञान को किस तरह सदुपयोगी बनाया जाये ? इस विन्दु पर स्वामीजी और फ्रांसिस बेकन में समानता यह दीखती है कि दोनों की मान्यता थी कि विज्ञान समाज के लिए होना चाहिए ।[3]

आम जनता की आशाओं एवं उपयोग का आलोचनात्मक मूल्यांकन तत्कालीन परिस्थितियों में करते हुए वे भविष्य के लिए विज्ञान और तकनीक के स्वरूप के निर्धारण के पक्ष में थे । यह स्वरूप ऐसा था जिसमें तकनीक का इस तरह विकास किया जाना था कि वह सबके लिए हितकारी हो । इस सन्दर्भ में एक उदाहरण चीनी उद्योग के सम्यक् विकास से सम्बन्धित उनकी रणनीति का दिया जाना उचित जान पड़ता है । चीनी उद्योग में चीनी के उत्पादन पर कम लागत आने तथा किसानों को भी समुचित मूल्य मिल पाने के लिए उन्होंने जो प्रौद्योगिकी के स्वरूप की बात की, वह पूर्ण व्यावहारिक और विलक्षण था ।[4]

ऊर्जा के किफायती खर्च की बात जो उन्होंने 20वीं सदी के तीसरे और चौथे दशक में की, वह आज हमारी अनिवार्यता बन गई है क्योंकि ऊर्जा के संसाधन हमारे गैरजिम्मेदाराना उपयोग से समाप्ति की ओर बढ़ रहे हैं । उन्होंने 1929 ई० में ही बुलन्दशहर के पास के एक गांव में किफायती ईंधन वाले चूल्हे का जो मॉडल देखा था, समाज की अनिवार्यता के आधार पर उसके प्रचार-प्रसार पर काफी बल देने की उन्होंने जरूरत महसूस की थी ।[5] जबकि एक ओर हरे खादों को देकर भूमि की उर्वरता और उसके गुणों को बरकरार करने की बात जो आज की जा रही है, वह बात आज से छः दशक पहले स्वामीजी कर गये ।[6]

चूंकि जमीन का आकार बढ़ाना सम्भव नहीं होता, अतः स्वामीजी अधिक उपज के लिए ज्यादा से ज्यादा उपलब्ध भूमि को नये वैज्ञानिक तरीकों से कृषित कर उत्पादन बढ़ाना चाहते थे तथा इसके लिए कीटनाशक दवाओं आदि के प्रयोग पर बल देते थे । इतने दिन गुजर जाने के बाद भी अब तक पूरी तरह कीट नियन्त्रण नहीं हो पा रहा है । वे कहने में विश्वास न कर करने में विश्वास रखते थे । वे मध्यकालीन सभ्यता की कीमिया[7] (अल्केमी) को भी नहीं नकारते थे और न ही भविष्य में उपग्रहों से यात्रा को ही, परन्तु इससे पहले वे विज्ञान के सामाजिक-आर्थिक पहलुओं पर बल देते थे ।

इसी सम्बन्ध में मछलियों से संबंधित एक बात की भी चर्चा आवश्यक जान पड़ती है । यद्यपि उस समय मत्स्य उद्योग आज की तरह विकसित नहीं था, परन्तु मछलियों को सुखाकर उसके व्यापार की व्यवस्था थी । इस व्यापार पर सम्बन्धित क्षेत्र के जमींदारों का एकाधिकार होता था अर्थात् मछलियाँ शोषण के साधन के रूप में जमींदारों का हित साधक बन रही थीं । खेती योग्य भूमि में बाँध बाँधकर पानी जमा होने के लिए छोड़ा जाता था और उसमें किसानों द्वारा अन्न पैदा किये

जाने के बदले जमीन्दारों के शिकार और आर्थिक लाभ के लिए मछलियाँ पलती थी।[8] आज मत्स्य उद्योग एक प्रमुख उद्योग के रूप में पनप रहा है तथा मछलियों के नस्ल के विकास के लिए काफी शोध हो रहे हैं, फिर भी मछलियों से प्राप्त होने वाली आय का अधिकांश पूँजीपतियों की जेब में जाता है अर्थात् आर्थिक संकेन्द्रण आज भी इस क्षेत्र में जारी है। क्या ऐसी स्थिति में मत्स्य-सम्बन्धी शोधों पर सिर्फ ध्यान देने और उसकी सामाजिक उपादेयता को नजरंदाज करने से आज काम चलने को है? निस्सन्देह नहीं। अतः आज तकनीकी विकास को समाज के अधिसंख्यक वर्गों के हित में उपयोग के लिए विज्ञान के सामाजिक मूल्यों का वर्तमान में आलोचनात्मक मूल्यांकन कर भविष्य की नीति निर्धारित करने की जरूरत है।

स्वामीजी के समय की यथार्थवादी मान्यताओं के अतिरिक्त भी आज कुछ अन्य क्षेत्रों पर ध्यान देना आवश्यक है। जैसे—स्वामीजी के समय मान्यता थी कि प्रकृति अपनी चक्रीय क्रियाओं के द्वारा हवा को शुद्ध और स्वच्छ बनाये रहती है,[9] परन्तु आज हमारी लापरवाही से पर्यावरण प्रदूषित हो रहा है। अतः आज विज्ञान की प्राथमिकताओं को निर्धारित करने में स्वामीजी की उपेक्षा असम्भव है।

अन्त में एक बात कहे बिना चर्चा पूरी नहीं हो सकती और वह यह है कि जहाँ भारत में विज्ञान संकाय ने भारत को डी० डी० कौशाम्बी और जवाहर लाल नेहरू सरीखे सजग प्रगतिवादी इतिहासकार दिये हैं जिनका इतिहास-दर्शन अधुनातन है, वहीं इतिहास के विद्वान आज प्राचीन और मध्यकालीन विज्ञान तथा प्रौद्योगिक के इतस्ततः जिक्र में ही अपना फर्ज पूरा समझ रहे हैं। बिहार में यह स्थिति और भी बदतर है क्योंकि यहाँ तो ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विज्ञान का अध्ययन पाठ्यक्रम में आने की कल्पना भी नहीं कर पा रहा है। लेकिन, मानवता की पेंचीदगियों से गुजरते आज के क्षण ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विज्ञान का अध्ययन, वर्तमान में उसके विकास के मूल्यांकन और भविष्य की रणनीति तय करने में दोनों के एक-दूसरे से सह-सम्बन्धित होने की प्रासंगिकता उपस्थित कर रहे हैं।

□

संदर्भ-सूची :

1. *Rahman, A. (Ed.), Science and Technology in Indian Culture*, p. 241.
2. Ibid, pp-237, 239.
3. Francis Becon, *Advancement of Learning*, Everyman's Publications, 1973 तथा सरस्वती, सहजानन्द, **क्रांति और संयुक्त मोर्चा**, pp. 125-28.
4. For details see—Presidential Address of Swami Sahajanand at *Cane Growers' Conference*, Patna, 1947.
5. सरस्वती, **मेरा जीवन संघर्ष**, पृ०-325.

6. वही, पृ०-324.
7. सरस्वती, किसान क्या करें ? पृ०-116.

'कीमिया' मध्ययुगीन सभ्यताओं में रसायन शास्त्र की ऐसी शाखा थी, जिसमें लोहे से सोना बनाने की पद्धति पर शोध हुए थे।

8. सरस्वती, किसान सभा के संस्मरण, पृ०-28-29, 41-43, 86.
9. सरस्वती, किसान क्या करें ? पृ०-10.

◆

31

विज्ञान से अपेक्षाएँ

—अलका पाण्डेय

पिछले पाँच निबंधों में स्वामीजी के विज्ञान के प्रति दृष्टिकोण और सामाजिक विकास में विज्ञान की सहभागिता से सम्बन्धित उनके विचारों का विवेचन हो चुका है। यहाँ हमारा उद्देश्य विज्ञान से उनकी अपेक्षाओं का मूल्यांकन करना है।

भारत के स्वतंत्रता संग्राम से सम्बन्धित राजनैतिक समुदाय सामाजिक विकास की प्रक्रिया में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के महत्त्व और भूमिका के प्रति पूर्ण सजग था[1]। स्वामी सहजानन्द सरस्वती और जवाहर लाल नेहरू के यथार्थवादी व्यावहारिक इतिहास-दर्शन से हमें यह बात पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है कि वे समाज और विज्ञान के बीच के अन्तर्संबन्धों के प्रति पूर्ण सचेत थे[2]। चूँकि हमारे अध्ययन का क्षेत्र स्वामी सहजानन्द के दृष्टिकोण का विश्लेषण तथा लक्ष्य और प्राप्ति के मापदण्ड से वर्तमान परिस्थिति से उसकी तुलना है, अतः हम अपने मुख्य प्रतिपाद्य पर आते हैं।

स्वामी सहजानन्द सरस्वती का विज्ञान के प्रति पूर्ण सकारात्मक और आशावादी दृष्टिकोण था तथा वे समाज के सम्यक् विकास में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के योगदान को काफी महत्त्व देते थे[3]। इस सम्बन्ध में स्मरणीय यह है कि वे अपनी आदर्श सामाजिक व्यवस्था में विज्ञान को किसान-मजदूरों के लिए हितकारी बनाना चाहते थे[4]। वस्तुतः प्रयोगाश्रित विज्ञान भारतीय राजनैतिक बुद्धिजीवियों की सोच का अंग बन गया था क्योंकि इसमें स्थानीय माल के प्रयोग और स्थानीय लोगों के रोजगार की पूरी-पूरी-सम्भावनाएँ थीं। दूसरी ओर अपने निहित स्वार्थ कायम रखने के लिए ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासक भी विज्ञान और प्रौद्योगिकी

के विकास के प्रति ध्यान देने लगे चूँकि अब प्रबुद्ध भारतीय वर्ग भी इस दिशा में सहभागी बन रहा था और साम्राज्यवादी शासकों ने अपने प्रत्यक्ष शासन की अल्पायु का अंदाजा लगा लिया था[5]।

साम्राज्यवादियों के इस निहित-स्वार्थ को स्वामीजी ने आँक लिया था और यह एक अतिरिक्त कारण था जो उन्हें समाजवादी व्यवस्था की ओर खींच रहा था और उसी व्यवस्था में उन्हें विज्ञान की वास्तविक तरक्की की उम्मीद थी[6]। वस्तुतः सभी युग में विज्ञान के विकास के कार्यान्वयन में सत्तासीन अभिजात्यों द्वारा ही दिशा निर्धारित होती रही है और अभी भी यह प्रक्रिया जारी है[7]। स्वाभाविक है कि स्वामीजी की समाजवादी समाज में आस्था इसलिए भी थी चूँकि वैसी स्थिति में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास के समय किसान मजदूरों के हित को नजरंदाज किया जाना संभव नहीं होता।

आजाद भारत में विज्ञान और प्रौद्योगिकी की उपलब्धियों के मूल्यांकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे देश में वैज्ञानिक शोध-योजनाएँ सामाजिक-आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति में असफल रही हैं। ध्यान रखने की बात है कि प्रारम्भिक योजनाओं के समय प्रारम्भिक उद्देश्य परा-संरचनात्मक स्वावलम्बन की प्राप्ति थी, जिस ओर हम काफी बढ़े भी। पाँचवी पंचवर्षीय योजनाओं के समय से ही देश की विज्ञान-सम्बन्धी नीति को सामाजिक-आर्थिक उद्देश्यों से जोड़ने की कोशिश रही है, परन्तु हम इस लक्ष्य की प्राप्ति में असमर्थ रहे हैं कि आम जनता को विज्ञान के विकास का पूर्ण लाभ मिल सके[8]। इसके पीछे बौद्धिक और राजनैतिक मध्यवर्ग की दुविधा का हाथ है क्योंकि देश की नीति निर्धारण में इनकी भागीदारी है और ये उत्पादन के सम्बन्धों को न तो समाज के गरीब तबकों के हित में परिवर्तित करना चाहते है और न ही इसमें सक्षम हैं।

उपर्युक्त परिस्थिति में स्वामीजी की विभिन्न रचनाओं में अभिव्यक्त समाज और विज्ञान के अन्तर्सम्बन्धों से सम्बन्धित विचारों के अध्ययन की आवश्यकता सहज ही महसूस होती है। साथ ही विज्ञान के विकास को शोषितों के हित में लगाने की उनकी सोच का सहज ही स्मरण हो आता है।

संदर्भ-सूची :

1. *Science Reporter*, No. 6 (7-8), July-August, 1065, p. 102.
2. सरस्वती, स्वामी सहजानन्द, **क्रांति और संयुक्त मोर्चा**, पृ० 125-26. सैद्धांतिक पक्ष के लिए, *Social Scientist*, March-April, 1989, Nos 191-92, pp 50-65.
3. सरस्वती, पूर्वोक्त, पृ० 127-28.
4. सरस्वती, बिहार प्रांतीय किसान सम्मेलन, ढकाइच 1949, पृ० 31-32 तथा **किसान क्या करें**, पृ० 'स' **किसान सभा के संस्मरण**, पृ० 165.
5. Correspondence between Secretary of State for India and A. V. Hill, President of the Royal Society, London, तथा Hill Report, 14 August 1944, cited in *Science vnd Technology in Indian Culture*, p 219.

6. देखें, प्रस्तुत संकलन का अध्याय 37.
7. See for details, Science and Technology in Post-independence Era : Some Issues and Problems, in *Science and Technology in Indian Culture*, p. 230.
8. See for details, Rahman, A., *Science Policy in India*, New Delhi, NISTADS, 1983.
9. See, Science and Technology in Post-independence Era : Some Issues and Problems, op. cit., p. 230-31.

□

खण्ड-ग

स्वामी सहजानन्द सरस्वती : जनवादी विज्ञान-आंदोलन के सूत्रधार

लेखक-परिचय :

25. **महेश राय**—आप बिहार विश्वविद्यालय के बी० एम० डी० कालेज, दयालपुर, में वनस्पति विज्ञान के व्याख्याता हैं। आपने मगध विश्वविद्यालय से 'एयरोबायोपोल्यूटेन्ट्स ऐट महात्मा गांधी सेतु, पटना शीर्षक शोध-प्रबंध पर पी० एच० डी० की डिग्री प्राप्त की है। इसके अतिरिक्त देश की विभिन्न शोध-पत्रिकाओं में आपके शोध निबंध प्रकाशित हो चुके हैं।

26. **तेजनारायण सिंह**—आप बिहार विश्वविद्यालय के बी० एम० डी० कालेज, दयालपुर, में रसायन शास्त्र के व्याख्याता के रूप में कार्यरत हैं। आपने 'सोआयल एनालिसिस' शीर्षक शोध-प्रबंध पर बिहार विश्वविद्यालय से पी० एच० डी० की डिग्री हासिल की हैं। आपके कई शोध निबंध भी प्रकाशित हो चुके हैं।

27. **नवल किशोर शर्मा**—आप बी० एम० डी० कालेज में भौतिक विज्ञान के व्याख्याता हैं।

28. **रामेश्वर चौधरी**—आप बी० एम० डी० कालेज में गणित विभाग में व्याख्याता हैं।

29. **रामचन्द्र ठाकुर**—आप पूर्व में उत्तर प्रदेश सरकार की सेवा में अभियंता थे। वर्त्तमान में बिहार राज्य विद्युत् बोर्ड, पटना, में अभियंता हैं।

30. **अखिलेश कुमार ठाकुर**—आप वर्तमान में भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद की 'ग्रोथ ऑफ फन्गस इन फूडग्रेन्स' शीर्षक शोध योजना के तहत ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा, में कार्यरत हैं। आपने उत्तर बिहार की कुछ प्रमुख मछलियों पर विषाक्तता के असर के आकलन से संबंधित शोध-प्रबंध पर पी० एच०डी० की उपाधि प्राप्त की है। राष्ट्रीय स्तर की विभिन्न शोध-पत्रिकाओं में आपके एक दर्जन से ज्यादा निबंध प्रकाशित हो चुके हैं।

31. **अलका पाण्डेय**—आपने मगध विश्वविद्यालय से जन्तु-विज्ञान में एम० एस-सी० की डिग्री प्राप्त की है तथा शोधरत हैं।

□

32

प्रतिबद्ध प्रयास की सीमाएँ

—अंजना कुमारी

स्वामी सहजानन्द सरस्वती एक विशिष्ट प्रतिभा-सम्पन्न समाज-सुधारक और राजनैतिक द्रष्टा थे। इसको सही परिप्रेक्ष्य में पं० राहुल सांकृत्यायन ने अपनी रचना **नये भारत के नए नेता** में उचित स्थान देकर सम्भावनाओं को असली रूप में लाने का प्रयास किया। किन्तु, वे बौद्धिक और राजनैतिक स्तर पर काफी अर्सों तक उपेक्षा के शिकार रहे जिसका विस्तार इसी खण्ड के एक अध्याय में किया गया है। स्वामीजी की बुद्धिजीवियों और सरकार द्वारा की जा रही उपेक्षा का विवाद उनकी शतवार्षिकी से पूर्व ही एक विश्लेषणात्मक निवन्ध से प्रारम्भ हो गया था। निबन्ध का शीर्षक था 'इतिहास-लेखन में स्वामी सहजानन्द सरस्वती उपेक्षित क्यों'? जो इस संकलन के अन्तिम अध्याय के रूप में प्रकाशित किया गया है। यद्यपि वह निवन्ध विहार सरकार ने 'काशी प्रसाद जायसवाल शोध संस्थान' की पत्रिका **प्रज्ञा भारती** के लिए लेखक से निवेदन कर मांगा था तथापि राजनीतिज्ञों, नौकरशाहों तथा बुद्धिजीवियों के एक प्रभावकारी हिस्से को उस लेख का वस्तुगत विश्लेषण, जो उनके निहित स्वार्थ पर तीखा किन्तु सच्चा प्रहार था, मान्य नहीं था। इसलिए उन्होंने अबौद्धिक कारणों से उस निवन्ध को पत्रिका के लिए उपयुक्त नहीं मानते हुए प्रकाशित करने से इन्कार भी कर दिया तथा तत्संबंधी किसी तरह के बौद्धिक वाद-विवाद में शामिल होने से इन्कार कर दिया। बुद्धिजीवियों में राष्ट्रीय स्तर पर इसकी प्रतिक्रिया हुई। इससे पूर्व भी एक पुस्तक से स्वामीजी के महत्वपूर्ण योगदान की उपेक्षा कर छाँटने के कारण विहार विधान सभा, विहार विधान परिषद तथा बुद्धिजीवियों के उदारवादी हल्कों में तीव्र प्रतिक्रिया हुई थी, जिसका कुछ वर्णन आगे एक अध्याय में किया जा रहा है। इसी के फलस्वरूप स्वामीजी के प्रति अपनाई गई भेदभावपूर्ण और उपेक्षा के बर्ताव की ओर कुछ प्रगतिशील बुद्धिजीवियों तथा राजनैतिक संगठनों का मजबूरन ध्यान आकृष्ट हुआ तथा उन्हें अनचाहे अपने अवसरवादी चरित्र को त्याग कर स्वामीजी के साहित्य और उन पर शोध की ओर कुछ न कुछ पहल करना ही पड़ा।

इसी पृष्ठभूमि में नीचे वर्णित संस्थाओं के कार्यकलाप का लेखा-जोखा दिया जा रहा है। ध्यान रखने की जरूरत है कि इन वस्तुगत कारणों से वैसी संस्थाएँ सम्भवतः प्रभावित नहीं हुई, जिनका एकमात्र उद्देश्य स्वामीजी के नाम पर चन्दे उगाहना, व्यक्तिगत लाभ के लिए प्रचार-प्रसार करना तथा स्मारिकाओं के लिए विज्ञापन से पैसा कमाना है। वे तो हर हालत में ऐसे सुअवसर, विशेषांक

और स्मारिका की प्रतीक्षा में लगे ही रहते हैं जिससे उन्हें व्यक्तिगत, आर्थिक और राजनैतिक लाभ मिल सके।

यहाँ स्वामीजी के नाम पर चलाये जाने वाले ऐसे शोध-संस्थानों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करना चाहेंगे जिनकी स्वामीजी के साहित्य, तत्सम्बन्धी शोध तथा उनके सिद्धान्त के प्रति प्रतिबद्धता अवश्य स्पष्ट है, भले ही उनमें कुछ दिशाहीनता और सुनियोजित चिन्तन का अभाव हो। मार्के की बात यह है कि ये सारे संस्थान सरकारी अनुदान, सेठ-साहूकार के चन्दे तथा सामन्ती और पूँजीवादी कृपा पर न आश्रित होकर, छोटे-छोटे किसान-मजदूर और बुद्धिजीवी के अल्प चन्दे पर निर्भर करते हैं। इन संस्थाओं में जीवन्त उत्साह और लक्ष्य-प्राप्ति के लिए परिश्रम करने के निश्चित संकेत भी द्रष्टव्य हैं। इन्हीं में एक भोजपुर जिला के बक्सर में **'श्री स्वामी सहजानन्द सरस्वती स्मारक-न्यास** है। इसके संस्थापक अध्यक्ष दण्डी स्वामी विमलानन्द सरस्वती हैं। 1988 में इसकी ओर से स्वामीजी की प्रसिद्ध रचना 'गीता-हृदय' का द्वितीय संस्करण प्रकाशित हुआ है तथा स्वामीजी के जीवन पर आधारित 'देवा की दिव्य विभूति' नामक महाकाव्य भी प्रकाशन की प्रक्रिया में है।

गया का **'स्वामी सहजानन्द विचार मंच'** भी एक ऐसी संस्था है जिसने जननायक 'स्वामी सहजानन्द सरस्वती' वर्ष 1973 में, 'स्वामी सहजानन्द सरस्वती स्मृति ग्रन्थ' 1982 में, 'स्वामी सहजानन्द की विचारधारा' 1988 में तथा 'स्वामी सहजानन्द का वसीयतनामा' 1989 में प्रकाशित कराया है तथा अन्य कुछ महत्वपूर्ण प्रकाशन की योजना बना रखा है। इनके प्रकाशन बौद्धिक दृष्टि से काफी रोचक और उपयोगी हैं।

गाजीपुर का **'स्वामी सहजानन्द सरस्वती विद्यापीठ महाविद्यालय'** ने अपनी पत्रिका 'निवेदिता' का स्वामी सहजानन्द सरस्वती जन्मशती विशेषांक 1987-88 तथा 1988-89 प्रकाशित किया है। इसके संस्थापक केशव प्रसाद शर्मा हैं। मात्र-80 पृष्ठों का यह लघु विशेषांक निश्चित रूप से अबतक स्वामीजी पर प्रकाशित विशेषांकों में बौद्धिक तथा योजनाबद्ध दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट हैं। इसके अधिकांश लेख स्वामीजी की बहुमुखी प्रतिभा के विभिन्न अंगों पर रोचक एवं नवीनतम प्रकाश डालते हैं। रोचक यह है कि इसमें न एक विज्ञापन है और न किसी नेता की तस्वीर ही। सम्भवतः इनका दूसरा प्रकाशन स्वामीजी लिखित "ब्रह्मर्षि-वंश-विस्तर" का नया संस्करण है तथा कुछ और प्रकाशन की योजना है। बनारस का **'सहजानन्द अध्ययन-शोध प्रकाशन संस्थान'** तथा **'सहजानन्द शोध संस्थान'** भी कुछ उपयोगी प्रकाशन करा चुका है। चन्द्रभूषण इसके कर्मठ पदाधिकारी प्रतीत होते हैं तथा नक्सल-पंथियों की राजनीति से यह सम्बद्ध प्रतीत होता है। स्वामीजी की प्रसिद्ध पुस्तक 'क्रांति और संयुक्त मोर्चा' के प्रथम अध्याय क्रांति और उसकी किस्में को उन्होंने प्रकाशित कराया है तथा उनका दूसरा प्रकाशन 'वाल्टर हाउजर' की पुस्तक के कुछ अंश का हिन्दी रूपांतर स्वामीजी पर कुछ अन्य निबन्धों के साथ है। संभवतः कुछ और प्रकाशन की योजना भी है। इनके प्रकाशित अंश शोधपूर्ण और उपयोगी अवश्य हैं किन्तु इन्हें अपनी संकीर्ण राजनीति के ढाल के

रूप में अदृश्य रूप से रखने का प्रयास भी है। बनारस विश्वविद्यालय के कुछ लोगों की तरफ से 'स्वामी सहजानन्द सरस्वती शताब्दी समारोह समिति' गठित की गई है। इसके **संयोजक डॉ० अरूण कुमार राय** हैं। इनके प्रकाशन के संबंध में कुछ कहना मुश्किल है, क्योंकि ये अप्रकाशित हैं। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग की तरफ से स्वामीजी की शतवार्षिकी के अवसर पर 1989 में एक विचार-गोष्ठी का आयोजन हुआ था जिसमें स्वामीजी से संबद्ध कई लेख प्रस्तुत किये गये थे। इनके गुणात्मक महत्व को आंकना तत्काल कठिन है चूँकि उसकी कार्यवाही अप्रकाशित हैं। ज्ञातव्य है कि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने इसके लिए पैसा उपलब्ध कराया था तथा यह विचार-गोष्ठी जातीय राजनीति एवं साजिश के विवाद में फँस गया। पटना के अनुग्रह नारायण शोध संस्थान के निदेशक प्रो० प्रधान हरिशंकर की अध्यक्षता में उस संस्थान में स्वामीजी पर एक प्रामाणिक और शोधपूर्ण ग्रन्थ तैयार करने के लिए एक बैठक हुई, जिसमें अन्य लोगों के अतिरिक्त भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के जगन्नाथ सरकार तथा सी० पी० एम० के गणेश शंकर विद्यार्थी भी मौजूद थे। इनकी प्रस्तावित योजना की प्रगति सम्भवतः काफी धीमी है और अवतक यह प्रकाशनार्थ प्रेस में भेजा नहीं गया है। इसके प्रमुख पदाधिकारी डा० शैवाल गुप्ता हैं तथा स्वामी सहजानन्द सरस्वती जन्म शताब्दी आयोजन समिति के नाम से यह कार्यरत है।

इस सन्दर्भ में भा० क० पा० से सम्बद्ध दिल्ली के 'पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस' का उल्लेख आवश्यक है। ऊपर वर्णित निवन्ध के प्रकाशन की अनुमति विहार सरकार द्वारा नहीं दिये जाने से उत्पन्न विवाद की पृष्ठभूमि के पश्चात ऊपर में वर्णित अधिकांश संस्थाओं तथा इस संकलन के प्रकाशन की योजना को मूर्त रूप दिये जाने के वाद पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस तथा उससे संवद्ध बुद्धिजीवियों के लिए कुछ मजबूरी हुई कि वे भी स्वामीजी के प्रति उपेक्षा का रूख बहुत दिनों तक चला नहीं सकते थे और उन्हें भी कुछ स्वामीजी के साहित्य के संबंध में योगदान करना ही था। इधर नक्सलपंथियों के प्रभाव का सहजानन्द शोध संस्थान ने अपनी राजनीति के प्रचार और प्रसार के लिए स्वामीजी के साहित्य को अपनी भूमिका के साथ प्रकाशन करना प्रारम्भ कर दिया। मजबूरी की इसी पृष्ठभूमि में स्वामीजी की मृत्यु के लगभग 40वर्ष बाद पी.पी.एच. ने उनके साहित्य के प्रकाशन में रुचि दिखाना प्रारंभ किया। **'मेरा जीवन संघर्ष' 'किसान क्या करें,'** तथा **'किसान कैसे लड़ते हैं'** को उन्होंने अभी-अभी प्रकाशित किया है, किन्तु 'क्रान्ति और संयुक्त मोर्चा,' 'किसान सभा के संस्मरण' सरीखे पुस्तकों को प्रकाशित कराने में उनकी हिचकिचाहट बनी रही। फलस्वरूप इनके अपने कार्यकर्ताओं के एक हिस्से में असन्तोष की भावना बढ़ती गई। अन्ततोगत्वा इन्हें अभी-अभी इन पुस्तकों को भी प्रकाशित करने का निर्णय लेना पड़ा है। साथ ही 'गीता हृदय' जिसका नया संस्करण अभी-अभी निकल चुका है, उसके भी नये संस्करण को प्रकाशित करने का निर्णय इस कारण लेना पड़ा कि 'पीपुलम पब्लिशिंग हाउस' से उसका व्यापक प्रसार संभव है, जो अन्यथा संभव नहीं था। चाहे कारण जो भी रहा हो किन्तु वर्तमान रुख प्रशंसनीय है और इनके प्रकाशन और भावी प्रकाशन से स्वामीजी के साहित्य और उनके सिद्धान्तों को व्यापक आधार मिलेगा।

इन प्रमुख संस्थानों के अतिरिक्त इस शतवार्षिकी के मौके पर बहुत सारी

पत्र-पत्रिकाओं ने स्वामीजी के सम्बन्ध में कुछ लेख प्रकाशित किये हैं तथा उनके कुछ निबन्ध काफी महत्वपूर्ण भी हैं। लेकिन एक महत्वपूर्ण चीज इस सन्दर्भ में यह है कि अभी भी हिन्दी के माध्यम से ही वर्णित संस्थाएँ स्वामीजी पर कार्यक्रम चला रही हैं, अंग्रेजी भाषी बुद्धिजीवियों ने अभी भी बड़े पैमाने पर उपेक्षा का ही रुख अपनाया है। अगर यह भी मान लिया जाए कि इसका एक प्रमुख कारण स्वामीजी की रचनाओं का अंग्रेजी में उपलब्ध नहीं होना है, तो भी यह बुद्धिजीवियों के व्यक्तिगत एवं संस्थागत उपेक्षा का द्योतक है—किसी तर्कयुक्त मजबूरी का नहीं। यह स्वामीजी की विचारधारा के कारण भी सम्भवतः हो सकता है। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण देना आवश्यक प्रतीत होता है। 'इण्डियन पोलिटिकल मूवमेंट (1900-1971) : ए सिस्टमेटिक बिब्लोग्राफी' के पाँच सौ पृष्ठों में स्वामीजी पर अंग्रेजी में मात्र दो लेखों का जिक्र है और हिन्दू महासभा और जनसंघ जैसी पार्टी पर विस्तृत सन्दर्भ सूची होते हुए भी **स्वामीजी की किसान सभा** का जिक्र तक नहीं है। यह इतना तो अवश्य ही संकेत करता है कि अंग्रेजी में लिखने वाले विद्वानों ने स्वामीजी के साहित्य का बड़े पैमाने पर गम्भीरतापूर्वक अध्ययन कर विश्लेषणात्मक कृतियाँ प्रस्तुत करने से परहेज ही रखा है। फलस्वरूप दिल्ली विश्वविद्यालय, जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, कलकत्ता के 'इन्सटीच्युट ऑफ एडवान्स्ड हिस्टोरिकल स्टडीज, नेहरू मेमोरियल म्यूजियम, भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग आदि से सम्बद्ध विद्वानों ने स्वामीजी के साहित्य पर कोई योजनावद्ध विश्लेषणात्मक अध्ययन नहीं तैयार किया है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं लिया जाना चाहिए कि छिट-पुट ढंग से अंग्रेजी में उन पर अध्ययन हुआ ही नहीं है, किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि इस तरह के अधिकांश अध्ययन छिछले और अति संक्षिप्त हैं। यहाँ यह बता देना समीचीन होगा कि नेहरू मेमोरियल म्यूजियम और लाइब्रेरी को इसकी दाद दी जानी ही चाहिए कि स्वामीजी की रचनाओं का सबसे समृद्ध भंडारण उसने किया।

कुछ शोध संस्थाएँ जो अपने को स्वामीजी के प्रति प्रतिबद्ध बताती हैं, वे कार्यक्रम में अपनी प्राथमिकता को भी भूल रही हैं। शोध-ग्रन्थ निकालने के बजाय वे स्वामीजी की प्रतिमा को स्थापित करने तथा उनके सम्मान में डाक टिकट निर्गत कराने के आंदोलन में अपने मूल लक्ष्य को भूलकर तल्लीन हो रही हैं। कुछ स्मारिकाएँ निकालने के नाम पर विज्ञापन और अनुदान जुटाने से ही सन्तुष्ट हो रहे हैं तथा कुछ वर्षों से उनके साहित्य तथा तत्सम्बन्धी शोध प्रतिफल प्रकाशित कराने की घोषणा मात्र से अपनी जबावदेही से मुक्त हो रहे हैं। इसी तरह की उपेक्षा या अपेक्षा की दौर से स्वामीजी से सम्बद्ध समीक्षात्मक अध्ययन लगभग आधी शताब्दी से गुजर रहा है। एक शुभ संकेत यह है कि विजय चन्द्र चौधरी द्वारा प्रस्तुत लेख के पश्चात् जो चिन्तन की नयी प्रक्रिया प्रारम्भ हुई है उसके फलस्वरूप बुद्धिजीवियों के एक हलके का तथा कुछ शोध-संस्थानों का नए सिरे से इस समस्या की ओर सहसा ध्यान आकृष्ट हुआ है। परिणाम स्वरूप स्वामीजी के साहित्य का पुनर्मुद्रण, उनकी पुण्य स्मृति में कुछ स्मारिकाएँ तथा कुछ नए-नए निबन्ध प्रकाशित होने प्रारम्भ हुए हैं। वर्त्तमान संकलन भी उसी नये चिन्तन की अगली कड़ी है। आशा की जा सकती है कि भविष्य में बौद्धिक जगत के साथ-साथ समाज के अन्य लोग भी इस नए चिन्तन से और बड़े पैमाने पर जुड़ेंगे। ⊡

33

संस्थानिष्ठ स्वार्थ की वक्रदृष्टि

—महेश प्रसाद सिंह

व्यक्ति की तरह संस्थाओं का भी वर्ग निश्चित होता है, जो विभिन्न कारकों-प्रतिकारकों की अन्तस्क्रिया का परिणाम होता है। संस्थाओं का वर्ग होने के कारण इनका भी वर्ग-स्वार्थ होता है और इसी वर्ग-स्वार्थ की परिधि में उसके सारे कार्य-कलाप निर्देशित होते हैं। वर्ग-आधार के अलावे संस्थाओं का राजनैतिक आधार भी होता है और ये दोनों आधार संस्थाओं के सूत्रधार और दबाव-समूह के वर्गीय, व्यक्तिवादी और राजनैतिक आधार द्वारा निरूपित होते हैं। प्रस्तुत निबन्ध में हम सरकारी और वैयक्तिक बौद्धिक संस्थानों द्वारा स्वामी सहजानन्द सरस्वती जैसी महान विभूति की शतवार्षिकी के अवसर पर किये गये बौद्धिक प्रयत्नों का विश्लेषण कर यह स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे कि उपेक्षायें एवं अपेक्षायें—दोनों ही वर्गीय रागानुराग से प्रभावित संस्थागत स्वार्थों के माध्यम से ही अभिव्यक्त होती हैं।

इस सन्दर्भ में कुछ बातें प्रारम्भ में ही समझ लेना आवश्यक है। स्मरण रखने की बात है कि स्वामीजी की शतवार्षिकी होते हुए भी इनके गाँव में भी अब-तक लाख प्रयास के बावजूद कोई स्मारक नहीं बन सका और राष्ट्रीय स्तर तक संयुक्त प्रयास से न तो सरकारी स्तर पर और न खानगी स्तर पर ही शतवार्षिकी मनाने की कोई बड़ी योजना बनी। इस तरह के समारोह का कैसा वर्गीय, अवसर-वादी और व्यक्तिवादी स्वरूप होता है, यह पंडित जवाहर लाल नेहरू के शतवार्षिकी समारोहों के प्रेक्षण से स्पष्ट हो जायगा। हमने देखा कि नेहरू जैसी विश्व की महान विभूति की शतवार्षिकी उनके दौहित्र भूतपूर्व प्रधानमन्त्री राजीव गाँधी के नेतृत्व में केन्द्रीय स्तर पर जिस जोश-खरोश से मनायी जा रही थी, अनायास राजनैतिक सत्ता-परिवर्तन ने वर्णित व्यक्तिवादी और अवसरवादी आधार पर उसमें एक ऐसे निर्लज्ज प्रकरण के प्रारम्भिक चिह्न प्रदर्शित किये हैं जो हमारे राष्ट्र के समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष और प्रजातांत्रिक मूल्यों के लिए खतरे की घण्टी-सी नजर आती है। मांडू के भूतपूर्व राजा—'राजा नहीं, फकीर,' 'सच्चे कांग्रेसी तथा सर्वोदयी और इस हैसियत से गाँधी, नेहरू, बिनोवा और इंदिरा गांधी के प्रति आस्थावान, वंशानुगत शासन के घोर विरोधी, परन्तु हरियाणा के मुख्यमन्त्री के पद पर देवीलाल के सुपुत्र चौताला को बिठाने वाले तथा राजीव गांधी के निकटस्थ सम्बन्धी मेनका और अरूण नेहरू को अपने मन्त्रिमण्डल में शामिल करनेवाले, 1975 के आपात्काल के घोर समर्थक, मूल्यों पर आधारित राजनीति के अग्रदूत एवं पदलोलुपता के कट्टर 'दुश्मन' और 'वैरागी' वर्त्तमान प्रधानमन्त्री-सह-जनता दल अध्यक्ष विश्वनाथ प्रताप सिंह ने राष्ट्र के नाम दिये गये सन्देश में हमारे चिर-परीक्षित व्यावहारिक आदर्शों के प्रति सर्वथा उपेक्षा का भाव अपनाया। उन्हें पद तथा सत्ता से वैराग्य, स्वच्छ राजनीति के प्रति अटूट निष्ठा तथा भारत की

गौरवमयी सांस्कृतिक परम्पराओं के प्रतिनिधि तथा आदर्श के रूप में व्यक्त करने के लिए सिर्फ जयप्रकाश और राममनोहर लोहिया जैसे दो ही नाम मिले।[1] आश्चर्य तो और भी अधिक तब होता है जब नेहरू के परिजनों और गांधीजी के पौत्र के अपने दल के प्रधानमन्त्री ने उनके नाम को न लेकर गांधी और नेहरू के कालातीत और सर्वमान्य आदर्शों को लगभग भूलने का निर्देश दिया, जबकि आज पूरी मानवता उनका कायल है। फिर स्वामीजी को कौन याद रखे जिन्हें न अमरीकी या ब्रिटिश डिग्री थी ?

परन्तु, दलगत, वर्गीय, अवसरवादी एवं सुविधाभोगी व्यवस्था में जब शतवार्षिकी के अवसर पर नेहरू की यह दुर्दशा और गांधी को भूलाने का प्रयत्न हो रहा है, तो स्वामीजी की जो भी उपेक्षा हो रही है उसे कम ही माना जाना चाहिए। चूँकि प्रस्तुत निबन्ध में हमारा उद्देश्य सरकारी बौद्धिक संस्थानों तथा स्वामीजी के नाम पर स्थापित खानगी बौद्धिक संस्थानों की स्वामीजी के प्रति अपनाई गई कार्य-विधि का विश्लेषण करना है, अतः हम अपनी मूल उपस्थापनाओं की पुष्टि के लिए वर्तमान राजनैतिक पृष्ठभूमि का हवाला देकर अब यह जानने का प्रयत्न कर रहे हैं कि क्या प्रशासनिक और राजनैतिक क्षेत्रों की तरह बौद्धिक जगत में भी उपेक्षा हुई और यदि हाँ, तो क्या यह उपेक्षा निश्चित है ?

कुछ दूसरे सन्दर्भ में अनेक विश्लेषणात्मक अध्ययन मौजूद हैं[2] जो वस्तुगत ढंग से इस तथ्य को संपुष्ट करते हैं कि बौद्धिक जगत और शोध-क्षेत्र का भी राजनैतिक और वर्गीय आधार है। उपेक्षा या अपेक्षा उन्हीं की प्राथमिकता से निर्देशित होती है। स्वामीजी की उपेक्षा का भी वही आधार है। अन्तिम अध्याय में मध्यम वर्गीय बुद्धिजीवी के अवसरवादी चरित्र का संक्षिप्त विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है, किन्तु आश्चर्य का विषय यह है कि प्रतिबद्ध प्रगतिशील इतिहासकार भी स्वामीजी के चरित्र को उजागर करने में उसी तरह के अवसरवादी एवं सुविधाभोगी चरित्र का परिचय देते प्रतीत होते हैं। भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद की ही मिसाल लें। कांग्रेसी प्रधानमन्त्री स्व० श्रीमती इन्दिरा गाँधी तथा श्री राजीव गाँधी ने क्रमशः उसके अध्यक्ष पद पर भारतीय कम्युनिष्ट पार्टी से सम्बद्ध और सिरमौर मार्क्सवादी इतिहासकार प्रो० रामशरण शर्मा तथा सी० पी० एम० से संबद्ध प्रसिद्ध मार्क्सवादी इतिहासकार प्रो० इर्फान हबीब को मनोनीत किया। भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद भारतीय इतिहास को योजनावद्ध ढंग से तैयार कराने की सबसे बड़ी राष्ट्रीय संस्था है तथा प्रो० हबीब उसके वर्तमान अध्यक्ष हैं। ध्यान देने योग्य वात है कि जहाँ इस वर्ष पं० जवाहर लाल नेहरू की शतवार्षिकी मनाने के लिए विचार-गोष्ठी, भाषणमाला आदि के आयोजन के लिए परिषद के अध्यक्ष प्रो० हबीब ने लाखों रुपये की राशि उपलब्ध कराई है तथा कम से कम दो खण्डों में लगभग दो हजार पृष्ठों में इन आयोजनों के लिए चक्र लिखित बौद्धिक मार्गदर्शिका प्रसारित कराई है, वहाँ स्वामीजी की शतवार्षिकी के लिए कुछ भी न कराया गया है और हर तरह से उन्हें उपेक्षित ही रखा गया है। हमारी शिकायत इस बात की नहीं है कि नेहरू जी की शतवार्षिकी पर ऐसा क्यों हुआ ? सच तो यह है कि नेहरू जैसे व्यक्तित्व के लिए और भी कुछ अधिक होना चाहिए था। हमारी जिज्ञासा यह है कि सी० पी० एम० से सम्बद्ध प्रो० हबीब जैसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के इतिहासकार के नेतृत्व में चलनेवाली भारतीय इतिहास अनुसंधान

परिषद ने कुछ छोटे ही स्तर पर स्वामीजी की शतवार्षिकी के उपलक्ष में वैसी कोई योजना क्यों नहीं बनाई ? यह तो प्रो० हबीब के सन्दर्भ में मानना मुश्किल है कि अन्य मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवियों की तरह उनका भी सुविधाभोगी और अवसरवादी चरित्र इतिहास-लेखन योजनाओं को प्रभावित करता है तथा स्वामीजी का कोई नाती या सम्बन्धी भारत का प्रधानमन्त्री नहीं है इसलिए बौद्धिक जगत द्वारा उनकी उपेक्षा अनिवार्य हो गया है या स्वामीजी के सगे सम्बन्धी कोई इन्दिरा गाँधी या राजीव गाँधी जैसी राजनैतिक हस्ती नहीं कि वह किसी को बौद्धिक संस्थाओं का अध्यक्ष या अधिकारी मनोनीत करा सके ।

उसी तरह परिषद के भूतपूर्व अध्यक्ष प्रो० रामशरण शर्मा बिहार सरकार के कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल के शिक्षा मंत्री डा० नागेन्द्र झा द्वारा "हंड्रेड इयर्स ऑफ इण्डियन नेशनल कांग्रेस इन बिहार" (1885-1985) की लगभग हजार पृष्ठों की पुस्तक के सलाहकार मंडल के सदस्य मनोनीत किये गए। फिर भी उस पुस्तक में स्वामीजी जैसे महापुरुषों की घोर उपेक्षा के साथ-साथ महाराजा लक्ष्मीश्वर सिंह जैसे सामन्ती शोषक और साम्राज्यवादी पिट्ठू के चरित्र को ऐसा उजागर किया गया कि बिहार विधान परिषद और बिहार विधान सभा बहस के दौरान 'शर्म-शर्म' की आवाज से गूँज उठा ।[3] फिर प्रो० शर्मा के स्वामीजी के प्रति उस अवहेलनापूर्ण रुख को किस कोटि में रखा जा सकता है ? वर्णित इतिहासकारों के इतिहास-लेखन में तथा संस्थागत विकास एवं संचालन में वैज्ञानिक और व्यापक उदारवादी दृष्टिकोण से विद्वत् जगत भलीभाँति परिचित है। अगर उस कार्यकलाप को मध्यमवर्गीय अवसरवादी तथा सुविधाभोगी वर्गाधार की कोटि में नहीं रखा जाए तो फिर किस कोटि में रखा जाए ? इस उलझन का समुचित समाधान नहीं मिल पा रहा है और विद्वत्-जगत से उनके समुचित उत्तर के लिए इन प्रश्नों को रखकर कुछ अन्य बौद्धिक संस्थाओं के कार्यकलापों का एक संक्षिप्त समीक्षात्मक विश्लेषण करने का प्रयास किया जा रहा है। डॉ० शैवाल गुप्ता जैसे युवा मार्क्सवादी चिन्तक की भी यही मनोवृत्ति हैं ।[4]

अन्यत्र कुछ संस्थाओं का इस सन्दर्भ में उनके कार्यकलापों का वर्णन किया जा चुका हैं। अब उपर्युक्त राजनैतिक और बौद्धिक पृष्टभूमि में हम स्वामीजी के सन्दर्भ में कुछ और बौद्धिक संस्थाओं के कार्यकलाप को प्रस्तुत करने जा रहे हैं जिससे अधिकांश प्रमुख बौद्धिक संस्थागत नजरअंदाजी की रूपरेखा तैयार हो सके। कुछ सरकारी एवं अर्द्ध-सरकारी संस्थाओं का वर्णन अध्याय एक में किया जा चुका है जिसकी पुनरावृत्ति यहाँ अनावश्यक है। अब बिहार इतिहास परिषद का ही उदाहरण लें जो राज्य स्तर पर बिहार के इतिहासकारों की प्रमुख संस्था है। 1977 में किसान आंदोलन पर इसके तत्वाधान में एक राष्ट्रीय स्तर की अच्छी विचारगोष्ठी हुई जिसमें लगभग बीस निबन्ध प्रस्तुत किये गए, किन्तु उसमें एक भी निबन्ध स्वामीजी से सम्बद्ध नहीं था। एकाध निबन्ध में चलते-चलते उनका जिक्र अवश्य था। उससे भी बढ़कर आश्चर्य यह है कि यद्यपि 1977 से अबतक बिहार इतिहास परिषद के अनेक प्रकाशन हुए हैं, तथापि इस संकलन को अप्रकाशित ही छोड़ दिया गया है; आखिर इस उपेक्षा का क्या तार्किक कारण हो सकता है ?

अब बिहार सरकार की "हिन्दी ग्रन्थ एकेडमी" तथा राष्ट्रीय स्तर पर "नेशनल बुक ट्रस्ट" के प्रकाशनों का विश्लेषण करने के पश्चात उपेक्षा की इसी

करुण कहानी की पुनरावृत्ति नजर आती है। इन दो संस्थाओं ने क्रमशः हिन्दी और अंग्रेजी में बिहार और देश की महान विभूतियों के जीवन वृतान्त प्रकाशित किया हैं, किन्तु स्वामीजी के जीवन वृतान्त न प्रकाशित हुए हैं और न भविष्य की कोई योजना ही है। लगभग यही रुख देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों एवं अन्य बौद्धिक संस्थाओं का है।

अब हम एक नजर वैसी बौद्धिक संस्थानों पर दें जिनका नामकरण ही स्वामीजी के ही नाम पर है तथा जिनके एकमात्र उद्देश्य स्वामीजी से सम्बद्ध विषयों पर शोध करना एवं ग्रन्थ प्रकाशित करना है। अब दिल्ली के "स्वामी सहजानन्द सरस्वती विचार मंच" के बौद्धिक कार्यकलाप की समीक्षा करें। इन्होंने स्वामीजी की शतवार्षिकी के अवसर पर एक स्मारिका प्रकाशित कराई है। इस संकलन के निबंधों से इतना स्पष्ट है कि यह बौद्धिक कसरत से ज्यादा पैसे पर विभिन्न चीजों के पक्ष में आर्थिक भुगतान के आधार पर विज्ञापन तालिका है, क्योंकि निबन्धों से ज्यादा इस संकलन में विज्ञापन ही हैं। इसकी अन्य विशेषताऐं भी कुछ कम रोचक नहीं हैं। निबन्धों के बौद्धिक स्तर तो इतने छिछले हैं कि राष्ट्रीय स्तर की इस स्मारिका से यह भी आभास मिलना मुश्किल है कि दिल्ली में अवस्थित तीन-तीन विश्वविद्यालयों और दर्जनों शोध-संस्थानों में कोई विद्वान भी रहते हैं। पता नहीं वहाँ के विद्वानों ने इस स्मारिका का वहिष्कार किया है या इसके आयोजकों ने उनके सहयोग की उपेक्षा की हैं। यद्यपि उनमें प्रकाशित निवन्धों की भाषा हिन्दी और अंग्रेजी दोनों हैं, तथापि दण्डी स्वामी विमलानन्द सरस्वती के मूल हिन्दी निवन्ध को अंग्रेजी में अनुवाद कर छापने का क्या औचित्य हैं? इसमें प्रकाशित तस्वीरें भी कोई कम रोचक नहीं हैं। यद्यपि स्वामीजी की एक ही मुद्रा की तस्वीर इसमें अवश्य है तथापि विभिन्न नेताओं तथा लेखकों की अनेक तस्वीरें हैं तथा मंच के अध्यक्ष डा० रामकरण शर्मा की तो दो-दो तस्वीरें हैं। मंच के प्रमुख उद्देश्यों में स्वामीजी से सम्बद्ध साहित्य का प्रकाशन कराना है तथा स्वामींजी द्वारा "शुरू किये गए कार्यों को तेजी से आगे वढ़ाना" हैं।[5] किन्तु अबतक तो मंच के किसी दूसरे कार्यकलापों की सूचना प्राप्त नहीं हो रही है।

वर्णित मंच का इतिहास कम से कम पटना के स्वामी सहजानन्द स्मारक समिति से कहीं गौरवपूर्ण है। पटना स्थित समिति को सरकार द्वारा नगर के प्रमुख स्थान पर जमीन मिली, सरकारी एवं अन्य अनुदान से छोटा मकान वना हुआ है तथा पक्ष और विपक्ष के लगभग सभी प्रमुख नेता समिति से कभी न कभी जुड़े रहे हैं, किन्तु यहाँ से कोई भी बौद्धिक या अन्य कार्य का सूत्रपात नहीं हो रहा हैं। एकाध बार दो-चार पृष्ठों का पैम्पलेट अवश्य प्रकाशित हुआ है जो तथ्यों की अशुद्धियों के लिए आलोच्च है। पैसे की हेराफेरी एवं आपसी कलह के लिए यह समिति आरोपित है। ऐसी स्थिति में यह समिति स्वामीजी के सारे आदर्शों की स्वयं उपेक्षा कर रही हैं। यह इस माहौल में अपनी लाख घोषणा के बावजूद बौद्धिक विकास करने में असक्षम है।

मुजफ्फरपुर के "स्वामी सहजानन्द सरस्वती विकास सेवा संस्थान" ने इस शतवार्षिकी के मौके पर एक 271 पृष्ठों की स्मारिका प्रकाशित कराई है। अन्य संस्थानों की तरह इनका भी उद्घोषित कार्यक्रम स्वामीजी की विचारधारा का

प्रचार एवं प्रसार बौद्धिक स्तर से करना है किन्तु अभी तक के कार्यकलाप से ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामीजी के नाम पर उनके आदर्शों के विपरीत व्यक्तिगत लाभ के लिए धन-संग्रह और अपने-अपने व्यक्तित्व का विज्ञापन करना है। अब देखिये स्वामीजी के विचार और साहित्य के प्रचार और प्रसार के नाम पर इस संस्थान ने मात्र एक-दो रुपये का कैलेण्डर छपवाया है जो बड़े पैमाने पर बेचा जा रहा है। इस कैलेण्डर की विशेषता यह है कि स्वामीजी की मात्र एक तस्वीर है किन्तु उनके नीचे इसके अध्यक्ष डा० सी० पी० एन० ठाकुर तथा सचिव डा० महाचन्द्र प्र० सिंह की तस्वीरें हैं। कैलेण्डर से तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानों स्वामीजी रूपी रामचन्द्र के यही दो वर्तमान हनुमान हों। पहली जनवरी 1990 को पर्याप्त राशि खर्च कर समाचार पत्रों में डा० सिंह की तस्वीर के साथ नये वर्ष की शुभ कामना विज्ञापित की गई है।[6] इस तरह का कार्यकलाप स्वामीजी के आदर्शों के विपरीत तो है ही जिस पर तीव्रतम प्रतिक्रिया भी हुई है[7] जैसा कि इस संकलन के संयोजक के प्रतिवेदन में संकेत किया गया है।

इसी श्रेणी में पटना 'बिहार विकास संस्थान' द्वारा प्रकाशित **स्वामी सहजा सरस्वती** 98 वाँ जन्म दिवस विशेषांक (समर्पण का वर्ष 1987 अंक-1) है जो विज्ञापन और नेताओं की तस्वीरों से भरा पड़ा है। इस स्मारिका के भी अधिकांश निबन्ध अन्यत्र के प्रकाशित अंश हैं तथा संकलन के लिए अलग से लगभग एक भी निबन्ध तैयार नहीं किया गया है। इस संस्थान द्वारा उस स्मारिका में बटोरे गए विज्ञापन के बाद स्वामीजी से सम्बद्ध किसी साहित्य के प्रकाशन की अबतक कोई सूचना नहीं है। इसी कोटि में कलकत्ता के 'पश्चिम बंगाल ब्रह्मर्षि परिषद' की स्वामी सहजानन्द सरस्वती स्मारिका को रखा जा सकता है जो स्वामीजी की ९७ जयन्ती समारोह के सन्दर्भ में 1986 में प्रकाशित हुई। यह भी इसके पदाधिकारियों की तस्वीरों एवं विज्ञापनों से भरा परा हैं। इसकी बौद्धिक क्षमता और उपेक्षा की भावना का अन्दाजा मात्र इससे किया जा सकता है कि आवरण पृष्ठ पर सहजानन्द की जगह 'साहजानन्द' मुद्रित किया गया है।

पटना के 'स्वामी सहजानन्द सामाजिक विकास एवं शोध संस्थान' एक नई संस्था है जो स्वामीजी से सम्बन्धित साहित्य को प्रकाशित करना अपना प्रमुख उद्देश्य मान रही है। अबतक इसने दो पृष्ठों का एक पैम्पलेट छपवाया है जिसका शीर्षक है 'अनुरोध है—देश की जनता से।' उस पर्चे पर जो नारे अंकित हैं वे निम्नलिखित हैं—"अमर शहीद अमर रहें—अमर रहे—भारत माता की जय—एकतन्त्र मुर्दाबाद"। यद्यपि 11 नवम्बर 1989 को पटना के शहीद-स्मारक के नीचे धरना पर बैठकर इस संस्था ने स्वामीजी के प्रति अपनाए गए भेद भाव तथा उपेक्षापूर्ण रुख की ओर बहुतायत का ध्यान आकृष्ट किया है तथापि यह शोध संस्थान अपने मूलभूत सिद्धान्त - स्वामीजी के साहित्य सम्बन्धी शोध एवं प्रकाशन की ओर अग्रसर होने में अपने को अबतक असक्षम पा रहा है। इस संबंध में अगले अध्याय में कुछ विस्तृत वर्णन किया गया है।

ब्रह्मर्षि समाज कानपुर द्वारा प्रकाशित **'ब्रह्मर्षि सन्देश'** मार्च 1986 वर्ष 4 अंक 4 1987-88 तथा वर्ष 3 अंक 1-1987 का विशेष उल्लेख आवश्यक है। यद्यपि

इस पत्रिका का दृष्टिकोण जातीय है फिर भी वर्णित तीनों अंकों में स्वामीजी के व्यक्तित्व के कुछ अंशों पर प्रकाश डाला गया है तथा **ब्रह्मर्षि सन्देश** का अभी भी स्वामीजी के साहित्य और उनके व्यक्तित्व को उजागर करने की रुचि बरकरार है। यह स्वागत योग्य कार्य है तथा आशा की जा सकती है कि यह पत्रिका संकीर्ण जातिगत दायरे से ऊपर उठकर स्वामीजी के सार्वभौम व्यक्तित्व को उजागर करने की दिशा में अग्रणी भूमिका निभाने का ऐतिहासिक दायित्व संभालेगी अन्यथा उनके निरन्तर प्रकाशन स्वामीजी की बहुमुखी प्रतिभा को उपेक्षित कराने का कारक भी बन सकता है।

पटना के 'स्वामी सहजानन्द योग प्रशिक्षण संस्थान' भी उपर्युक्त वर्णित कोटि में ही आते हैं। स्वामीजी की पुण्यस्मृति में **पुष्पांजलि** का प्रकाशन हुआ। यह भी अन्य प्रकाशनों की तरह नेताओं एवं इस संस्थान के अधिकारियों की तस्वीरों एवं विज्ञापनों से भरा-पुरा है, किन्तु स्वामीजी पर लगभग एक भी गम्भीर निबन्ध इस संकलन में नहीं है।

उपर्युक्त वर्णित स्वामीजी के नाम पर चलाई जानेवाली संस्थाएँ लगभग कागजी संस्थाएँ प्रतीत होती है जो बरसाती मेढक की तरह बरसात में या कुछ पेशेवर नेताओं की तरह चुनाव तथा रिलीफ बँटवारे के समय अपने-अपते अस्तित्व की अचानक स्मृति दिलाने मात्र तक का कार्य करती हैं अन्यथा इनके अस्तित्व की कोई निशानी भी वर्षों नहीं दिख पड़ती है। वर्णित लगभग सारे संस्थान विज्ञापन, अनुदान तथा निजी स्वार्थ के प्रसार हेतु संस्थान के कार्य के लिए यदाकदा अवश्य यत्नशील प्रतीत होते हैं, किन्तु स्वामीजी के साहित्य, तत्सम्बन्धी शोध तथा उनके आदर्शों एवं सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार में कोई विशेष अभिरुचि या प्रतिबद्धता नहीं दिखाते हैं, यद्यपि अपने उद्घोषित उद्देश्यों में ये उनके प्रति पूर्ण प्रतिबद्धता की बात करते हैं।

□

संदर्भ-सूची :

1. **टेलिग्राफ,** 16-12-1989 1 दिसम्वर से 15 दिसम्वर 1989 तक भारत की विभिन्न भाषाओं की पत्र-पत्रिकाओं को टिप्पणियाँ विस्तार के लिए देखा जा सकती है।
2. **भारतीय इतिहास-लेखन : एक अन्तर्राष्ट्रीय विवाद,** (सं० विजयचन्द्र प्र० चौधरी), वैसे पूरी पुस्तक काफी उपयोगी है किन्तु भूमिका तथा पृ० 119-28 का इस सन्दर्भ में विशेष महत्व हैं।
3. विस्तार के लिए देखें - बिहार विधान सभा और परिषद की कार्यवाही 24 तथा 26 अगस्त 1985, **टाइम्स ऑफ इण्डिया,** 27 अगस्त 1986, **विचार बोध,** 28 अगस्त 1986, *Charge-Sheet Against D.P.I., Higher Education, Govt. Officials and University Teachers* (*C. D. G. O. U. T.*) जो 13 नवम्बर, 1986 को बिहार के राज्यपाल और कुलाधिपति के समक्ष

बिहार विधान मण्डल के भारतीय जनता पार्टी को छोड़कर सभी दलों के सदस्यों द्वारा अभियोग पत्र के साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया गया। 246 पृ० के इस ऐतिहासिक दस्तावेज का प्रासंगिक अंश वर्णित समस्या के अध्ययन के लिए काफी महत्वपूर्ण हैं।

4. डॉ० गुप्ता के पितृ तथा ससुराल पक्ष के सभी कौम्युनिस्ट हैं तथा वर्तमान पद पर कांग्रेसी राज्य में नियुक्त हुए थे किन्तु संयोजक होने के बावजूद स्वामीजी सम्बन्धी पुस्तक के प्रकाशन को अवरूद्ध कर तथा डॉ० रुबीया कांड के बावजूद अधोलिखित स्तुतिगान में संलग्न प्रतीत होते हैं : "......... the NF has conducted itself with dignity fact and forthrightness", The Times of India, 18 Jan., 1990.
5. स्मारिका स्वामी सहजानन्द सरस्वती जन्म शताब्दी समारोह, नई दिल्ली, 1989, पृ० 21।
6. हिन्दुस्तान, 1 जनवरी 1990. स्वामी सहजानन्द किसान संगठन के नाम से विज्ञापित है।
7. इस संकलन के संयोजक ब्रज नारायण झा के नाम चौधरी राजनारायण शर्मा 'विशारद' का दिनांक 7, 1989, का पत्र।

34

अवसरवादी दर्शन : उनका नाम—अपना काम

—पूनम ठाकुर

अपेक्षा या उपेक्षा किसी भावानात्मक स्वरूप का सूचक नहीं, अपितु इसका ठोस प्रक्रियात्मक स्वरूप है। अन्य सामाजिक प्रक्रियाओं की तरह मूल रूप में इसका भी वर्गाधार है जिसमें कभी-कभी अवसरवादिता, व्यक्तिवाद, सुविधापरस्ती और भाग्यवाद भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।[1] स्वामी सहजानन्द सरस्वती के बहुमुखी चरित्र की उपेक्षा निश्चित रूप से सामाजिक, राजनैतिक और बौद्धिक स्तर पर होती आई हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में स्वामीजी के नाम पर चलायी जाने वाली संस्थाओं का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

गौर करने की बात है कि जब ललितेश्वर प्रसाद शाही, राम लखन सिंह यादव, जगन्नाथ मिश्र, नागेन्द्र झा, सत्येन्द्र नारायण सिंह और रघुवंश प्रसाद सिंह सरीखे व्यक्तियों के नाम पर सैकड़ों की तायदाद में शैक्षणिक संस्थाएँ पनप गई हैं तो आखिर यह किस तरह की सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था है कि स्वामीजी जैसे महापुरुष के नाम पर इतनी कम संस्थाएँ हैं और उनकी भी अवस्था बेहद दयनीय है? इस स्थिति को देखकर एक साथ गुस्सा और दया—दोनों भाव उभरते हैं। इसके अंतस्थ कारणों पर हम बाद में प्रकाश डालेंगे, किन्तु प्रथमतः हम उनके नाम पर चलायी जा रही कुछ प्रमुख संस्थाओं का नाम निवेदित करना चाहेगे। उनके नाम पर अग्रलिखित शिक्षण संस्थाएँ हैं—आरा, पीरो (भोजपुर) जहानाबाद (गया), बीहट, (बेगूसराय), सिमरी (भोजपुर), गाजीपुर में महाविद्यालय, बक्सर, गाजीपुर और बिहटा (पटना) में संस्कृत उच्च विद्यालय, पटना-सिटी,

बोकारो, राँची आदि स्थानों पर विद्यालय। इनके अतिरिक्त सीतारामाश्रम, बिहटा, में इनके नाम पर एक प्रेस भी है तथा सिन्दरी (धनबाद) के स्वामी सहजानन्द सरस्वती परिषद तथा बोकारो (धनबाद) की स्वामी सहजानन्द सेवा समिति का भी उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। टाइम्स ऑफ इण्डिया (24 सितम्बर, 1989) के अनुसार मुजफ्फरपुर में स्वामी सहजानन्द किसान संस्थान नामक संगठन किसानों की समस्या को लेकर प्रदर्शन भी करता है। इसके मंत्री प्रो० महाचन्द्र सिंह हैं।

यह ध्यातव्य है कि वर्णित संस्थाओं में एक भी राष्ट्र या राज्य स्तर की संस्था नहीं है और सच्चाई तो यह है कि इनमें एकाध को छोड़कर जिला और प्रखंड स्तर की भी कोई शैक्षणिक संस्था नहीं है। कहीं भी किसी प्रमुख मुहल्ले, सड़क या सार्वजनिक स्थल का नामकरण स्वामीजी के नाम पर नहीं हो पाया है। हमारे सर्वेक्षण से जानकारी हुई है कि गढ़पुरा (वेगूसराय) में लोगों ने एक स्थल का नाम 'सहजानन्द डीह' अवश्य रख दिया है, जहाँ स्वामीजी अपने संन्यासी जीवनकाल में सभा को संबोधित करते थे। खुद उनके गाँव देवा में भी इसी उपेक्षा का माहौल बरकरार है, लेकिन इसके अनुपात में छोटी-बड़ी हस्तियों के नाम पर श्रीकृष्ण नगर, अनुग्रहपुरी, संजय नगर, राजेन्द्र नगर (मुहल्ला और रेलवे स्टेशन), वीर चन्द पटेल पथ जैसे नामों से सार्वजनिक स्थल छोटे-छोटे शहरों में भी भरे पड़े हैं।

आखिर इस उपेक्षा का क्या कारण हो सकता है? इस संकलन के अंतिम अध्याय में इस उपेक्षा के कारणों की संक्षिप्त सैद्धांतिक व्याख्या इतिहास-लेखन के संदर्भ में प्रस्तुत की गई है, जो अधिकांश तौर पर इस निवन्ध में वर्णित उपेक्षा के वस्तुगत विश्लेषण के लिए भी प्रासंगिक हैं। फिर, शिवानन्दजी के लेख में भी एक तार्किक दृष्टिकोण पेश किया गया है।

इस आलोक में विश्लेषण से प्रतिपादित तथ्य संपुष्ट करते हैं कि इन उपेक्षाओं के पीछे स्वार्थ की अहम् भूमिका होती है। साम्राज्यवादी, सामंती तथा संप्रदायवादी तत्त्व, पूँजीवादी और मध्यवर्ग एवं उनकी छत्रछाया में पनपने वाले राजनीतिज्ञ, नौकरशाह और बुद्धिजीवी, जिनका वर्गीय स्वार्थ के साथ-साथ अवसरवादी चरित्र भी होता है, के लिए स्वामीजी की विचारधारा और उनके प्रति आसक्ति वर्गीय और निजी स्वार्थों की प्राप्ति में सहायक न होकर वर्ग-शत्रु की तरह अवरोधक सिद्ध होगी।[2] इसीलिए इनके द्वारा स्वामीजी की उपेक्षा स्वाभाविक और लाजिमी है। आश्चर्य यह **है** कि स्वामीजी के नाम पर चलायी जानेवाली संस्थाओं के व्यवस्थापकगण भी वर्णित स्वार्थ-सिद्धि में अवरोध न पैदा होने देने के लिए उनके सामने घुटने टेक देते हैं और इस उपेक्षा के विरुद्ध कोई संघर्ष भी आहूत नहीं कर पाते हैं, क्योंकि इनमें से अधिकांश का मध्यमवर्गीय अवसरवादी चरित्र है जो उन्हें स्वार्थ से ऊपर उठकर संघर्षरत होने से रोक देता है।[3] इसके विपरीत वे स्वयं भी स्वामीजी को इस हद तक उपेक्षित करने लगते हैं कि उनकी जन्मशती तथा पुण्यतिथि को भी अपनी संस्थाओं में भक्ति-भाव से नहीं मनाते।

□

संदर्भ-सूची

1. विस्तार के लिए देखें **भारतीय इतिहास-लेखन, इतिहास-लेखन में आंचलिकता,** (सं० चितरंजन शर्मा), **मार्क्सवादी इतिहास-लेखन : एक बहस**, *Teachers On Forgery Charge, Secularism Vs Communalism*, V. C. P. Chaudhary *History and Class Consciousness*), Georg Lukacs.

2 वहीं तथा इस संकलन के विशेष कर इस खण्ड के कुछ लेख।

3 वही तथा *Exasperating Essays : Exercises in the Dialectical Method*, D. D. Kosambi, pp. 4, 14, 33, 44, *Glimpses of World History*, Jawaharlal Nehru, *pp*. 68, 87, 90, 96.

□

35

उपेक्षा की कहानी : एक सहयोगी की कलम से

—स्वामी शिवानन्द सरस्वती

सर्वप्रथम उस दिव्य महापुरुष अनन्त श्रीविभूषित लोकनिष्ठ संन्यासी स्वामी सहजानन्द सरस्वती से अपनी क्षमा-याचना सार्वजनिक रूप से करने का अकांक्षी हूँ, क्योंकि डाक द्वारा मुझसे निबन्ध मांगने के प्रारम्भिक प्रयासों की अवधि में मैंने आपलोगों के सत्यनिष्ठ उद्देश्यों को शंका की दृष्टि से देखा। मैं स्पष्ट कर दूँ कि आजकल अधिसंख्यक मनुष्यों के मन, क्रम और वचन में इतना अन्तर आ गया है कि बिना परीक्षण के भारतीय वाङ्मय के अनुसार उसे मनुष्य की संज्ञा दी ही नहीं जा सकती। इसलिए अनायास यह अपराध मुझ से हो गया था। परन्तु, आपलोग तो स्वामीजी के प्रति अनिवर्चनीय प्रेरणा से वशीभूत थे और उनकी तरह प्रोग्राम को पूरा करके ही दम लेने के चिन्तन से अभिभूत! आपमें से कोई एक उन पत्राचारों के बाद आये थे, जब मैं पूर्णरूपेण अस्वस्थ चल रहा था। मुझे पूरी तरह याद है कि मैंने उनसे बाद में मिलने को कहा था और वे संयत भाव से चुपचाप लौट गये थे। आपमें से कोई-न-कोई बराबर आते रहे और ज्योंही मैं थोड़ा स्वस्थ हुआ आपकी योजना से सम्बद्ध तीन या चार कर्मयोगी (यही शब्द शायद उपयुक्त होगा) आ पहुँचे। मैं भी समय के इस अन्तराल में बड़ी असमंजस की स्थिति में रह रहा था, आखिर ये कौन लोग हैं जिन्हें सहसा स्वामीजी का स्मरण हो आया है?

वर्तमानकालीन व्यवस्थाओं और उसमें व्याप्त प्रवंचनाओं से विदग्ध मेरे सरल और शंकाकुल हृदय में उस दिन विचित्र स्पन्दन हुआ था और परिस्थितियों

के द्वारा लगाये गये घाव सहसा सजीव हो गये थे। खूब याद है कि मैंने आपलोगों की मनःस्थिति ज्ञात करने के उद्देश्य से तड़ातड़ कई प्रश्न कर डाले थे—'आपलोगों की क्या मंशा है ? आपमें से कोई स्वामीजी के नाती-पोते तो नहीं जो आपलोगों को उनकी शतवार्षिकी मनाने की फिकर पड़ी है ? शतवार्षिकी ही मनानी है तो नेहरू की मनाइये जो राजीव की वर्तमान कांग्रेसी सरकार की अनुकम्पा से कोई बड़ा पद या प्रतिष्ठा मिल जाये, स्वामीजी का राजनीति या प्रशासन में कौन है जो आपको इसके लिए यश देगा ? जीवनी ही लिखनी है तो राजनीति और प्रशासन में ऊँचे-ऊँचे पदों पर सुशोभित राजनेताओं और मंत्रियों के बाप-दादों की लिखिये, जिससे कृपा प्रसाद के रूप में सारे नियम कानूनों को तोड़कर सरकार द्वारा लेक्चरर से रीडर और रीडर से प्रोफेसर बना दिये जाइयेगा। आपमें से एक जो बेरोजगार हैं इन्हें तो वर्तमान समय के रुख के अनुसार 'जैसा देश वैसा वेश' बनना ही चाहिए और बदलती सरकार के अनुसार अपना रंग बदल-बदल कर पद और प्रोन्नति सुनिश्चित करनी चाहिए। यही आज देश के बुद्धिजीवियों की नियति बन गयी हैं। हमारी कालजयी मान्यताएँ तो आज धूल फाँक रही हैं। उनके पीछे भागना मूर्खता हैं। अवसरवादी बुद्धिजीवियों की तरह स्वामीजी की शतवार्षिकी के नाव पर सवार हो उसे मँझधार में छोड़कर नेहरूजी की लाभकारी शतवार्षिकी के नाव पर चढ़ जाइये। पटना विश्वविद्यालय के इतिहास के जगदीश चन्द्र झा की तरह कभी महाराजा लक्ष्मीश्वर सिंह और कभी अनुग्रह बाबू की जीवनी लिखने का बीड़ा उठाइये तथा पद और प्रतिष्ठा के नित नये आयाम सुरक्षित कीजिए। इसी तरह के काम से आप सब का कल्याण होगा। स्वामीजी पर लिखने से तो आपका कल्याण होने की अपेक्षा वर्तमान काल के घृणित मापदण्डों के आधार पर नुकसान ही होगा। स्वामीजी पर लिखने से विजय चन्द्र चौधरी की दशा तो देख ही रहे हैं। आप सभी युवा हैं, क्यों अपने पाँवों में कुल्हाड़ी मारने की कोशिश कर रहे हैं ?'

इस तरह के प्रश्नों के बाद भी जब आपके वे बंधु संयत भाव से बैठे रहे और उनलोगों ने कहा कि वे सत्यनिष्ठ और निर्लिप्त भाव से बिना किसी सरकारी सहायता या अनुदान के स्वामीजी की सच्ची जीवनी लिखने के लिए प्रतिबद्ध हैं और पैसे के लिए विज्ञापन आदि न छापेंगे, तो स्वामीजी के आदर्श सहसा मेरे अन्तस्तल में निर्बाध चोट करने लगे और मैंने सहज भाव से आपकी योजना के लिए अपने विचार भेजने का आश्वासन दे दिया और ये चन्द विचार इसी के प्रतिफल हैं।

स्वामीजी के सुखद सनिध्य में जो समष्टिगत कल्याण का मूल मंत्र मैंने व्यवहारतः सीखा आज भी उस मन्त्र को गुरु-दीक्षा समझ कर तदनुसार कर्तव्य की आकांक्षा से सतत् प्रयत्नशील रहता हूँ। वस्तुतः दुख-दाघ से निदग्ध मेधावी शिक्षार्थियों को संपोषित करने के स्वामीजी के अविचल आदर्शों की अनिवर्चनीय प्रेरणा के फलस्वरूप ही निबंध भी लिख रहा हूँ। 1921 ई० में स्वामीजी मेरी अभिन्न आस्था के स्त्रोत बने। ठीक वैसी ही आस्था आज भी अविरल-अविचल बनी हुई हैं। तेज, ओज और पौरुष के उस प्रकाशस्ताभ में सबकुछ तो था। तभी तो मैंने उस महामान कर्मयोगी के नेतृत्व में कार्य करने का दृढ़-संकल्प ले लिया था। उनका व्यक्तित्व समष्टिगत अद्भुत प्रतिभाओं से परिपूर्ण था, वे एक साथ ही

एक महान समाज-सुधारक, सजग आर्थिक चिन्तक, आदर्श राजनीति-विशारद, दुर्लभ दार्शनिक, क्रांतिकारी मनोवैज्ञानिक, अभूतपूर्व योगी और सत्यनिष्ठ साधक थे। विस्मय तो यह हैं कि इस बहुआयामी प्रतिभा का उनमें सम्यक् संतुलन भी अन्तर्निष्ठ था। अधिसंख्यक जनता का यह प्रखर प्रवक्ता सरल और निश्छल स्वभाव, आत्म-संयम, विशुद्ध आस्था, व्यावहारिक चिन्तन एवं दूरदर्शिता के कारण जन-जन में रच-बस गया था।

स्वामीजी ने जिस क्षेत्र में भी अपने चरणश्री रखे, वहीं एक विस्मयकारी आमूल परिवर्तन हो गया। परन्तु, आमूल परिवर्तन के इस अप्रतिम योद्धा के ब्रह्मलीन होते ही उनके आदर्शों को विस्मृत किये जाने का तथाकथित अपने लोगों द्वारा अप्रत्यक्ष किन्तु सायास प्रयास चला और आज तो स्थिति यह हो गई है कि व्यक्तिगत और संकीर्ण स्वार्थों को साधने के लिए उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व का दुधर्ष दुरुपयोग हो रहा है।

दैहिक स्वरूप के ब्रह्मलीन होने तक दुर्नीतियों एवं दुष्चक्रों के प्रति उनकी युयुत्सुमुद्रा असम्पृक्त भाव से अविच्छिन्न रही एवं नैतिक मूल्यों के अपेक्षित आदर्श के उनके प्रतिमान प्रभविष्णु रहे, परन्तु आज स्वामीजी के नाम का दुरुपयोग कोई जातीय हितों के प्रश्रय के लिए कर रहा है, तो कोई धन-संचय की भावना से।

अब जैसे स्वामीजी के देहावसान के वाद पूर्ण निष्ठा और संकल्प से हमलोगों द्वारा मूर्त रूप दिये गये स्वामी सहजानन्द स्मारक भवन और समिति को ही लें। पटना में इस स्मारक भवन के निर्मित होने के वाद मुझे असीम आनन्दानुभूति हुई थी और भविष्य के सुखद कार्यक्रमों के स्वर्णिम स्वप्न आँखों के आगे नाचने लगे थे, परन्तु आज वे स्वप्न से भी क्षीण होकर दिवास्वप्न बनकर रह गये हैं और स्वार्थी एवं लोलुप व्यक्तियों के क्रीड़ास्थल में परिवर्तित हो गये है। मेरे दर्द को वे सुविधाभोगी और क्षुद्र लोग क्या समझेंगे कि हमने बिना किसी सरकारी सहायता के सभी जाति के गरीब किसानों से गाँव-गाँव जाकर चन्दा मांगा और इस भवन को खड़ा किया ? उसकी रंगरेलियां तो चल ही रहीं हैं। जहाँ कभी प्याज-लहसुन खाकर जाना आदर्श-विरूद्ध माना जाता था, वहाँ आज जाम छलकते हैं। जहाँ स्वामीजी और उनके आदर्शों की ही समिति के वर्तमान सदस्य और अधिकारी धज्जियाँ उड़ा रहे हैं, वहाँ हम जैसे सर्वसमर्पित सेवकों की उपेक्षा होती है तो उसमें आश्चर्य क्या है ? स्वामी सहजानन्द ने स्वयं को किसी राजनीतिक पार्टी में क्यों नहीं उलझाया और राजनैतिक पण्डागिरी की जो तीक्ष्ण आलोचना की, वह बात अब सहज ही समझ में आ जाती हैं जब स्मारक समिति और भवन पर राजनैतिक दलों का वर्चस्व देखता हूँ। ऐसे लोग जिनका स्वामीजी से दूरस्थ सम्पर्क भी नहीं था, आज वे स्मारक समिति में घुसकर गुटवाजी कर रहे हैं।

बैद्यनाथ पाण्डेय द्वारा उक्त स्मारक समिति के चिर-संचित कोष का गलत इस्तेमाल करने का घृणास्पद प्रकरण जारी है। स्मारक समिति, उसका कोष, स्मारक भवन और उसके नियम-कानून पाण्डेय की बपौती सम्पति बन चुकी है। उसकी मनमानी का कोई जबाब नहीं है, जब जिसे चाहता है सदस्य बना लेता है और जब जी चाहा निकाल देता है। मंत्री के चुनाव में तो उसने सारे नियमों को ताक पर रख दिया है और चुनाव का नाटक खड़ा कर वह हर बार मंत्री बन जाता है। भवन

में प्लास्तर करने के नाम पर स्मारक समिति का बोर्ड हटाने और अपने ताले लगाकर मनमौजी शुरू करने से ही उसकी काली करतूतों की शुरूआत हुई और अब तो कपिलदेव सिंह जैसे आदमी के आ जाने से तो वैसा ही हुआ है जैसे, 'एक तो करैला तीता दूजे नीम चढ़ा'।

मैं तो गाँव-गाँव में घूम-घूम कर इन लक्ष-लक्ष गरीब किसानों को जगाकर इस गुण्डागर्दी के विरूद्ध सिंहनाद कर देता, पर 95 वर्ष का मेरा बूढ़ा शरीर अस्ति और नास्ति के बीच जूझ रहा है। निराश और हताशा से व्याप्त दिग्दिगन्त में मुझे अब भी आशा के दीप प्रज्ज्वलित दीख रहे हैं, जो स्वामीजी और उनके कालजयी चिन्तन को समाज तक पहुँचायेंगे। इस संकलन की युवा मंडली उसके प्रतीक हैं।

◆

36

उपेक्षित स्त्रोत : अपरिहार्य सूचनाओं के उत्स

—दिनेश नारायण मल्लिक

यह निबन्ध स्वामी सहजानन्द सरस्वती के समकालीन व्यक्तियों के साक्षात्कार पर ही पूर्णरूपेण आधारित है। इसलिए पाठकों को इसकी विश्वसनीयता के सम्बन्ध में सचेत कर देना हम अपना पुनीत कर्तव्य समझते हैं। इसका यह अर्थ कदापि नहीं लिया जाना चाहिए कि राजनीति विज्ञान, समाज शास्त्र तथा मनोविज्ञान से सम्वन्धित साक्षात्कार पर आधारित अन्वेषण अप्रमाणिक हैं, किन्तु इसे भी इन्कार करना असम्भव होगा कि साक्षात्कार देने और लेनेवाले में आग्रह एवं पूर्वाग्रह जैसी मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएँ क्रियाशील रहती हैं तथा उनकी प्रश्नावली, उत्तर और निष्कर्ष में उनकी पुट होती है। हमारे पास जिन लोगों के साक्षात्कार उपलब्ध हैं, उनमें से कुछ का स्वामीजी से गहरा नजदीकी सम्पर्क था तथा कुछ का सीमित। हमारी सुविधा इस सम्वन्ध में यह है कि हम जिन बिन्दुओं पर स्वामीजी के सन्दर्भ में पात्रों से सूचनाएँ प्राप्त करते हैं, वे विषय सामाजिक और राजनैतिक स्तर पर लगभग विवाद विहीन हैं और इसलिए पूर्वाग्रह पूर्ण उत्तर की संभावनाएँ भी अपेक्षाकृत क्षीण हैं। साथ ही अन्य स्रोतों से भी उनकी विश्वसनीयता काफी मुद्दों पर संपुष्ट होती हैं जैसा कि संकलन के विभिन्न निबन्धों से स्पष्ट होगा, लेकिन इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि स्वामीजी से संबंधित कुछ भ्रांतियों को इन साक्षात्कारों से प्राप्त सूचनाएँ निर्मूल करती हैं।

सर्वप्रथम हम यह बताना चाहेंगे कि साक्षात्कार देने वालों में अधिकांश लोग पुराने पटना, दरभंगा, मुजफ्फरपुर, चंपारण, गया, सारण (सभी बिहार) तथा उत्तर प्रदेश के बलिया आदि जिलों के हैं, जिन क्षेत्रों से स्वामीजी का सामाजिक

और राजनैतिक आन्दोलन के सिलसिले में घनिष्ट सम्पर्क रहा था तथा जहाँ से अन्धविश्वास, रूढ़िवादिता, धार्मिक-कठमुल्लापन और सामन्ती तथा साम्राज्यवादी शोषण के विरूद्ध आम जनता के हित में संस्कृत जैसी क्लासिक्स तथा उर्दू एवं अन्य आधुनिक भाषाओं, आधुनिक शिक्षा-पद्धति तथा किसानों की मुक्ति के लिए सघन आंदोलन को उन्होंने कार्यान्वित और निर्देशित किया था। इसी शृंखला में हम पूर्व में प्रकाशित निबन्धों को भी रख सकते हैं, जिनकी संस्मरणात्मक ध्वनियाँ स्पष्ट हैं।

स्वामीजी के गुस्सैल स्वभाव के सम्बन्ध में फैली भ्रांति के सन्दर्भ में उनके एक नजदीकी सम्पर्कवाले ने इसे गलत करार दिया है। उनका निम्नलिखित मंतव्य उल्लेखनीय है :[1]

"मैं बिहटा आश्रम का स्नातक रह चुका हूँ। 1928 ई० से 1950 ई० तक पूज्य स्वामीजी से मेरा अनवरत सम्बन्ध रहा जो उनके तिरोधान के बाद ही समाप्त हुआ। जब मैं पं० यमुना कार्यी के साथ हुंकार साप्ताहिक में कार्य करता था तब उसका सम्पादकीय स्वामीजी ही लिखते थे। मैं पटना से प्रति सप्ताह अग्रलेख के लिए स्वामीजी के यहाँ बिहटा जाता था। स्वामीजी लिखाते थे और मैं लिखता था। स्वामीजी की घुड़दौड़ चलती थी और मेरी गाड़ी मन्द गति से चलती थी जिसके कारण खूब डाँट सुनता था। बाद में जब स्वामीजी को यह मालूम हुआ कि मैं अंगुष्ठविहीन हूँ फिर भी उनकी दौड़ में थोड़ा ही पीछे रहता हूँ तो वे परम प्रसन्न हो गये।

"स्वामीजी के विषय में बहुत कम लोगों को जानकारी है। कारण वे अपने बारे में कुछ कहना ही नहीं चाहते थे। मैं थोड़ा मुँहलगा था, धृष्टता के साथ झिड़कियाँ सहता कुछ पूछ लेता था। एक बार मैंने उनके भयंकर क्रोध के विषय में पूछा। उन्होंने स्वाभाविक ढंग से कहा 'हूँः, तुम उपदेश करते हो?' मैं चुप रहा। उनके प्रातः कालीन भ्रमण में मैं साथ था। बाद में थोड़ी दूर जाने पर उन्होंने कहा—देखो, तुमने बड़ा बेढंगा तथा बेतुका प्रश्न कर दिया जिसे मैं आजतक टालता रहा।' फिर उन्होंने कहा—यह क्रोध मेरा कवच है, ढाल है, जिससे मैं अपने को सांसारिक आकर्षण, राग-द्वेष से बचाता हूँ। यह मेरे कवच की तरह बाहरी चीज है। इसे मैंने बाहरी बचाव के लिए ऊपर से ओढ़ लिया है।"

कभी-कभार सामाजिक-मुद्दों पर भी उनका यह क्रोधी स्वभाव एक समझौता विरोधी रूख धारण कर लेता था जो निम्नलिखित बातों से स्पष्ट है :[2]

"हमलोग स्वामीजी के साथ जमीन्दार परमेश्वर नारायण चौधरी के दरवाजे पर गये। स्वामीजी को मालूम था कि वे किसान-मजदूर का बड़ा शोषण करते हैं तथा मैथिल ब्राह्मणों से ही पुरोहिताई कराने के कट्टर पक्षधर हैं। स्वामीजी ने ऐतिहासिक साक्ष्य प्रस्तुत करते हुए उनसे भूमिहार ब्राह्मण से ही पुरोहिताई कराने का आग्रह किया। उनका मजाक उड़ाते हुए जमीन्दार साहब ने ऐसा करने से इन्कार किया। स्वामीजी ने उनके यहाँ भोजन करना मुनासिब न समझा और हमलोगों के टोले में आकर गरीब किसानों के बीच ही अन्न ग्रहण किया। वे हमारे टोले से कुछ गरीब किसानों के लड़कों को लेकर संस्कृत की शिक्षा दिलाने के लिए बाहर चले

गये। हमलोगों के इलाके में तत्पश्चात बड़े पैमाने पर भूमिहार ब्राह्मण ही पुरोहिताई करने लगे।"

क्रोध के बावजूद वे अपनी सैद्धान्तिक प्रतिबद्धता के निमित्त उदारवादी मार्ग भी अपनाने में संकोच नहीं करते थे। वे लक्ष्य की प्राप्त करना चाहते थे। उनकी समसामयिक सैद्धान्तिक मान्यतायें भी उनके स्वभाव में परिलक्षित होती हैं। राष्ट्रवाद एवं गांधीवाद के प्रभाव में वे एक उदारवादी दृष्टिकोण रखते थे जैसा कि निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट है :

"कुछ वर्ष बाद स्वामीजी ने गिरिजा स्थान में एक क्षेत्रीय किसान सम्मेलन बुलाया। यद्यपि उनको यह मालूम था कि परमेश्वर बाबू के कांग्रेसी एम० एल० ए० पुत्र उनके दबाव के कारण कांग्रेस के अनुशासन की अवहेलना कर जेल नहीं गये, खुद उसी गाँव में उनका सामन्ती शोषण बड़े पैमाने पर चालू था तथा स्वामीजी के दर्शन के लिए भी वे लालायित थे, तथापि स्वामीजी ने दयापूर्वक उन्हें उस सम्मेलन में निमंत्रित कर मंच पर बैठाया। उन्होंने स्वयं ही परमेश्वर बाबू के कुछ वर्ष पूर्व की सारी शंकाओं का तार्किक आधार पर खण्डन किया तथा बिना कोई समझौता किये हुए मंच से उनको सामन्ती शोषण बन्द करने तथा राष्ट्रीय लहर में कोई अवरोध न पैदा करने का अनुरोध किया।"

आधुनिक शिक्षा और खासकर संस्कृत-शिक्षण तथा उर्दू की आधुनिक पद्धति के प्रचार में उनके अथक प्रयास की कितनी अहं भूमिका थी, उसकी एक वस्तुपरक तस्वीर इस उपेक्षित स्रोत से उभरती है। वैसे इस संकलन में स्वामीजी की रचनाओं के आधार पर निबन्ध भी हैं। विभिन्न स्थानों के साक्षात्कार से इस सन्दर्भ में निम्नलिखित तथ्य उभरते हैं :[3]

"हमलोगों के क्षेत्र में आधुनिक पद्धति से संस्कृत शिक्षा प्रदान करने के लिए स्थापित अनेकानेक पाठशालाएँ तथा संस्कृत महाविद्यालय उन्हीं की प्रेरणा का प्रतिफल है। संस्कृत शिक्षा को ब्राह्मण और कुलीन समाज के एकाधिकार से मुक्त कर आम जनता के लिए सुलभ बनाने का श्रेय स्वामीजी को ही जाता है। हमारे यहाँ अभी हजारों लोग लाखों-लाख रुपये उनके ही द्वारा चलायी गयी शिक्षा-पद्धति की बदौलत नौकरी प्राप्त कर कमा रहे हैं। इस कमाई का एक बड़ा हिस्सा गरीब किसान और सामाजिक रूप से उपेक्षित परिवार के बीच ही जाता है। इसी पद्धति के अन्तर्गत उर्दू, अंग्रेजी और हिन्दी का भी महत्वपूर्ण स्थान स्वामीजी ने दिया था। हमारी तो धारणा यह है कि इस शिक्षा-पद्धति ने स्वामीजी के प्रयास से आंदोलन का रूप ले लिया तथा इसकी जड़ें व्यावहारिक धरातल पर इतनी गहरी हो गईं कि आज तक उसके विकास के लिए अलग-अलग उद्देश्यों से लोग प्रयत्नशील हैं। इसमें गड़बड़ियाँ तथा इसका राजनीतिकरण आज प्रारम्भ है, फिर भी इस पद्धति के विकास की चर्चा की जाती है।"

साक्षात्कार से कभी-कभी कितनी महत्वपूर्ण सूचनाएँ मिलती हैं, उसकी एक मिसाल निम्न उदाहरण से स्पष्ट है :[4]

"स्वामीजी उच्च कोटि के त्यागी, परिव्राजक थे—भीतर बाहर दोनों

से परम त्यागी। शारदा मठ के जगद्गुरु के ब्रह्मलीन हो जाने पर स्वामीजी का चुनाव उस पद के लिए हुआ था और वहाँ से एक टेलीग्राम भी आया था। जब स्वामीजी नहीं गये तो वहाँ से कोई आया भी था स्वामीजी को लिवा जाने के लिए मगर, स्वामीजी ने साफ इन्कार कर दिया। मुझको खूब याद है जब स्वामीजी ने कहा था—'प्रभुता पाई काहि मद नाहीं"

उनके बच्चों जैसे निश्छल और सरल स्वभाव का परिचय दिलाने में भी यह उपेक्षित स्रोत अपनी महत्ता रखता है, जैसा कि निम्न उद्धरण से उद्भासित है :[5]

"सीधे कितने थे इसका एक उदाहरण देता हूँ।...उनके दाँतों में पाइरिया की शिकायत थी। इसलिए किसी ने कह दिया कि खैनी-सुरती खाइये। बस क्या था? उन्होंने मुझसे पूछा—'क्या खैनी खाने से पाइरिया छूटता है? मैं खाना चाहता हूँ।' मैंने कहा—खैनी खानेवालों को भी वह बीमारी होती है और ऐसे बहुत लोगों को मैं जानता हूँ। फिर स्वामीजी ने इसका इरादा ही छोड़ दिया।"

सतत अध्ययन के प्रति स्वामीजी की गहरी अभिरूचि और इससे हस्तगत विश्वास के सम्बन्ध में सूचना एक साक्षात्कार के निम्न अंश से स्पष्ट है :[6]

"बिहटा हाई स्कूल से लौटते वक्त मैं रोज शाम को आश्रम आ जाया करता था। जब भी आता था तो देखा करता था कि स्वामीजी कुछ न कुछ लिखते-पढ़ते होते थे।....एक बार लिखने के बाद वे उसे संशोधित नहीं करते थे। उनकी यह प्रक्रिया भविष्य में भी जारी रही क्योंकि उनकी अधिकांश महत्वपूर्ण रचनाएँ जेल जीवन में लिखी गई हैं।"

स्वामीजी पर आरोपित जातीय अनुराग साक्षात्कारों के माध्यम से सहज ही विखण्डित हो जाता है।[7] वास्तव में स्वामीजी का जातीय आन्दोलन मुख्यतः सामाजिक उत्थान की ओर ही लक्षित था और उसमें किसी जाति-विशेष के प्रति कटुता या वैमनस्य भाव नहीं था।

"जहाँ तक मेरी समझदारी है वे भूमिहारों का उत्थान समाज सुधार के दृष्टिकोण से कराना चाहते थे। उनका मानना था कि भूमिहार ब्राह्मण से किसी भी प्रकार छोटा नहीं है।...वे किसी भी दूसरी जाति के लिए बुरी भावना नहीं रखते थे।

"उनका विश्वास वर्ण-व्यवस्था में जरूर था वैसे वे स्वयं जनेऊ भी धारण नहीं करते थे। वर्ण-व्यवस्था में वे इसके शुद्धत्तम रूप में विश्वास करते थे। उनका मानना था कि कोई कर्म से बड़ा या छोटा होता है। इस लिए वे कहते थे कि मूर्ख पण्डित को आदर देना एक प्रकार की मूर्खता है। स्वामीजी सभी प्रकार के जातिगत कर्मों को आदर की दृष्टि से देखते थे। हमारी समझ से वे जातीय असन्तुलन का निरोगीकरण चाहते थे।

"....दिघवारा थाना के बहुत से ब्राह्मण उनका सम्मान करते थे।

स्व० रामउचित शर्मा के साक्षात्कार से ही स्पष्ट होता है कि स्वामीजी के धार्मिक आचरण ईश्वर भक्ति से कहीं अधिक मानव-सेवा के प्रति समर्पित थे—"स्वामीजी कहा करते थे कि 'यदि मैं पूजा पर बैठा हूँ और कोई गरीब महिला पत्र लिखवाने आ जाए तो मैं पूजा छोड़कर उसका पत्र पहले लिख दूँगा।"

स्वामीजी के अन्ध विश्वास-विरोध का अनुमान निम्नलिखित उद्धरण से लगाया जा सकता है :[8] "एक भूमिहार ब्राह्मण विधवा इच्छा या अनीच्छा से किसी व्यक्ति के साथ अवैध सम्बन्ध के कारण गर्भवती हो गई। जातीय पंचायत ने उस स्त्री को गुप्त रूप से हत्या करने का निर्णय लिया। मैंने इस निर्णय का विरोध इस आधार पर किया कि सजा मर्द और औरत दोनों को मिलनी चाहिए, क्योंकि इस काले करतूत में दोनों बराबर के साझेदार हैं और मुझे उस स्त्री की जान बचाने में सफलता भी मिली। बाद में मैंने स्वामीजी को पत्र लिखकर इस घटना पर उनका मन्तव्य जानना चाहा। उन्होंने मेरे लिये गए निर्णय को सम्पुष्ट किया।"

स्वामीजी की उपेक्षा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर भी साक्षात्कार प्रकाश डालते हैं :[9] "एक बात स्पष्ट है कि कांग्रेस में भी लोग उनकी निर्भीक एवं प्रखर वक्तृता से भय खाते थे। मुझे एक बात याद आती है। मेरे एक कायस्थ मित्र ने जो एक कांग्रेस अधिवेशन में भाग लेने गए थे, बताया था कि स्वामीजी ने उस अधिवेशन में सरदार पटेल से इतने सवाल किये कि पटेल ने राजेन्द्र प्रसाद को यह संकेत दिया कि स्वामीजी पर थोड़ा लगाम रखिये।"

हमारे पास अनेक साक्षात्कार उपलब्ध हैं जो स्वामीजी के बहुमुखी चरित्र को असली रूप में पेश करते हैं; साथ ही कई अज्ञात महत्वपूर्ण सूचनाएँ उपलब्ध कराते हैं। निबन्ध की सीमा के कारण हम उनमें वर्णित तथ्यों और निष्कर्षों की सम्भावना का संकेत मात्र कर ही समाप्त करना चाहते हैं जिससे आगे की किसी शोध योजना में इस आधार पर एक विस्तृत विश्लेषणात्मक अध्ययन करने में शोधकर्त्ताओं को सुविधा हो। तत्काल हम इस संकलन के अध्याय एक तथा[38] में तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहेंगे कि इस उपेक्षित किन्तु महत्वपूर्ण स्रोत के संकलन एवं सुरक्षा का युद्ध-स्तर पर प्रयास करना चाहिए क्योंकि वह बड़ी शीघ्रता से लुप्त हो रहा है सदा-सदा के लिए।

संदर्भ-सूची :

1. पं० हरिवल्लभ शास्त्री, विष्णुपुर, बधनगरी, भाया ढ़ौली, मुजफ्फरपुर।
2. वर्त्तमान मधुबनी जिले के खिरहर गाँव के पं० कमला कान्त मिश्र, पं० जगदीश शर्मा तथा श्रीकान्त मिश्र के साक्षात्कार पर आधारित।
3. पटना जिला निवासी कामता प्रसाद मोतीपुरी, महावीर गोप, भूतपूर्व सदस्य विधान सभा, मधुबनी जिला के पंचरत्न निवासी नन्द शर्मा, खिरहर, गढ़िया, पतोर, अथरी, बैकुन्ठपुर, रीगा, जिहुली, सीताराम आश्रम, बिहटा, आदि के समकालीन पुरुषों के साक्षात्कार के आधार पर यह निष्कर्ष तैयार किया गया है। इनमें बैकुण्ठपुर के स्व० श्री सन्त प्रसाद शर्मा के सुपुत्र

कपिलेश्वरी शर्मा, अम्हारा के रहने वाले दिवाकर शर्मा का साक्षात्कार काफी महत्वपूण है।

4, पं० हरिवल्लभ शास्त्री का साक्षात्कार।

5. पूर्वोक्त।

6. अमहारा निवासी दिवाकर शर्मा।

7. स्व० रामउचित शर्मा, चकिया, शीतलपुर, जिला सारण।

8. वही।

9. वही।

□

37

प्राथमिक शोध परिप्रेक्ष्य : कलम का शिकार और कल का इंतजार

—ब्रज नारायण झा

भारत में बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में किसान और क्रांतिकारी संघर्ष के अन्तर्सम्बन्धों का अध्ययन उपेक्षित रहा है।[1] उत्तरार्द्ध में जो इस दिशा में प्रयास भी हुए हैं उनमें विद्वानों ने खासकर स्वामी सहजानन्द सरस्वती की इस सन्दर्भ में सोच और उसकी अपरिहार्य प्रासंगिकता की उपेक्षा की है जबकि असलियत में इसे भारतीय राष्ट्र की सामाजिक-आर्थिक संरचना, राजनीति, ऐतिहासिक दर्शन और विचारधारा एवं आर्थिक व्यवस्था और विषमताओं की रिक्थ को समझने के लिए किसी शोधपूर्ण अन्वेषण में प्राथमिकता मिलनी चाहिए थी। जो अध्ययन हुए भी हैं या हो रहे हैं, ये स्वतंत्रता संघर्ष के इर्द-गिर्द ही घूमते रहे हैं जिससे विषय-वस्तु के साथ पूर्ण न्याय नहीं हो पाया है। विभिन्न अध्ययन-गोष्ठियाँ और सम्मेलन भी इस उद्देश्य को रूपायित करने के लिए आयोजित किये गये हैं, परन्तु ये भी लकीर के फकीर साबित हुए हैं जिससे मूल अवधारणाएँ अस्पष्ट-सी रह गई हैं। अध्ययनों की उपलब्धियाँ बौनी और छिछली इसलिए नजर आ रही हैं चूँकि इस निबन्ध में वर्णित विषयों की वस्तुगत व्याख्या और विश्लेषण की उपेक्षा कर उनकी राजनीति, दर्शन, सामाजिक दृष्टिकोण, आदि को न समझा जा सकता है और न उनके या उनके कृतित्व के सम्बन्ध में सच्ची और वस्तुगत तस्वीर ही पेश की जा सकती है। इसी परिवेश में यहाँ बीसवीं सदी के पूवार्द्ध के युगपुरुष और खाँटी किसान नेता स्वामीजी की वैचारिकी का विश्लेषण कर किसान और क्रांति के अन्तर्संबंधों को स्पष्ट करने की कोशिश की जा रही है ताकि कृषक क्रांति सम्बन्धी उपागमों को भारतीय परिवेश में निश्चित किया जा सके।

इस सन्दर्भ में विचारणीय प्रश्न यह है कि इतिहास की सर्वाधिक वस्तुपरक और वैज्ञानिक व्याख्या करनेवाले मार्क्स ने भी किसानों को साधारणतः प्रतिगामी और दकियानूस माना है,[2] तो फिर यह प्रतिगामी वर्ग विभिन्न कालखंडों और स्तर पर किस तरह क्रांतिकारी संघर्ष करता रहा है ? इस प्रश्न का सम्यक् उत्तर तो हमें स्वामीजी के किसानों के बीच होते अनुभवों से विकसित दृष्टिकोणों के अध्ययन से ही मिल सकता है। वस्तुतः मार्क्स ने जिस विशेष परिस्थिति—'जागृति और समझदारी'[3]--का उल्लेख किया है, स्वामीजी के अनुभूत तथ्य उसे ही ज्यादा महत्त्वपूर्ण बना देते हैं और क्रांति के ईंधन की हमें जानकारी दिलाते हैं। चूँकि विषय और सीमा को ध्यान में रखते हुए क्रांति के विभिन्न स्तरों में किसानों की भूमिका की सैद्धांतिक विवेचना स्वामीजी के अनुसार करके किसान आन्दोलन के अध्ययन के लिए मात्र एक सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य उपस्थित करना है, अतः कुछ मूल अवधारणाओं पर ही अपने को केन्द्रित रखना सम्भव है।

पहली अवधारणा क्रांति से सम्बन्धित है, जिसमें क्रांति और उसके विभिन्न स्तर तथा हर स्तर के साझेदारों की पहचान की जानी है। दरअसल क्रांति सम्बन्धी धारणा काफी 'भ्रामक और विवादास्पद'[4] रही है। डगलस डील प्रभृति विद्वानों द्वारा की गई परिभाषा की अस्पष्टता का अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि इसमें सामाजिक व्यवस्था के संरचनात्मक परिवर्तन तथा शक्ति या सत्ता के वर्गीय हस्तांतरण की परिधि से बाहर के परिवर्तन भी क्रांति की सीमा में आ जाते हैं। राजनैतिक उथल-पुथल के द्वारा शासक-समुदाय में हुए परिवर्तन के लिए भी क्रांति शब्द का प्रयोग उचित नहीं प्रतीत होता।[5] मार्क्स की व्याख्या, जो कि सर्वाधिक स्पष्ट है, से क्रांति के लिए दो तत्वों का होना आवश्यक है—सांपत्तिक सम्बन्धों में परिवर्तन और एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग से सत्ता हथिया लेना। यद्यपि स्वामीजी सिद्धांतकार नहीं थे, परन्तु क्रांति सम्बन्धी उनके विचार मार्क्स की व्याख्या से मेल खाते नजर आते हैं। उनके अनुसार क्रांति पुरानी व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करके नयी प्रणाली की शुरूआत है। पुरानी व्यवस्था और हुकूमत के 'भीतरी रद्दोबदल'[6] के बिना वे क्रांति की कल्पना भी नहीं करते। इस भीतरी रद्दोबदल का तात्पर्य सांपत्तिक सम्बन्धों में परिवर्तन से ही है। उसी तरह से शक्ति को हथियाने की बात स्वामीजी ने भी की है क्योंकि हस्तांतरण रजामंदी से होता है और यह प्रक्रिया धीमी है, परन्तु क्रांति के दौरान परिवर्तन आकस्मिक होते हैं।

स्वामीजी का मत है कि क्रांति के दो चरण होते हैं। पहले चरण में अल्पमत क्रांति या पूँजीवादी क्रांति होती है, जिसे कृषक क्रांति भी कहते हैं तथा दूसरे चरण में बहुमत क्रांति या समाजवादी क्रांति होती है। प्रथम चरण की क्रांति से पूर्व निरंकुश शासक होते हैं जिनके अधीन जमींदार, जागीरदार और साहूकार होते हैं। ये बहुमत (जिसमें अधिसंख्यक कृषक होते हैं) का मनमाना शोषण करते हैं। पूँजीवादी लोग इस शोषण और दोहन से किसानों और शोषितों को मुक्त करवाने की बात कर बहुमत को साथ कर लेते हैं और पूँजीवादी क्रांति सम्पन्न कर देते हैं। चूँकि इससे जमींदारी प्रथा का खात्मा और किसानों के अन्य मांगों की पूर्ति होती है, अतः इसे कृषक क्रांति भी कहा जाता है।[7] इस पूँजीवादी क्रांति में नेतृत्व प्रदान करनेवाला बुर्जुआ वर्ग होता है, जो वर्ग-हित को साधने के लिए बहुमत से राय

खरीदकर लोकमतमूलक शासक की स्थापना करता है।[8] शोषण बदले हुए रूप में जारी रहता है, अतः इसी के गर्भ से बहुमत क्रांति या समाजवादी क्रांति का जन्म होता है। अतः बहुमत क्रांति से पहले पूँजीवादी या कृषक क्रांति आवश्यक है।[9]

भारत और अन्य पराधीन देशों के सन्दर्भ में स्वामीजी ने क्रांति के तीन स्तरों या कालखंडों की बात की है[10] : (i) सार्वजनिक राष्ट्रीय मोर्चे का समय (ii) किसान या जनतंत्र क्रांति का समय और (iii) समाजवादी क्रांति का समय। क्रांति के पहले चरण में राष्ट्रवादी पूँजीपति राष्ट्रीयता की भावना से अभिभूत होकर थोड़े समय के लिए साम्राज्यवाद के विरोध में लड़ते हैं और किसान-मजदूरों को सहभागी बनाते हैं, परन्तु शासन-सूत्र हाथ में आते ही इस बहुमत के रुख को देखकर प्रतिगामी हो जाते हैं। वस्तुतः गुलाम देशों में 'आमूल-परिवर्तनवादी मध्यमवर्गीय'[11] केवल किसान ही होते हैं क्योंकि इन्हें जमीन की भूख होती है जो बिना छीना-झपटी के मिल नहीं सकती। क्रांति के दूसरे चरण में भी किसानों की भूमिका अन्यतम होती है। रजनी पाम दत्त[12] ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि किसान क्रांति के बिना नवीन भारत के निर्माण की बुनियाद और तदनुकूल परिवर्तन असम्भव है। इसी से सहमति जताते हुए स्वामीजी ने भी किसान क्रांति को भारत के निस्तार के लिए अनिवार्य माना है।[13]

क्रांति को अन्तिम चरण तक पहुँचाने के लिए किसान क्रांति की अनिवार्यता ऐतिहासिक अनुभवों से भी स्वयंसिद्ध है।[14] लेनिन और बोलशेविक दल ने भी आरम्भ से ही किसानों को मिलाने की कोशिश की क्योंकि उनकी दृष्टि में तीसरे चरण की क्रांति शुरू करने के लिए ये ही 'सर्वहारा वर्ग के मददगार'[15] नजर आ रहे थे। किसान क्रांति की सफलता से आगे की तैयारी में मदद मिलती है क्योंकि इसके चलते रास्ते से निरंकुश शासन और जमींदारी रूपी दो बाधाएँ टल जाती हैं। स्वामीजी किसान क्रांति को समाजवादी क्रांति का रिहर्सल[16] मानते हुए इसके प्रबल पक्षधर थे। उनकी सोच थी कि किसान क्रांति कम खतरनाक होने के कारण उसमें सफलता की संभावना अधिक होती है और इससे अपनी शक्ति एवं शत्रु-मित्र की भी पहचान हो जाती है।

गुलाम देशों में विभिन्न निहित स्वार्थों के बीच किसान और मजदूर को ही स्वामीजी सच्चे अर्थों में साम्राज्यवाद विरोधी तत्त्व मानते थे जिन्हें उनकी तात्कालिक माँगों के लिए ही संगठित कर उस संघर्ष में सहजतापूर्वक खड़ा किया जा सकता था।[17] तभी तो उन्होंने कृषक-समस्या को स्वराज्य के ऊपर तरजीह देने की बात की है।[18] वस्तुतः स्वराज्य का अर्थ है अपना राज्य और किसान-मजदूरों का अपना राज्य तभी संभव है जब उनका सभी प्रकार का शोषण बन्द हो जाय—चाहे वह विदेशी सामन्ती वर्ग द्वारा हो या देशी द्वारा। 'यह स्वराज्य' समाजवादी क्रांति में ही सम्भव था और उस स्तर तक पहुँचने के लिए किसानों को तात्कालिक संघर्ष के लिए संगठित करना था जो कि तभी सम्भव होता जब जोत की जमीन जमींदारों से हथिया कर उन्हें देने का प्रयास किया जाता।[19]

क्रांति के हर चरण में किसानों की अपरिहार्य उपादेयता को जान लेने के बाद स्वामीजी के नजरिये से किसानों की पहचान किया जाना अपेक्षित है। वस्तुतः भारतीय सामाजिक-आर्थिक संरचना में किसान और इस वर्ग के विभिन्न स्तरों को

स्पष्ट तौर से परिभाषित कर पाना दुष्कर है[20]। 1885 ई० का बंगाल टेनेन्सी एक्ट, 1930 ई० का लगान बन्दोबस्ती से सम्बन्धित प्रतिवेदन और 1931 ई० की जनगणना से सम्बन्धित प्रतिवेदन भी कृषक वर्ग को संतोषप्रद ढंग से परिभाषित करने में असमर्थ हैं।[21] स्वामीजी की स्वयं की भी मान्यता इस संदर्भ में परिवर्तनशील रही है। 1928 ई० में किसानों से उनका अभिप्राय उन सभी से था "जिनका जीने का प्राथमिक स्रोत खेती"[22] था। 1934 ई० तक इनमें छोटे जमींदारों और रैयतों के अतिरिक्त ऐसे मजदूर भी शामिल हो गये थे जिन्हें अपने नियोक्ताओं से जमीन मिली हुई थी।[23] 1936 ई० में स्वामीजी ने खेत-मजदूरों को भी किसान की कोटि में शामिल कर लिया।[24] 1941 ई० में किसान का मतलब उस शोषित-समूह से लगाया गया जो खेती से जुड़े और उस पर निर्भर थे।[25] 1944 ई० में अखिल भारतीय किसान सभा के बेजवाड़ा अधिशन में उन्होंने कहा[26] : "ये वे सर्वहारा या मजदूर हैं जो बहुत कम जमीन रखते हैं अथवा जिनके पास कुछ भी जमीन नहीं है और छोटे किसान जो किसी तरह अपनी जमीन से फटेहाली में जी लेते हैं। वे ही हमारी समझ से किसान हैं....।" खेत-मजदूरों को किसान वर्ग में इसलिए शामिल किया गया चूँकि वे ही जमीन के जोतने-बोनेवाले होते हैं और प्रतिवर्ष नौ लाख से भी ज्यादा किसान अपनी जोत की जमीन गँवाकर खेत-मजदूर बन रहे थे।[27]

भारत की पराधीनता के परिवेश में किसानों की क्रांतिकारी शक्तियों के आकलन और भारतीय किसानों के स्वरूप के निर्धारण के पश्चात यह देखना आवश्यक है कि किन कारकों के चलते किसानों की क्रांतिकारी शक्ति प्रच्छन्न होती है और यह उद्बोधित कैसे की जा सकती है ? इस सम्बन्ध में इतना तो स्पष्ट है ही कि किसान स्वयं क्रांति नहीं कर सकता क्योंकि उसके सामने अहम् सवाल है जमीन का जो कि उसकी आजीविका का साधन है। अत: स्वामीजी ने रूस की तरह यहाँ भी उसे जोत की जमीन पर स्वामित्व दिलाने का वादा करके ही क्रांति के लिए तैयार करने की बात की है।[28] दूसरी बात यह है कि उन्हें एक आर्थिक वर्ग इसी मायने में माना जा सकता है, चूँकि उनके 'आर्थिक प्रश्न समान हैं चाहे उनका मजहब कुछ भी'[29] हो। सामान्य अवस्था में तो वे दकियानूस और प्रतिगामी ही प्रतीत होते हैं क्योंकि वे भाग्यवादी होने तथा फिरकापरस्ती के झूठे बन्धनों में जकड़े होने के कारण पस्तहिम्मत हैं।[30] स्वामीजी के अनुसार जागरण और समझदारी आते ही यह वर्ग क्रांतिकारी हो जाता है जिसके लिए जरूरत है पथ-प्रदर्शकों की[31] जो उन्हें संघर्ष के पथ पर ले चलें। नेहरू ने भी किसान वर्ग की क्रांतिकारी शक्ति को पहचान कर ही उसे क्रांतिकारी नेतृत्व देने की आवश्यकता महसूस की थी।[32] क्रांति के लिए वस्तुपरक परिस्थिति तो किसानों की स्थिति में निहित है ही, सही नेतृत्व के मिल जाने से व्यक्तिपरक परिस्थिति भी उपलब्ध हो जाती है और फिर तो यह वर्ग क्रांति कर ही सकता है।[33] वस्तुतः किसानों की निम्न-मध्यमवर्गीय मनोवृति सबसे कम टिकाऊ चीज है, अतः सही नेतृत्व उसमें क्रांतिकारी चरित्र उभार सकता है क्योंकि जन्म या पेशे से वर्ग का निर्धारण करना उपयुक्त नहीं है। इसके लिए तो मनुष्य की भीतरी बनावट और मनोवृत्ति पर गौर फरमाना अनिवार्य है।[34] सच्चे अर्थों में शोषित किसान और मजदूर की मनोवृत्ति भी सर्वहारा मनोवृत्ति है और ये अर्द्ध-सर्वहारा सर्वहारा वर्ग के साथ मिलकर तृतीय चरण की क्रांति को भी अन्जाम दे सकते हैं।[35]

स्वामीजी के मतानुसार उचित नेतृत्व के प्रभाव से किसान क्रांतिकारी हो सकता है। उचित नेतृत्व से तात्पर्य यह है कि कृषक क्रांति की सफलता के लिए इसी वर्ग से नेता का होना अनिवार्य है क्योंकि क्रांति की सफलता के लिए आदमी, रुपया और सामान इस वर्ग का अपना होना चाहिए अन्यथा क्रांति पथभ्रष्ट हो जायेगी।[36] बाहरी नेताओं का काम सिर्फ इतना है कि वे किसान वर्ग के भीतर से ही नेता पैदा कर दें।[37] साथ ही इस वर्ग में वर्ग चेतना जगाने के लिए वर्ग-संस्था की भी जरूरत है क्योंकि उसके बिना क्रांति के पूर्ण-विस्तार और सफलता की आशा नहीं की जा सकती जैसा कि असहयोग आन्दोलन के पूर्व हुए आन्दोलनों में हुआ था।[38] अखिल भारतीय किसान सभा की आवश्यकता इसलिए महसूस की गई चूँकि धन, अक्ल और प्रभाव के अभाव में यही संस्था किसानों के वर्ग-हित की रक्षा करने में समर्थ हो सकती थी।[39]

एक बात की जानकारी रखे बिना कि स्वामीजी भारतीय परिप्रेक्ष्य में किस तरह की क्रांति के पक्षधर थे, शोध परिप्रेक्ष्य को पूर्ण स्पष्ट करना सम्भव नहीं है। इस सम्बन्ध में स्वामीजी की रचनाओं से स्पष्ट है कि स्वामीजी बाहरी क्रांति से पहले भीतरी क्रांति को सम्पन्न करने में विश्वास रखते थे[40] और यही था उनका मार्क्स की क्रांति और वर्ग-संघर्ष की यथार्थवादी भारतीय व्याख्या और उनका ठोस और व्यावहारिक मनोचिंतन। उनका विश्वास था कि क्रांति का जन्म क्रांति की इच्छा से होता है और यह दृढ़इच्छा उनमें सत्यनिष्ठ कार्यकर्ता ही पैदा कर सकते हैं। स्वामीजी ने वर्ग-संघर्ष को वर्ग-स्वार्थों के संघर्ष के रूप में देखते हुए यह स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है कि उस स्थिति में क्रांति में हिंसा का कोई स्थान नहीं होगा। इस तथ्य की पुष्टि उन्होंने लेनिन के कथन से की है। उनकी व्यावहारिक, वस्तुगत और वैज्ञानिक सोच के अनुसार सच्चे कार्यकर्ता किसान-मजदूरों को वर्ग-स्वार्थ की सही शिक्षा देकर हिंसा-विहीन क्रांति का निष्पादन कर सकते हैं।[41]

किसानों और उनकी नियति के सम्बन्ध में इतनी गहरी वैचारिक पैठ से स्पष्ट हो जाता है कि स्वामीजी ने किसानों के साथ आत्मीयता और तादात्म्य स्थापित कर लिया था। उन्होंने भोगे हुए 'यथार्थ के आधार पर विचारों का प्रतिपादन, क्रियान्वयन और पथ-प्रदर्शन करने'[42] का काम किया। परिस्थिति और आवश्यकता के अनुसार समय-समय पर फूँक-फूँकर कदम बढ़ाने और तदनुरूप आदर्श निश्चित करने के कारण ही[43] वे किसानों के त्राता और किसान-आन्दोलन के प्रकाश-स्तम्भ के रूप में उद्भासित हैं।

पिछड़े और पराधीन मुल्कों में कृषक क्रांति की सफलता के लिए स्वामीजी ने जिस भीतरी क्रांति पर अत्यधिक जोर दिया, उसकी प्रासंगिकता बीतते समय के साथ-साथ और भी मुखर होती जा रही है। स्वयं स्वतंत्र भारत में तेलंगाना तथा नक्सलपंथियों की यत्र-तत्र की क्रांतिकारी उभाड़ की असफलता तथा पूर्वी यूरोप में साम्यवादी प्रशासन के पतन इसके जीवंत उदाहरणों की कड़ी में शामिल होते जा रहे हैं। इन बदलते घटनाक्रमों की प्रकृति से प्रतीत होता है कि हर जगह भीतरी क्रांति का अभाव रहा है।

संदर्भ-सूची :

1. विस्तार के लिए देखें, Sen, Sunil *Agrarian Relations in India* (1793-1947) तथा Desai, A. R. (ed.); *Peasant Struggles in India* की प्रस्तावना।
2. विस्तार के लिए देखें, Karl Marx, *The Eighteenth Brumaire of Louies Bonaparte.*
3. सरस्वती, स्वामी सहजानन्द, **क्रांति और संयुक्त मोर्चा**, पृ० 71.
4. देखें, Hay, Denys; Geographical Abstractions and the Historian, *Historical Studies* II (1959) तथा वहाँ वर्णित स्रोत, Desai, A.R., पूर्वोक्त, पृ० XVIII-XIX.
5. Desai, A.R., वही, पृ० XVIII, सरस्वती, स्वामी सहजानन्द, पूर्वोक्त, पृ० 5.
6. सरस्वती, स्वामी सहजानन्द, पूर्वोक्त, पृ० 10.
7. वही, पृ०-84.
8. वही, पृ०-86.
9. वही, पृ०-106-107.
10. वही, पृ० 388.
11. वही, पृ० 391; **किसान सभा के संस्मरण**, पृ० 35.
12. दत्त, रजनी पाम; **आज का भारत**, पृ० 523-24.
13. सरस्वती, स्वामी सहजानन्द, पूर्वोक्त, पृ० 392.
14. वही, पृ० 80-81, **किसान सभा के संस्मरण**, पृ० 13-14.
15. वही, पृ० 91.
16. वही, पृ० 122.
17. चन्द्रभूषण (प्रका०). **किसान आंदोलन का विकास : सहजानन्द से चारू और अब**, पृ० 140-41.
18. सरस्वती, स्वामी सहजानन्द, **किसान सभा के संस्मरण**, पृ० 40-41 तथा **क्रांति और संयुक्त मोर्चा**, पृ० 24-25.
19. विस्तार के लिए देखें, वही।
20. विस्तार के लिए देखें, प्रथम अध्याय। Hauser, Walter, *The Bihar Provincial Kisan Sabha* (1929-42) : *A Study of an Indian Peasant Movement.*
21. विस्तार के लिए देखें, Bengal Tenancy Act of 1885, Land Revenue Administration Report, Bihar and Orissa, 1930-31, Report Census of India (Bihar and Orissa), 1931.

22. Report on Native Newspapers (Bihar), March to May 1928.
23. Extract from a Special Branch Inspector's Report, Patna, dated 11-6-1934. File 10/1934, Home political (Spl. Branch). Government of Bihar and Orissa.
24. Home Political, Special Branch, Memo No. 68/1936 Govern- of Bihar and Orissa.
25. सरस्वती, स्वामी सहजानन्द, खेत मजदूर, पृ० 10-11.
26. देखें, आल इंडिया किसान सभा (आठवाँ अधिवेशन), बेजवाड़ा, 14-15 मार्च, 1944, पृ० 30.
27. सरस्वती, स्वामी सहजानन्द; किसान सभा के संस्मरण पृ० 18.
28. सरस्वती, क्रांति और सयुक्त मोर्चा, पृ० 71-75 तथा 223-35.
29. वहीं, पृ० 70, किसान सभा के संस्मरण, पृ० 57.
30. सरस्वती, किसान सभा के संस्मरण, पृ० 86.
31. वहीं, पृ० 125.
32. नेहरू, जवाहरलाल; आत्मकथा, पृ० 237.
33. सरस्वती, किसान सभा के संस्मरण, पृ० 125 तथा विस्तार के लिए इसी लेखक का किसान कैसे लड़ते हैं ?
34. सरस्वती, क्रांति और संयुक्त मोर्चा, पृ० 67, किसान क्या करें, पृ० 192-96.
35. सरस्वती, क्रांति और संयुक्त मोर्चा, पृ० 240.
36. सरस्वती, किसान सभा के संस्मरण, पृ० 209.
37. वहीं, पृ० 207.
38. वहीं, पृ० 13-14.
39. वहीं, पृ० 20 तथा 39-40.
40. सरस्वती, आल इंडिया किसान सभा, आठवाँ अधिवेशन, बेजवाड़ा, पृ 2.
41. विस्तार के लिए देखें, सरस्वती, आल इंडिया किसान सभा, तृतीय वार्षिक अधिवेशन, कुमिल्ला, 1938, किसान क्या करें ?; अब क्या हो ?, क्रांति और संयुक्त मोर्चा ।
42. चन्द्रभूषण (संपा०), किसान आंदोलन का विकास : सहजानन्द से चारू और अब, पृ० 127.
43. सहजानन्द स्मृति ग्रंथ, किशोरी प्रसन्न सिंह का निबंध, पृ० 75-76.

☐

38

उपेक्षा से अपेक्षा की ओर

—अजय कुमार झा

बौद्धिक जगत में निरन्तर संघर्ष के पश्चात् स्वामी सहजानन्द सरस्वती की राजनैतिक के साथ-साथ बौद्धिक उपेक्षा से अपेक्षा की ओर अग्रसर होने के स्पष्ट संकेत मिलने लगे हैं। विजय चन्द्र प्रसाद चौधरी के वर्णित निबन्ध, खुद यह संकलन तथा हाल में हो रहे अनेकानेक प्रकाशन उसी के शुभ लक्षण प्रतीत होते हैं। खुद राजनीति में भी वामपंथ अपनी भूल सुधार कर अनेक मूल सिद्धान्त के अंगीकरण की ओर मुखातिब हो रहा है। इसी वर्ष **पीपुल्स डेमोक्रेसी** में सी० पी० एम० के शीर्ष नेता ने पार्टी द्वारा स्वामीजी के प्रति अपनाये गये उपेक्षापूर्ण रवैये को स्वीकारते हुए उनके कुछ मूलभूत सिद्धान्तों को आज के सन्दर्भ में भी प्रासंगिक समझते हुए अपनाने की वकालत की है। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के प्रकाशन पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस ने स्वामीजी के राजनैतिक साहित्य का पुनर्मुद्रण प्रारम्भ किया है। इसके एक शीर्ष नेता इन्द्रदीप सिंह, जो स्वामीजी के साथ हुँकार में सह-सम्पादक की हैसियत से काम करते थे, तथा 'जय प्रकाश को गोली, सुभाष को फाँसी' शीर्षक गलत निबन्ध इस पत्रिका में छपवाने के लिए उससे स्वामीजी द्वारा निष्काषित किये गये थे, ने भी अपनी भूल सुधारते हुए स्वीकार किया है कि स्वामीजी की पांडुलिपियों, रचनाओं एवं सामग्रियों की रक्षा करना जनवादी तत्त्वों का दायित्व है।[1] स्मरण रखने की जरूरत है कि इन्द्रीप सिंह ने इस घटना के पश्चात् स्वामीजी को फासिस्ट कहकर उनपर एवं उनकी किसान सभा पर बेबुनियादी प्रहार करते हुए बम्बई से एक पुस्तिका लिखी जिसका प्रचार-प्रसार कम्युनिस्ट पार्टी की पोलित ब्यूरो के आदेश पर प्रतिबंधित कर दिया गया और वह किसी को उपलब्ध न हो सकी।[2] नक्सलपंथियों ने 'सहजानन्द से चारु और अब' का प्रकाशन कर वर्तमान सामाजिक परिवेश में स्वामीजी की प्रासंगिकता को साबित करने का प्रयास किया है।[3] ज्ञातव्य है कि वर्णित वामपंथी दलों के शीर्ष नेता स्वामीजी के साथ राजनीति में सहयोगी के रूप में कार्यरत रहे हैं।

अखिल भारतीय कांग्रेस जैसी मध्यममार्गी पार्टी के प्रोफेसर एन० जी० रंगा और अखिल भारतीय स्वतन्त्रता सेनानी संघ के अध्यक्ष तथा फारवर्ड ब्लॉक के भूतपूर्व नेता शीलभद्र याजी सरीखे कांग्रेसी नेताओं को स्वामीजी के व्यक्तित्व में असली वैज्ञानिक समाजवादी की झलक मिलने लगी है।[4] स्वामीजी के प्रशंसात्मक मूल्यांकन की वर्तमान राजनीति में वोट पाने के लिए तो इतना महत्त्व बढ़ गया है कि मांडा के राजा और भारत के वर्तमान प्रधान मन्त्री विश्वनाथ प्रताप सिंह ने उनकी शतवार्षिकी की एक छोटी सभा को पटने में सम्बोधित किया तथा घोर प्रतिक्रियावादी दक्षिण पंथी भारतीय जनता पार्टी के वर्तमान लोक सभा सदस्य प्रोफेसर शैलेन्द्रनाथ श्रीवास्तव अपने चुनाव अभियान के क्रम में पटने के शहीद स्मारक के नीचे

स्वामीजी के प्रति अपनायी गई सरकारी उपेक्षापूर्ण रुख के विरुद्ध धरने पर भी बैठे हैं ।[5]

उपेक्षा से अपेक्षा की ओर बढ़ती हुई इन विभिन्न राजनैतिक अभिप्रेरणाओं की पृष्ठभूमि में हम बुद्धिजीवियों के लिए भी आवश्यक है कि उन्हें बौद्धिक स्तर पर समुचित सम्मान देने के लिए कुछ बौद्धिक, विश्लेषणात्मक अध्ययन भी तैयार करें तथा भविष्य के लिए एक सुनियोजित योजना का खाका भी प्रस्तुत करें जिसके बौद्धिक कार्यान्वयन में समाज के विभिन्न तबकों के उदारवादी तत्व प्रशासनिक, आर्थिक तथा बौद्धिक स्तर पर सहभागी हो सकें। इस तरह की योजना का प्रमुख आपातकालीन कार्यक्रम तो यह होना चाहिए कि स्वामीजी के साथ पत्राचार के अप्रकाशित अंश, उनकी अप्रकाशित डायरियाँ एवं पांडुलिपियाँ, उनके सम्बन्ध में प्रचलित किम्वदंतियाँ आदि को राष्ट्रीय स्तर पर सघन अभियान चलाकर एकत्र कर सुरक्षित सार्वजनिक स्थल पर संग्रहित करना चाहिए तथा लोकप्रिय प्रकाशनमाला के रूप में प्रकाशित भी करना चाहिए। ध्यान रखना चाहिए कि इसमें अनर्थकारी बिलम्ब हो चुका है तथा और अधिक बिलम्ब होने से ये सारे ऐतिहासिक स्रोत सदा-सदा के लिए विलुप्त हो जायेंगे।

इससे कम महत्त्वपूर्ण बात यह नहीं है कि उपर्युक्त स्रोतों का एक अच्छा-खासा हिस्सा अमरीका जैसे देशों में पहुँच चुका है तथा शेष का अधिकांश खुद इस देश में ही निजी संग्रहालयों की गिरफ्त में जा चुके हैं। फलस्वरूप बौद्धिक जगत् को अपार क्षति हो रही है तथा स्वामीजी के व्यक्तित्व के वस्तुगत मूल्यांकन में अवरोध पैदा हो रहा है। अतः इसमें प्रचुर राजनैतिक प्रशासनिक तथा आर्थिक पेशकदमी की जरूरत है जिससे वे विदेश से इस देश में तथा निजी संग्रहालयों से सार्वजनिक संग्रहालयों में सुरक्षित रखकर प्रकाशित कराये जा सकें।

हम प्रोफेसर वाल्टर हाउजर से सहानुभूति रखते हुए इस तर्क से सहमत नहीं हैं कि चूँकि हमारे देश में स्वामीजी की मृत्यु के लगभग चालीस वर्ष बाद भी उनकी तथा उनकी कृतियों की उपेक्षा होती रही, इसलिए उन्होंने स्वामीजी को सम्मान पहुँचाने की नीयत से ही सीतारामाश्रम, बिहटा सरीखे जगहों से उनकी रचनाओं की अतिरिक्त प्रतिलिपियों तथा अन्य महत्वपूर्ण मूल दस्तावेजों का अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का उल्लंघन करते हुए तथा बिना किसी सूचना के चुपचाप अमरीका लेते चले गये।[6] आश्चर्य यह है कि उन्होंने यह दलील मात्र अपने बचाव के लिए ही नहीं दिया अपितु ऐसे जघन्य अपराध करने के लिए सीतारामाश्रम के कर्मचारियों को सच्चरित्रता का 'दुर्लभ प्रमाणपत्र' भी निर्गत कर दिया। आश्रम के कर्मचारियों को किसने उन दुर्लभ चीजों को उन्हें देने के लिए प्राधिकृत किया था? अगर प्रोफेसर हाउजर के इस तर्क को मान भी लिया जाय कि दोनों पक्षों में से किसी का भी व्यावसायिक उद्देश्य नहीं था और देशभक्ति और ऐसे विषयों पर अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के प्रति प्रतिबद्धता ही थी, तो क्या वे यह बता सकेंगे कि आश्रम में जमा पैसा तथा अन्य कागजात, जो वे अमरीका नहीं ले जा सके; आश्रम के कर्मचारियों ने कहाँ लुप्त कर दिया जो कि अब अनुपलब्ध हैं क्योंकि उन कर्मचारियों की कर्तव्यपरायणता का प्रमाणपत्र उन्होंने निर्गत किया है। अपने बचाव में दिये गये उनके यह तर्क भी बेहद बेतुके और शरारत भरे हैं चूँकि नेहरू स्मारक

संग्राहालय एवं पुस्तकालय के निदेशक वी० सी० जोशी तथा भारत का नृवैज्ञानिक सर्वेक्षण के महानिदेशक डा० कुमार सुरेश सिंह ने उनके इस अनियमित संकलन को अमरीका में देखा है, इसलिए उनका यह कार्य 'नियमित, स्वामीजी के प्रति' सम्मान-सूचक तथा स्वस्थ बौद्धिक-परम्परा का द्योतक' है। वर्णित अभियोग के प्रति उनका गुस्सा निरर्थक प्रतीत होता है कि चूँकि ऐसे कार्य में उनका कोई व्यावसायिक उद्देश्य नहीं है, इसलिए यह कार्य सम्मान जदक और नियमित है। उन्हें भूलना नहीं चाहिए कि उनपर पांडुलिपियों की चोरी के अतिरिक्त सी० आइ० ए० के अभिकर्ता होने का भी अभियोग है 'तथा ऐसे गुप्तचर अभिकरण अपने नव-साम्राज्यवादी हित में दूसरे देश को छिन्न-भिन्न और टुकड़े-टुकड़े करने के लिए ऐसी बेजा हरकतें करते हैं।[7] ऐसी गम्भीर परिस्थिति में देश के प्रशासनिक और राजनैतिक नेतृत्व द्वारा कड़े रूख अपनाकर ही उन दुर्लभ पाँडुलिपियों को स्वदेश लौटाया जा सकता है।

बौद्धिक स्तर पर एक प्रमुख कार्य यह होना चाहिए कि स्वामीजी के सैकड़ों लेख, सम्पादकीय टिप्पणियाँ तथा भाषण विभिन्न भाषाओं की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं और बिखरे पड़े हैं जिनका अविलम्ब शोधकर्ताओं द्वारा संग्रह करा कर कहीं केन्द्रीय स्थान पर रखना चाहिए तथा विषयानुकूल विभक्त कर खंडों में प्रकाशित कराना चाहिए।

स्वामीजी के सन्दर्भ में एक दुर्लभ ऐतिहासिक स्रोत बड़ी तेजी से लुप्त हो रहा है और वह हैं उनके समकालीन जागरूक और समझदार लोग। उनसे तार्किक और सुनियोजित प्रश्नावली के आधार पर साक्षात्कार अविवम्व ले लेना अनिवार्य है तथा क्रमबद्ध ढंग से शोध के लिए उन्हें प्रकाशित कराना नितांत आवश्यक है।

स्वामीजी के सभी उपलब्ध साहित्य को सुनियोजित भूमिका और संपादकीय टिप्पणी के साथ लोकप्रिय प्रकाशनमाला के रूप में प्रकाशित कराया जाना चाहिए। उनसे सम्बन्धित खानगी और सरकारी दस्तावेजों तथा निजी पत्राचारों को उपलब्ध कराके प्रकाशित कराना चाहिए। उसी तरह भारत की विभिन्न भाषाओं में स्वामीजी के व्यक्तित्व के विभिन्न अवयवों पर जो अनेकानेक निबन्ध, कविताएँ एवं लोकगीत उपलब्ध हैं, उनका भी संग्रह कर प्रकाशित करवाना आवश्यक है। भूलना नहीं चाहिए कि स्वामीजी की राजनीति, पत्रकारिता, इतिहास, वेद-पुराण, दर्शन में इतनी गहरी पैठ थी कि वर्णित सारे अनुशासनों के विद्वानों को अपने-अपने क्षेत्र के लिए प्रचुर शोध-सामग्रियाँ उपलब्ध हो जायेंगी। नये तथा प्रतिष्ठित भाषाविद, पत्रकार, राजनीतिशास्त्री, अर्थशास्त्री, इतिहासकार, समाजशास्त्री, दर्शनशास्त्री तथा वैज्ञानिकों को अलग-अगल एवं संयुक्त रूप से भी अन्तर-संकायी आधार पर शोध कर गम्भीर विश्लेषणात्मक अध्ययन करना चाहिए तथा अध्याय एक में संकेतित सारे स्रोतों एवं अन्य स्रोतों के आधार पर ही वह शोध किया जाना चाहिए। इन शोध-प्रतिफलों का प्रकाशन भी आवश्यक होगा।

उपर्युक्त कोटियों के सारे प्रकाशनों का विभिन्न भाषाओं में होना आवश्यक है जिससे स्वामीजी की वैभवशाली प्रतिभा और विचारधारा से आम जनता अवगत हो सके। यह परिचर्चा तथा कार्यक्रम हमें इस सुझाव को देने के लिए मजबूर

करता है कि अगर नेहरू, होमी जहाँगीर भाभा, श्रीकृष्ण सिंह, अनुग्रह नारायण सिंह, केदार दास, काशी प्रसाद जायसवाल, इन्दिरा गाँधी और संजय गाँधी सरीखे लोगों के नाम पर सरकारी या राजनैतिक दलों द्वारा समर्थित बौद्धिक संस्थान हो सकते है, तो इसका सबसे ज्यादा औचित्य है कि स्वामीजी के नाम पर विभिन्न अनुशासनों के लिए अलग-अलग शोध-संस्थान स्थापित कराये जायें।

इस कार्य में विभिन्न विश्वविद्यालय भी पेशकदमी ले सकते हैं। वर्णित मार्ग-निर्देश के आधार पर विभिन्न विश्वविद्यालयों एवं शैक्षणिक संस्थानों को अपने-अपने केन्द्रों में स्वामीजी पर विशिष्ट शोध कराने चाहिए। हर हालत में स्वामीजी का प्रामाणिक जीवन वृत्तांत तैयार कर अविलम्ब प्रकाशित कराया जाना चाहिए। इस निबन्ध में प्रस्तुत कार्यक्रम को कार्यान्वित करने में नौकरशाह, राजनीतिज्ञ, बुद्धिजीवी तथा शासक वर्ग अपनी-अपनी विशिष्ट भूमिका ईमानदारी से निभा सकते हैं। एक बात ध्यान रखने की यह है कि इन शोध-संस्थानों एवं शोध-योजनाओं की कार्यविधि में समर्पित तथा प्रतिबद्ध विद्वानों एवं शोध-छात्रों की प्रमुख भूमिका एवं दायित्व होने चाहिए और अनावश्यक एवं कुत्सित राजनैतिक हस्तक्षेप से परहेज किया जाना चाहिए।

आशा और विश्वास के साथ राजनीतिज्ञों, प्रशासकों एवं बुद्धिजीवियों के समक्ष यह कार्यक्रम प्रस्तुत किया जा रहा है ताकि वे गम्भीरतापूर्वक चिन्तन कर आवश्यक संशोधन के साथ इस कार्यक्रम को कार्यान्वित करने में निष्ठापूर्वक, कम से कम सीमित दायरे में ही सही, ध्यान देंगे जिससे उपेक्षाग्रस्त स्वामी सहजानन्द सरस्वती की प्रतिमा अपेक्षापूर्ण अन्वेषण में परिणत हो सके।

□

संदर्भ-सूची :

1. **स्मारिका स्वामी सहजानन्द सरस्वती जन्य शताब्दी समारोह**, नई दिल्ली, 1919, पृ० 50।
2. कम्युनिस्ट पार्टी के कुछ वरिष्ठ नेताओं से साक्षात्कार से यह तथ्य उभरे हैं।
3. विस्तार के लिए देखें चन्द्रभूषण ,द्वारा सम्पादित **'क्रांति और संयुक्त मोर्चा भाग एक** तथा **किसान अन्दोलन का विकास : सहजानन्द चारु और अब**, दूसरी पुस्तक वाल्टर हाउजर लिखित पुस्तक का संकलन सम्पादन है।
4. **स्वामी सहजानन्द स्मृति ग्रन्थ भाग एक** (सं० त्रिवेणी शर्मा सुधाकर) पृ०-117-19।
5. **हिन्दुस्तान, हिन्दुस्तान टाइम्स, जनशक्ति**, 12 दिसम्बर तथा टाइम्स ऑफ इण्डिया 13 दिसम्बर 1989।
6. सहजानन्द विकास सेवा संस्थान, मुजफ्फरपुर के अध्यक्ष डा० सी० पी० एन० ठाकुर के 24, जनवरी 1989 के पत्रोत्तर में डा० वाल्टर हाउजर के 22, फरवरी 1989 का पत्र।

□

39

जन-संघर्ष का सिलसिला

—ओंकार नाथ झा

पिछले अध्याय के इस निष्कर्ष से हम सहमत हैं कि स्वामी सहजान सरस्वती की उपेक्षा का वातावरण खत्म हो रहा है ओर अपेक्षाओं का दौर शुरू हो गया है। परन्तु, हम यह कहना चाहेंगे कि यह सब सहज ढंग से नहीं हो गया है। इसके पीछे सामाजिक, राजनैतिक, और बौद्धिक स्तर पर किये जा रहें संघर्षों का हाथ दिखाई देता है। अतः हम अपने निबंध में सामाजिक और राजनैतिक स्तर पर होनेवाले उस संघर्ष का वर्णन करना चाहेंगे जिसके चलते स्वामीजी की उपेक्षा अब अपेक्षा में बदलने लगी है।

स्वामीजी ने गुलाम भारत में सामाजिक विषमताओं को मिटाने के लिए जो सैद्धांतिक और राजनैतिक कार्यक्रमों का ठोस रूप दिया था, वही आजाद भारत के वर्ग पर आधारित समाज के वर्गीय और व्यक्तिगत संघर्षों के चलते उपेक्षा का कारण बन गया। दरअरल स्वामीजी को अपनी रचनाओं की सैद्धांतिक पृष्टभूमि से स्पष्ट होता हैं कि वे एक ऐसे समाज की स्थापना का कार्यक्रम चलाने में विश्वास रखते थे जिसमें साम्राज्यवादियों, सामंतों और पूँजीपतियों के लिए अलग से कोई स्थान नहीं था। उन्होंने अपनी रचनाओं में ठोस साक्ष्यों और तर्कों के आधार पर उनकी व्यावहारिकता भी सिद्ध कर दी थी। इन्हीं सिद्धांतों के अधार पर उन्होंने कई राजनैतिक कार्यक्रम भी चलाए जिसके नेता और सिपाही भी स्वयं हुआ करते थे। इन कार्यक्रमों से जमींदारी उन्मूलन की दिशा में और सामंती शोषण कम करने की दिशा में वहुत दूर तक सफलता भी मिली।

ऊपर लिखित स्वामीजी के कार्यकलापों के चलते आजाद भारत में सभी परजीवी वर्ग द्वारा उनकी उपेक्षा करना लाजिमी हो गया। भूमिहार के नाम पर स्वामीजी को वदनाम कर समाज के अन्य तवकों से उन्हें उपेक्षित करवाने की साजिश हुई। इस तरह भ्रामक मूल्यांकन विदेशों तक भी पहुँचा।[1] इधर भूमिहारों का प्रभावशाली मध्यम वर्ग भी उनकी उपेक्षा करने लगा, चूँकि स्वामीजी के आदर्शों और सिद्धांतों से उनके सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक स्वार्थ-सिद्धि में क्षति पहुँचने की पूरी-पूरी संभावना थी। उन दिनों शोषित और पीड़ित किसान-मजदूर का राजनैतिक महत्व वड़ा ही सीमित था और स्वामीजी सच्चे अर्थों में उन्हीं के नेता थे। अतः अपनी क्षीण शक्ति के कारण किसान-मजदूर स्वामीजी की उपेक्षा का विरुद्ध कोई प्रभावकारी संघर्ष नहीं कर सके।

राजनैतिक स्तर पर भी स्वामीजी की उपेक्षा शुरू हो गई क्योंकि लगभग

सभी राजनैतिक दलों का नेतृत्व ऐसे मध्यम वर्ग के हाथ में था, जो अपने अवसरवादी संकीर्ण चरित्र को छोड़कर जनवादी मनोवृत्ति से काम करना नहीं चाहते थे। जनवादी चिन्तन इतना दबा हुआ था कि उपेक्षा का कारगर विरोध नहीं हो सका। दूसरे, राजनीति और प्रशासन में सांप्रदायवादी और सामंती तत्त्व आजादी के बाद भी बिहार में काफी हावी रहे हैं। 1952 की विधान सभा के प्रथम चुनाव में ही रामगढ़ के राजा कामाख्या नारायण सिंह की जनता पार्टी को काफी सीटें मिली थीं। विश्व हिन्दू परिषद और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के राजनैतिक शाखा जनसंघ पार्टी (वर्तमान भा० ज० पार्टी) 1967 और 1977 के आम चुनावों में जीत हासिल कर सरकार में साझीदार बनी। अभी-अभी 1989 के आम चुनाव में यह पार्टी फिर एक राजनैतिक हस्ती के रूप में उभर कर सामने आई है। इसी परिप्रेक्ष्य में बिहार में स्वामीजी की उपेक्षा के विरुद्ध संघर्ष काफी पेंचीदा और तेज रहा है।

अब हम स्वामीजी की उपेक्षा के खिलाफ हुए संघर्ष की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करना चाहेंगे। इस सम्बन्ध में यह कहा जाना उचित होगा कि स्वामीजी के आदर्शों के प्रति सम्मान दिखाने की शुरुआत सम्भवतः राहुल सांकृत्यायन के कार्यों से शुरू हुई। यद्यपि राहुलजी के कम्युनिस्ट होने के कारण शुरु में स्वामीजी से उनका कई मुद्दों पर मतभेद था तथा वे और इन्द्रदीप सिंह सुभाष चन्द्र बोस पर एक गलत निबंध लिखने के कारण 'हुंकार' प्रेस से हटा भी दिये गये थे। लेकिन बाद में राहुलजी ने स्वामीजी को नये भारत के नये नेता के रूप में प्रतिष्ठित कर उनकी अपेक्षा के संघर्ष का बीज बो दिया।

एक लम्बे अर्से तक सामाजिक और राजनैतिक स्तर पर यह संघर्ष काफी दबा रहा, लेकिन धीरे-धीरे भारतीय सामाजिक पृष्ठभूमि में वामपंथी, जनवादी और उदारवादी राजनैतिक विचारधाराएँ मजबूत होती गयीं जिससे उपेक्षा के विरुद्ध इस हलके का एक तबका संघर्षरत हुआ। अध्याय 32 और 33 में वर्णित संस्थाएँ उन्हीं चेतना और संघर्षों की साक्षी हैं। यह अलग बात है कि उपर्युक्त अध्याय में वर्णित संस्थाओं के मध्यमवर्गीय नेतृत्व के अवसरवादी-संकीर्णतावादी चरित्र के कारण उनमें से अधिकांश का उद्देश्य सरकारी या निजी अनुदान से फायदा उठाना तथा अन्य विधियों से पैसे कमाना रहा है, परन्तु स्वामीजी की उपेक्षा की ओर बड़े पैमाने पर ध्यान दिलाने और इसके विरूद्ध संघर्ष फैलाने और मजबूती की ओर बढ़ाने का रास्ता इन्हीं संस्थाओं ने तैयार किया है।

दरअसल, राजनैतिक स्तर पर रूढ़िवादी तत्त्वों का दबदबा रहने के कारण स्वामीजी की शतवार्षिकी के अवसर पर किसी सरकारी या सार्वजनिक आयोजन होना संभव नहीं हो रहा था। इसी के चलते सामाजिक स्तर पर स्वामीजी को पुनर्स्थापित करने का संघर्ष तेज हो गया। सरकार की इस उपेक्षापूर्ण नीति की निंदा करते हुए मांग की जाने लगी कि सरकारी स्तर पर उनकी शतवार्षिकी मनायी जाये, कुछ प्रमुख सार्वजनिक स्थानों पर उनकी प्रतिमाएँ स्थापित की जाये, उनके नाम पर शोध-संस्थान खोले जायें, उनकी स्मृति में डाक-टिकट जारी किया जाये, उनकी रचनाओं को फिर से प्रकाशित कराया जाये आदि-आदि। इस तरह

का अल्टीमेटम भी दिया जाने लगा कि सरकार द्वारा उपर्युक्त माँगों पर सहानुभूतिपूर्वक नहीं विचार करने की स्थिति में संघर्ष को जुझारु बनाने के उद्देश्य से शहीद स्मारक के नीचे भूख हड़ताल किया जायगा।[2]

रूढ़िवादी तत्त्व सरकार पर इस कदर हावी थे कि बिहार सरकार ने इन माँगों पर कोई ध्यान ही नहीं दिया। फलस्वरूप 11 नवम्बर, 1989 को पहले के तयशुदा कार्यक्रम के अनुसार शहीद स्मारक के परिसर में एक दिन की सांकेतिक भूख हड़ताल की गई। इसकी प्रमुख विशेषता यह थी कि इसमें सरकारी कर्मचारी, डाक्टर, इंजीनियर, वकील और अन्य श्रेणी के बुद्धिजीवियों के साथ-साथ वोट बटोरने के क्षुद्र स्वार्थ को साधने के लिए पटने से भाजपा के वर्तमान सांसद प्रो० शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव भी शामिल हुए। सरकारी नियमों के विरूद्ध शहीद स्मारक परिसर में बैठकर भूख-हड़ताल करना तथा उसमें सरकारी कर्मचारियों का भी शामिल होना संघर्ष के जुझारुपन का संकेत दे रहा है।[3]

इस भूख-हड़ताल से संबंधित पर्चे में कहा गया था कि "इस संस्थान की ओर से पहली किस्त के रूप में स्वामी सहजानन्द एवं अन्य महापुरुषों के प्रति बरती गई घोर उपेक्षा की नीति की भर्त्सना करते हुए प्रधान मंत्री, भारत सरकार, बिहार सरकार, गणमान्य अनेक मंत्रीगण, सांसदों, विधायकों तथा विभिन्न राजनैतिक संगठनों के मुखर नेताओं के समक्ष कुछ माँगों को रखा गया था। कई स्मार पत्र भी दिये गये। अखबार के माध्यम से भी सरकार का ध्यान इस ओर आकृष्ट कराया गया, लेकिन सरकार कान में तेल डालकर चुपचाप मूक-बधिर की भांति प्राणहीन बनी रही।" तंग आकर व्यथित मन से संस्थान को "11 नवम्बर 1989" को एक दिन के इस सांकेतिक धरना कार्यक्रम के माध्यम से शांतिपूर्ण विरोध प्रदर्शित करने के लिए विवश होना पड़ा है।"[4]

संघर्ष के उपर वर्णित जुझारु स्वरूप का राजनैतिक के साथ-साथ बौद्धिक क्षेत्र में भी प्रभाव पड़ने का आभास होने लगा है, जिसकी चर्चा अगले अध्याय में होगी। यहाँ हम इतना ही कहना चाहेंगे कि जनसंघर्ष के सिलसिले के कारण स्वामीजी की उपेक्षा अब अपेक्षा में बदलने लगी है। परन्तु, संघर्षरत जनवादी तत्त्वों को इसके लिए जागरुक रहना है कि कहीं सामंती, साम्प्रदायिक और अवसरवादी प्रशासक, राजनीतिज्ञ तथा बुद्धिजीवी स्वामीजी और उनके आदर्शों को अपनाने के बहाने कहीं उन्हें विकृत रूप में न पेश करने लगें तथा इस तरह उनको सम्मान पहुँचाने के बजाय उन्हें अपनी क्षुद्र व्यक्तिगत और वर्गीय राजनीति का साधन न बना लें। हमें ऐसे संकेत प्रो० शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव के भूख-हड़ताल में शामिल होने तथा पटने के भूतपूर्व कांग्रेसी सांसद डा० सी० पी० ठाकुर द्वारा स्वामीजी का जन्म-स्थान बिहटा बताकर उनके नाम पर बिहटा स्टेशन का नाम बदलकर स्वामी सहजानन्द सरस्वती नगर करने के वक्तव्य से मिलते हैं।[5] ऐसा संदेह तब और बढ़ता है जब **जनशक्ति** जैसे जनवादी अखबार में बुखारी से सम्बन्धित समाचार को मुखपृष्ठ पर छापा जाता है और ऊपर वर्णित धरने से सम्बन्धित समाचार अखबार के एक गौण पन्ने पर बिना किसी प्रमुखता के छपता है।[6]

दरअसल सामाजिक स्तर पर यह कदम काफी जुझारु और अहमियत वाला

दीख रहा था। शहीद स्मारक पर धरने पर बैठने वालों की निम्न मांगें काफी अहमियत रखती हैं :"

1. "देर से ही सही, राष्ट्रीय और प्रांतीय स्तर पर उनकी शतवार्षिकी समारोह का आयोजन सरकारी स्तर पर मनाने की व्यवस्था की जाये जिसमें समाज के विभिन्न तबकों, खासकर धर्मनिरपेक्ष चिंतन से जुड़े हुए बुद्धिजीवियों को भी अवश्य शामिल किया जाय।

2. "स्वामीजी की अप्रकाशित डायरी तथा पांडुलिपि तथा दर्जनों पुस्तकों को पुनर्मुद्रित कर अल्प एवं सर्वसुलभ मूल्य पर सरकारी स्तर से आम लोगों को उपलब्ध करायी जाय।

3. "स्वामीजी की प्रमाणिक एवं विश्वसनीय जीवनी वैज्ञानिक चिंतन से प्रतिबद्ध इतिहासकारों से तैयार कराकर सरकारी स्तर पर प्रकाशित कराया जाय।

4. "स्वामीजी की दुर्लभ पांडुलिपियों को जो किसी कारण से अमेरिका तक पहुँच चुकी हैं, पुनः इस देश में वापस लाने हेतु सरकारी स्तर से उचित व्यवस्था की जाय।

5. "दिल्ली तथा हर प्रांत की राजधानी में स्वामीजी की गरिमा के अनुकूल उनकी आदमकद प्रतिमा प्रमुख सार्वजनिक स्थलों पर स्थापित किया जाय।

6. "उनकी स्मृति में अविलम्ब डाक टिकट निकाली जाय।

7. "स्वामीजी के जन्मदिन को "किसान दिवस" के रूप में मनाने के लिए सरकारी घोषणा की जाय।

8. "सरकारी स्तर पर कम-के-कम दिल्ली और बिहार में उनके नाम पर अविलम्ब समाज विज्ञान से संबन्धित शोध-संस्थानों की स्थापना की जाय।

9. "इस संस्थान के कार्यालय के लिए पटना और दिल्ली में उपयुक्त स्थान पर जमीन या मकान आवंटित किया जाय। तथा

10. "हमारे संस्थान को पटना तथा दिल्ली में उनकी प्रतिमा स्थापित करने के लिए उचित स्थान आवंटित किया जाय।"

सामाजिक स्तर पर उन्हें पुनर्स्थापित करने के जद्दोजहद की बढ़ती हुई रवानगी अब किसी भी बाधा को तोड़ती हुई आगे बढ़ने की स्थिति में आ गई है। संघर्ष का लक्ष्यभेद अब किसी आपाधापी में नहीं है। सिर्फ एक सतर्कता बरतने की यह जरूरत भर रह गई है कि कहीं दकियानूसी ताकतें अपने सियासी नापाक इरादों को अन्जाम देने की खातिर इस जद्दोजहद में शामिल होकर इसकी बागडोर अपने हाथ में न ले लें और पूरी तन्मयता से सक्रिय जनवादी ताकतें इसमें इसी प्रकार न छली जायें जिस प्रकार मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवियों ने आन्दोलन का लाभ लेने के समय किसानों को छला है।

◆

संदर्भ-सूची :

1. **दि सर्चलाइट**, 8 अगस्त, 1984.
2. **दि हिन्दुस्तान टाइम्स**, 22 अगस्त और 8 अक्टूबर, **हिन्दुस्तान**, 18 अगस्त, **आज**, 19 अगस्त, **टाइम्स ऑफ इण्डिया**, 29 अक्टूबर, **नवभारत टाइम्स**, 22 अगस्त तथा 29 अक्टूबर, 1989 आदि ।
3. **दि हिन्दुस्तान टाइम्स, हिन्दुस्तान, जनशक्ति**, 12 नवम्बर तथा **दि टाइम्स ऑफ इण्डिया**, 13 नवम्बर, 1989.
4. 'अनुरोध है देश की जनता से', भूख-हड़ताल स्थल पर यह पर्चा आम लोगों में बांटा गया । इसका निवेदक स्वामी सहजानन्द सामाजिक विकास एवं शोध संस्थान, पटना है, पृ०—2.
5. देखें, संदर्भ-सूची—3 तथा **दि टाइम्स ऑफ इण्डिया**, 23 जुलाई 1989.
6. **जनशक्ति**, 12 नवम्बर, 1989.
7. अनुरोध है देश की जनता से, पूर्वोक्त, पृ०—2

40

पुनर्स्थापना का ऐतिहासिक संघर्ष

—मनोज कुमार झा

स्वामी सहजानन्द सरस्वती की बहुमुखी प्रतिभा एवं उनके बहुआयामी व्यक्तित्व के संबंध में इस संकलन के विभिन्न निबंधों में युवा अध्येताओं द्वारा काफी कुछ लिखा जा चुका है। इस संबंध में अब ज्यादा न लिखकर हम यहाँ इतना ही निवेदन करना चाहेंगे कि 19 वीं और 20 वीं शताब्दी के क्रमशः गुलाम और स्वतंत्र भारत की गिनी-चुनी दुर्लभ विभूतियों में आप एक थे। सामाजिक समस्याओं के सम्बंध में आपकी गहरी व्यावहारिक पैठ, उनके निदान के लिए आपके व्यावहारिक कार्यक्रम तथा सामाजिक विषमताओं को दूर कर एक उन्नत समाजवादी समाज के निर्माण के लिए आपके दिशा - निर्देश लेनिन जैसे महान चिन्तकों से आपकी समकक्षता स्थापित करते हैं। विभिन्न निबंधों में प्रस्तुत आपकी विचारधारा, अन्य कोटियों के साक्ष्य तथा गुप्त सरकारी दस्तावेजों के मंतव्य हमारे इस कथन की पुष्टि के लिए पर्याप्त हैं। इससे पूर्व के कुछ निबंधों में आपकी उपेक्षा का वस्तुगत विश्लेषण किया गया है। इस संकलन के अंतिम निबंध से उत्पन्न विवाद तथा समाज की वर्त्तमान समस्याओं की बढ़ती हुई जटिलताओं के परिप्रेक्ष्य में फिर से लोग स्वामीजी को अधिष्ठापित करने में साकारात्मक यत्नशीलता के

संकेत दे रहे हैं। हम संक्षेप में बौद्धिक स्तर पर किये गये उस ऐतिहासिक संघर्ष की कहानी रखने का प्रयास करेंगे जो उपेक्षा से अपेक्षा की ओर की इस संवेदनशील यात्रा को प्रारम्भ करने का कारक रही है।[1]

गुलाम भारत में विभिन्न राजनैतिक दलों के नेतागण आपका किस तरह सम्मान करते थे और आपकी कितनी प्रशंसा होती थी, उसकी एक संक्षिप्त झाँकी पूर्व के एक अध्याय में अंकित है। परतंत्र भारत में चले स्वाधीनता-आंदोलन में आपके अमूल्य योगदान पर देश के कोने-कोने से अन्वेषणात्मक निवंध प्रकाशित होते थे।[2] आपके राजनैतिक कार्यक्रमों पर अंतर्राष्ट्रीय पृष्ठभूमि में शोधपरक तुलनात्मक पुस्तकें भी प्रकाशित होती थीं।[3]

यह अपेक्षा स्वतंत्र भारत में उपेक्षा की किस चरम सीमा पर पहुँच गई कि 1919 से 1971 के बीच के भारतीय राजनैतिक आंदोलनों से सम्बंधित 499 पृष्ठों के विशिष्ट संदर्भ ग्रंथ में स्वामीजी, उनकी रचनाओं तथा किसान सभा पर मात्र 2 प्रवृष्टियाँ हैं जबकि प्रवृष्टियों की कुल संख्या 6453 है।[4] ध्यान देना चाहिए कि इस अध्ययन की अवधि स्वामीजी की राजनैतिक बाल्यावस्था से देहावसान तक की है। इस दरम्यान स्वामीजी और उनकी किसान सभा देश के राजनैतिक आंदोलनों में अग्रणी भूमिका निभा रहे थे तथा हिन्दी और अंग्रेजी में उनके तत्संबंधी विचार पत्र-पत्रिकाओं में तथा ग्रंथों के रुप में हजारों पृष्ठों में प्रकाशित हो चुके थे। इस बौद्धिक नजरंदाजी के बाद भी इस ग्रंथ के लेखकों का तुर्रा यह है कि वे इस क्रमबद्ध संदर्भ-ग्रंथ को आदर्श मानते हैं। लगभग इसी कहानी की पुनरावृत्ति केन्द्रीय और बिहार सरकार तथा अन्य सम्बद्ध स्वायत संस्थाओं के प्रकाशनों में रही है।

दूसरी ओर इसके विरुद्ध संघर्ष का वातावरण भी बनने लगा। स्वामीजी के पुनः प्रतिष्ठापन का संघर्ष महापंडित राहुल साँकृत्यायन के कार्यों से प्रारम्भ हुआ प्रतीत होता है। इन्होंने स्वतंत्र भारत में अपनी महत्वपूर्ण रचना 'नये भारत के नये नेता' में आपका यथोचित सम्मान देकर प्रगतिशील और उदारवादी बुद्धिजीवियों एवं राजनीतिज्ञों का ध्यान इस उपेक्षा की ओर आकृष्ट किया जब राजनैतिक और बौद्धिक जगत में रूढ़िवादी तथा प्रतिक्रियावादी तत्त्व सक्रिय थे। इसका इतना प्रभाव तो हुआ ही कि प्रगतिशील हलकों में नई चिन्तन-धारा प्रस्फुटित हुई। अखिल भारतीय इतिहास कांग्रेस जैसे बुद्धिजीवी संगठनों में प्रगतिशील और उदारवादी युवा इतिहासकार प्रो० नुरुल हसन और प्रो० राम शरण शर्मा जैसे विद्वानों के नेतृत्व में उस संस्था तथा इतिहासलेखन से प्रतिगामी तत्त्वों के नाजायज वर्चस्व को बौद्धिक और संगठनिक स्तर से खत्म करने में संघर्षशील हो गये। फलस्वरूप बौद्धिक स्तर पर भारतीय इतिहास-लेखन के संदर्भ में जनता, जननायक और सामाजिक प्रक्रियाओं की अन्तःक्रिया के अध्ययन को राजा-महाराजा, परजीवी तथा सामंती और साम्राज्यवादी शोषणात्मक व्यवस्था की जगह तरजीह मिलने लगी।[5] संगठनात्मक स्तर पर भी इस बदली हुई परिस्थिति का असर पड़ने लगा जिससे उदारवादी युवा इतिहासकारों की एक मण्डली इतिहासलेखन में इस तरह की विकृतियों और अपरिहार्य प्रक्रियाओं एवं व्यक्तियों की उपेक्षाओं के

विश्लेषणात्मक अध्ययन के लिए संघर्षरत हो गयी। उपेक्षा से अपेक्षा की ओर सुदृढ़ यात्रा यहीं से प्रारम्भ हुई।

युवा इतिहासकारों द्वारा किसान-मजदूर आंदोलन और उसके जननायक को ऐतिहासिक विश्लेषण में यथोचित स्थान दिए जाने लगे। खुद बिहार में अनेकानेक ऐतिहासिक शोध-निबंध सरल-सुबोध भाषा में पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित किये जाने लगे ताकि इन चिन्तनों को आम जनता तक पहुँचाया जा सके।[6] उनका उद्देश्य था कि आम जनता भी इस संघर्ष को समझ सके और इसमें यथासाध्य अपना योगदान कर सके।

1977 में इस नयी ऐतिहासिक चिन्तन-धारा को रोक कर इतिहासलेखन के पुराने रूढ़िवादी आदर्श को पुनर्स्थापित करने के लिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के दबाव पर जनता सरकार ने प्रशासनिक कदम उठाये जिसका बौद्धिक नेतृत्व हिन्दू महासभा के टिकट पर संसद सदस्यता के लिए खड़ा होने वाले उम्मीदवार प्रो० रमेश चन्द्र मजुमदार के हाथ में था। परन्तु, प्रगतिवादी इतिहास-लेखन उस समय तक उदारवादी, धर्म-निरपेक्ष और जनतांत्रिक मूल्यों में आस्था रखनेवाले बुद्धिजीवियों और आम जनता में अपने संघर्षशील यत्नों और लेखनों के कारण इतना लोकप्रिय हो गया था कि एक जुझारू संघर्ष में इसने प्रतिगामी चिन्तनधारा को चारों खाने चित्त कर दिया। दूसरी ओर प्रतिगामी शक्तियों को शह देते हुए असम और बिहार में प्रशासन ने फासीवादी हथकंडों के द्वारा कुछ इतिहासकारों को निलम्बन, मुअत्तली और प्रोन्नति से वंचित होने जैसी कार्रवाइयों का शिकार तो अवश्य बनाया, पर इन लोगों को शहीदों की कोटि में जाने का सौभाग्य सहज ही प्राप्त हो गया।[7]

उदारवादी और प्रगतिवादी इतिहास-लेखन की यात्रा फिर से आगे बढ़ने लगी। जनवादी इतिहास को प्रस्तुत करने के लिए नयी-नयी पाठ्य-पुस्तकें प्रकाशित होने लगीं। दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा स्नातकों के लिए प्रकाशित पुस्तक में स्वामी सहजानंद सरस्वती का संक्षिप्त उल्लेख भी होने लगा।[8]

अब हम बिहार में घटी कुछ घटनाओं का जिक्र आवश्यक समझते हैं, क्योंकि यहाँ के प्रगतिशील और वस्तुवादी इतिहासकारों के अवसरवादी और सुविधाभोगी चरित्र के चलते उपेक्षा की स्थिति काफी पेंचीदी रही है। अपने इन्हीं चारित्रिक विशेषताओं के कारण बिहार में ये प्रगतिवादी इतिहासकार लक्ष्मीश्वर-पंथी इतिहासकारों के प्रशासनिक और बौद्धिक नेतृत्व में कार्यरत रहे हैं। उदाहरण के लिए 1985 में बिहार सरकार की एक योजना की ही बात लें। इसमें मार्क्सवादी इतिहासकार प्रो० राम शरण शर्मा और प्रो० राधा कृष्ण चौधरी जातिगत आधार पर पनपने वाले लक्ष्मीश्वर-पंथी प्रो० पी० एन० ओझा, डॉ० जटाशंकर झा, प्रो० जगदीश चन्द्र झा तथा प्रो० नागेन्द्र झा के बौद्धिक नेतृत्व में तैयार की जानेवाली पुस्तक **हिस्ट्री ऑफ दि इंडियन नेशनल कांग्रेस इन बिहार** (1885-1985) से संबंधित योजना में सलाहकार मंडल के सदस्य थे, फिर भी उन्होंने सामंती शोषक महाराजा लक्ष्मीश्वर सिंह को उसमें उजागर करने तथा स्वामीजी की उपेक्षा करने का विरोध तक भी नहीं किया।[9] इस मुद्दे पर भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद और अखिल भारतीय इतिहास कांग्रेस ने भी चुप्पी साध ली।[10]

साजिश और उपेक्षा के कुछ दूसरे चिह्न भी स्पष्ट हैं। 1985 में ही उपर्युक्त शोध-योजना के अतिरिक्त एक अन्य योजना भी बनी, जिसके अंतर्गत बिहार का सामाजिक और आर्थिक इतिहास दो वर्षों के अंदर तैयार किया जाना था। उस योजना की शोध-सामग्री के संकलन के लिए तीन शोध-छात्र नियुक्त किये गये तथा सलाहकार मंडल का भी गठन हुआ। विगत पाँच वर्षों में इसकी मात्र तीन बैठकें हुई हैं और कुछ इतिहासकारों को बुलाकर यात्रा भत्ता देने के अतिरिक्त और कोई काम नहीं हुआ है[11] जबकि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस सम्बंधी योजना को आपात्कालीन स्तर पर एक वर्ष के अंदर पूरा कर लिया गया।

आखिर इसका क्या कारण है? अन्दरूनी कहानी यह है कि इस योजना के सलाहकार मंडल में कुछ लक्ष्मीश्वर-पंथी और सी० आइ० ए० से सम्बद्ध तत्त्व समिति में मनोनीत किये गये हैं। समिति में वस्तुगत इतिहासकार और उनके बीच इसका टकराव हो गया है कि स्वामीजी जैसे जननायक तथा किसान-मजदूर के जन-आंदोलनों को उस प्रकाशन में पूर्व के प्रकाशनों की तरह उपेक्षित न कर समुचित स्थान दिया जाय, परन्तु यह बात उस गिरोह को मान्य नहीं है और वह कटिबद्ध है कि फासीवादी प्रशासनिक ढंग से इस योजना को या तो कार्यान्वित न होने दें या वस्तुवादी इतिहासकारों को उस समिति से हटाकर कार्यान्वयन की प्रक्रिया चालू करें जिससे स्वामीजी तथा जन-आंदोलनों की पूर्व की तरह उपेक्षा सुनिश्चित की जा सके।[12] वर्णित इतिहासकारों की बौद्धिक वेश्यावृत्ति से संबंधित कुछ विश्लेषणात्मक तथ्य परिशिष्ट-3 में दिये गये हैं।

फिलहाल ऐसा दीख रहा है कि बौद्धिक क्षेत्र में भी उपेक्षा का दौर खत्म हो रहा है। हाल ही में बिहार रिसर्च सोसाइटी से लक्ष्मीश्वर-पंथियों के सम्पादन में **ए पीप इन्टू सेवेन्टी-फाइव इयर्स ऑफ बिहार** सरकारी अनुदान पर प्रकाशित हुई है। इसके प्रकाशन के खर्च का एक हिस्सा काशी प्रसाद जायसवाल शोध संस्थान को देना पड़ा है। इस पुस्तक के अग्रलिखित निबन्ध 'बिहार : दि सोशियो-कल्चरल सीन', 'प्रोग्रेस ऑफ संस्कृत एडुकेशन इन बिहार', 'प्रोग्रेस ऑफ उर्दू एण्ड पर्सियन एडुकेशन इन बिहार', 'बिहार इन दि इण्डियन नेशनल मूवमेंट' आदि में स्वामीजी की पूर्ण बौद्धिक प्रासंगिकता रहते हुए भी उनका जिक्र नहीं किया गया है। निबंधों के घटिया स्तर के बारे में तो कुछ कहना ही बेकार है। इसके बावजूद उपर्युक्त पुस्तक के दो बौद्धिक रूप से घटिया निबन्धों —'पेजेंट्स मूवमेंटस इन बिहार' तथा 'लेफ्टिस्ट मूवमेंट इन बिहार' में स्वामीजी की दो पुस्तकों का और वह भी दूसरे के द्वारा अनुसंशित रूप में सरसरे तौर पर जिक्र तो किया ही गया है।[13]

इन निबन्धों को पढ़ने से इतना तो झलकता ही है कि इनके लेखकगण वर्णित पहलुओं से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। अब पता नहीं, संघर्ष की गहनता से घबड़ा कर अचानक उन्होंने बिना जाने-बूझे स्वामीजी को 'हेडगेवारी श्रीराम' की तरह स्मरण कर लिया है या अज्ञानता में स्वामीजी का नाम अनायास उच्चरित हो गया है? उपर्युक्त दोनों लेखों के लेखकों की अज्ञानता तथा अवसरवादी चरित्र के साक्ष्य बहुतेरे हैं।[14] इसलिए कोई निर्णयात्मक निष्कर्ष देना भम्भव नहीं है, किन्तु यह तो कहा ही जा सकता है कि स्वामीजी की उपेक्षा के विरूद्ध संघर्ष की गम्भीरता से भय

खाकर इसके लक्ष्मीश्वर-पंथी संपादकों ने सेन्सर की कैंची नहीं चलाई जैसा कि पूर्व में इन्होंने काशी प्रसाद जायसवाल शोध-संस्थान तथा बिहार रिसर्च सोसाइटी में प्रस्तुत पुस्तक क्रमशः **इम्पीरियल हनीमून विथ इण्डियन एरिस्टोक्रेसी** तथा **टाइटिल्ड इण्डियन जेण्ट्री** की मूल पाण्डुलिपि पर चलाई थी।[15]

यहाँ संघर्ष के इस संक्रामक दौर में वस्तुगत विश्लेषण के लिए बिहार के लक्ष्मीश्वर-पंथी और सहजानन्द-विरोधी इतिहाकारों के बौद्धिक चरित्र का एक संक्षिप्त विवरण आवश्यक जान पड़ता है। ये लक्ष्मीश्वर-पंथी इतिहासकार व्यक्तिगत-स्वार्थ के चलते इतिहास-लेखन को राजसत्ता से चिपकाये रखना चाहते है। दूसरों की पुस्तकों से सामग्रियाँ चुराकर यथावत उन्हें अपनी पुस्तकों में रखकर प्रकाशित करने में इनका कोई जबाव नहीं। इनके इन आचरणों को देखकर अलग-अलग दैनिक अखबारों ने इनकी घोर निन्दा की और **पाटलिपुत्र टाइम्स** ने तो इन्हें 'कुत्ता' तक कह डाला।[16] वस्तुतः इन लोगों ने इतिहास-लेखन को पद, प्रोन्नति और टुकड़-खोरी का साधन बना दिया है। लक्ष्मीश्वर-पंथियों में से तो दो ने घोर बौद्धिक अनैतिकता का परिचय देते हुए डा० कालि किंकर दत्त रचित पुस्तक से लेखक के स्थान पर से उनका नाम हटाकर स्वयं अपने को उस पद पर स्थापित करने की कुचेष्टा की। इसका एक बहुत ही शोधपरक विश्लेषणात्मक अध्ययन पटना विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग के शोध छात्र, चित्तरंजन शर्मा ने लगभग 300 पृष्ठों की पुस्तक **इतिहास-लेखन मे आंचलिकता** के एक खंड में किया है। इनके तिकड़मों से बौद्धिक जगत इतना तिलमिला उठा कि बिहार यंग हिस्टोरियन्स ग्रुप ने टीचर्स ऑन फार्जरी चार्ज नामक पुस्तिका निकाल कर इनका भंडाफोड़ किया। इस पुस्तिका का शीर्षक **टाइम्स ऑफ इण्डिया** के 5 जून 1986 के एक अग्र समाचार से इंगित होता हुआ प्रतीत होता है। इनके आचरणों का अकाट्य साक्ष्यों के आधार पर एक बहुत ही गहन और गम्भीर विश्लेषण राज्यपाल के समक्ष पेश किये गये 246 पृष्ठों के संयुक्त अभियोग-पत्र में भी है, जो उपर्युक्त पुस्तकों के निष्कर्षों को संपुष्ट करते हैं तथा स्वामीजी के प्रति बरती गई उपेक्षा की अन्दरूनी कहानी कहते हैं।

स्मरण रखने की बात है कि उपर्युक्त अभियोग-पत्र लक्ष्मीश्वर-पंथियों द्वारा जननायक स्वामीजी की उपेक्षा और उनके अबौद्धिक कारनामों के विरोध में उदारवादी बौद्धिक जगत तथा बिहार विधानमंडल के भारतीय जनता पार्टी को छोड़कर अन्य राजनीतिक दलों के सदस्यों के द्वारा संयुक्त रूप से दिया गया था। इस अभियोग-पत्र में अकाट्य साक्ष्यों को पेश करते हुए जाँच समित गठित कर दोषी अधिकारियों और विश्वविद्यालय शिक्षकों पर मुकदमा चलाने तथा सजा देने की मांग की गयी थी। इस अवधि में विधानमंडल की कार्यवाहियों में सदन लक्ष्मीश्वर-पंथियों के घृणित कार्य के लिए 'शर्म-शर्म' के नारे से गूँज उठे थे। विभिन्न शिक्षक संगठनों और अखबारों ने भी उपर्युक्त काली करतूतों की घोर भर्त्सना की थी।[17]

इसी रूढ़िवादी, अवसरवादी और प्रतिक्रियावादी बौद्धिक और राजनैतिक पृष्ठभूमि में बिहार में स्वामीजी के वस्तुगत मूल्यांकन का संघर्ष तीव्रतर होता चला गया है। उपर्युक्त परिस्थिति में बिहार सरकार की पत्रिका **प्रज्ञा भारती** के

लिए जब काशी प्रसाद जायसवाल शोध-संस्थान के शोध सदस्य डा० विजय चन्द्र प्रसाद चौधरी से एक निबन्ध देने का निवेदन किया गया,[18] तो उन्होंने उस शोध-परक ऐतिहासिक पत्रिका के लिए 'स्वामीजी इतिहास में उपेक्षित क्यों' शीर्षक एक विश्लेषणात्मक शोध-निबन्ध 14 अगस्त 1988 को भेज दिया, परन्तु वह मान्य न हुआ। बहुत संघर्ष के बाद प्रकाशक से यह उत्तर उपलब्ध कराया जा सका कि वे उसे छापने में असमर्थ थे। साथ ही वे इसकी जगह किसी दूसरे विषय पर निबंध मिलने पर प्रकाशन के लिए तैयार थे।[19]

बुद्धिजीवियों में इसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई और उन्होंने प्रकाशन की अस्वीकृति को स्वामीजी की उपेक्षा और इतिहास के वस्तुगत मूल्यांकन के विरूद्ध एक साजिश के रूप में महसूस किया। इस सन्दर्भ में बुद्धिजीवियों ने प्रकाशन की अस्वीकृति का कारण जानने की कोशिश की और उसमें असफल रहने पर इस तबके ने प्रकाशकों से नम्रतापूर्वक निवेदन किया कि एक विचार गोष्ठी का आयोजन हो जिसमें लक्ष्मीश्वर-पंथी इतिहासकार लोग इस निबन्ध के अतथ्यपूर्ण और आपत्तिजनक अंश को इंगित करें और उन आपत्तियों को निरस्त करने के सम्बन्ध में दिये गये तर्क और तथ्य सुनें। इस सम्बन्ध में सरकार को भेजे गये पत्र के मुख्य अंश परिशिष्ट-4 में उद्धृत हैं। पत्र के आलोक में अनेक बार रिमाइन्डर देने पर भी अबतक सरकार की ओर से कोई जवाब न मिल सका है और न कोई विचार-गोष्ठी ही हो सकी है।

इसी पेंचीदी स्थिति में स्वामीजी के वस्तुगत मूल्यांकन को व्यापक आधार देने के लिए संघर्ष और व्यापक हुआ तथा इससे पहले के अध्याय में वर्णित तथ्यों को न दुहराते हुए इतना कहना पर्याप्त होगा कि स्वामीजी की उपेक्षा के विरोध में सामाजिक स्तर पर भी व्यापक संघर्ष प्रारम्भ हो गया।

नयी बात यह हुई कि परिस्थिति की गम्भीरता के प्रसंग में बौद्धिक और सामाजिक स्तर पर स्वामीजी की उपेक्षा से उत्पन्न जनाक्रोश में विभिन्न स्तरों के संघर्ष को एक-दूसरे से नजदीकी बनाने की अहमियत महसूस होने लगी। उपर्युक्त संघर्षों की मांगें अन्तर्गुम्फित होने लगीं और उनमें परस्पर सामंजस्य होने लगा।[20] समस्या की जटिलता और गम्भीरता को इस परिप्रेक्ष्य में आंका जा सकता है कि सामाजिक स्तर पर स्वामीजी की उपेक्षा के विरुद्ध हो रहे विरोध में आवेदन और निवेदन की राजनीति असफल हो रही थी और इसलिए उन्हें संघर्ष को तीव्रतर बनाने के लिए भूख-हड़ताल पर भी बैठना पड़ा था तथा बौद्धिक मांग को भी अपने मांग-पत्र में शामिल करना पड़ा था।

दूसरी ओर, बौद्धिक-स्तर पर बिहार के सामाजिक और आर्थिक विकास सम्बन्धी शोध योजना, अन्य योजनाओं तथा स्वामीजी की उपेक्षा के मुद्दे पर जो संघर्ष चल रहे थे उनके प्रति भी सरकारी रूख दमनकारी और फासीवादी हो रहा था, जैसा कि परिशिष्ट 5 से स्पष्ट होगा। सरकारी मान्यता अब यह होने लगी थी कि शोध और शैक्षणिक संस्थानों के प्रधान के पद पर वैसे प्रतिक्रियावादी और रूढ़िवादी लोगों को पदस्थापित किया जाय जो पूर्व की तरह मात्र लक्ष्मीश्वर-पंथी ही न हों, अपितु हेडगेवारवादी एवं कट्टर सहजानन्द विरोधी भी हों। सरकार की

इस शर्मनाक नीति के विरोध में संघर्ष भी चालू हुए जिसका संक्षिप्त विवरण उपर्युक्त परिशिष्ट में ही है, किन्तु सरकार अपने वर्ग-हित में उनके निदान को अनसुनी कर और भी कठोर दमनात्मक कदम उठाने के लिए उद्धत हो गई। इसी के परिणामस्वरूप प्रो० जगदीश चन्द्र झा काशी प्रसाद जायसवाल शोध-संस्थान के निदेशक मनोनीत किये गये हैं जो लक्ष्मीश्वर-पंथी होने के साथ-साथ सहजानन्द विरोधी भी हैं। प्रो० झा की इस नियुक्ति में आचरण सम्बन्धी पेश किये गये प्रमाण-पत्रों में उस निबन्ध को भी रखना तर्कसंगत होगा जिसमें स्वामीजी की पूर्ण प्रासंगिकता रहते हुए भी उन्होंने पूर्ण नजरंदाजी की थी।[21]

सरकार के इस फासीवादी रूख को ध्यान में रखकर ही बुद्धिजीवियों ने उसे कई विकल्पों में से एक चुनने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी थी जिसका स्पष्ट उद्देश्य यह था कि सरकार लक्ष्मीश्वर-पंथी और हेडगेवारवादी दृष्टकोण छोड़कर वर्णित नीतियों में विधि-सम्मत और वस्तुवादी दृष्टिकोण अपनावे। सरकार ने भी इस सन्दर्भ में प्रो० झा का निदेशक के पद के लिए मनोनयन कर यह स्पष्ट कर दिया कि राम-जन्म भूमि बाबरी मस्जिद विवाद की पृष्ठभूमि में सम्पन्न 1989 के संसदीय आम चुनावों में हेडगेवारवादियों से हुई करारी हार को देखते हुए वह अपने वर्ग-हित में लक्ष्मीश्वर-पंथी और हेडगेवारवादी मापदण्ड से ही निर्णय लेना चाहती है। नेहरूवादी मापदण्डों के अनुकूल कार्य करना वह इसलिए नहीं चाह रही है चूंकि वर्तमान सामाजिक-राजनैतिक परिस्थितियों में ऐसा करना उसे घातक और जानलेवा दीखता है। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामीजी की शतवार्षिकी तक उनके पुनर्स्थापन के जो संघर्ष हुए हैं, वे भूमिका की ही भूमिका निभायेंगे। आगे संघर्ष को और भी पेंचीदगियों से गुजरना है तथा बौद्धिक और सामाजिक संघर्ष को एक समन्वित मंच से तीव्रता से चलाकर उसे अर्थपूर्ण और सफल बनाने का कार्य सम्पन्न किया जाना है।

अन्त में स्वस्थ उदारवादी मूल्यों के प्रति सजग बुद्धिजीवियों से कुछ निवेदन अनिवार्य है, क्योंकि प्रगतिशील मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों के पलायनवादी और अवसरवादी चरित्र के कारण उत्पन्न दिशाहीनता की स्थिति में नेतृत्व का बोझ अनायास ही उदारवादियों के ही कन्धों पर आ पड़ा है। कभी रूसी क्रांति के इतिहास को दिल्ली विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में शामिल कराने के लिए जिस मार्क्सवादी इतिहासकार[22] ने दकियानूसी और प्रतिगामी विरोधों के विरुद्ध कुशल और सफल मुहिम की अगुआई की थी, उन्हें इस संकलन के लिए विगत एक साल में 'लगभग पारिश्रमिक-विहीन' निबन्ध लिखने का मौका नहीं मिला। इतना ही नहीं, राष्ट्रीय मोर्चा सरकार को समर्थन देनेवाले सांसद महंथ अवैद्यनाथ के लठैतों ने जब 31 दिसम्बर, 1989 को अखिल भारतीय इतिहास कांग्रेस के अधिवेशन एवं प्रतिनिधियों पर फासीवादी ढंग से साम्प्रदायिक रूझान थोपने का प्रयास किया[23] तब भी उपर्युक्त इतिहासकार ने इसके विरूद्ध कोई आन्दोलन चलाने की आवश्यकता महसूस नहीं की। फिर भी, गौरतलब तो यह है कि नेहरू की शतवार्षिकी के अवसर पर बिना लिखित व्याख्यानमाला प्रस्तुत किये प्रचुर यात्रा-भत्ता उठाने के लिए उन्हें बिहार के सुदुर देहात के असुविधा भरे माहौल में आने की

फुर्सत अवश्य मिल गई। इधर मार्क्सवादी अर्थशास्त्री डा० शैवाल गुप्ता की लापरवाही और कुर्सीगान की कहानी आप इससे पहले के एक निबन्ध में देख ही चुके हैं। क्या ऐसी स्थिति में भी उदारवादी बुद्धिजीवियों को स्वामीजी के आदर्शों की जिम्मेवारी उठाने की बेइंतहा जरूरत नहीं महसूस होती ?

□

संदर्भ-सूची :

1. विस्तार के लिए देखें, चार्ज शीट एगेन्स्ट डी० पी० आइ०, हायर एडुकेशन, गवर्नमेंट ऑफसियल्स एण्ड यूनिवर्सिटी टीचर्स (CDHEGOUT), 13 नवम्बर 1986, 'शिक्षा विभाग की संचिका सं० 2/R-07/01/84, काशी प्रसाद जायसवाल शोध संस्थान की सं०-विविध-7/87, 3/प्रकाशन-1/ 88-89.
2. India's Freedom Movement and Swami Sahajanand Saraswati, Prasad, Mathura, *Forward Block*, Calcutta., 5 Oct., 1940.
3. *Sahajanand, Cornilov and People's war*, Jagriti Publishing House, Lucknow, 1942.
4. *Indian Political Movement* (1919-1971) : *A Systematic Bibliography*; Ghosh, Arun and Ghosh, Ranjit, Calcutta, 1976.
5. विस्तार के लिए देखें, **मार्क्सवादी इतिहास-लेखन : एक बहस, भारतीय इतिहास लेखन : एक अंतर्राष्ट्रीय विवाद** और इसमें विशेष तौर पर प्रो. रामशरण शर्मा का निबन्ध 'तर्क बनाम धर्म,' *Secularism Versus Communalism*, V. C. P. Chaudhary के अखिल भारतीय इतिहास कांग्रेस के विभिन्न (1977-84) अधिवेशनों में विजय चन्द्र प्रसाद चौधरी द्वारा प्रेषित निबन्ध, Dange, S. A., *Driving Forces of Hisiory* : *Heroes and Masses*, New Delhi, 1969·
6. विजय चन्द्र प्रसाद चौधरी द्वारा लिखित 'भारतीय इतिहास, जन-आन्दोलन, राजनीतिज्ञ, जनता तथा इतिहासकार', **जनशक्ति**, 20 अप्रील, 29 जून, 13 जुलाई, 27 जुलाई, 1969; 'भारतीय इतिहास : स्वार्थ-सिद्धि का साधन या जन-जीवन का यथार्थ प्रतिविम्ब ?', 4 सितम्बर 1977, 'भारतीय इतिहास के पुनर्मूल्यांकन की समस्याएँ', 30 सितम्बर, 1979, 'भारतीय इतिहास-लेखन के वर्तमान विवादास्पद पहलू, 4 नवम्बर, आर० एस० एस० : साम्प्रदायिक राजनीतिक संगठन या सांस्कृतिक मंच ?', 23 अक्टूबर, 1979, 38 वीं भारतीय इतिहास कांग्रेस, 15 जनवरी, 1978, इंडियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर सोसाइटी, 24 दिसम्बर, 1981 तथा 1984 ई० से 1988 ई० तक 'इतिहास के मंच' शीर्षक स्तम्भ, **विचार बोध** में विजय चन्द्र प्रसाद चौधरी तथा अन्य बुद्धिजीवियों के प्रकाशित निबन्ध।
7. देखें, संदर्भ सं०-5-6 एवं शर्मा, चित्तरंजन, **इतिहास-लेखन में आंचलिकता**।
8. शुक्ला, राम लखन (सं०), **आधुनिक भारत का इतिहास**।

9. देखें, शर्मा, वही, पृ०-46-48.
10. इसकी विधिवत सूचना इन दोनों संस्थाओं को विभिन्न पत्रों एवं अभ्यावेदनों के माध्यम से दिया गया, दिनांक-7 अक्टूबर 1987 तथा अन्य तिथियों को।

    किन्तु इन संस्थाओं ने चुप रहना ही श्रेयस्कर समझा।
11. देखें, सन्दर्भ सं०-7 अखिल भारतीय विश्वविद्यालय एवं महाविद्यालय शिक्षक संघ, मन्त्री का पत्र, दिनांक-5 जुलाई 87, विभिन्न संस्थाओं और बुद्धिजीवियों के पत्र जो काशी प्रसाद जायसवाल शोध संस्थान की संचिका सं०-3/विविध 6 (ए)/84. की संचिका में है।
12. वही।
13. **ए पीप इन्टू सेवेन्टी-फाइव इयर्स ऑफ बिहार** (सं०) ओझा, पी० एन०, पृ०-98-123, 311-23.
14. विस्तार के लिए देखें, CDHEGOUT.
15. **अलीगढ़ हिस्टोरियन्स ग्रुप**, कम्युनिकेशन नं०-4, दिसम्बर 1981.
16. विस्तार के लिए देखें, पाटलिपुत्र टाइम्स, 14 जुलाई, 1985, *CDHEGOUT*, **टीचर्स ऑन फॉर्जरी चार्ज, इतिहास-लेखन में आंचलिकता।**
17. विस्तार के लिए देखें, *CDHEGOUT*, पृ०-14-76, विधान सभा की कार्यवाही, 25 अगस्त, 1986, **हिन्दुस्तान टाइम्स, टाइम्स ऑफ इण्डिया**, 27 अगस्त, 1986, **टेलीगाफ, जनशक्ति**, नव भारत टाइम्स, प्रभात खबर, 26 अगस्त, 1986।
18. डा० विजय चन्द्र चौधरी को निदेशक द्वारा सम्बोधित, पत्र सं०-467, दि०-14 जून, 1988.
19. विजय चन्द्र चौधरी को निदेशक द्वारा सम्बोधित, पत्र सं०-844, दि०-13 सितम्बर, 1988.
20. स्वामी सहजानन्द सामाजिक विकास एवं शोध संस्थान द्वारा प्रकाशित साहित्य, **अनुरोध है देश की जनता से।**
21. **ए पीप इन्टू सेवेन्टी-फाइव इयर्स ऑफ बिहार**, सामान्य सम्पादक-ओझा, पी० एन०, सम्पादक—ठाकुर, उपेन्द्र, प्रकाशक—बिहार रिसर्च सोसाइटी, पटना, झा, जगदीश चन्द्र, बिहार : दि सोशियो-कल्चरल सीन, पृ०-8-21.
22. पॉलिटिक्स ऑफ हिस्ट्री सिलेबस : ए स्ट्रेंज जर्नी फ्रॉम देल्ही टू पटना शीर्षक निबंध विजय चन्द्र प्रसाद चौधरी द्वारा अखिल भारतीय इतिहास कांग्रेस के 1982 के अधिवेशन में प्रस्तुत।
23. **मेन्स्ट्रीम**, 20 जनवरी, 1990, पृ० 34.

□

41

उपेक्षित, मगर क्यों ? निष्कर्षात्मक वक्तव्य

—विजय चन्द्र प्रसाद चौधरी

प्रस्तुत संकलन के विभिन्न अध्यायों का स्पष्ट सारांश यह है कि स्वामीजी स्वातंत्र्य-पूर्व और स्वातंत्र्योत्तर भारत में विलक्षण प्रतिभा से सम्पन्न एक दुर्लभ जन-नायक और उपेक्षित वर्ग के प्राण थे तथा इसी हैसियत से स्वयं भी उपेक्षित होते रहे हैं। उनकी रचनाओं तथा अन्य स्रोतों के सामंजस्य से प्रतिध्वनित होते निष्कर्ष स्पष्ट करते हैं कि उनकी बहुमुखी प्रतिभा के वस्तुगत आकलन में भी असावधानियाँ हुई हैं, क्योंकि उनकी 99% रचनाएँ 'हिन्दुस्तानी' में हैं जो समझ के अभाव में गैर भाषायी गंभीर शोधकर्ताओं की दिक्कतों का कारण बनी हैं। इस संकलन के निबंधों का एक सशक्त निष्कर्ष यह अवश्य है कि स्वामीजी उपेक्षित रहे हैं। कुछ लेखकों की शिकायत यह है कि स्वामीजी पर कोई ठोस बौद्धिक कार्य नहीं हो रहा है, तो कुछ की शिकायत है कि उन पर होनेवाले शोध-कार्यों में महत्त्वपूर्ण स्रोतों की अवहेलना हो रही है। कुछ अन्य लेखकों का रोष इस पर है कि स्वामीजी के साहित्य, आदर्श और सिद्धान्तों की घोर उपेक्षा हो रही है। अन्ततः निष्कर्ष इतना तीखा होकर उभरता है कि स्वामीजी के अपने गाँव 'देवा' से देश की राजधानी 'दिल्ली' तक इनकी सिर्फ उपेक्षा ही उपेक्षा है। एक दूसरे किस्म की उपेक्षा जिस पर सम्भवतः इस संकलन में ध्यान नहीं गया है, वह यह है कि **वालटर हाउजर** जैसे कुछ विदेशियों ने विभिन्न अभिप्रेरणाओं से वशीभूत होकर स्वामीजी के विश्लेषणात्मक अध्ययन का प्रयास तो अवश्य किया है, परन्तु उनकी मूल रचनाओं का अध्ययन न कर सकने तथा उनके समकालीन व्यक्तियों के साक्षात्कार को स्वयं न समझ सकने की स्थिति में होने के कारण अथक प्रयास के बावजूद उनकी अपनी सीमाओं के चलते स्वामीजी से सम्बन्धित निष्कर्ष मौलिक और प्रामाणिक नहीं हो पाये हैं। अंग्रेजीनुमा हिन्दुस्तानी अध्येताओं को भी इसी श्रेणी में रखना श्रेयस्कर होगा। इस स्थिति में आलोच्य निष्कर्षात्मक निबन्ध में हमारा यह विनम्र प्रयास होगा कि स्वामीजी की उपेक्षा के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आधार का एक वस्तुगत ढाँचा प्रस्तुत करें।

इस सन्दर्भ में स्मरण रखने की यह बात है कि कुछ वर्ष पूर्व जब मैंने अपनी पुस्तक[1] को स्वामी सहजानन्द सरस्वती, राहुल सांकृत्यायन सरीखे महान पुरुष की पुण्य स्मृति में समर्पित करने का निर्णय लिया तथा बिहार सरकार के सम्बद्ध अधिकारी को उसके प्रकाशक होने के नाते इसकी विधिवत सूचना दी तो तज्जनित विरोध को देखकर यह सोचने का मौका मिला कि स्वामीजी, राहुलजी और रामबृक्ष बेनीपुरी जैसी बिहार की महान विभूतियाँ स्वतंत्र भारत के इतिहास में भी

उपेक्षा और शंका की नजर से सरकार तथा अवसरवादी-सुविधाभोगी इतिहासकारों द्वारा क्यों देखी जाती हैं ? यद्यपि सरकार चाहकर भी उस समर्पण को रोक नहीं सकी तथापि वह पुस्तक तभी प्रकाशित हो सकी जबकि उसका एक महत्त्वपूर्ण अंश[2] सेन्सर कर दिया गया। प्रतिबन्धित अंश में महाराजा लक्ष्मीश्वर सिंह के माध्यम से सामन्तवाद, सम्प्रदायवाद तथा साम्राज्यवाद और उनके समर्थक सरकारी अधिकारी और इतिहासकारों के असली रूप को वस्तुपरक ढंग से संक्षेप में चित्रित करने का प्रयास मात्र था। वैज्ञानिक इतिहास-लेखन के अनिवार्य अनुशासन का पालन करने के मात्र इस यत्न से जिस फासीवादी प्रशासनिक साजिश और जद्दोजहद का मैं शिकार बनाया गया[3] हूँ, उसने स्वामीजी के प्रति मेरी निष्ठा को घटाने के बदले और बढ़ा दिया एवं इतिहास में उनकी उपेक्षा के वस्तुगत कारणों को ढूँढ़ निकालने के मेरे संकल्प को और दृढ़ कर दिया। यह निबन्ध उसी का प्रतिफल है।

इतिहास-लेखन का द्वन्द्व:—वर्षों के इतिहास-लेखन के ठोस अनुभव, संवेदनशील ऐतिहासिक घटनाओं के चित्रण तथा कुछ निजी तजुर्बों ने स्वामीजी के सन्दर्भ में इस सैद्धान्तिक रूपरेखा को ठोस आधार प्रदान किया कि इतिहास-लेखन वर्गयुक्त समाज में वर्गमुक्त नहीं हो सकता और इसे अपने वर्ग के स्वार्थ का साधन न बनाना न तो पूँजीवादी व्यवस्था और न ही समाजवादी व्यवस्था[4] के लिए सम्भव है। स्वामीजी जैसे पुरुष के विश्लेषण के क्रम में पूँजीवादी इतिहास-लेखन की कृतियाँ दो व्यवस्थाओं के विचारधारात्मक संघर्ष की वाहक बन जाती हैं।[5] राजनीतिक-विचारधारात्मक उद्देश्यों के लिए इतिहास का उपयोग करना खतरनाक है, फिर भी ऐसा किया अवश्य जा रहा है जैसा स्वामीजी के सन्दर्भ में आगे देखा जा सकता है। इतिहास एक दर्पण है जिसमें असली रूप नजर आना चाहिए। इसका दुरूपयोग एक बड़ी धोखाधड़ी है और जब वह खतरा मौजूद है[6] तो यह भी आवश्यक है कि उन कठमुल्लावादी गलत स्थापनाओं की आलोचनात्मक समीक्षा कर उन्हें निरस्त किया जाय। इस पृष्ठभूमि में निम्नलिखित कथन प्रासंगिक प्रतीत होता है :[7]

> "पूँजीपति वर्ग हर चीज को माल में बदल देता है और इसलिए इतिहास के लेखन को भी। तमाम वस्तुओं का मिथ्याकरण करना उसके जीवन का अंग, उसके अस्तित्व की शर्त्त होता है: उसने इतिहास के लेखन का मिथ्याकरण किया। और उसी इतिहास-लेखन को सबसे अधिक भुगतान किया जाता है जो पूँजीपति वर्ग के उद्देश्यों के लिए सबसे अधिक मिथ्याकरण करता है।"

भूलना न होगा कि इस उद्देश्य की पूर्ति में यह वर्ग इतिहासकार को लोभ और लालच प्रदान कर अपना एजेन्ट बनाता है तथा इसमें असफल होने पर सत्यनिष्ठ इतिहासकार को दमन और दण्ड की बदौलत भी अपनी ओर खींचने का प्रयास करता है।[8] यह भी स्वीकार किया जाता है कि गतिशील क्रांतिकारी परिवर्तनों की बढ़ती चुनौती का कारगर जवाब पाने के लिए पूँजीवादी ऐतिहासिक विज्ञान की क्षमता की अनिष्टकर सीमाएँ हैं। प्रगतिशील विचारधारा को निरस्त करने के लिए 'इतिहासकारों को अपने चिन्तन को अधुनातन बानाने का अवश्य ही अधिकाधिक प्रयास करना चाहिए'[9], क्योंकि अधिक कारगर ढंग से साम्यवाद से संघर्ष करने के निमित्त उसके सही ज्ञान की भी जरूरत होती है।[10]

इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना पड़ेगा कि हर देश में पूँजीवादी व्यवस्था और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर यह समुदाय आवश्यकतानुसार इतिहास-लेखन में अलग-अलग और संयुक्त रूप से विभिन्न रणनीतियाँ तय करता है जो प्रगतिशील विचारधारा को रोक सके। इतिहास-लेखन की सैद्धान्तिक तथा राजनैतिक क्षमता के द्रुत विकास ने अमरीका में ऐतिहासिक अध्ययनों के क्षेत्र का विस्तार कर राजनीतिक रणनीति के एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व के रूप में इस विज्ञान का संस्थागत रूप दिया है तथा अनेक प्रतिष्ठानों, सरकार तथा विश्वविद्यालयों के प्रयासों के माध्यम से एक विशाल राजनीतिक-शैक्षणिक समुच्चय का निर्माण किया है। इस उद्देश्य से विपुल साहित्य प्रकाशित किये जा रहे हैं। सच तो यह है कि अमरीकी पूँजीवादी इतिहास-लेखन अपने प्रभाव क्षेत्र में जनता के तमाम व्यापक क्षेत्रों को शामिल करते हुए बड़े उत्साह से अपना सैद्धान्तिक कार्य करता है। पूँजीवादी इतिहासकार 'काँच के घर' में बन्द हो अपने कार्य के सामाजिक परिणामों के प्रति उदासीन रहने के बजाय सरकारी संस्थाओं, नीति नियोजन विभागों, प्रचार-तन्त्रों और सामान्य सैनिक मुख्यालयों में भी स्वागतयोग्य व्यक्ति हो रहा है। इसका उद्देश्य इतिहास को एक व्यावहारिक प्रायोगिक विज्ञान बनाने का है। वह ठोस विज्ञानों के साथ प्रतियोगिता में उतर रहा है तथा इतिहास-लेखन सजातीय विधाओं की अनेक उपलब्धियों को आत्मसात कर एक मिश्रित विज्ञान बनता जा रहा है। वह "समाज पर और भी जबर्दस्त प्रभाव डालने के लिए आधुनिक प्रविधि का व्यापक उपयोग कर रहा है। वास्तव में, इतिहास-लेखन दो विश्व-व्यवस्थाओं के बीच राजनीतिक एवं सैद्धान्तिक संघर्ष की परिस्थितियों में पूँजीवादी विज्ञान के ढल जाने को प्रतिबिंबित करता है।· · सबसे बढ़कर, पूँजीवादी ऐतिहासिक चिन्तन तथा इतिहास के दर्शन का निषेधवाद ही है जो इस बात की अस्वीकृति में कि ऐतिहासिक प्रक्रिया नियमों द्वारा शासित होती है और इतिहास में प्रगति के विचार की अस्वीकृति में, अभिव्यक्त होता है।· · इतिहास-लेखन समाज के दर्पण की तरह है और यह कि कोई व्यक्ति समाज का लेखा-जोखा न केवल उस इतिहास से, जिसे समाज बनाता है, बल्कि उस इतिहास से भी ले सकता है, जिसे वह लिखता है।"[11]

यह पृष्ठभूमि हमें इसके विश्लेषण में मदद करेगा कि अमरीका जैसा पूँजीवादी देश भी स्वामीजी और बिहार के किसान-आन्दोलन पर प्रचुर राशि खर्च कर अपने देश तथा हमारे देश के शोधकर्ताओं से गहन शोध कराता है। विशिष्ट ऐतिहासिक ज्ञान प्रगति के विरुद्ध इनकी रणनीति तय करने में उपयोगी सिद्ध होता है जैसा कि अभी हाल ही में इन्द्रिरा गाँधी की हत्या से पूर्व एक अमरीकी अध्ययन[12] से हम सभी अवगत हैं जो उनकी हत्या के पीछे भारत को अस्थिर करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय साम्राज्यवादी साजिश को संपुष्ट करता है। इसका एक दूसरा भी पहलू विचारणीय है। विभिन्न स्थानों पर साम्राज्यवादी शक्तियाँ अपने प्रभाव क्षेत्र और सिद्धान्तों को भी बढ़ाने के लिए उन देशों के इतिहासकारों पर प्रचुर राशि व्यय करती है जिससे उन्हें साम्राज्यवादी एजेन्ट बनाकर वहाँ की राजनीति को प्रभावित किया जा सके। यह सारा कार्य देशी और पूँजीवादी व्यवस्था अपने-अपने देश और विदेशों में करती है जिसे पूँजीवादी इतिहासकार भी स्वीकारते हैं। प्रलोभन और दमन इस नीति की आधारशिला होती है।[13] नवोदित आजाद राष्ट्रों में साम्राज्यवादी शक्तियाँ वहाँ के ऐतिहासिक शोध-संस्थानों पर किस्म-किस्म का

दबाव डालकर वहाँ की राजनीति को सफलापूर्वक प्रभावित करने में यत्नशील हैं जैसा कि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के भूतपूर्व अध्यक्ष और स्वयं एक इतिहासकार प्रोफेसर सतीश चन्द्र ने साक्ष्य और विश्लेषण के आधार पर सिद्ध किया है :[14] "इन संस्थानों में बहुत से देश छद्म रूप में अपने पुराने वर्चस्व को कायम रखना चाहते हैं। सम्भवतः आर्थिक नव उपनिवेशवाद से कहीं अधिक खतरनाक बौद्धिक, वैज्ञानिक एवं तकनीकी उपनिवेशवाद है जिनके एक अवश्यम्भावी अंग के रूप में संस्थायें काम करती हैं।"

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि इतिहास-लेखन और इतिहासकार को पूँजीवादी व्यवस्था में अपनी व्यवस्था के प्रभाव क्षेत्र को बढ़ाने के लिए एक महत्वपूर्ण अस्त्र के रूप में विकसित किया जा रहा है। समाजवाद बनाम पूँजीवाद या प्रगति बनाम प्रतिक्रिया या वैज्ञानिक चिन्तन बनाम अन्धविश्वास की लड़ाई में इतिहास-लेखन एक अत्यधिक महत्वपूर्ण कारक के रूप में स्थापित हो रहा है। स्वामीजी का ऐतिहासिक अध्ययन भी इन विवादास्पद पहलुओं से ग्रस्त प्रतीत होता है जो हम आगे देखेंगे। फिलहाल वर्णित विश्लेषणात्मक अध्ययन की उपेक्षा के सन्दर्भ में निम्नलिखित सैद्धांतिक तथ्यों को भी ध्यान में रखने की जरूरत है :[15]

"विज्ञान का इतिहास आंगिक रूप से समाज के इतिहास से जुड़ा है जिसके अन्तर्गत वह विकसित होता है। यह सम्बन्ध इतिहास-लेखन विज्ञान और समग्र रूप से सामाजिक विज्ञानों के मामले में अत्यन्त स्पष्ट है। सामाजिक-राजनीतिक प्रक्रियायें ही अन्ततः ऐतिहासिक विज्ञान के विकास की मुख्य प्रवृत्तियों को निर्धारित करती हैं, पर समाज के बौद्धिक जीवन पर इतिहास-लेखन का विपरीत प्रभाव भी काफी महत्वपूर्ण होता है। इतिहास, जो मानव ज्ञान की एक सबसे पुरानी शाखा है, कभी भी विचारधारा तथा राजनीति से बाहर एक तटस्थ विद्या नहीं रहा। वह न केवल संज्ञान का उपकरण रहा है, बल्कि संघर्ष का भी साधन रहा है। मानव जाति का इतिहास इतिहास-लेखन के संघर्षों से भरा पड़ा है और कभी-कभी तो ये उन संघर्षों की तरह भीषण थे जो ऐतिहासिक अनुसन्धान का विषय बनते हैं।"

स्वामीजी, राहुलजी और बेनीपुरीजी का ऐतिहासिक अध्ययन भी उसी संघर्ष की कहानी प्रतीत होती है। हमारे अध्ययन के केन्द्र-विन्दु मात्र स्वामी सहजानन्द सरस्वती हैं। यद्यपि इस वर्ग के अन्य व्यक्तियों का अध्ययन भी इन्हीं विवादों के घेरे में है, जिसका भी ठोस आधार है पर वह हमारे वर्त्तमान अध्ययन का विषय नहीं है।

प्रारम्भ में इतना जान लेना आवश्यक है कि स्वामीजी एक ही साथ कांग्रेसी, मजदूर और किसान नेता, सर्वहारा क्रान्ति में विश्वास रखने वाले, एक महान देशभक्त और समाज सुधारक थे। ऐसी स्थिति में आजादी के पश्चात् बिहार में उनके ऐतिहासिक अध्ययन की उपेक्षा हो, यह विश्वास के लायक बात तो नहीं है, किन्तु है यह कठोर सत्य ही। खुद विहार सरकार के अधीन इतिहास के कई शोध-संस्थान हैं, किन्तु सरकारी प्रकाशनों[16] में भी या तो उनकी घोर उपेक्षा की गयी है या तथ्य गलत ढंग से पेश किये गये हैं। लगभग यही स्थिति गैर सरकारी प्रकाशनों की भी है। स्वामीजी पर कुछ विदेशी अध्ययन हुए हैं, किन्तु अमरीकी अध्ययन तो भारतीय

इतिहास को गलत ढंग से पेश कर देश को अस्थिर करने में इतिहास-लेखन को अस्त्र बना रहा है ,और उसी साजिश के तहत उन्हें एक जातीय नेता के रूप में चित्रित करना ज्यादा श्रेयस्कर मानता है ।[17] अगर विहार के पुस्तकालयों में कोई चला जाय या फिर सरकारी या गैर सरकारी ऐतिहासिक शोध प्रकाशनों या योजनाओं को देखे तो महाराजा लक्ष्मीश्वर सिंह जैसे सामन्तों और उनके परिवारों, सच्चिदानन्द सिन्हा जैसे मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवी और साम्राज्यवादी समर्थक, कुँवर सिंह और श्रीकृष्ण सिंह जैसे राष्ट्रवादियों के सम्बन्ध में या राष्ट्रवाद जैसे विषयों पर अनेक ग्रन्थ या योजनाएँ मिलेंगी किन्तु स्वामीजी जैसे व्यक्ति या किसान और मजदूर आन्दोलन पर प्रकाशन या योजना का नितान्त अभाव मिलेगा । आखिर क्यों ?

वर्णित सारे प्रकाशनों से बिहार सरकार के उच्चतम अधिकारीगण—राज्यपाल, मुख्य मन्त्री, शिक्षामन्त्री से निदेशक (उच्च शिक्षा), मुख्य सचिव. आयुक्त तक तथा विश्वविद्यालयों के इतिहास विभाग के अध्यक्षों से व्याख्याताओं तक सलाहकार, सम्पादक, लेखक या आर्थिक मददगार के रूप में सम्बद्ध रहे हैं तथा वर्तमान वयोवृद्ध राजनेता से बुद्धिजीवी तक में से वहुतेरे स्वामीजी के प्रभाव में आकर राष्ट्रीय या प्रगतिशील आन्दोलन में शामिल हुए हैं, फिर भी उनके अध्ययन की उपेक्षा क्यों ? यह तो कतई सम्भव नहीं है कि उनके व्यक्तित्व, कृतित्व तथा सैद्धान्तिक आदर्शों से वे अवगत न हों । इस स्थिति में वर्णित प्रकाशनों या योजनाओं में उनका विश्लेषण न होना या उन पर कोई शोध-योजना न होना स्वाभाविक नहीं हो सकता है । ऐतिहासिक शोध-स्त्रोत एवं सामग्री की विपुलता के कारण उन पर विश्लेषणात्मक अध्ययन में कोई कठिनाई का प्रश्न ही नहीं उठता । यह भी निर्विवाद है कि राज्यपाल आर० आर० दिवाकर, श्रीकृष्ण सिंह से भागवत झा आजाद तक मुख्यमन्त्रीगण व आचार्य बद्रीनाथ वर्मा से डा० नागेन्द्र झा तक के शिक्षा मन्त्रीगण अपने को स्वामीजी के प्रगतिशील आन्दोलनों से प्रभावित मानते हैं । योजनाओं से संवद्ध डा० पी० एन० ओझा सरीखे नौकरशाह अपने को उनके महान व्यक्तित्व, संघर्षमय जीवन और कांग्रेस संस्कृति [18] के प्रभाव में मानते रहे हैं । उसी तरह प्रो० राम शरण शर्मा, प्रो० सीताराम सिंह, प्रो० विमल प्रसाद. प्रो० राधा कृष्ण चौधरी. प्रो० बी० बी० मिश्र, सुशील माधव पाठक सरीखे इतिहासकारगण भी अपने को कम्युनिस्ट, सोसलिस्ट, कांग्रेसी, प्रगतिशील और राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रभाव में उनके आदर्शों के कारण नजदीक आने की बात करते हैं तथा इन आन्दोलनों में उनकी अहम् भूमिका को भी स्वीकारते हैं । फिर ऐसे राजनीतिज्ञों, नौकरशाहों और बुद्धिजीवियों के ही नेतृत्व में लगभग सारे सरकारी प्रकाशन या गैर सरकारी योजनाएँ तैयार हुई हैं । इस उपेक्षा को अनजाने में हो गयी गलती या दुर्घटना की संज्ञा प्रदान करना भारी भूल इसलिए होगी चूँकि विभिन्न पेशाओं से सम्वद्ध नेतागण स्वयं राष्ट्रीय इतिहास को नया प्रगतिशील मोड़ देने तथा अपने ऊपर उनके अमिट छाप होने को मौखिक तौर पर स्पष्ट रूप में स्वीकारते हैं । फिर अमरीका से बिहार तक स्वामीजी पर वस्तुगत अध्ययन की उपेक्षा का क्या कारण हो सकता है ? क्या निबन्ध के प्रारंभ में दिये गये तथ्यों के आलोक में वर्गीय चेतना के आधार पर यह विभिन्न प्रतिक्रियावादी तत्वों की अपनी राजनीति की सफलता के लिए कोई सुनियोजित साजिश तो नहीं है ? ज्ञातव्य है कि स्वामीजी ने साम्राज्यवाद, सामन्तवाद, संप्रदायवाद तथा बुद्धिजीवियों के मध्यमवर्गीय अवसरवादी चरित्र का

ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर पर्दाफास किया। इतिहास और इतिहास-लेखन इन वर्गों के षड्यन्त्रकारी कार्यों की कूटनीति का अमोघ अस्त्र बनाया गया है तथा इन शोध योजनाओं का परिचालन, लेखन, नेतृत्व और धन उपलब्ध कराना इन्हीं वर्गों के हाथों में रहा है। ऐसी सम्भावना है कि स्वामीजी के क्रान्तिकारी सिद्धांत वस्तुपरक ढंग से आम जनता तक पहुँचने पर इनलोगों के व्यक्तिगत एवं वर्गीय स्वार्थ पर प्रहार होगा। हो सकता है कि इसलिए कहीं एक अन्तर्राष्ट्रीय साजिश तथा वर्ग-स्वार्थ सामंजस्य के कारण इनके अध्ययन की उपेक्षा की जा रही हो—इनके सिद्धांतों को भ्रामक ढंग से पेश किया जा रहा हो। अतः अब आवश्यक यह है कि पहले कुछ महत्वपूर्ण मुद्दों पर स्वामीजी के विचार को संक्षेप में रेखांकित किया जाय जिससे इनलोगों के निजी और वर्गीय स्वार्थ तथा उन पर स्वामीजी के सिद्धांत के कारण हो रहे घातक आघात की तुलनात्मक व्याख्या की जा सके। इस सिलसिले में एक बात और ध्यान रखने की है कि अमरीका में विकसित पूँजीवादी व्यवस्था होने के कारण वहाँ के नीति-निर्धारक इतिहास और इतिहास-लेखन से अपने खिलाफ और अपनी नीति की रूकावट के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी लेकर नीति निर्धारित करते हैं किन्तु हमारे देश की अविकसित पूँजीवादी व्यवस्था के नीति-निर्णायक ऐतिहासिक तथ्यों, घटनाओं और पुरुषों को दबाकर, उपेक्षा कर एवं गलत ढंग से पेश कर अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं। उनका प्रथम प्रयास तथ्यों को दबाने का ही रहता है। इस स्थिति में सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि इतिहास और इतिहास-लेखन को प्रस्तुत और विकसित करनेवाले कौन लोग होते हैं और इस बौद्धिक प्रक्रिया में उन तत्वों का क्या उद्देश्य होता है?

इतिहास : इस विधा के विकास के तीन प्रमुख अंग हैं—स्वयं इतिहासकार जो पढ़े-लिखे वर्ग में अधिकांश तौर पर मध्यम वर्ग और खासकर निम्न मध्यमवर्ग का प्रतिनिधि होता है, दूसरे राजसत्ता तथा अन्य आर्थिक सहायता प्रदान करनेवाले जो किसी-न-किसी तरह किसी क्रांतिकारी परिवर्तन के वर्ग-प्रतिनिधि होते हैं तथा अन्ततः नौकरशाह जो राजसत्ता और इतिहासकार के निहित स्वार्थ में तारतम्य और समझौता कर इतिहास-लेखन को अपने साथ-साथ वर्णित दोनों वर्गों के निजी और वर्गीय हित में ऐसी नीति के विकास की योजना बनाकर कार्यान्वित करते हैं। अतः स्वामीजी के इन वर्गों के प्रति संक्षिप्त दृष्टिकोण इस विषय की समीक्षा के लिए आवश्यक है। भूलना न चाहिए कि इतिहास और राजनीति के विकास में एकरूपता-सी प्रतीत होती है और ऐसी हालत में इतिहास-लेखन भी राजनीति की तरह वर्ग-संघर्ष की अभिव्यक्ति होता है। हम वर्णित उद्देश्य से इन पहलुओं पर स्वामीजी के विचार को उनकी प्रसिद्ध पुस्तक **क्रांति और संयुक्त मोर्चा** से उद्धृत कर रहे हैं। स्वामीजी ने अनेक पुस्तकें लिखी हैं किन्तु यह पुस्तक अपने आप में समाज के समग्र रूप का विश्लेषण है जो स्वामीजी के निजी संघर्षमय जीवन के अनुभवों पर आधारित है। उनके सारे सैद्धान्तिक विचार की परिपक्व व्याख्या इसमें मौजूद है जो हमारी समीक्षा के लिए अत्यन्त ही महत्वपूर्ण और उपयोगी सिद्ध होगी। इस रचना की मुख्य विशेषताओं की एक चर्चा इस संकलन के खण्ड 'ख' के एक निबन्ध में की गई है तथा अन्य निबन्धों में भी यत्र-तत्र इसका मूल्यांकन हुआ है। प्रारम्भ में ही यह जान लेना श्रेयस्कर होगा कि स्वामीजी ने मार्क्स के प्रभाव में आकर स्वीकार किया है कि अब तक के सभी समाजों का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है।[19]

मध्यम वर्ग : अब इसी उद्देश्य से हम वर्णित पुस्तक के विभिन्न उद्धरणों के माध्यम से मध्यम वर्ग तथा उसकी चेतना और चरित्र के संबंध में स्वामीजी की विचारधारा के मूल विन्दुओं को प्रस्तुत करेंगे। स्वामीजी लेनिन के तर्क को अपने पक्ष में पेश करते हुए क्रांति के असली समय और मध्यम वर्गीय अवसरवादिता के सन्दर्भ में अपनी स्वीकृति के साथ निम्नलिखित सिद्धांतों को पेश करते हैं :[20]

"अन्तिम धावा बोलने का परिपक्व समय हम तभी मान सकते हैं जबकि हमारी विरोधी सभी ताकतें गड़बड़ घोटाले में पड़ी हो, अच्छी तरह परस्पर की ऐसी लड़ाई में पड़ के उसने एक दूसरे को काफी कमजोर कर दिया हो जिसके लिए उनके पास पहले से ही पूरी ताकत न थी।

"सभी आगा पीछा करनेवाले, कमजोर और अविश्वसनीय दलों ने, जो पूँजीपतियों और मजदूरों के मध्य में आ जाते हैं, जैसे कि टूटपुँजिये बाबू और पढ़े-लिखे लोग, जनता की नजरों में अपना असली रूप प्रकट न कर दिया हो और अपने राजनीतिक दिवालिएपन का काफी सबूत दे दिया हो। सर्वहारा वर्ग में पूँजीपतियों के खिलाफ निश्चित रूप से जबर्दस्त और हिम्मत के साथ आखिरी क्रांतिकारी मोर्चा लगाने के पक्ष में जबर्दस्त भावना उपजी और चारों ओर फैल गयी हो।"

स्वामीजी लेनिन के निम्नलिखित उद्धरण देकर साबित करते हैं कि मध्यम वर्ग और पढ़े-लिखे लोग पूँजीपतियों की दलाली करते हैं :[21]

"देखिये न, फटेहाल और पढ़े-लिखे बाबू लोग, जो अपने को सोसलिस्ट कहते हैं, क्या फर्माते हैं ? मजदुर दल का साथ देने की घोषणा तभी करवाना चाहते हैं जबकि व्यक्तिगत संपत्ति का बोलबाला ही है। जबतक पूँजीवाद गद्दीनशीन ही है और जबतक जनता उसी के नीचे पिस रही है. तबतक बहुमत अपने हाथ में शासन ले नहीं सकता। यदि मजदूर लोग देशवासियों के बहुमत को अपनी ओर करना चाहते हैं, सबसे पहले उन्हें पूँजीपतियों को शासन से हटाना और उसका सूत्र खुद हथियाना पड़ेगा····इस तरह पुराने शासन के ढाँचे को तोड़ के एक ही धक्के में पूँजीपतियों और वर्ग सामंजस्यवादी फटेहाल बाबुओं के उस प्रभाव के विरूद्ध असर डालना होगा, जिसे वे लोग मजदूरों के सिवाय अन्य कमाने वाले लोगों पर फैलाये रखते हैं। इसके बाद उनके इस प्रभाव को जड़मूल से सदा के लिए मिटा दें।"

इसलिए स्वामीजी का निश्चित मत है[22] कि "जो लोग (मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवी) बहुमत की घोषणा क्रांति की लड़ाई शुरू करने के लिए अनिवार्य मानते हैं वे लोग असल में पूँजीपतियों और मालदारों के दलाल ही हैं हालांकि वे यह बात छिपाते हैं :

"इतिहासकार और राजनीतिज्ञ लोग क्रांतिकारी आकस्मिक उभाड़ नाम जनता के उस आन्दोलन को देते हैं जो पुराने शासन के विरूद्ध सार्वजनिक विद्रोह के फलस्वरूप संगठित रूप धारण कर लेता है। लेकिन विजय के लिए जिस स्पष्ट लक्ष्यज्ञान, लड़ाई के निर्धारित उपाय, या विज्ञ नेतृत्व की आवश्यकता होती है वह

उसमें नहीं रहती। इस क्रांतिकारी उभाड़ को सनातनी इतिहास लेखक, और खासकर उनमें जो जनतन्त्र शासनवादी लोग होते हैं वे अनिच्छित, पर अनिवार्य, बुराई के रूप में कबूल करते हैं और कहते हैं कि इसकी जवाबदेही पुरानी शासन प्रणाली के माथे है। मगर उनके द्वारा उसके प्रति ऐसी रियायत दिखाने में असली कारण यह होता है कि दरअसल ऐसी क्रांति पूंजीवादी शासन व्यवस्था के दायरे से बाहर जाई नहीं सकती।"

इसलिए स्वामी जी इस तरह के मध्यमवर्ग को प्रतिक्रांतिवादी कहते हैं। उनका कहना है कि "किसानों, कलाकारों, दस्तकारीवालों, दूकानदारों या इसी तरह के दूसरे लोगों के पास, जो निम्न मध्यम श्रेणीवाली कहाते हैं, थोड़ी बहुत संपत्ति रहती है। और नहीं तो एक झोपड़ा और उसके इर्द-गिर्द की जमीन ही रहती है। इसीलिए उन्हें हमेशा यह डर बना रहता है कि कहीं यही न गायब हो जाय। वे हमेशा अपनी नन्हीं सी संपत्ति बचाने की फिक्र में रहते हैं। उन्हें वर्तमान की चिन्ता नहीं है। किन्तु भविष्य की।....कब वह संपत्ति चौपट हो जाय....इसलिए वे परेशान रहते हैं। उनके लिए भविष्य अन्धकारमय है, किन्तु वर्तमान वैसा नहीं है। उन्हें भविष्य की चिन्ता जितनी है उतनी वर्तमान की नहीं। इसीलिए वे दकियानूसी और क्रांति विरोधी हैं। बल्कि वे तो चाहते हैं कि जो बड़े-बड़े फार्म बन गये हैं और बड़े-बड़े कारखाने खुल गये हैं वह सब टूट जायँ और उनकी जगह पर छोटे-छोटे खेत और कारखाने बन जायँ। वह बीते जमाने को फिर वापस लाना चाहते हैं। इसीलिए वे प्रतिक्रांतिवादी हैं।"[23]

स्वामीजी अपने इस कथन के समर्थन में मार्क्स के कौम्युनिस्ट मेनिफेस्टो से निम्नलिखित उद्धरण देते हैं :[24]

"पूंजीवादियों के विरोधी जितने वर्ग हैं उनमें केवल सर्वहारा ही सचमुच क्रांतिकारी वर्ग है।.......निम्न मध्यम श्रेणीवाले छोटे-छोटे कारखानेदार, दूकानदार, हस्तकार, किसान वे सभी पूंजीपतियों से सिर्फ इसलिए लड़ते हैं कि मध्यमवर्ग के अंग की हैसियत से खुद कायम रह जायँ और उनकी हस्ती मिट न जाय। इसीलिए वे लोग क्रांतिकारी नहीं हैं, किन्तु दकियानूस और पुराणपंथी हैं। इतना ही नहीं, वे तो क्रांति विरोधी या प्रतिगामी हैं। क्योंकि वे ऐतिहासिक चक्र को पीछे घसीटना चाहते हैं। और अगर संयोग से कभी वे क्रांतिकारी बन जाते हैं तो सिर्फ इसीलिए कि उन्हें खतरा है कि कहीं वे भी सर्वहारा न बन जायँ।....वे अपने वर्तमान की रक्षा न करके भविष्य की ही करते हैं। और अगर वे अपने को सर्वहारा के स्थान में कभी रखना चाहते हैं तो उन्हें अपने दृष्टिकोण को छोड़ना पड़ता है।"

मध्यम वर्ग के चरित्र का गहन विश्लेषणात्मक अध्ययन कर स्वामीजी ने उनके गिरगिट की तरह रंग बदलनेवाले चरित्र की खासकर, पढ़े-लिखे लोगों के चरित्र की, रोचक किन्तु खतरनाक सच्ची तस्वीर प्रस्तुत की जिसका सारांश उनके ही शब्दों में निम्नलिखित है :[25]

"सर्वहारा और पूंजीवादी के बीचवाले ये लोग ही टूटपूंजिये या फटेहाल बाबू—पेट्टी बूर्ज्वा क्लास के बाबू आज की भाषा में कहे जाते हैं। पहले के बताये

ऑफिसरों के अर्दली, क्लार्क, किरानी वगैरह तथा वकील, बैरिस्टर, डाक्टर, वैद्य, हकीम, प्रोफेसर, अध्यापक, सैकड़ों प्रकार के एजेन्ट वगैरह भी इसी दल में शामिल हैं। इनका स्वभाव ऐसा होता है कि ऊपर की ओर, पूँजीवादी मालदारों की तरफ ही देखें। मगर जब सर्वहारा वर्ग क्रांतिकारी भावना से भरा होता है या कम से कम उसका अग्रदूत हर तरह से क्रांति की सफलता के लिए तैयार रहता है—क्योंकि क्रांति की सफलता का दारमदार उसी अग्रदूत पर ही होता है; वही अपनी ओर खींचता है तो उसके दवाव से ये लोग धनियों का साथ छोड़ देते हैं और सर्वहारा के साथ मिल जाते हैं। और ज्योंही सर्वहारा में ठंढक आती है, त्योंही धनियों की ओर ही झुकते हैं और दुम हिलाते हैं। खूबी तो यह है कि जिधर वे जाते हैं उधर ही औरों को भी घसीटते हैं, क्योंकि पढ़े-लिखे होने के कारण इनमें बातें बनाने और सच-झूठ प्रचार की बड़ी ताकत होती है। साथ ही, ये बड़े ही बुजदिल और कमजोर होते हैं।'

अपने समर्थन में स्वामीजी ने लेनिन के निम्नलिखित तथ्यों को पेश किया है :[26]

"पूँजीपति शोषकों के पिछलग्गू बन के निम्न मध्यम वर्गवाला जन समूह चलने लगता है। क्योंकि सभी देशों के अनुभव से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि देशवासियों के इस भाग से निम्न मध्यम वर्ग में मजबूती (साबित कदमी) तो होती ही नहीं। कभी तो ये लोग सर्वहारा वर्ग के साथ चलते हैं। लेकिन ज्योंही क्रांति के काम में कठिनाइयाँ पेश हुई और सर्वहारा को जरा भी रूकावट हुई कि ये लोग आतंकग्रस्त हो जाते हैं, मारे डर के बदहवास हो जाते हैं, इन्हें सूझता ही नहीं कि कहाँ जायँ और बुजदिलों की तरह छाती पीटते हुए कभी इधर, तो कभी उधर भागते फिरते हैं।"

त्रात्स्की के निम्नलिखित अंश को भी स्वामीजी इसी सन्दर्भ में पेश करते हैं :[27]

"किसी देश की जनसंख्या सिर्फ सर्वहारा और भारी मालदार—इन्हीं दो श्रेणियों में बंटी नहीं होती। इन दोनों के बीच में बड़े-बड़े दल फटेहाल बाबुओं के होते हैं जिनमें राजनीतिक और आर्थिक इन्द्रधनुष के सभी रंग पाये जाते हैं। इन्हीं बीचवाले दलों को जो निराशा, मौजूदा शासक की वर्ग-नीति के प्रति होती है, उनमें जो असन्तोष और जलन होती है और इस प्रकार सर्वहारा वर्ग के द्वारा किये जानेवाले हिम्मतवर इनकिलाबी कामों के समर्थन की जो मुस्तैदी इनमें पायी जाती है, वही है क्रांति की तीसरी राजनीतिक बुनियाद...... निम्न मध्यम श्रेणी की मनोवृत्ति ही क्रांति की बुनियादों में सबसे कम टिकाऊ चीज है। राष्ट्रीय उथल-पुथल के समय यह दल उसी वर्ग के पीछे चलता है न सिर्फ जिसकी बातों में, बल्कि कामों में इसे यकीन हो जाता है। यह ठीक है कि इस वर्ग में भावुकतापूर्ण उत्साह और कभी-कभी क्रांतिकारी क्रोध भी होता है। मगर इसमें मुस्तैदी नहीं पायी जाती, जरा सी प्रतिकूलता होने पर चटपट वह पस्त हो जाता है और इस प्रकार एकाएक निराशा में पड़ जाता है।.... फलतः मध्यवर्गीय दल अपनी नजर क्रांति से फेर लेते और उसके विरोधियों की ओर अपने उद्धार के लिए ताकने लगते हैं। और ठीक जिस प्रकार बढ़ती हुई उमंग की लहरों के समय मजदूर दल के साथ मध्यमवर्गीय

खिच आते हैं, उसी तरह उमंग मिट जाने के समय मध्यम दल वाले ही उल्टे मजदूरों के ही एक खासे हिस्से को अपनी तरफ खींच लेते हैं। गत युद्ध के बाद यूरोप में जगह-जगह जो कभी साम्यवाद और कभी फासिस्टवाद की लहर दीख पड़ती है उसका यही रहस्य है।"

इन खामियों के बावजूद स्वामीजी यह भी स्वीकार करते हैं कि "निम्न मध्यमवर्ग के कुछ लोग दिलोजान से मजदूरों में जा मिलते हैं। आजकल की भाषा में उन्हें वर्गच्युत कहते हैं। मेरा तो विचार है कि कहीं जन्म लेने मात्र या कोई काम कर देने से ही किसी के आर्थिक वर्ग का निर्णय नहीं होता। आज का समाज ही ऐसा है कि परिस्थितिवश लोग कहीं से कहीं जा पड़ते हैं। इस मामले में जन्म से जाति (वर्ग) मानने का प्रश्न भी उठता नहीं है और न तत्कालीन कामों से जाति मानने का····इसलिए देखने के लिए निम्न मध्यम श्रेणी में पैदा होके या रह के भी वैसे लोग जिन्हें वर्गच्युत कहते हैं, असल में सर्वहारा वर्ग के ही हैं।····यही कारण है कि मजदूर वर्ग में रह के भी कुछ लोग निम्न मध्यम वर्ग वाली मनोवृत्ति के होते हैं।"[28]

पर स्वामीजी इस बात को और स्पष्ट करते हैं कि मध्यम वर्ग साम्राज्यवाद, सामंतवाद और पूँजीवाद की दलाली करता है :[29] "पूँजीवादी खुले आम न आ के फटेहाल बाबुओं के द्वारा ही अपना काम निकालते हैं – तो सिर्फ यही बात न होगी कि वे लोग निरंकुश शासन के साथ सुलह कर लेंगे ताकि क्रांति की विजय होई न सकेगी—उसकी हार हो जायेगी।" वे इसको भी मानते हैं कि "टुटपूँजिये जनतंत्र-वादी बाबू लोग तो चाहते ही हैं कि ज्योंही उनकी चन्द मांगे पूरी हो जायँ जल्द से जल्द क्रांति को खत्म कर दें।"

इसलिए स्वामीजी मध्यमवर्ग के अवसरवादी चरित्र को सर्वहारा क्रांति में बहुत बड़ी बाधा मानते हैं और स्वीकार करते हैं :

"असल में जो दिक्कत हमारे सामने आती है वह यह है कि निम्न मध्यम श्रेणी के बाबू लोग और उन्हीं के साथ पूँजीवादी वर्ग भी सदा इस बात की कोशिशें करता रहता है कि कमानेवाली जनता के सामने वर्ग संघर्ष का यह सवाल ही न आने पाये। वे बराबर यही रट लगाते रहते हैं कि हम तो जनतंत्र शासन (डेमोक्रेसी) चाहते हैं, रामराज्य चाहते हैं, जिसमें सबों की राय से शासन का काम चले। हम तो जनसमूह की भलाई चाहते हैं, न कि किसी दल विशेष की। हम तो सब लोगों का स्वराज्य चाहते हैं। किसी खास वर्ग का स्वराज्य तो हमें अभीष्ट है नहीं। इसीलिए हमारी इच्छा है कि पूँजीपति और मजदूर या किसान और जमीन्दार आदि भेद भाव भूल के सभी लोग एक साथ मिलके लड़ें। तभी लक्ष्य सिद्धि होगी। वह तो यहाँ तक कह डालते हैं कि पहले स्वराज्य प्राप्त कर लें। पीछे यह सोचने का मौका आयेगा कि वह किसका होगा। जो चीज मिली ही नहीं उसके बंटवारे का प्रश्न पहले ही उठाना नादानी नहीं तो और क्या है? मतलब यह है कि वे लोग हर वक्त वर्ग सामंजस्य (class collaboration) की ही बातें करते हैं। स्वराज्य मिलने पर जमीन्दार और पूँजीपति किसानों तथा मजदूरों के थातीदार बनेंगे यह भी ख्याली पुलाव पकाया जाता है ताकि वर्ग संघर्ष का ख्याल सामने आये नहीं और किसान, मजदूर उसमें पड़ने ही न पाएँ।"[30]

स्वामीजी मध्यमवर्गीय चेतना के अवसरवादी चरित्र का निम्नलिखित वस्तुगत चित्रण पेश करते हैं :[31]

"जनतंत्र, स्वराज्य, रामराज्य आदि गोल-मोल बातों की ही शकल में स्वतंत्रता का स्वप्न देखनेवाले बाबू लोग कितने गहरे पानी में होते हैं इसका पता उन्हें खुद नहीं होता। वे तो सारी बातों को अपने ही आइने में देखते हैं। दुनियाँ बदलती रहती है, परिस्थितियाँ बदल जाती हैं और समाज का नये सिरे से संगठन होके वह परस्पर विरोधी अनेक दलों में विभक्त हो जाता है। इन दलों की हालत यह होती है कि एक-दूसरे को हजम कर डालना, मिटा देना चाहते हैं।....फिर भी जनतंत्रवादी महाशय इस बात को स्वीकार ही नहीं करते। और इसके करते उन्हें विजय न मिली, आजादी नहीं हाथ लगी तो उल्टे इसके लिए अपराधी उन्हीं लोगों को बना डालते हैं जो समाज की असलियत—इसके श्रेणी विभाग को —स्वीकार करते और तदनुसार ही काम करने की राय देते हैं। ....वे भयंकर खूँसट और और दकियानूस होते हैं। ....ये दकियानूस वर्ग सामंजस्यवादी सिद्ध करने की कोशिश करते हैं कि वर्तमान समाज में वर्ग हई नहीं। इसीलिए वर्ग-युद्ध की जरूरत हई नहीं।....रोज भी देखा जाता है कि धनी गरीब, किसान जमीन्दार-आदि दल एक-दूसरे पर खार खाए बैठे हैं और मिटा देना चाहते हैं। फिर भी इन्हें सरासर इन्कार करना तो जीती मक्खी निगलना क्या ऊँट निगलना है। लेकिन ये भलेमानस यही करते हैं।"

मार्क्स भी स्वामीजी के निष्कर्ष को स्वीकृति प्रदान करता है जो निम्नलिखित अंश से स्पष्ट है :[32]

"निम्न मध्यमवर्ग जैसे बीच के चन्दरोजा वर्ग-जिसमें दो परस्पर विरोधी श्रेणियों (शोषितों और शोषकों) के स्वार्थ कुन्द और अस्फुट हो जाते हैं—का प्रतिनिधि होने के नाते जनतंत्रवादी ऐसा मानता है कि वह खुद साधारणतया वर्ग-विरोध से अलग (ऊपर) है।....वह समझता है कि वह आम लोगों के हकों का ही प्रतिनिधि है और उसका जो स्वार्थ है वही जनता का भी स्वार्थ है। इसीलिये लड़ाई के मौके पर ये जनतंत्रवादी इस बात की जरूरत ही नहीं समझते कि विभिन्न श्रेणियों के स्वार्थों एवं स्थितियों की जाँच करें।....अगर इस काम में उस समय उनके स्वार्थ बेकार साबित हो जायँ, लोगों के न जँचे और उनकी ताकत ही रद्दी हो तो इनमें एक मात्र दोष है उन उल्टी सीधी बात गढ़नेवाले शैतानों का, जो अविभाजनीय जनता को अनेक परस्पर विरोधी दलों में बाँट देते हैं....और अगर कुछ और नहीं तो वही हुआ कि इस बार किसी आकस्मिक घटना ने ही सारा आटा गीला ही गीला कर दिया। सारांशतः, हर हालत में जनतंत्रवादी तो बुरी से बुरी हार के बाद भी अपने आपको ठीक वैसे ही दुध का धोया साबित करते हैं.... विशेषता यही होती है कि उन्हें यह नया विश्वास हो जाता है कि अगली बार अवश्य जीतेंगे...."

क्या मध्यमवर्गीय चरित्र के इस वस्तुगत चरित्र-चित्रण के पश्चात् यह मुनासिब अपेक्षा होगी कि वर्गयुक्त समाज में मध्यमवर्गीय इतिहासकार भारत की उदीयमान वर्त्तमान पूँजीवादी व्यवस्था तथा कमजोर वामपंथी संयुक्त मोर्चा की

पृष्ठभूमि में स्वामीजी के व्यक्तित्व और सिद्धांतों को वस्तुगत रूप में पेश कर सकते हैं ?

क्रांति और राजसत्ता : अब स्वामीजी के विचार क्रांति और राजसत्ता के संबंध में जानना आवश्यक है जो राजनीति में वर्ग-संघर्ष का प्रतीक है और इतिहास-लेखन का महत्त्वपूर्ण उपकरण है।

क्रांति :— हम पहले अब क्रांति के संबंध में स्वामीजी की विचारधारा को प्रस्तुत करेंगे। स्वामीजी मजदूर क्रांति के घोर पक्षधर थे और इस मामले में वे मार्क्स के सारे नियमों का अनुमोदन करते थे।[33]इस संदर्भ में उन्होंने स्वीकार किया कि "जब तक किसी मुल्क की सरकार के ढांचे को जड़ से बदल न दिया जाय, उसमें ऐसा उलट-फेर न कर दिया जाय कि उसकी पहली सूरत लापता हो के एक नई शक्ल खड़ी हो जाय, तब तक उसे क्रान्ति हर्गिज नहीं कह सकते। हमें तो क्रांति की सफलता के लिए सरकार की नींव और बुनियाद को ही उलट देना होगा।" इस संबंध में मार्क्स और एंजेल्स के निम्नलिखित सिद्धान्तों को ध्यान में रखने पर स्वामीजी ने बल दिया :[34]

"समाज का आर्थिक ढांचा ही असली नींव है जिसके ऊपर आईन और राजनीति के महल खड़े किए जाते हैं और जिसके अनुसार ही विचारों के निश्चित सामाजिक रूप बनते हैं। संक्षेप में उत्पादन -प्रणाली ही सामाजिक, राजनीतिक और औद्योगिक जीवन के स्वरूप को आम तौर से निर्धारित करती है।

"शोषित और पीड़ित वर्ग का त्राण तब तक गैर मुमकिन है जबतक बलपूर्वक क्रांति नहीं की जाय और जब तक पुराने शासनयंत्र को, जिसे पहले के शासकों ने तैयार किया है, मटियामेट और तहस-नहस न कर दिया जाय। क्रान्ति का काम है उस यंत्र को चूर-चूर कर देना। यह जनता की क्रान्ति का अनिवार्य मूल आधार है। क्रांति उस वर्ग-युद्ध को कहते हैं जो उबलता हुआ और बहुत ही कड़वा होता है।"

इस सैद्धांतिक पृष्ठभूमि में स्वामीजी ने कुछ अवरोधों की ओर संकेत करते हुए सतर्क किया :[35]

"जो लोग समझते हैं कि पूँजीवादी बिना सारी शक्ति लगाके लड़े ही शासन-सूत्र छोड़ देंगे वे संसार के शब्दों की उलट फेर और खासकर क्रांति का इतिहास जानते ही नहीं। पूँजीवाद के विरूद्ध लड़ी जाने वाली लड़ाई भीषण और खूनी होती है। सुधार की तरह किस्त-किस्त कर क्रांति नहीं होती।

"चुनावों के जरिए (सोसल डेमोक्रेटिक पार्टियाँ) जो लोग अपनाने की बात मानते और ख्याल करते हैं वे क्रांतिकारी नहीं माने जाकर सुधारवादी माने जाते हैं। वे लोग क्रांति से भड़कते और खतरा खाते हैं। अगर उनमें कुछ इसका नाम लेते भी हैं तो केवल जनता को फाँसने और धोका देने के लिए। उनकी नियत तो दूसरी ही है।"

सर्वहारा क्रांति के असली रूप को समझने के लिए स्वामीजी का ऐतिहासिक विकास का निम्नलिखित तर्क महत्वपूर्ण है :[36]

"आखिर समाजवादी या सर्वहारा क्रांति का काम तो यही है कि नई सामाजिक व्यवस्था बनाएँ। यह करने में उसे पूँजीवादी प्रणाली को मिटाना पड़ता है। मगर जबतक पूँजीवादी प्रणाली कायम हुई ही नहीं, तभी तक उसके नाश, या उसे हटा के नई व्यवस्था कायम करने का प्रश्न उठ कैसे सकता है ? सामन्तशाही व्यवस्था में तो पूँजीवाद का गर्भ मात्र रहता है। तब तो वह विकसित भी नहीं हो पाती, पूर्ण विकास तो बात ही जुदी है। लेकिन गर्भपात करवाकर और बनी-बनाई चीज का नाश करना दोनों एक बात है ही नहीं। पूँजीवादी व्यवस्था के नाश करने पर उसकी हड्डियों और राख मास से नई सामाजिक व्यवस्था की नींव बनती है, ईंट बनती हैं गारा सुर्खी बनती है। गर्भपात करने से तो यह होने का नहीं। दधीचि की हड्डी की जरूरत थी वृत्रासुर के संहार के लिए या वज्र बनाने के लिए ताकि असुरों से देवताओं की रक्षा हो। लेकिन दधीचि को गर्भ में ही मार देने से वह हड्डी कैसे मिलती ?"

स्वामीजी की मान्यता है कि "बिना वर्ग-संघर्ष, वर्ग-युद्ध के शोषित जनता का, कमानेवालों का उद्धार नहीं हो सकता, यही यंत्र उसके मूल में काम करता है। चाहे मौके बेमौके सर्वहारा और बातें कुछ समय के लिए छोड़ भी दें। एक शासनसूत्र को हटा के उसकी जगह जो दूसरा कायम होगा वह सिर्फ शोषितों एवं पीड़ितों का ही होगा, इस बात की गारंटी वर्ग-संघर्ष के द्वारा ही हो सकती है। सामूहिक रूप से शोषितों में वर्ग-चेतना आए, वे अपना अधिकार और कर्त्तव्य समझें, कौन उनका हित और कौन अहित है.... यह केवल वर्ग-संघर्ष के ही जरिए हो सकती है। सारांश यह है कि वर्ग-संघर्ष मजलूमों को पूर्ण रूप से शिक्षित करता, उनकी आखें खोलता, उनके अंधविश्वास को मिटाता और उनमें वास्तविक हित, अहित की पहचान पैदा करता है। इस तरह वे सामूहिक रूप से क्रांतिकारी युद्ध के लिए सुसज्जित किए जाते हैं। ऐसा हो जाने पर सामूहिक रूप से वे इस काम में कूद पड़ें यह बात हड़ताल के जरिए होती है और उसी से शत्रु का अन्त होता है। इन दोनों को मिलाने के बाद ही सर्वहारा क्रांति सफल होती है और शासन शोषितों के हाथ में आ जाता है। वर्ग-संघर्ष ही दूध और पानी को अलग कर देता है—दूध का दूध और पानी का पानी कर देता है।"

क्रांति के दुश्मन के सम्बंध में स्वामीजी ने निम्नलिखित शब्दों में सतर्क किया है :[37]

"उथल-पुथल और क्रांति के समय में पुराने शासक और शोषक काफी सजग हो जाते हैं। वह भरसक इस बात की कोशिश करते हैं कि जनता उन्हें परख न पाए .. वे पूरे बगुलाभगत बन बैठते हैं। ताकि जनसाधारण उनकी ओर से चिहुँक न सके वे समझ जायँ कि वे अब पूरे महात्मा बन गए। ऐसा भी होता है कि जो लोग क्रांति का नेतृत्व करते हैं वे सब के सब शोषित जनता के पक्के आदमी होते ही नहीं। इसके उलटा उनमें शायद ही कोई इक्के-दुक्के ऐसे होते हैं। बांकी लोग तो मध्यम श्रेणी और पूँजीवादी मनोवृत्ति के या इसी प्रकार के होते हैं। हां, क्रांति की लड़ाई में जूझने वाली जनता खुद शोषित एवं पीड़ित होती है—शोषितों तथा पीड़ितों के लिए मर मिटने वाली होती है। मगर नेतृत्व की गड़बड़ी से ही उसका मनोरथ पूरा हो पाता ही नहीं। शोषण और लूटखसोट को हमेशा के लिए उखाड़ फेंकने का कस्द और प्रण करके भी वह जनता नेताओं की धोखेबाजी में पड़ जाती

है। क्योंकि नेता लोग अपनी बाघ की शकल छिपा के गधे की खाल ओढ़ लेते हैं।

"क्रांतियों के शुरू में लोग ऐसा नकली आंसू बहाते और गला फाड़ते थे कि गोया गरीबों की तकलीफों से उनके कलेजे पिघल के पानी-पानी हो रहे हों.... जब जनता ने उन पर विश्वास करके सारा भार सौंप दिया और उन पर शक न करके अपने पुराने काम खेती गिरस्ती वगैरह--में जा लगीं तो नेताओं ने धीरे-धीरे अपनी गधे की खाल उतार फेंकनी शुरू की, इस चालाकी से कि जनता को इसका पता न चले। नहीं तो हो जायगी और हमारी टिक्की उखाड़ फेंकेगी। कुछ जमाना गुजर जाने के बाद जबरन नकली नेताओं ने अपनी टिक्की काफी जमा ली.... तब एकाएक इन्होंने अपनी खाल उतार फेंकी।.... कभी-कभी तो ऐसा भी हुआ है कि नए और पुराने शासकों ने आपस में ही समझौता कर लिया आधा तुम आधा हम की शर्त्तों पर ही सन्धि कर ली है।.... लड़नेवाले तो किसान, मजदूर और निम्नमध्यम वर्ग के ही लोग थे। मगर चतुर यारों ने कभी एक दल को अपनी ओर मिला के दूसरों को मिटाया, कभी किसानों को मजदूरों के खिलाफ भड़काया, कभी किसानों के साथ ही शहर के निम्न मध्यमवर्गीयों और पढ़े-लिखे को मिला के मजदूरों के हाथ से या तो शासन छीना या उन्हें पस्त किया।

"क्रांतिकारियों को फूंक-फूंक के पाँव देना पड़ेगा। जरा भी विश्वास किया कि पुराना भूत आ बैठेगा। इसीलिए दिन-रात पहरा देना और चौकसी करना पड़ेगा। जिन लोगों की कड़ी परीक्षा हो चुकने पर वे साबित हो चुके हैं कि पीड़ितों के ही लिए मर मिटने के सिवाय वह कुछ और जानते ही नहीं, ऐसे ही लोगों को चुन-चुन के शासन प्रवन्ध में रखना होगा। केवल गर्म-लेक्चर देनेवालों और क्रांति की दोहाई देने वालों को पास फटकने देना ही नहीं होगा। इतने पर भी बीच-बीच में छटैया की आवश्यकता हो जाया करेगी।"

संयुक्त मोर्चा और उसका नेतृत्व : क्रांति या आन्दोलन को सफल बनाने के लिए तथा सफल होने पर भी सुदृढ़ बनाने के दुश्मनों के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चे की जरूरत पड़ती है। सामन्तवाद और पूँजीवाद वर्ग दुश्मन हैं, इसीलिए सर्वहारा क्रांति को लक्ष्य बना लेने पर उनसे संयुक्त मोर्चा बनाने की चर्चा भी नहीं की जा सकती। इसलिए चुनाव दकियानूस किसान तथा अवसरवादी मध्यम वर्ग के बीच ही सीमित हैं। हर हालत में उस मोर्चे का नेतृत्व तो मजदूरों के हाथों चाहिए, किसी दूसरे वर्ग के हाथ में नहीं। स्वामीजी ने इस सन्दर्भ में अपना निम्नलिखित निष्कर्ष और तर्क दिया है :[३४]

"जिन ऊँचे तबकों से आशा थी (लेनिन को रूस में) कि मध्यम वर्ग के नाते कहिए या सम्पत्ति-जीवी (बूर्ज्वा) होने के नाते, क्रान्तिकारी मार्गों को पसन्द करेंगे और प्रोत्साहन किसी कारण न भी दें तो कम से कम उनका विरोध तो नहीं ही करेंगे, वही लोग दकियानूस बन गए, क्रांति विरोधी (प्रतिगामी) बन गए हैं। वह तो कहता है कि प्रगतिशील कहे जाने वाले मध्यमवर्गीयों या सम्पत्तिजीवियों में केवल किसान ही बच रहा है जो क्रांतिकारी ढंग से जमींदारी मिटाना चाहता है। जहाँ और लोग मुआवजा देके जमींदारी खरीदना और मिटाना चाहते हैं तहाँ वह बेमुरव्वती से छीन लेना चाहता है। इसका कारण यह है कि वह दाने-दाने को मर रहा है, परीशान है, तबाह है और उसके पास दूसरा चारा नहीं है। ऐसे दकियानूस लोग किसानों और

मजदूरों से मिलके लड़ेंगे ऐसा ख्याल जो आज भी करते हैं और भारत में पूँजीवादियों के साथ संयुक्त मोर्चे का राग अलापते हैं उनकी आँखें लेनिन के इस कथन से खुलनी चाहिए। भारत की दशा उस समय के रूस जैसी ही तो है। जरा ही मरा फर्क होगा। लेनिन के कथन से यह भी साफ है कि किसान की गणना बूर्ज्वा वर्ग में ही है और वह परिस्थितिवश ही क्रांतिकारी बनता है, न कि सर्वहारा वर्ग की तरह जन्म से ही, स्वभाव से ही। इसीलिए तो क्रान्ति का नेतृत्व सर्वहारा ही कर सकते हैं, न कि किसान। यही मार्क्स का मत है, सिद्धांत है।"

इस सन्दर्भ में स्वामीजी के इस मत को ध्यान में रखना होगा कि "यदि अल्पमत क्रांति का सवाल होता तो अधिकांश देशों में गुप्त षड्यंत्र आदि के जरिए वह सफल हो सकती थी। मगर बहुमत क्रांति में तो देश की अधिकांश जनता को पहले उसके लिए तैयार करना होगा। तभी बाहरी मदद से कुछ हो सकता है। जो मुल्क खुद तैयार नहीं है उसे बाहरी मदद क्या मिलेगी और कैसे ? उससे होना ही क्या ? ऐसी दशा में क्रांति कराने का ठीका लेना बेकार और नादानी है।"39

स्वामीजी सारी त्रुटियों और कठिनाइयों के बावजूद किसान और मध्यम वर्ग के संयुक्त मोर्चा के पक्ष में थे ताकि वे विरोधी खेमे में न जा मिलें। इसका नमूना इन्होंने रूस में पाया "जहाँ समझौता होने पर यह बात नहीं होती और क्रांति की गाड़ी कीचड़ में फँस जाती। इसलिए यह संयुक्त मोर्चा कहा जाता था। किसानों और मजदूरों को हड़ताल वगैरह करने की पूरी आजादी इसमें थी और यही तो ठीक था—किसान जबर्दस्ती जमीनें छीनते थे और इसमें उन्हें रोकने के बजाय प्रोत्साहन मिलता था। मगर हमारे यहाँ तो अजीब बात है। मजदूरों और किसानों को अपने हक के लिए हड़ताल, बकाश्त संघर्ष आदि के जरिए सीधी लड़ाई लड़ने से रोक के ही कांग्रेस के लीडर और उनके निराले क्रांतिकारी लोग संयुक्त मोर्चा कायम करना चाहते हैं। यह तो गुलामी है और क्रांति की गाड़ी को कीचड़ में फँसाना है। इसे संयुक्त मोर्चा क्योंकर कहा जाय ?"

वैसे संयुक्त मोर्चा के खिलाफ स्वामीजी ने मार्क्स के निम्नलिखित वाक्यों को उद्धृत किया है :40

"इस वक्त जबकि जनतन्त्रवादी मध्यमवर्गीयों का सर्वत्र विरोध हो रहा है, वे सर्वहारा को उपदेश देते हैं और प्रोत्साहित करते हैं कि उनके साथ ये लोग (सर्वहारा) मेलजोल और एकता स्थापित करें। वे चाहते हैं सबों को मिला के एक ऐसी विरोधी पार्टी बनाएँ, जिसके भीतर लोकतन्त्र चाहने वाले सभी दलों के लोग शामिल हों। इसका साफ अर्थ यह है कि वे लोग सर्वहारा को फँसा के एक ऐसी पार्टी के संगठन में डालना चाहते हैं जिसमें आमतौर से आजादी, स्वतन्त्रता, समानाधिकार, समाजवाद आदि के सूचक शब्दों का जाल फैला के उन्हीं के पर्दे में उन निम्न मध्यमवर्गीयों के अपने स्वार्थ छिपे रहें और शान्ति तथा आपसी एकता के बहाने, इसमें सर्वहारा की अपनी खास माँगों का जिक्र होने न पाए। मगर ऐसी एकता तो एक मात्र उन निम्न मध्यमवर्गीय लोगों के ही फायदे की होगी और सर्वहारा के लिए

जहर का काम करेगी। ऐसा होने पर संगठित मजदूर वर्ग अपने कठिन त्याग बल से प्राप्त आजादी को खो के उन बाबुओं के ही स्वार्थों और संगठनों का पुछल्ला बन जायगा। इसलिए ऐसी एकता और मेलजोल का विरोध दृढ़ता के साथ करना ही होगा।"

स्वामीजी ने उपर्युक्त तथ्यों की यथार्थता को भारतीय परिप्रेक्ष्य में निम्नलिखित शब्दों में अनुमोदित किया है :[41]

"आजकल के नकली और धोकेबाज संयुक्त मोर्चे का, जिसकी हद से ज्यादा चर्चा हमारे अभागे देश में होती है, कितना नग्न वर्णन इन वाक्यों में है। ··· यदि हम इण्डियन नेशनल कांग्रेस की ओर नजर दौड़ाएँ और इस बात का भी ख्याल करें कि क्रांति, साम्यवाद और समाजवाद की पुकार मचाने वाले निम्न मध्यमवर्ग के बाबू जोर देते हैं, तो ऊपर लिखी सारी बातें अक्षरशः घट जाती हैं।····उसने कमानेवालों की स्वतन्त्र संस्थाएँ और उनके स्वतंत्र संगठन बनाने पर जो हद से ज्यादा जोर दिया है और इस नकली और खतरनाक संयुक्त मोर्चे का दृढ़ता के साथ विरोध करने का जो आदेश दिया है वह हमारे लिए पथप्रदर्शक और बड़े काम की बात है। हम इसे भूल कर ही धक्के खा रहे हैं। अब भी चेते तो काम चले।

"जब हमने-किसानों तथा मजदूरों ने कांग्रेसी मन्त्रिमंडलों के बनने पर प्रदर्शन शुरू किए और साफ-साफ अपने रुखों से हमने बता दिया कि उन पर हमारा विश्वास नहीं होता और इसके लिए अनेक ज्वलन्त उदाहरण ताजे-ताजे ही पेश किए, तो हम पर देशद्रोह का इल्जाम लगाया गया और कहा गया कि हम तो आजादी की लड़ाई को कमजोर करते हैं। हम देश में दुश्मनों से जा मिले हैं, हालांकि हमने मन्त्रिमंडल के ही विरूद्ध ऐसा किया था अप्रत्यक्ष रूप से कांग्रेस भी उसमें खिच आती थी····कांग्रेस की चुनाव घोषणा और फैजपुर के प्रोग्राम को वह एक प्रकार से भूल क्यों गई···वह शोषित और पीड़ितों की अपनी संस्था हर्गिज नहीं। किन्तु लोकतन्त्रवादी पूँजीपतियों की ही है।····हमें सारी शक्ति लगा के समझौता को रोकना होगा। जब कांग्रेसी मन्त्रियों ने बिहार में जमींदारों के साथ खुलेआम समझौता कर लिया और बम्बई में मिलवालों के साथ भी यही किया तो फिर हमारा काम तो यह खामखा हो गया कि उनका पर्दाफास करें। इसमें मुरव्वत या आगा-पीछा की गुंजाइश कहाँ थी ? वह तो यह चाहते ही थे कि हम किसानों और मजदूरों की लड़ाई छोड़ के उनकी ही हां में हां मिलाएँ। मगर यही तो खतरनाक चीज थी जिसे हमने खूब समझा। मध्यमवर्गीय लोग तो बगले झांकते, आगा-पीछा करते और लड़ाई से दुबकते हैं,····उन्हें तो रह-रह के सुलह, अहिंसा और शत्रु को परेशान न करने की हूक उठती रहती है और हमें है आजादी नहीं मिलने की हूक। फिर संयुक्त मोर्चे का सवाल ही कहाँ ? अब तो हमारे नेता जनता से ही नहीं, किसानों और मजदूरों से भी डरने लगे हैं। ये लोग जग जो गए हैं !"

अहिंसा और असहयोग : स्वामीजी स्पष्ट तौर पर अहिंसा और असहयोग से सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक क्रांति की सफलता पर विश्वास नहीं करते और तर्क देते हैं :[42]

"अहिंसा के साथ कामधाम इन्कार कर देने और असहयोग कर देने मात्र से

ही काम नहीं चलता। किन्तु विरोधियों पर जरा भी विश्वास न करके तथा उन पर रत्ती भर दया न दर्शा के निर्दयता से उन्हें कुचलना पड़ता है। सेना के एक भाग का नेतृत्व करके दूसरे भाग को हटाना और पीछे जब कभी पूँजीवादी या उनके साथी सर उठाये तो उन्हें मसल देना जरूरी होता है। जनता में जो दया और चट-पट विश्वास कर लेने की आदत है उससे सजग होके बेरहमी और बेलिहाज से शत्रुओं का घोर दमन अनिवार्य होता है। सर्वहारा के एकतन्त्र का यही रहस्य है, यही मतलब है। यह कोई स्वेच्छाचारी व्यक्ति या गुट्ट का शासन नहीं होता। उसकी निरंकुशता तथा एकतंत्रता विरोधियों के निर्दय दमन तक ही सीमित होती है, सिर्फ उसी काम के लिए होती है।"

इस सन्दर्भ में स्वामीजी निम्नलिखित तथ्यों को ध्यान में रखने की जरूरत को महसूस करते हैं :[43]

"क्या ये न्यायाधीश ज्यादातर अमीर और मालदार घराने के ही नहीं होते ? या मालदारों के सम्बन्धी या जीहुजूर श्रेणी के ही नहीं होते ? क्या मालदार लोग का अफसरों और हाकिमों पर रुपये पैसे आदि का जादू तरह-तरह से काम नहीं करता ? यदि और नहीं हुआ तो क्या अखबारों के जरिए जो अधिकांश मालदारों के ही हाथ के नीचे होते हैं, न्यायप्रिय हाकिमों और न्यायाधीशों के विरूद्ध झूठे और गन्दे प्रचार करके उन्हें विवश नहीं किया जाता ?

"सबसे बड़ी बात तो यह है कि अंट-संट प्रचार करके लोगों को धोके में डालना और ऐन मौके पर कोई झूठी सनसनीदार खबर निकाल के उन्हें अपने अनुकूल बना लेना तो मालदारों की आम बात है। सिनेमा, थिएटर, नाटक, व्याख्यान नोटिस, किताबों आदि के जरिए और आखिर में शोषितों के प्रभावशाली लोगों को तरह तरह से मिला के मालदार लोग लोकमत अपने अनुकूल बनाई लेते हैं। रुपये के बल से हजारों लेक्चरबाज भेज के लोगों का दिमाग फेर डालते हैं।

"लोकमतमूलक प्रजातंत्र प्रणाली सिर्फ पूँजीवादी शासन के ही भीतर होती है और पूँजीवादी प्रणाली के हटने से पूर्व सबसे उत्तम प्रणाली श्रमजीवियों के लिए मानी जा सकती है। सरकार जब कभी होगी तो सभी लोगों की होगी ही नहीं और न स्वतन्त्र होगी। क्योंकि सरकार का काम ही है एक वर्ग का दमन करना। गुलामों को स्वतन्त्रता कहाँ ? और जब वेतन के लिए पूंजीवादियों के अधीन होना पड़ता है तो यह गुलामी नहीं तो और क्या है ?"

इसी पृष्ठभूमि में स्वामीजी ने वामपक्षी संयुक्त मोर्चे के घोर पक्षधर होते हुए भी उसके खतरनाक पहलू को ध्यान में रखने पर बल दिया है। उनका निम्नलिखित मन्तव्य प्रासंगिक है .[44]

"आमतौर से हड़ताल, प्रदर्शन वगैरह का रोका जाना तो खतरनाक है, बुरा है। हाँ, छोटे-मोटे और मध्यम दर्जे के कल कारखानेदारों के खिलाफ यह काम रोका जा सकता है, बशर्ते कि वह हमारी लड़ाई में साथ देने को राजी हों लेकिन यदि उनसे या उनमें जिससे यह आशा न हो उसके साथ कोई रियायत नहीं होनी चाहिए। बड़े-बड़े कारखाने वालों और साम्राज्यवादियों के साथ तो किसी भी हालत में भी कोई रिआयत की जा सकती नहीं। उनसे तो लड़ना ही होगा।

"जबतक, वामपक्ष की सारी शक्तियाँ सम्मिलित न हों, जबतक पहले उन्हीं का संयुक्त मोर्चा न बन जाय और जबतक किसान, मजदूर आदि पीड़ितों का संयुक्त मोर्चा कायम न हो जाय, तबतक बांकियों के साथ—पूँजीपतियों और दूसरे मध्यम-वर्गीय के साथ—संयुक्त मोर्चा हो ही नहीं सकता, और कहने के लिए अगर बन भी जाय तो क्रांति की दृष्टि से उसका कोई मतलब नहीं हो सकता।····कारण, मालदार और उसके दोस्त वामपक्षियों में ही किसी न किसी को अपनी ओर मिला के वे शर्तें तोड़ भी देंगे और हमें चूँ तक करने भी न देंगे। हमीं में एक दूसरे को आपस में ही लड़ाके वे अपना उल्लू सीधा कर लेंगे और उस संयुक्त मोर्चे से सिर्फ अपना ही फायदा उठाएंगे। इसीलिए पहले शोषितों और पीड़ितों का संयुक्त मोर्चा अनिवार्य है और अगर यह नहीं होता तो पूँजीवादियों के साथ संयुक्त मोर्चे की चर्चा भी बेकार है। मगर अफसोस यही है कि हमारे देश में उलटी गंगा बह रही है। वामपक्षियों की तो एकता है नहीं और उसकी कोशिश भी अगर होती है, तो कुछ लोग तरह-तरह के अड़ंगे लगाते हैं। फिर भी पूँजीवादियों और उनके दोस्तों से संयुक्त मोर्चे की दिन-रात (शोर) वही सबसे ज्यादा मचाते रहते हैं। पहले तो मजदूरों या शोषितों का ही बनाना होगा और उसके बाद ही बांकियों के साथ भी मौके के मुताबिक करना होगा। पहली बात होने पर दूसरे लोग खामखा जरूरत देख के खिंच आयेंगे। क्योंकि ताकत देख के सभी झुकते हैं।

"····चीन में वामपक्षियों के भीतर ही—सबसे पहले तो उनसे शहरों के निम्न मध्यम श्रेणीवाले, पढ़े-लिखे तथा लोकतंत्रवादी हट गए और इस तरह वाम-पक्षीय संयुक्त मोर्चे के भंग होते ही दक्षिणपक्षी उन पर टूट पड़े।····जरा भी गड़बड़ी होते ही निम्न मध्यम श्रेणी वाले घबड़ा के पूँजीपतियों से जा मिलते हैं।

"सभी वामपक्षों की एकता का मूल कारण उनके स्वार्थों का ऐक्य बताया है और यह कहा गया गया है विदेशी साम्राज्यवाद के विरुद्ध आजादी की क्रान्ति-कारी लड़ाई और फौजी शासन तथा सामन्तशाही एवं जमींदारी का क्रांतिकारी ढंग से खात्मा और सबसे अन्त में क्रांतिकारी संयुक्त राष्ट्रीय सरकार की स्थापना। यही ठीक भी है। जो ऐसा दिल से चाहे वही तो वामपक्षीय हो सकते हैं। जो इनमें एक भी नहीं चाहता है वह वामपक्षी तो है नहीं। है वह दक्षिणपंथी और वह पीछे से इस संयुक्त मोर्चे में मजबूरन ही खींचा जा सकता है जबकि अकेला पड़ जाय। भारत में तो हम ऐसा कर नहीं सके हैं।"

भारत की यथार्थ स्थिति पर प्रकाश डालते हुए स्वामीजी ने इस सन्दर्भ में निम्नलिखित वस्तुस्थिति की ओर ध्यान आकृष्ट किया :[45]

"हमारे यहाँ के पूँजीवादी दो नावों पर चढ़े हुए हैं। एक ओर तो ब्रिटिश साम्राज्यशाही से शासन सूत्र छीनना चाहते हैं और दूसरी ओर उसमें सफलता के लिए जिस सीधी लड़ाई की जरूरत है उससे डरते हैं। क्योंकि लड़ेगी तो जनता और अगर वह साम्राज्यशाही के साथ ही उन्हें भी उठा के फेंके तो ? इसीलिए तो वे लड़ने में आगा पीछा करते हैं। मगर उसके बिना काम भी तो नहीं चलता। इसीलिए थोड़ी सी लड़ाई के बाद हिंसा वगैरह के बहाने से उसे रोक के सरकार

से सौदा करते हैं। अगर सौदा नहीं पटा तो फिर लड़ते हैं, मगर डरते-डरते। फलतः ज्योंही गलत सही अंदाज भी लगा कि सरकार झुक रही है कि बीच में ही लड़ाई बन्द कर देते हैं। इसके लिए बहाने तो हजारों हैं। जनता की थकावट, उसे आराम पहुँचाने का सवाल, रचनात्मक कार्य वगैरह के हजारों बहाने ढूँढ़ निकाले जाते हैं। हालांकि थकावट उन्हीं को है, आराम वे खुद चाहते हैं, रचनात्मक काम तो युद्ध की मनोवृत्ति को जनता के भीतर से मिटाने और उसका ध्यान दूसरी ओर करने का एक नया बहाना निकाला गया है। हितों की तो बात ही मत पूछिए। करबन्दी को भी रोका जाता है अहिंसा के ही नाम पर। हालांकि करबन्दी में हिंसा की गन्ध भी नहीं है।

"राष्ट्रीय आजादी के युद्ध का नेतृत्व आज जिनके हाथों में है वे जाने या अनजाने पूँजीवादी स्वार्थ के ही समर्थक हैं—यह नेतृत्व आज पूँजीपतियों के ही हाथों में है। यह ठीक है कि वे पर्दे के भीतर हैं और सामने ऐसे लोगों को उनने रख छोड़ा है जो जनता के लिए मसीहा बनने का दावा करते हैं। खुद सामने नहीं आते। क्योंकि तब तो न सिर्फ शोषित जनता, किन्तु निम्न मध्यमवर्गीय बाबू लोग भी जिनका बहुमत आज कांग्रेस में है, भड़क उठेंगे और सारा गुड़ गोबर हो जायगा। इसीलिए वे पर्दे के पीछे से कठपुतली नचा रहे हैं....हमारे लिए खतरा भी इसीलिए बढ़ गया है और हमारी लड़ाई कठिन और पेंचीदी भी इसलिए बन गई है।

"अब हालत यही है कि किसानों और मजदूरों के बढ़ते आंदोलन तथा विद्यार्थियों की फैलती उत्तेजना देख के वे घबराते हैं और डर से आगा पीछा करते हैं—हजार बहानेबाजी से व्यापक जनसंघर्ष को रोकते हैं। लेकिन साम्राज्यवाद के हाथ से शासन छिन भी तो नहीं सकता जब तक जन-संघर्ष न हो। इसीलिए दुविधे में वे पड़े हैं।"

साम्यवादियों को सलाह : इसी सामाजिक पृष्ठभूमि में स्वामीजी साम्यवादियों को निम्नलिखित सलाह देते हैं :46

"कम्युनिस्टों को तो मन्त्रिमंडल बनाना न था। जबतक अपने मन का शासन चलाने का पूरा-पूरा अधिकार न मिले तबतक मन्त्री पद स्वीकार करना जनता को धोका देना है और पारलियामेन्टरी ढंग से वह पूरा अधिकार मिल सकता ही नहीं। पुरानी पुलिस, नौकरशाही तो पूँजीवादी ढंग की ही होती है और वह कायम रहती है, चाहे मन्त्रिमंडल भले ही बदल जाय। फलतः वह तो अपने मन का ही करती है और अगर नए मन्त्रिमंडल ने कुछ गड़बड़ी की तो उसकी बातें न मान के बगावत कर देती है। स्पेन में यही हुआ है। दूसरे देशों में यही होता है। इसीलिए कम्युनिस्ट लोग मन्त्रिमंडल बनाने की भारी भूल कर नहीं सकते जबतक सर्वहारा लोग की क्रान्ति सफल न हो। वे तो चाहते हैं कि उनके सिर्फ एक, दो, चार सदस्य पार्लियामेन्ट या एसेम्बली में जायँ और अपना मन्तव्य वहाँ साफ-साफ सुना दें। वहाँ से उनकी बातें सारी दुनिया के कोने-कोने आसानी से पहुँच सकती है, यही कायदा है। जब अवसरवादी मजदूर दली नेता वहाँ अपनी सरकार कायम करने के बाद गड़बड़ करेंगे तो उसका भंडाफोड़ भी कम्युनिस्ट सदस्य आसानी से बखूबी कर सकेंगे।"

वामपंथ की नादानी और नासमझी पर तरस खाते हुए स्वामीजी ने आश्चर्य व्यक्त किया[47] कि अधिकांश लोग क्रांति और संयुक्त मोर्चे का अर्थ तक नहीं समझते । इस सन्दर्भ में उन्होंने लिखा, "भारत की आजादी की चर्चा के साथ ही क्रान्ति और संयुक्त मोर्चे की बात भी आज हवा में फैल रही है । खासकर जो लोग अपने आपको वामपक्षी कहते हैं । उनकी तो जबान पर हम इन दो शब्दों को बराबर ही पाते हैं; चाहे उनमें शायद ही कोई इनका अर्थ ठीक-ठीक समझता हो ।........क्रांति की रट लगानेवाले बहुतेरे तो ऐसे हैं जो इसे सुलभ और सुगम वस्तु समझते हैं ।....उनकी समझ से, एक ऐसी भी स्थिति आएगी जब क्रांति खुद हमारे चरण चूमेगी ।

"संयुक्त मोर्चे की भी कम फजीहत नहीं की गई है । मुझे ताज्जुब हुआ है यह जानकर कि क्रांतिकारी कहे जाने वाले नेताओं के हाथों भी यह दुर्दशा की गई है । संयुक्त मोर्चे का यह अर्थ मेरी समझ में कभी नहीं आया है कि राष्ट्रीय कांग्रेस में विभिन्न विचारों के जितने दल हैं उनका वहाँ संयुक्त मोर्चा—यह कहीं देखा कि एक दल बहुमत में हो और बाकियों पर अपनी मनमानी शर्तें लादता रहे । फिर भी हम उसे ही संयुक्त मोर्चा कहते जायँ ।

"....फागुन के महीने में जैसे छोटे-छोटे बच्चे बकते रहने पर भी उसका मतलब कुछ समझते ही नहीं । वह तो उनके लिए निरी दिल बहलाव की चीज होती है । ठीक वैसे ही क्रांति, बुर्जुवा क्रान्ति, प्रोलतारियन क्रान्ति, डेमोक्रेटिक क्रान्ति आदि शब्दों का प्रयोग आज अक्सर पाया जाता है ।"

क्या ऐसी स्थिति में मध्यमवर्गीय तथा कथित प्रगतिशील वामपक्षी इतिहासकार से स्वामीजी के सिद्धांत का वस्तुगत विश्लेषण सम्भव है ?

कांग्रेस : स्वामीजी का यह विचार हमें उनके कांग्रेस के सम्बन्ध में दृष्टिकोण जानने को मजबूर करता है जिससे राजसत्ता में लगातार आसीन कांग्रेस प्रशासक और कांग्रेसियों के चरित्र को जाना जा सके तथा इसका भी मूल्यांकन किया जा सके कि इस तरह के विषय के ऐतिहासिक विश्लेषण में उनकी वस्तुपरकता क्यों संदिग्ध हो जाती है ? स्वामीजी खुद कांग्रेसी थे, किन्तु उन्हें कांग्रेस से घोर निराशा हुई थी । उनका मत है कि कांग्रेस कभी भी असली संयुक्त मोर्चा बना कर देश को किसान-मजदूर क्रांति की ओर नहीं ले जा सकती । उसका वर्ग स्वार्थ और नेतृत्व ठीक विपरीत है । उसका विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए स्वामीजी ने निम्नलिखित तस्वीरें खींचीं :[48]

"कांग्रेस और उसके नेतृत्व ने राष्ट्रीय संग्राम का मोर्चा काफी विस्तृत किया है सही और यह इसीलिए हो सका है कि जनता की बातें और उसके स्वार्थों का प्रतिबिम्ब कांग्रेस में दीखा है, जनता —किसान मजदूर वगैरह-का लड़ाई शुरू कराई गई है, उसे प्रोत्साहन दिया गया है और उस लड़ाई का रूप बहुत कुछ क्रांतिकारी रहा है । लेकिन इतने से राष्ट्र का पूरा संयुक्त मोर्चा नहीं बन सका । वह विस्तृत मोर्चा सभी शोषितों और पीड़ितों का सच्चा संयुक्त मोर्चा बने इसके लिए और इस बात के लिए भी कि विराट जनसमूह ऐक्य सूत्र में बांध के संगठित किया जाय और सफलता के साथ आजादी की लड़ाई में उसे भिड़ाया जाय, कांग्रेस को और

भी आगे बढ़ना होगा, किसान-मजदूर-संगठनों को अपनी सीधी लड़ाई के लिए अधिकाधिक प्रोत्साहित करना होगा, कांग्रेस के प्रोग्राम में किसान मजदूर आदि शोषित जनता के स्वार्थ और उनकी मांगे अच्छी तरह आ जायँ, उन्हीं के आधार पर वह प्रोग्राम बने····संयुक्त मोर्चे की यह कम से कम शर्तें हैं, यदि हम उसे वास्तविक बनाना तथा सच्ची स्वतन्त्रता—पूर्ण स्वराज्य—प्राप्त करना चाहते हैं। केवल मोर्चे को लम्बा और विस्तृत करने से काम नहीं चलेगा यदि उनका नेतृत्व भी ठीक ठीक किया जा न सके।

"मगर क्या कांग्रेस यह काम कर रही है ? क्या वह यह काम कर सकती है ? वह तो उल्टी बात कर रही है। किसानों और मजदूरों की सीधी लड़ाइयों को उसने बन्द कर दिया है और जो ऐसा करते हैं उन्हें कांग्रेस में जगह हुई नहीं। उन पर अनुशासन की कार्यवाही की जाने लगी है। वे मुल्क के बागी और कांग्रेस के शत्रु करार दिए जाने लगे हैं। मालूम होता है, उसे अपनी ही परछाई से डर लगने लगा है। कांग्रेस ने जो ताकत पैदा की, उसकी लड़ाई के चलते जो ताकतें ऊपर आईं उन्हीं से अब उसे भय होने लगा है। उसे अपने ही किए पर पश्चाताप होने लगा है। कांग्रेस का मध्यमवर्गी और पूँजीवादी नेतृत्व अब जनता की लड़ाई की प्रगति को रोकने लगा है··· उसीके साथ-साथ साम्राज्यवादी प्रभाव को इस देश में बढ़ाने का जरिया खुद बन रहा है····एक तो जमीन्दारों और पूँजीपतियों के स्वार्थ एक दूसरे के गुथे हैं। दूसरे उन्हें यह भय है कि कहीं ऐसी शक्तियाँ जग न जाय जो पूँजीवाद, तनमूलक शोषण या व्यक्तिगत सम्पति का ही इस मुल्क से बहा ले जायँ—मिटा दें। ऐसी दशा में संयुक्त मोर्चे का सवाल ही कहाँ उठता है····उसको समाजवादी विचारों और मजदूर वर्ग का नेतृत्व चाहिए, जिसमें किसान पूरा-पूरा हाथ बटाते हों, मगर यहाँ तो कांग्रेस के मध्यमवर्गीय नेता अपना नेतृत्व अक्षुण्ण रखने पर तुले बैठे हैं। फिर संयुक्त मोर्चे की आशा ही क्यों कर करते हो ? हम इस मृगमरीचिका के पीछे मरे क्यों ? वे आज भी सोचते हैं कि कांग्रेस पर कभी भी किसान और मजदूरों का नेतृत्व होई नहीं। गोया मुल्क में बहुमत जमीन्दार, मालदारों और उनके दोस्तों का ही है। किसान सभा और मजदूर सभा का प्रभुत्व कांग्रेस में रोकना था और है···यही सभाएँ सचमुच किसान-मजदूरों का प्रतिनिधित्व करती हैं, कर सकती है। इसीजिए वे डरते हैं और कांग्रेस में चवनिया मेम्बरों का नकली प्रतिनिधित्व बराबर कायम रखना चाहते हैं।····कांग्रेस का नेतृत्व न तो किसान क्रांति का समर्थन करेगा और न संयुक्त मोर्चा बनाएगा।····यहाँ (चीन) तो राष्ट्रीय सरकार के कायम रखने और साम्राज्यवाद पर विजय पाने के लिए भी किसान क्रान्ति पर जोर देना और उसे ही अपनाना जरूरी माना गया है। यदि कांग्रेसी लोग भी ऐसा ही करते तो संयुक्त मोर्चे की बात का कुछ मतलब समझ में आता। हालांकि फिर भी यह खतरा तो रही जाता कि नेतृत्व मध्यमवर्गीय का ही होगा और वे मौके पर आगे धोखा दे सकेंगे। मगर यहाँ तो उतना भी नहीं किया गया।"

इस प्रसंग में स्वामीजी स्मरण दिलाते हैं कि कांग्रेस और उसके नेतृत्व की बनावट ऐसी है कि उसका लक्ष्य पूँजीवादी क्रांति से आगे हो नहीं सकता। उन्होंने लिखा है :[49]

"आखिर पूँजीवादी क्रांति की लड़ाई में तो पूँजीवादी भी भाग लेते ही हैं और निम्नमध्यम वर्ग के बाबू लोग भी, किसान भी—सभी तरह के धनी-गरीब- उसमें शामिल होते हैं....हमेशा तो कमेटियों के द्वारा ही यह काम होता है और इनमें जो लोग चुने जाते हैं वह सबों की राय से। किसी एक श्रेणी या वर्ग की न तो वे कमेटियाँ ही बनती हैं और न खास श्रेणी के लोग उस काम में राय देते हैं कि कमेटी में कौन रखे जायँ, कौन नहीं। वह तो क्रांति के लिए लड़ने वाले सभी वर्गों की सम्मिलित सम्मति से बनती है। हमारे देश में कांग्रेस को ही ले सकते हैं। जब वह आजादी के लिए लड़ने वाली मानी जाती है तब तो कहना ही होगा कि बूर्ज्वा क्रांति ही उसका लक्ष्य हैं मगर उसकी कमेटियाँ सभी वर्गों के मेम्बरों की राय से ही बनी मानी जाती है।"

क्या कांग्रेस के इस वर्ग-चरित्र और उसके प्रशासन से स्वामीजी के व्यक्तित्व के सच्चे मूल्यांकन के लिए वैज्ञानिक इतिहास-लेखन या इतिहासकार की मदद लेना संभव है ?

किसान : यह बहस हमें स्वामीजी के किसान के वर्ग-चित्रण तक पहुँचाता है जिसके वे पूज्य महान नेता माने जाते रहे हैं। किसान वर्ग को स्वामीजी "निम्न मध्यमवर्ग के ही स्वाभावतः प्रतिगामी तथा दकियानूस" मानते हैं।[50] मार्क्स द्वारा समर्थित स्वामीजी का यह मत कुछ और विस्तार में निम्नलिखित है :[51]

"मार्क्स का किसान चित्रण है तो उन्नीसवीं सदी के मध्य में रहने वाले फ्रांसीसी किसानों का। मगर अधिकांश में उन सभी किसानों पर लागू होता है जो पिछड़े हुए मुल्कों में रहते हैं, जहाँ पूँजीवादी ढंग से खेती नहीं होती। भारत के किसानों में अधिकांश की मनोवृत्ति, उनकी रहन-सहन, उनकी विचारधारा ऐसी ही होती है। ....मार्क्स ने खुद इसी चित्रण के बाद ही लिखा है कि जागृत और समझदार किसानों की मनोवृत्ति क्रांतिकारी होती है। मगर वे अपवाद हैं। सामान्यतः यह वर्ग प्रतिगामी और दकियानूस होता है।"

फिर भी क्रांति की सफलता और उसकी उपलब्धियों को सुदृढ़ बनाने के लिए स्वामीजी ने अनेक सुझाव दिये हैं जिनमें मजदूर किसान एकता को प्रमुखता दी गई है। उनका निम्नलिखित सुझाव महत्वपूर्ण है :[52]

"क्रांति की सफलता होते ही और सर्वहारा के हाथ में शासनसूत्र आते ही सबसे पहला काम होगा कि किसानों को इस बात की पूर्ण आजादी हो कि वे जमींदारियों को मिटा के जमीनें बाँट लें। जिनके पास पहले ही से ही जमीनें हों उनका तो कहना ही नहीं। इस तरह मुल्क में अधिकांश किसान मध्यमवर्गीय हो जायेंगे, जिनके पास इतनी जमीनें होंगी कि अपनी गुजर खेती-बारी के जरिए कर सके। साम्यवाद के नाम पर ऐसा न होगा कि सभी की जमीनें राष्ट्र या समाज की सम्पत्ति बना दी जायगी। ऐसा होने पर तो महान् विस्फोट होगा और प्रलय मच जायगी। तब तो किसान ही क्रांति विरोधी बन के मालदार जमींदारों से जा मिलेंगे और तख्त ही उलट देंगे। साधारण किसानों के साथ ऐसा करना आग से खेलने के बराबर ही होगा। इसलिए नौसिख और अपरिपक्व साम्यवादी की तरह का काम कोई भी समझदार नहीं करेगा।

"मगर किसानों को साम्यवाद की ओर लाने का सुन्दर यत्न किया जायगा और वह ऐसा होगा कि उन्हें विज्ञप्तियों, पुस्तकों, समाचारपत्रों, व्याख्यानों, नाटकों, सिनेमाओं आदि के द्वारा सहयोगमूलक खेती का लाभ समझाया जायगा। बहुत से किसान अपनी-अपनी जमीनों को एक में मिला के लम्बे खेत में वैज्ञानिक ढंग से खेती करे यह बात उन्हें वखूबी समझाई जायगी, ताकि उनके दिल दिमाग में घुस जाय···· जमींदारों से छीनी गई जमीन किसानों को देने के साथ उनकी जिरात और खुदकाश्त की जमीनों को—लम्वे-लम्वे खेतों को—वह सरकार अपने ही पास रखके उसमें वैज्ञानिक ढंग से आधुनिक खेती कराए। जब छोटे-छोटे किसानों को नमूने के तौर पर ऐसी खेती दिखाई जायगी तभी उसका फायदा वे लोग वखूबी समझ पाएँगे। किसान उस तरफ आसानी से खिंच आयेंगे।····वैज्ञानिक खेती के लिए सरकार की तरफ से सार्वजनिक कोष से ही उनकी सहायता की जानी चाहिए···· ट्रैक्टर, खाद, अच्छे बीज.... इसके करते जब किसान समूह इसमें खिंच जायगा तो साम्यवाद का काम बहुत ही सरल हो जायगा। इतना कर लेने पर अधिकांश किसान खुद-ब-खुद समिलित खेती में शरीक हो जायेंगे।

"हाँ, हो सकता है कि कुछ पूँजीपतियों और मालदारों के दलाल एवं कुलक वगैरह इसमें बाधा डाले और किसानों को उलटा फुसलावे। उनकी बातों में पड़के कुछ भोले-भाले लोग शायद बहक भी जायँ। ऐसे ही लोगों के लिए सम्भवतः बल प्रयोग और कानून की जरूरत होगी। वे तो मुट्ठी भर ही होंगे, जैसे दाल में नमक। इसलिए उनके खिलाफ कानूनी कार्यवाही और बल प्रयोग करने में भी कोई हर्ज नहीं। एंगेल्स ने या लेनिन ने भी तो यही कहा है कि बल प्रयोग अन्त में किया जाना चाहिए यदि वह अनिवार्य हो। सो भी थोड़े से ही लोगों के सम्बन्ध में, न कि अधिकांश के बारे में।"

इसलिए स्वामीजी ने अंत में स्पष्ट कर दिया है कि "भारत जैसे देशों में तो रूस के ही किसानों की तरह जमीन का प्रेम किसानों में बहुत ही ज्यादा है और ये लोग उन्हीं की तरह उस अर्थ में दल के दल (Regimented) हैं। ये जमीनों के दाम पर टूट पड़ते हैं। इसीलिए वैसा ही तरीका यहाँ भी काम में लाया जाना जरूरी है।" इस क्रम में स्वामीजी फ्रांस के अनुभव से निराश होने के बजाय उत्साहित होने की सलाह देते हैं। उनका निम्नलिखित तक मार्क्स और एंगेल्स के ऐतिहासिक अनुभव पर आधारित है:[53]

"साम्यवाद के निर्माण में गरीब और मध्यम श्रेणी के किसान ही सहायक होते हैं, न कि धनी किसान। वे तो पूँजीवादी प्रणाली चाहते हैं। इसलिए हमें मध्यम तथा गरीब किसान वर्ग का स्वागत करने के बजाय उनसे घबड़ाने की जरूरत नहीं। असल में फ्रांस की पहली क्रांति के बाद मध्यम किसानों की तादाद बढ़ जाने के कारण वहाँ जो गड़बड़ी हुई थी उसी का ख्याल करके क्रांतिकारी लोग अन्य मध्यम श्रेणी की ही तरह मध्यम श्रेणी के किसानों से भी डरते रहे हैं।···· जमीन तो रूस में भी किसानों को दी गई थी। फिर भी वहाँ पूँजीवाद के प्रसार के बदले उन्हीं किसानों ने साम्यवाद का प्रचार किया। क्योंकि वहाँ उनका नेतृत्व ठीक लोगों—सर्वहारा वर्ग के हाथ में था। फ्रांस में यही बात न होने से गड़बड़ी मची। क्योंकि वहां का नेतृत्व पूँजीवादियों और इनके दोस्तों के हाथ में था। इसीलिए

पूँजीवादी क्रांति के बाद ही क्रांति का प्रवाह, प्रसार रुक गया। वह आगे न बढ़ सकी। रूस में तो क्रांति का प्रवाह चालू रहा और सर्वहारा क्रांति को पूरा करके ही रुका। इसीलिए कोई भी दिक्कत नहीं हुई। क्रांति का प्रवाह गंगा की धारा की तरह अगर निरन्तर जारी रहे तो वह निर्मल बनी रहती है। प्रवाह रुक जाने पर भी उसमें गन्दगी आ जाती है।"

स्पष्ट है कि स्वामीजी जमीन पर किसानों के आधिपत्य को बराबर के लिए नहीं कबूल करते हैं, वे इसे एक अस्थायी व्यवस्था के रूप में स्वीकार करते हैं। किसानों पर अधिक बल देने का कारण यह है कि स्वामीजी मजदूर क्रांति की सफलता में किसान वर्ग को अत्यधिक विश्वसनीय और टिकाऊ अंग मानते हैं। फलस्वरूप उन्हें अनेक सहूलियतें देने के वे पक्षधर हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में स्वामीजी ने इसे और स्पष्ट किया है :[54]

"लेनिन के कथन का साफ अर्थ यही है कि दरअसल किसान वर्ग क्रांतिकारी नहीं है। वह तो जमीन का भूखा है। उसे तो जमीन चाहिए, जमींदारी जुल्मों से छुटकारा चाहिए, हरी, बेगारी, नजराना, गुलामी, अर्द्ध गुलामी वगैरह सामन्तयुग के अत्याचारों से मुक्ति मिलना चाहिए। उसका पहला ध्यान इन्हीं बातों की ओर जाता है। साम्यवाद, समाजवाद, व्यक्तिगत सम्पत्ति का नाश, सम्मिलित सम्पत्ति, सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण आदि बातें समझने में वह बिल्कुल ही असमर्थ होता है। इन बातों की जरूरत तो धीरे-धीरे उसे परिस्थितिवश महसूस होती है, जब नन्हें-नन्हें खेतों से उसका काम चलता नहीं दीखता, जब दिन रात भर खप के कमाने पर भी ये खेत उसका न तो पेट ही भर सकते और न उसे मकान कपड़ा और दवादारू ही दे सकते। फलतः बैंकों, कोआपरेटिव सोसाइटियों या महाजनों के यहाँ नीलाम होके चले जाते हैं। तभी उसकी आँखें खुलती हैं, तभी उसे तमाचे लगते हैं और वह घबरा के सर्वहारा का साथी बनता और सोचने लगता है कि कुछ और बात होनी चाहिए। जिन लोगों ने—पूँजीवादियों-जमींदारों की जमीन छीनकर किसानों को दी थी और इस प्रकार उन्हें जमींदारों के खिलाफ अपना साथी बनाया था, उन्हीं के शत्रु वही किसान कार्य कारणवश पीछे हो जाते हैं।"

स्वामीजी मार्क्स से साक्ष्य प्रस्तुत कर आगे पुनः लिखते हैं :[55]

"पूँजीवादी प्रणाली किसानों का शोषण करते-करते उन्हें अपना विद्रोही बना डालती है। पहले तो उनके दकियानूसी खयालों का लिहाज करते हुए उन्हें छोटे-छोटे खेत देकर अपना साथी बनाती और काम निकालती है। बड़ी-बड़ी जमींदारियों को मिटा के छोटे-छोटे खेत बनाने में भी उसकी अपनी गर्ज होती है। शुरू में जमींदारों से अपनी रक्षा वही इस प्रकार कर सकती है। मगर मजबूत हो जाने पर जब छोटे-छोटे किसानों की जरूरत नहीं रह जाती, बल्कि उनके मिट जाने में ही उसका फायदा होता है, तो बेमुरव्वती से उनका शोषण करती है और इस प्रकार उन्हें अपना घोर शत्रु बना डालती है। तभी वे क्रांतिकारी मजदूरों का खुलकर साथ देते हैं। पूँजीवाद की भी यह मजदूरी है। पहले तो वह पादरियों और पण्डा-पुरोहितों को, मौलवियों को, उनके पास भेज-भेज के लेक्चर दिलवाते हैं कि भगवान की कृपा से आपको खेत मिले हैं, आदि-आदि। मगर जब पीछे शोषण का चक्र

चलने पर जमीनें बन्धक हो जाती हैं····किसान भूखों मरने लगते हैं तब हवा पलट जाती है। उस समय जब वही पादरी, पुरोहित किसानों को समझाने की कोशिश करते हैं कि सन्तोष करो, खेत गए, भगवान तो मिलेंगे ही, तो वे किसान इन्हें गर्दनियां देते और नास्तिक बन जाते हैं।"

धर्म : स्वामीजी पर जाति और धर्म के पूर्वाग्रह से ग्रस्त होने का अभियोग लगाया जाता है किन्तु असलियत यह है कि वे धर्म और जाति को शोषकों के पक्ष में आग्नेय अस्त्र मानते हैं, जैसा कि उनके निम्नलिखित वक्तव्य से स्पष्ट है :[56]

"बकरी और बाघ की लड़ाई व्यक्तिगत नहीं है। चूहे और बिल्ली की भी यही बात है। जमींदार और किसान तथा पूँजीपति और मजदूर निजी तौर पर हर्गिज नहीं लड़ते। जमींदार की बात सुनते ही हजार कोस दूर का जमींदार व्यक्तिगत फायदा नुकसान न होने पर भी उसीके पक्ष का समर्थन करता है। यही बात पूँजीपतियों की भी है। जाति, धर्म सम्प्रदाय, देश आदि किसी बात की पर्वा न करके शोषक-शोषक मिल जाते और एक ही आवाज, हुआ में हुआ, जाहिर करते हैं। खूबी केवल इतनी ही है कि ये अपनी लड़ाई को राष्ट्रीयता, धर्म, देश और सार्वजनिक कल्याण का नकली जामा पहनाते और इसमें अधिकांश सफल होते भी हैं। इसीलिए तो यह लड़ाई अप्रकट हो जाती है। मगर इसके चलते ज्यादा खतरनाक बन जाती है। क्योंकि शोषित लोग अपने भोलेपन के चलते धोका जो खा जाते हैं। ····बूर्ज्वा वर्ग ने इस वर्ग संघर्ष को अत्यन्त विकसित कर दिया है···· साफ और आसान बना दिया। धर्म और जाति पांति का बुर्का उस चीज पर से उसने उतार फेंका और उसे सीधा आर्थिक जामा पहना दिया।"

नौकरशाही : नौकरशाही वर्ग मध्यमवर्ग के होते हैं और शोषण के जबर्दस्त वाहन हैं। इतिहास-लेखन की योजना की तिकड़म में उनका प्रबल हाथ होता है। स्वामीजी द्वारा चित्रित इस वर्ग का चित्र अत्यधिक उपयोगी है :[57]

"पूँजीवादी सरकार में वेतनभोगी फौज और पुलिस जनता से अलग रहती है जो मौके पर शोषकों की आज्ञा से जनता की छाती पर जा बैठती है। हाकिम हुक्काम का वेतन बहुत ज्यादा होता है। जनता जब चाहे उन्हें हटा तो सकती ही नहीं। सब बातें जनता को दबाने के लिए जरूरी है।····इसीलिए स्वतन्त्र रूप में हाकिम-हुक्काम रखे जाते हैं। जनता इधर भूकों मरती है उधर उन्हें इतनी तनखाह मिलती है कि उनके घर घी के चिराग जलते और तवायफें नाचती हैं। एंगेल्स ने और भी सफाई से लिखा है कि "सरकारी अफसरों के हाथ में फौज और पुलिस हो जाने तथा कर वसूलने का अधिकार आ जाने पर वे लोग समाज के ही एक हिस्से के ऊपर जा बैठते हैं।····सरकार तो मालदारों की संस्था है जो भुक्खड़ों से उनकी हिफाजत करती है। सरकार और कुछ नहीं है सिवाय सम्पति वाले जमींदारों और पूँजीपतियों के वर्गों की एक सम्मिलित और सुसंगठित ताकत के। इसका काम है शोषितों, किसानों, मजदूर दलों को दबाना।"

स्वामीजी की मान्यता है कि वर्ग-संघर्ष की जरूरत भी इसलिए है कि माँ-बाप सरकार का पर्दाफास हो जाय, न्याय की दुहाई देने वाली सरकार की कलई खुल जाय और किसान तथा मजदूर उसका नंगा रूप देख लें—गधे की खाल में

छिपे बाघ का खूनी पंजा पहचान के सजग हो जायँ। ज्योंही किसान बकाश्त जमीन की लड़ाई, मजदूर वेतन बढ़ाने, काम का घण्टा कम करने या छुट्टी के लिए मिल-मालिकों के सामने डंटने का ख्याल करें तो पुलिस की लाठी, गोली और हथकड़ी आ धमकती है। इसका पता लग जाता है कि सरकार, कानून या कानूनी तरीकों से वे कोई आशा कर नहीं सकते। ये सभी तीनों ही—बेगाने जो हैं।....पढ़े-लिखे लोग, वकील, प्रोफेसर, पंडित, मौलवी, पादरी, पत्र-पत्रिकाएँ, सभाएँ, व्याख्यान और छोटे बड़े पोथी-पोथे सबके सब सरकार का असली रूप छिपाने में ही लगे रहते हैं। राजा या राष्ट्रपति देवता का ही अंश है, भगवान का अवतार है, धर्म की मूर्ति है, न्याय और अन्याय के पलड़े को ठीक रखने के लिए उसका अवतार हुआ है....परोपकारी जीव है, वे किसानों, मजदूरों और अन्य दुखियों के कष्टों से मरे जा रहे हैं, उनमें विश्वास कीजिए आदि, आदि। जनता को क्या पता कि ये सभी बगुला भगत हैं, जमीन्दारों और मालदारों के, जान में या अनजान में दलाल हैं ?"

लेनिन भी इस सच्चाई को स्वीकार करते हैं : "सभी अफसर मालदारों की जमात से ही लिये जाते हैं और सबों पर पूँजीपतियों का ही पूरा प्रभाव होता है। मन्त्री-लोग बड़े-बड़े पूँजीपतियों की दरबारी करते रहते हैं।....और अगर लोगों के हकों की रक्षा के लिए जरा भी कोशिश की तो उसे तबाह किया जाता है।"

स्वामीजी का निष्कर्ष है कि "हम ईमानदारी से शोषितों के हकों को प्राप्त करना चाहते हैं तो हमारी लड़ाई को राजनीतिक रूप मिल जायगा—हमें उसे वैसा बनाना ही पड़ेगा। न्याय, ईमानदारी, हक, सच्चाई वगैरह सभी चीजों, मालूम होता है, माल जायदाद और सम्पदा की चेरी है। जमीन्दार और कारखानेदार जो कहें वही सच। वह न्याय और ईमानदारी का पुतला माना जाता है। किसान कहीं जमीन के लिए किसी जमीन्दार से लड़ता है तो जमीन्दार कचहरी में केस करता है। वहाँ हाकिम तो जमींदार या जमीन्दारों के दोस्त और नाते रिश्तेदार आमतौर से होते हैं, पुलिस का भी यही हाल होता है। जमीन्दार का पैसा भी उस वक्त कमाल करता है। किसान को सर्वत्र अन्धेरा ही अन्धेरा नजर आता है।"[58]

ऐसी स्थिति में "सिवाय अपने ऊपर ही भरोसा करने के इसलिए मरमिट के लड़ना ही वह असली उपाय मानता है। वर्ग-संघर्ष करोड़ों लोगों को अपनी ओर खींच लाता है। यह मुर्दों में भी जीवन लाता है। बढ़ते-बढ़ते यह बड़ी से बड़ी आजादी की लड़ाई का रूप बन जाता है। शोषितों के निस्तार के लिए कोई आशा नहीं है यदि वर्ग संघर्ष को विस्तृत, दृढ़ और व्यापक बना के राजनीतिक संघर्ष न किया जाय। किसानों और मजदूरों की और बातें जमीन्दार मालदार बर्दाश्त कर सकते हैं, मगर इस वर्ग संघर्ष को वे लोग फूटी आँखों भी नहीं देख सकते।" इसलिए स्वामीजी लेनिन के इस सिद्धान्त की वकालत करते हैं कि "जब किसानों पर बेंतबाजी, सरकारी अफसरों का पतन, शहरों के सर्वसाधारण के साथ दुर्व्यवहार, अकाल-पीड़ितों के लिए आन्दोलनों पर बाधा, ज्ञान-प्रसार और सर्वसाधारण की जानकारी बढ़ानेवाले कामों की मनाही, जबर्दस्ती कर उगाहना और विद्यार्थियों एवं उदार विचार के पढ़े-लिखे के साथ फौजी सलूक आदि हो तब आम लोगों को खींचकर राजनीतिक संग्राम में लाना चाहिए।[59]

इस सन्दर्भ में स्वामीजी मजदूर वर्ग के उस हिस्से से सतर्क रहने की भी बात करते हैं जो मध्यमवर्गीय मनोवृत्ति से ग्रस्त होते हैं। उनका कहना है कि "मजदूरों की कमजोरियों को पूँजीवादी जान जाते और उन्हीं से फायदा उठाते हैं। मजदूरों के भीतर ही कुछ चलते पुर्जे को अपना दलाल बना डालते। मजदूरों में पेट्टी बूर्ज्वा या निम्न मध्यम श्रेणी की मनोवृत्ति के जो बाबू लोग हैं वह बड़े ही खतरनाक होते हैं। वही तो उन्हें फोड़ फाड़ के तीन तेरह कर देते हैं।"

उपर्युक्त अंशों में एवं इस संकलन के विभिन्न निबन्धों में समाज के विभिन्न वर्गों तथा समस्याओं यथा-पूँजीपति, सामन्त, मध्यम वर्ग, किसान, मजदूर, नौकरशाह, जाति, धर्म, क्रांति, विज्ञान, राजसत्ता, वामपंथ, कांग्रेसी के वर्ग - चरित्र आदि पर स्वामी सहजानन्द सरस्वती के विचार संक्षेप में दर्शाये गये हैं जिससे हमें उनकी विचारधारा की समीक्षा के आधार पर इस निर्णय का अवसर मिले कि कहीं उनका क्रांतिकारी और वैज्ञानिक दृष्टिकोण ही इतिहास में उनके समुचित स्थान पाने में तो बाधक नहीं हो रहा है ? स्पष्ट है कि स्वामीजी मार्क्सवादी चिन्तन से अत्यधिक प्रभावित थे। उन्होंने भारतीय सामाजिक संरचना और विकास की प्रक्रिया को उसी चश्मे से देखा और समझा। उन्होंने क्रांति और संयुक्त मोर्चा के आमुख पृष्ठ पर ही अपनी स्वीकृति के साथ मार्क्स के निम्नलिखित उद्धरण को पेश कर क्रांतिकारी चिन्तनधारा से अपने को स्पष्ट तौर पर जोड़ लिया था :

"समाज का आर्थिक ढांचा ही असली नींव है जिसके ऊपर आईन और राजनीति के महल खड़े किये जाते हैं और जिसके अनुसार ही विचारों के निश्चित सामाजिक रूप बनते हैं। संक्षेप में, उत्पादन प्रणाली ही सामाजिक, राजनीतिक और औद्योगिक जीवन के स्वरूप को आम तौर से निर्धारित करती है।"

स्वामीजी का यह दृष्टिकोण स्वभावतः पूँजीवाद और सामन्तवाद के समर्थक इतिहासकारों तथा उसी तरह की राजसत्ता के बीच उन्हें वर्ग दुश्मन बना देता है। फलतः इतिहास-लेखन में उनकी उपेक्षा उसी की एक कड़ी बन जाती है। इतना ही नहीं, अनुभव के आधार पर सम्पुष्ट मध्यवर्ग और तथाकथित प्रगतिशील इतिहासकारों के यथार्थ चरित्र का विश्लेषण जिसे मार्क्सवादी और उदारवादी दृष्टि भी स्वीकारती है, उन्हें उनकी आँखों का भी काँटा बना देता है। एक बात यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि हमने स्वामीजी की विचारधारा के निष्कर्षात्मक पहलुओं को अपनी स्वीकृति या अस्वीकृति दिए बिना उन्हें यहाँ रखा है और उनका विस्तृत विश्लेषण अन्य निबन्धों में किया ही जा चुका है।

उपेक्षा के कारण : वर्गयुक्त समाज के इतिहास-लेखन और इतिहासकारों के वर्ग-चरित्र तथा स्वामीजी के समाज के विभिन्न अंगों के प्रति दृष्टिकोण की संक्षिप्त झांकी विभिन्न अध्यायों में दिये जा चुकने के पश्चात् इतिहास-लेखन में उपेक्षा के विश्लेषण को तार्किक ढंग से रखना आसान हो गया है। यद्यपि स्वामीजी प्रारम्भ में जाति-पाँति और मजहब में अटूट विश्वास रखते थे और भूमिहार ब्राह्मण महासभा के नेता के रूप में उभरे तथा संन्यासी तक हो गये तथापि शीघ्र ही इन अंधविश्वासों से मुक्त हो इसके दुश्मन के रूप में सर्वहारा क्रांति के घोर

पक्षधर हो निकले एवं साम्राज्यवाद सामंतवाद तथा पूँजीवाद को मिटाकर किसान-मजदूर क्रान्ति के अग्रदूत बने। ऐसी क्रान्ति की सफलता के लिए हिंसा से इन्हें कोई परहेज नहीं था। इसलिए स्वामीजी के किसी भी वस्तुपरक विश्लेषण से साम्राज्यवाद, सामन्तवाद और पूँजीवाद के निहित स्वार्थ पर आघात पहुँचना लाजिमी है। चूँकि इतिहास-लेखन और इतिहासकार वर्ग-चाकर की भूमिका निभाता है इसलिए इसकी अपेक्षा करना घोर नादानी है कि सामन्तवाद, साम्राज्यवाद पूँजीवाद से प्रतिबद्ध और इतिहास-लेखन या इतिहासकार स्वामीजी की वस्तुगत तस्वीर इतिहास में खींचने में सफल हो सकेगा। वर्ग-स्वार्थ का तकाजा है कि उनके सम्बन्ध में असली तथ्यों को या तो छिपाया जाय या भ्रामक ढंग से पेश किया जाय जिससे वर्तमान और भविष्य में वर्गीय शोषणात्मक व्यवस्था अक्षुण्ण रह सके। विभिन्न खंडों में वर्णित उनकी विचारधारा और जीवन वृत्तान्त का वैज्ञानिक ऐतिहासिक मूल्यांकन वर्गयुक्त शोषणात्मक सामाजिक और आर्थिक ढाँचे की नींव को क्रांतिकारी परिवर्त्तनों की अनिवार्यता से ढाहता है, क्रांति को आहूत करता है। इसलिए इन वर्गों के समर्थक इतिहास और इतिहासकार इस देश में भी और विदेश में भी या तो उनके संबंध में असली तथ्यों को अपनी हेतु-सिद्धि के लिए बिल्कुल छिपाते हैं या भ्रामक ढंग से प्रस्तुत कर उन्हें जातीय नेता के रूप में दर्शाते हैं जिससे उनके वर्गीय स्वार्थों को कुचल कर क्रांतिकारी परिवर्तनों को रोका जा सके।

एक बात और ध्यान देने योग्य है। स्वामीजी अत्यन्त ही अनुभवी व्यक्ति थे। इसलिए उनके सिद्धान्त अनुभव और संघर्ष पर आधारित थे। इस कारण उनकी लेखनी से आई हुई चीजें संघर्षरत मानवीय समुदाय और क्रांतिकारी सामाजिक परिवर्तन को लाने वाले सेनानियों के लिए अत्यन्त ही उपयोगी अस्त्र हैं। जैसे जाति और धर्म से प्रभावित की गयी उनकी जीवन यात्रा सच्चे अनुभव के आधार पर मार्क्सवाद और क्रांति से प्रतिबद्ध होकर वैज्ञानिक चिन्तकों के लिए प्रेरणास्त्रोत बनी तथा सामाजिक परजीवियों के लिए मौत का फाँस, वैसी ही कहानी उनके लेखनों के संबंध में है।

वर्णित जीवन यात्रा के ठोस अनुभव **भूमिहार ब्राह्मण परिचय** और **ब्रह्मर्षि वंश विस्तर से किसान क्या करे** एवं **क्रांति और संयुक्त मोर्चा** तक में व्यक्तिगत जीवन की तरह जाति से क्रांति तक का बौद्धिक जीवन यात्रा की सच्ची अभिव्यक्ति है। इनके अतिरिक्त वे ब्राह्मण समाज की स्थिति, कान्यकुब्ज वंशावली, पंक्ति-पाचन-परिचय, सरयूपारी, सारस्वत, सरवरिया-ब्रह्मोपति-प्रदीप तथा अन्य दर्जनों पुस्तकों एवं योगी तथा गुरू-चेला और अन्यान्य पत्रिकाओं के लेखन और प्रकाशन से अभिन्न रुप से जुड़े थे जिसका विस्तृत वर्णन इस संकलन के पृ० सं० 27 और 36 पर दिया गया है। उनकी कृतियों में उनका असली रूप क्रांति और सामाजिक परिवर्त्तन के परिपक्व प्रहरी के रूप में निखरा है, जातीय नेता और संन्यासी के रूप में नहीं; किन्तु शोषक वर्ग. उसकी सरकार, नौकरशाह और उसके बुद्धिजीवी उनके असली रूप को छिपाकर अपने वर्ग-स्वार्थ में उन्हें जातीय नेता या संन्यासी के रूप में उछालते हैं, असली रूप में नहीं। यही स्थिति उनकी बौद्धिक ऐतिहासिक कृतियों की है।

भ्रामक रुप से अपने-अपने वर्गहित में उनकी बौद्धिक कृतियों को रखने या

उन्हें बिल्कुल छिपाने के प्रयास का पर्याप्त उदाहरण इस संकलन के विभिन्न स्थलों पर उपलब्ध हैं। स्वामीजी कांग्रेस के जाने-माने नेता थे किन्तु बुद्धिजीवी कांग्रेसी नेता और बिहार विधान परिषद के वरीय सदस्य प्रो० महाचन्द्र प्रसाद सिंह ने स्वामी सहजानंद जन्म शताब्दी समारोह समिति के समारोह सचिव के नाते उनके जीवन संबंधी प्रकाशित पुस्तिका से जाति और धर्म संबंधी उनके लेखनों को उछालते हुए वैसी सारी पुस्तकों की जानकारी छिपा ली है जो राष्ट्रीय आन्दोलन और क्रांतिकारी सामाजिक परिवर्तन का प्रेरणा-स्त्रोत रहा है। इससे भी खतरनाक दृश्य सरकारी और विदेशी प्रकाशनों का रहा है जैसा आपने इससे पहले के अध्याय और इस संकलन के कई अन्य अध्यायों में देखा है। इनकी ग्रंथ सूचियों से क्रांति और संयुक्त मोर्चा को साजिशपूर्ण ढंग से विलोपित किया गया है जबकि इस पुस्तक की महत्ता इस संकलन के अध्याय 22 और 37 से स्पष्ट है। इसके महत्व के सम्बन्ध में इसके द्वितीय संस्करण (1987) के संभवत: संपादक "चन्द्रभूषण" ने लिखा है :[60]

"भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के अन्तर्गत दो तरह की विचारधारायें थी—ऐसा प्रचार बहुत हुआ है। परन्तु भारत की मार्क्सवादी दुनिया में एक और धारा थी जो मिट्टी के सम्पर्क से, पचपच थूक के माहौल से, रजाई के चिलर और खैनी के अस्सी चुटकी नव्वे ताल के प्रभाव से, जन्मी थी, जिसके द्वारा जनता का क्षोभ, क्रोध और पराक्रम अभिव्यक्त हुआ, उस धारा की आज तक कहीं चर्चा भी नहीं की गयी है। यह पुस्तक उसी धारा को स्मरण में लाने और इस संबंध में बरती गयी "चुप्पी के षड्यन्त्र" के घेरा को तोड़ने के लिए जनता के सामने लाया जा रहा है। इस पुस्तक में कमानेवाली जनता के पसीने की महक सर्वत्र बिखरी हुई है। इस महक को गमक या धमक क्या नाम दिया जाय, इस पर घंटों बतफरोसी करनेवाले कागजी मार्क्सवादी, क्या प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं—यह जनता के लिए नजर रखने की चीज होगी"।

स्वामीजी भारत की यथार्थ आकांक्षा, देशभक्ति तथा आवश्यकता के प्रतीक थे जो स्वाभावत: किसान और मजदूर की समस्याओं से अमिट रूप से जुड़ा हुआ है। इसे सिर्फ वामपंथी विचारधारा ही नहीं कबूल करता अपितु अन्य विचारधारायें भी अपनी स्वीकृति प्रदान करती हैं।[61]

दिनकर सहित राष्ट्र के शीर्ष बुद्धिजीवी, राजनीतिज्ञ और समाजसेवी स्वामीजी को देश की अमूल्य निधि मानते रहे हैं, जिसके सार-संक्षेप अधोलिखित हैं :

हमारी डूबती नैया का है पतवार सहजानन्द,
गरीबों के लिए भगवान का अवतार सहजानन्द।....

उधर से झोपड़ों ने भूख का संदेश भेजा है,
उन्हीं के बीच का जलता हुआ अंगार सहजानन्द।...

रखेंगे शौक से इसकी तस्वीर घर-घर में—
कि आफत के समय का है हमारा यार सहजानन्द।

× × × × ×

ओ किसान के प्राण तुम युग-युग के महास्वप्न, तुम
प्रलयंकर वरदान युग की सोई एक शक्ति अब।

अंगड़ाई लेती है एक चुनौती जमीन्दार, पूँजीपति
को देती है कार्ल मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन के

तुम हे दूत महान शोषित, शासित, कुचले जग के
महाश्रेष्ठ तुम दान ओ किसान प्राण तुम युग-युग के
महास्वप्न, तुम जग विश्व के हित धूप-तपिश में

तुमने फूंक जगाये मुर्दे, मिट्टी में दी जान
जादू फेंक जगाये शोले, महामनुज के गान
चिरशोषित-चिरदलित, खेत के देवों के परित्राण

उनकी मृत्यु पर विभिन्न वर्गों के लोगों ने उनकी महानता को स्वीकारते हुए आहें भरीं—

अग्निदेव जा रहे जगत से, जलती छोड़ जवानी,
धोने जिसके चरण उठ रही गंगा बनकर खार

जिसके हुँकारों की लपटों में अबर जलता था
क्रांति देवता खुद जिसका पैगाम लिये चलता था

स्वामी जी मर गये ! —हाय होता न तनिक विश्वास
मरे किसान, मरे मजदूर, मरी जनता की आस

वही जा रहा, जो लोहू में भरता तरल अनल था
वही जा रहा, जो संस्कृति के लिए त्याग-तप-बल था

इस जग के उस पार जा रहा मानव का अधिकार
आज किसी की लाश जा रही गंगा के उस पार।

× × × ×

तुम थे किसान के गौरव,
तुम थे भारत निर्माता.......

ये कवियों की भावुक भावना नहीं थीं अपितु कठोर सत्य था जैसा कि भारतीय नेताओं के निम्नलिखित वक्तव्यों से भी स्पष्ट होगा :[62]

"स्वामीजी देश के उज्जवल रत्न थे··· वे गरीबों के हितैषी थे ··· वे भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल पथ-प्रदर्शक थे।"—पुरूषोत्तम दास टंडन।

"उनके कार्यों से ही जनता में वर्तमान चेतना आई है"—डा० राजेन्द्र प्रसाद। "मुझे स्वामीजी के निकट सम्पर्क में रहकर काम करने का और बहुत कुछ सीखने–समझने का अवसर प्राप्त हुआ था। वास्तव में किसान आन्दोलन के मोर्चे पर मैंने उनकी ही अगुआई में काम करना शुरू किया था। स्वामी जी किसान-आन्दोलन के जन्मदाता थे"—जय प्रकाश नारायण।

"महान देशभक्त"—कृष्ण मेनन।

"उनका निधन आड़े वक्त में एक महान राष्ट्रीय विपत्ति है। इसमें विशेषतया वामपंक्षों की गहरी क्षति हुई है।"—जेनरल मोहन सिंह।

आश्चर्य है कि स्वामीजी की इस महानता को कांग्रेस, जनता, सोसलिस्ट और वामपंथी तथा उनके समय के लोग स्वीकार करते तो अवश्य हैं किन्तु उनकी राजसत्ता के प्रशासक तथा उनके अनुयायी इतिहासकार-समूह ने स्वामीजी को इतिहास में उपेक्षित रखा है। ऐसा क्यों ? इसका एक संक्षिप्त विश्लेषण इस पृष्ठभूमि में अब तार्किक होना सम्भव हो सकता है। स्मरण रखने की जरूरत है कि धर्मांध, अन्धविश्वासी, सामन्ती, साम्राज्यवादी और पूँजीवादी व्यवस्थाएँ भूत के वैज्ञानिक विश्लेषण के वर्ग दुश्मन हैं क्योंकि वह उनके वर्तमान और भविष्य के शोषणात्मक चरित्र का पर्दाफास कर उसके खात्मा के लिए मुक्ति और क्रांति के मार्ग को सुलभ और सबल बनाता है। यही वर्गीय चरित्र और चेतना इतिहास-लेखन, इतिहासकार और इतिहास को भी प्रभावित करता है। इतिहास-लेखन का यही वर्गीय लक्ष्य इतिहास के तथ्यों को दबाने और भ्रामक ढंग से पेश करने के लिए उसे मजबूर करता है। इतिहास-लेखन को वर्ग-चाकर बनाने की साजिश इस षड्यन्त्रकारी बौद्धिक प्रक्रिया की आधारशिला होती है।[6] चूँकि राजसत्ता, उसके समर्थक, धर्म, नौकरशाह, राजनैतिक दल (असली वामपंथी क्रांतिकारी राजनैतिक दल को छोड़कर), विभिन्न वर्ग (किसान-मजदूर तथा वस्तुगत्या सर्वहारा समूह को छोड़कर) तथा समाज के इसी तरह के अन्य अंग तथा संस्थान (इन्स्टीच्यूशन) अपने निजी स्वार्थ और वर्गीय हित में प्रतिक्रान्तिकारी कदमों से जुड़े होते हैं। चूँकि स्वामीजी वैसी राजसत्ता, धर्म, वर्ग और संस्थानों के वर्गहित के खिलाफ विभिन्न क्रांतिकारी संघर्षों को आहूत कर क्रांतिकारी परिवर्त्तन लाने का नेतृत्व कर रहे थे, इसलिए इतिहास में उन तत्वों द्वारा मुक्ति-आन्दोलन, सामाजिक सुधार और स्वामीजी जैसे क्रांतिकारी पुरुषों की उपेक्षा करना अपने-अपने वर्ग हित में अवश्यम्भावी है।

राजसत्ता और उसकी शोषणात्मक व्यवस्थाओं पर वर्णित वर्गों का आधिपत्य है और स्वामीजी उनके शोषणात्मक वर्ग-चरित्र तथा आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक शोषणात्मक व्यवस्था का तथ्यों और तर्कों के आधार पर स्पष्ट तौर पर पर्दाफास कर चुके हैं जैसा कि इस अध्ययन में स्वामीजी की विचारधारा में देखा जा चुका है। वैसी स्थिति में राजसत्ता, प्रशासनतन्त्र के विभिन्न अंग, विश्वविद्यालय तथा उसके द्वारा संचालित पाठ्यक्रम, इतिहास और इतिहासकार स्वामीजी जैसे पुरुषों, क्रांतिकारी किसान-मजदुर आन्दोलनों आदि को या तो स्वार्थवश उपेक्षित रखेंगे या भ्रामक ढंग से पेश करेंगे। चूँकि इन्हीं वर्गों के द्वारा इतिहास-लेखन सम्बन्धी योजनाओं के लिए धन उपलब्ध कराये जाते हैं और परोक्ष रूप से इतिहास-सम्बन्धी योजना तथा उसके वर्गीय स्वार्थ के आधार पर सबल सम्पादन के लिए इतिहासकार लेखक, सलाहकार और सम्पादक तय किये जाते हैं; इसलिए स्वामीजी, उनकी विचारधारा और उनके नेतृत्व द्वारा आहूत संघर्ष का वस्तुपरक ऐतिहासिक विश्लेषण इन तत्वों के द्वारा सम्भव है ही नहीं क्योंकि ये स्वामीजी को पूर्ण रूप से वर्ग-दुश्मन मानते हैं।

इस सन्दर्भ में उन इतिहासकारों की एक अलग समीक्षा आवश्यक है जो

वर्णित वर्गों के नहीं होकर, मध्यम वर्ग के होते हैं। भूलना नहीं चाहिए कि विश्व में अनेक क्रांतिकारी आन्दोलनों का नेतृत्व इन्हीं के हाथों में रहा है। आज की राजनैतिक और प्रशासनिक व्यवस्था का भी भारत में नेतृत्व काफी हद तक इनके हाथों में है। फिर वही वर्ग जब इतिहास तैयार करता है तो इसे किस वर्गीय पूर्वाग्रह के कारण स्वामीजी को उपेक्षित करने की मजबूरी होती है ? इसके लिए आवश्यक है कि मध्यम वर्ग खासकर निम्न मध्यम वर्ग, जो अधिकांश तौर पर इतिहासकार समूह उपलब्ध कराता है, के वर्गीय चरित्र की कुछ विशेषताओं को जान लिया जाय। स्वामीजी इस वर्ग के सम्बन्ध में अपनी तीव्र प्रतिक्रिया, खासकर इसके प्रतिक्रांतिकारी स्वरूप के सम्बन्ध में, व्यक्त कर चुके हैं जिसकी यथार्थता को महात्मा गाँधी से डी० डी० कौशाम्बी तक स्वीकार करते रहे हैं।

मार्क्स ने स्वीकार किया है कि मध्यमवर्ग (निम्न मध्यम वर्गीय तबका सहित) समाज का ऐसा अनुगृहीत अल्पमत परजीवी है जिसकी जीविका और पालन-पोषण अधिशेष मूल्यों (सरपलस भेल्यू) तथा सरकारी कृपा पर पूर्णरूपेण आश्रित है। ऐसी स्थिति में बिना वर्ग-च्युत हुए इस वर्ग के लोगों के लिए राजसत्ता के वर्गीय स्वार्थ के विरुद्ध कुछ लिखना अपने ही हित में संभव नहीं है। इसलिए यह इतिहास-लेखन के क्षेत्र में भी राजसत्ता की वर्ग-चेरी के रूप में विकसित होता है। इसके इस चरित्र को ध्यान में रखकर ही महात्मा गाँधी को स्वीकार करना पड़ा कि भारतीय मध्यम वर्ग को देश की आजादी से ज्यादा चिन्ता अपने स्वार्थों की है।[64] जवाहरलाल नेहरू का स्पष्ट मत था कि भारतीय मध्यमवर्ग को अवसर मिले तो राष्ट्रवाद का स्वांग रचकर वह फासीवाद ले आयेगा।[65] इसे अन्य स्रोत भी संपुष्ट करते हैं।[66] डी०डी० कौशाम्बी जैसे शिष्ट और प्रकाण्ड विद्वान ने स्वामीजी की तरह ही मध्यमवर्ग के बुद्धिजीवियों के अत्यन्त ही सुविधाभोगी, अवसरवादी, सत्तापक्षी तथा ढुलमुल चरित्र का पर्दाफास कर इस वर्ग को पूँजीवाद, साम्राज्य-वाद, राजसत्ता और सामन्तवाद के हित में जूता चाटने वाले गिरोह के विशेषण से विभूषित किया है।[67] इन्होंने यथार्थता और वस्तुपरकता की वस्तुस्थिति के सही समीक्षक होने के लिए इस वर्ग को अपनी जीविका के लिए कभी-कभी खेत और कारखाने में काम करने की सलाह दी है।[68] मार्क्स, गांधी, नेहरू तथा कौशाम्बी मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवी के चरित्र का कितना यथार्थ मूल्यांकन कर रहे थे, इसका एक छोटा उदाहरण आंध्र प्रदेश में रामा राव की सरकार द्वारा पाठ्यक्रम में तथा दूसरे सरकारी प्रकाशन तेलगु-समाचारम में हिटलर का प्रशंसात्मक व्याख्यान तथा तस्वीर का प्रकाशित कराया जाना है।[69] हरिशंकर परसाई ने भारतीय मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवी के अवसरवादी और फासीवादी चरित्र को यथार्थ रूप में निम्नलिखित व्यंग्यात्मक लेखनों में चित्रित किया है।[70]

"सम्पादकों ने कहा था--इमरजेन्सी है तो डरो। मैं डरा। फिर कहा—इमरजेन्सी की तारीफ में लिखो। मैंने लिखा। ईमान से लिखा। इमरजेन्सी उठी तो ⋯ इमरजेन्सी के खिलाफ भी ईमान से लिखा। साथ ही घोषणा भी की कि मैं एकमात्र बहादुर, बुद्धिजीवी हूँ⋯⋯शेर कोई मारे, उसकी दुम मैं काट लेता हूँ, यानि मैं। प्रतिनिधि बुद्धिजीवी वह होता है जो किसी सत्ता या दाता के हरम की रक्षा करे।

"... मैं कुलपति बनूँगा। मुझे बचपन से ही विद्या से बड़ा प्रेम है। मैं ऋषियों के आश्रम के आसपास ही मंडराया करता था। मैं विद्यार्थियों की चोटी खींच कर भागता था, हव्य-सामग्री झपट कर लेता था। एक बार ऋषि का कमण्डल ही ले भागा था। इसी से तुम मेरे विद्या प्रेम का अनुमान कर सकती हो। मैं तो कुलपति ही बनूँगा।"

डी० एच० लारेंस की निम्नलिखित कविता रामधारी सिंह दिनकर के शब्दों में मध्यम वर्ग की "भारतीय चेतना के काफी आस-पास चक्कर काटती है।"71

मध्यम वर्ग के लोग सूर्य विहीन होते हैं।
कपड़ों से साफ-सुथरे होने पर भी मन से पंगु और दीन होते हैं।

दो ही गज हैं, जिनसे वे दुनियाँ को नापते हैं।
एक गज है रुपये का, दूसरा है भोंड़े जनमत का।

भीतर के प्रकाश से वे न तो परिचित हैं; न डरते हैं।

सूर्य गुण की तो कभी बात ही न करते हैं।

जनमत पर तुमने यदि, अपने को छोड़ दिया,
तो यह समझो कि अपना अस्तित्व तुमने तोड़ दिया
तब तुम आत्मा के पुरुष नहीं मानव न स्वींच हो।

मध्यम-वर्गीय हो।

क्योंकि नीचे अगर लोग नहीं हो
तो मध्यम वर्ग मान कहाँ पायेगा ?

खूद ही लुढ़क कर निम्न-वर्ग वन जायेगा।

और ऊपर अगर उच्च वर्ग नहीं हो
तो मध्यम वर्ग नंबर दो किसका रहेगा ?

क्या तुम समझते हो कि
तब वह तरक्की पा जायेगा
और अपने को अमीर कहेगा ?

फरजी की जगह प्यादा होने से रहा।
मध्यस-वर्ग जीरो से ज्यादा होने से रहा।

दो वास्तविकताओं के बीच
एक अवास्तविकता विभाजक वन कर पड़ी है
मध्य श्रेणी
दोनों का मुँह जोहती खड़ी हैं।

न तो सूरज है, न धरती है।

एक पर मध्यम श्रेणी का कावू नहीं,
और दूसरे से वह डरती है।

लहू में जोश नहीं, आँखों में प्रभात नहीं।
बुर्जुआपन से आगे कोई बात नहीं।

शंकट का चक्की फँसा बीच में है।
मध्यम-वर्ग हर चीज के बीचो बीच में है।

ताला हाथ में है मगर, किवाड़ में कुन्डी है।
मध्यम वर्ग दिवालिया बैंक की हुण्डी है।

बिहार के मध्यमवर्गीय इतिहासकारों के इतिहास-लेखन के सन्दर्भ में उनके चरित्र का आंशिक शोधपरक अध्ययन समाचार पत्रों एवं पुस्तकों के माध्यम से हुआ है जो उपर्युक्त निष्कर्षों को सम्पुष्ट करने के साथ-साथ उनकी अन्य काली और फासीवादी करतूतों को बेपर्द करते हैं।[72] समाचार-पत्रों ने इतिहास-लेखन में इस वर्ग को धोखाधड़ी और जालसार्ज के लिए "कुत्ता" की संज्ञा प्रदान की।[73] इतिहास-लेखन में चोरी और जालसाजी की तीव्र भर्त्सना करते हुए यहाँ तक कह डाला गया कि बिहार में जो यह कीर्तिमान स्थापित किया गया है और शैक्षणिक क्षेत्र में जो व्याप्त अराजकता और चोरी की प्रतिस्पर्द्धा है वह इसे कहीं राष्ट्रीय स्तर पर कोई अनुसरणीय 'आदर्श' न बना दे।[74]

इस सन्दर्भ में बिहार के ही परिप्रेक्ष्य में तैयार एक विश्लेषणात्मक अध्ययन के उन अंशों को हम उद्धृत करेंगे जिनमें ठोस तथ्यों और तर्कों के आधार पर बिहार के मध्यमवर्गीय इतिहासकारों के सामन्ती, साम्राज्यवादी, पूँजीवादी तथा अवैज्ञानिक रूझान वाले चरित्र की समीक्षा प्रस्तुत की गई है तथा जो गाँधी, कौशाम्बी आदि के निष्कर्षों को ठोस साक्ष्य प्रदान करते हैं। इसमें संक्षेप में साक्ष्य सहित निम्नलिखित निष्कर्ष निवेदित किए गए हैं :[75]

"मूल प्रश्न है—इस गिरोह के नौकरशाह, राजनीतिज्ञ तथा इतिहासकार को क्या कहा जाय ?……निष्कर्षतः इस गुट के सम्बन्ध में स्पष्ट साक्ष्य प्रमाणित करता है कि निजी लाभ, जातीय प्रेरणा, आंचलिक उन्माद और वर्गीय स्वार्थ में नौकरशाहों, इतिहासकारों और राजनीतिज्ञों के इस पढ़े-लिखे मध्यमवर्गीय गुट ने सोद्देश्य इतिहास-लेखन और इतिहास-लेखन केन्द्रों का सामन्ती, साम्राज्यवादी तथा साम्प्रदायिक हितों में दुरूपयोग किया है। फलतः इस गुट ने अपनी नापाक साजिश में बाधा उपस्थित करने वाले वैज्ञानिक चिन्तन और चिन्तकों को अपना वर्ग-शत्रु मानकर परेशान किया है। यह इस विश्लेषण में भी मदद पहुँचाता है कि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन एवं बिहार कांग्रेस में सम्प्रदायवाद और सामन्तवाद के विरोध में स्वामी सहजानन्द सरस्वती और राहुल सांकृत्यायन के नेतृत्व में पनपने वाले आन्दोलनों एवं उनकी भूमिकाओं को क्यों नजरंदाज किया गया है तथा वैज्ञानिक चिन्तन से प्रतिबद्ध इतिहासकारों, जो सामन्तवाद और सम्प्रदायवाद-विरोधी जन-आन्दोलनों की वस्तुपरक समीक्षा कर सकते थे, कि क्यों उपेक्षा की गई ?……स्वामी सहजानन्द सरस्वती और राहुल सांकृत्यायन की श्लाघनीय भूमिका को सम्भवतः इस अपराध के कारण भी नजर अन्दाज किया गया है कि वे किसान आन्दोलनों के नेता थे तथा दरभंगा राज की शोषणात्मक व्यवस्था के कट्टर आलोचक थे।"

इस प्रसंग मे यह जान लेना आवश्यक है कि कांग्रेसी नेताओं के सामन्ती तथा यदा कदा साम्राज्यवादी रूझान एवं किसान विरोधी रूख ने स्वामीजी को 6 दिसम्बर,

1948 को काँग्रेस से अलग होने को मजबूर किया।[76] स्वामीजी ने स्पष्ट स्वीकार किया कि काँग्रेस से उनके अलग होने में उसकी दरभंगा राज के प्रति नरम रूख होने की भी भूमिका रही है। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया कि "महाराजा दरभंगा के सम्बन्ध में की गई शिकायतों के सम्बन्ध में गाँधीजी ने कहा कि मुझे विश्वास है कि वे शिकायतें यदि महाराजा को मालूम हो जायँ तो वे जरूर इन्हें दूर करेंगे। स्वामीजी ने उदाहरण में उनका ही नाम खास तौर से लिया था। श्री गिरीन्द्र मोहन मिश्र उनके मैनेजर थे। वे काँग्रेसी थे।

"स्वामीजी ने कहा—मैं तो चाहता ही हूँ कि वह दूर कर दें। फिर गाँधीजी कहने लगे--गोल-गोल बातें न करके किस किसान को क्या कष्ट है, यह नाम व-पता बताना होगा। स्वामीजी ने स्पष्ट कह दिया—मैं हरगिज ऐसा नहीं कर सकता। क्योंकि दो-चार किसानों के नाम मिलते ही वह उनके कष्ट तो दूर करेंगे नहीं, उल्टे उन्हें ऐसा दबायेंगे कि फिर कोई किसान शिकायतों का नाम भी न लेगा। मैं जमीन्दारों के हथकण्डे और तरीके खूब जानता हूँ।

"गाँधीजी के साथ इस वार्तालाप से स्वामीजी को बड़ा धक्का लगा। इससे उनकी आँखे खुल गईं। उस दिन की बात के बाद, उसी दिन से स्वामीजी विचारधारा में सदा के लिए गाँधीजी से अलग हो गए। बनी बनाई गाँधीभक्ति आज समाप्त हो गई।

"1920 के दिसम्बर में नागपुर के अधिवेशन से लेकर आजतक मैंने काँग्रेस कभी नहीं छोड़ी और यथाशक्ति उसकी सेवा की है। बीच में नेताजी श्री सुभाष चन्द्र बोस के साथ ही मेरे जैसे कुछ तुच्छ व्यक्तियों को भी काँग्रेस से हटाया गया था जरूर, मगर इसमें हमारी मजबूरी थी। हम उस समम काँग्रेस छोड़ना चाहते न थे। आजादी की जंग के दरम्यान ऐसा करना हम देश के साथ गद्दारी समझते थे, चाहे उसकी नीति के सम्बन्ध में हाइकमांड के साथ हमारा मौलिक मतभेद क्यों न था। उसी समय काँग्रेस के कुछ प्रमुख नेता साम्राज्यशाही से समझौता करने को परेशान थे। इसीलिए उसने बम्बई वाली अखिल भारतीय काँग्रेस कमिटी की बैठक में किसानों, मजदूरों एवं शोषित जनता की सीधी लड़ाइयों को बन्द कर देना तय कर दिया, बावजूद समस्त प्रगतिशील एवं वामपंथियों के सम्मिलित विरोध के। वे यह भी चाहते थे कि काँग्रेस में एक ही विचारधारा रहे।"

काँग्रेस के चरित्र के सम्बन्ध में स्वामीजी का स्पष्ट मत था कि "काँग्रेस सदा मध्यमवर्गीय लोगों की संस्था रही है। काँग्रेस के अधिकांश नेता उसी वर्ग के हैं जिनका जनता से निकट का सम्पर्क नहीं रहा है। अतः वे न तो किसानों की दैनिक कठिनाइयों, उनकी आवश्यकताओं और उलझनों से परिचित हैं न उनकी आर्थिक समस्याओं को कभी समझने की कोशिश करते हैं। वे तो सफेदपोश बाबू हैं। उनकी बाबूगिरी की मनोवृति ने उनको सदा किसानों से, उनकी समस्याओं की जानकारी से, उन्हें दूर रखा है।"[77]

भारतीय राजनैतिक दलों की छवि के सम्बन्ध में स्वामीजी के निम्नलिखित मन्तव्य महत्वपूर्ण हैं जो मूल्यांकन के आधार पर उन्हें बौना बना देते हैं :[78]

"मैं यदि पार्टियों से भड़कता हूँ तो उसकी यह एक बहुत बड़ी वजह है।

आज तो मैं पार्टी लीडरों को देशभक्त मानता हूँ और कल ही किसी पार्टी में घुसा कि बाकियों को गद्दार समझने की नादानी ही करनी पड़ी। क्रम-से-कम इस का "गुरु-मंतर" तो उस पार्टी से दिया ही जाना शुरू हुआ। यह रंगीन दृष्टि बहुत ही खतरनाक है।…पार्टीवाले व्यक्तित्व और व्यक्तिगत समझ को तो खत्म ही कर देते हैं। पार्टियों में इसके लिए गुंजाइश नहीं। यह अजीब जादू, निराली कीमिया, विचित्र जड़ी-बूटी है जो छून्मतर करती है। हम पार्टी में गये और हमारी स्वतंत्रता ही गायब हालांकि हमारा पहला लक्ष्य है यह स्वतंत्रता ही।"

जैसा देखा जा चुका है, स्वामीजी सोसलिस्टों को पूँजीवादी दलाल का स्थान देते हैं। कौम्युनिस्टों के रूप को भी वे संयुक्त मोर्चा और विभिन्न क्रांतियों के समय धरातल के स्तर पर विश्लेषण कर नीति को निर्धारित करने की सलाह देते हैं किन्तु वर्णित सभी राजनैतिक दलों तथा उनका राजनीतिक, ऐतिहासिक और प्रशासनिक नेतृत्व मध्यमवर्ग के हाथ में होता है जो घोर अवसरवादी और निजी स्वार्थ में लिप्त होता है। ऐसी स्थिति में इतिहास-लेखन में उनका अपने वर्ग और निजी स्वार्थ का पूर्वाग्रह होना कोई अनहोनी घटना नहीं होगी जैसा कि स्वामीजी के इतिहास में उपेक्षित होने की कहानी से आंशिक झलक मिलती है। निम्नलिखित दृष्टिकोण बिहार के इतिहास में महत्वपूर्ण अंशों की उपेक्षा के कारण की वस्तुपरक व्याख्या के लिए सहायक सिद्ध होगा :[89]

"भारत की बहुसंख्यक आबादी गाँवों में रहती थी और भारतीय समाज प्रधानत: किसान समाज था। भारत में जितने राजनीतिक दल थे सबके नेता विदेशपठित, शहरी पृष्ठभूमि और कुलीन वर्ग के थे। किसान सभा का अन्तर उनसे इस मामले में था कि इसमें धनी किसान और मध्यम किसान बर्चस्व में थे और गरीब किसान की आस्था इससे जुड़ी थी। इस रूप में किसान ने तुलनात्मक रूप से अन्य दलों की तुलना में किसानी समाज की आकांक्षा, क्षोभ, कुण्ठा, क्रोध और पराक्रम को ज्यादा प्रतिशत में अभिव्यक्त किया और किसान सभा का बदलता चरित्र, बदलता मुद्दा, बदलते सिद्धान्त, उत्तरोत्तर विकास, वामपंथी रूझान और अन्तत: प्राप्त मार्क्सवादी चरित्र, क्रांतिकारी अवधारणा—ये सब सहजानन्द के भी विकास के कारण बने और सहजानन्द ने उन सबके समग्र दवाव में चीनी क्रांति की आसन्न संभावित सफलता से निष्कर्ष निकाले और लेनिन के उपदेशों के आलोक में भारत की ठोस परिस्थिति से मिलाकर सूत्रीकरण किया,…इस तरह डंका की चोट पर मुनादी इतने व्यवस्थित रूप में पहली बार ही हुआ कि "सत्ताधारी वर्ग को बलपूर्वक धकिया कर शोषित वर्ग के द्वारा सत्ता छीन लेना ही क्रांति है। क्रांति की प्रधान धुरी गाँव है, क्रांति का प्रधान बल किसान है, क्रांति लोक जनवादी होगी जिसमें नेतृत्व सर्वहारा का होगा, वर्गसंघर्ष के जरिये होगा, वर्ग सर्वहारा का, गरीव किसान का जंगजू आन्दोलन चलाकर होगा, केन्द्रीय जनवाद के उसूलों के पालन करते होगा और अन्तत: सर्वहारा का एकतंत्र स्थापित होगा। स्वामी ने इन सारी चीजों को केवल जजवाती ढंग ते नहीं रखा, बल्कि साढ़े चार सौ पृष्ठ की मोटी पुस्तक में विस्तार, क्रमवद्ध और व्यवस्थित रूप में इस तरह रक्खा कि सामान्य जनता भी समझ ले और मार्क्सवादी संसार के लीडराने वतन के लोग से भी बहस हो सके।"

फलतः, वर्णित "अपराधों" के कारण इतिहास में स्वामीजी की उपेक्षा की संभावना और बढ़ गयी। मध्यमवर्गीय चेतना का राजसत्ता में राजनीतिक, प्रशासनिक और बौद्धिक महत्व इसका सबसे महत्वपूर्ण कारक बना। रूसी क्रांति की सफलता का मुख्य कारण था, "संयुक्त मोर्चे की कार्यनीति का सही व्यवहार।" किसान संघर्ष के महत्व को नहीं समझने वाले, समय-समय पर उपजे इनके जननायकों, सिद्धू संथाल, तिलका मांझी, बिरसा मुण्डा, वसुदेव बलवन्त फड़के, सहजानन्द, सूरज नारायण, नक्षत्र मालाकार, कार्यानन्द, इन्दुलाल याज्ञनिक और 60 के दशक बाद मुठभेड़ के नाम पर या प्रतिरोध संघर्ष के दरम्यान मारे जा रहे विख्यात या अनाम योद्धाओं की अवहेलना करनेवाले किताबी, बतफरोस, नौकर मार्क्सवादी कहे जायेंगे, जो अपनी रचनाओं को वर्ग संघर्ष के प्रभाव के छूत से बचाने में लगे रहते हैं।[80] यह संभवतः प्रगतिशील इतिहासकारों के इतिहास-लेखन में स्वामीजी के उचित स्थान नहीं पाने का अतिरिक्त कारण हो सकता है। उनमें से भी कुछ असली वस्तुस्थिति की जानकारी के अभाव के साथ-साथ मध्यमवर्गीय चरित्र के दुर्गुणों से भी प्रभावित हो सकते हैं। भूलना नहीं चाहिए कि बिहार ही में स्वामीजी की विचारधारा का वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण कर व्यावहारिक परिवर्तन से जोड़ने की दिशा में छोटा प्रयास प्रारंभ हुआ है।

1987 में कम्युनिस्ट पार्टी की पीपुल्स पवलिशिंग हाउस की ओर से स्वामीजी के **मेरा जीवन संघर्ष** का पुनर्मुद्रण किया गया है। उसके ही एक नेता श्री त्रिवेणी शर्मा 'सुधाकर' की एक पुस्तक का अभी-अभी प्रकाशन हो चुका है। गौर करने की बात है कि इनलोगों ने अपने प्रकाशनों में स्वामीजी की **क्रांति और संयुक्त मोर्चा** को प्राथमिकता नहीं दी है, यद्यपि चन्द्रभूषण की पुस्तक के प्रकाशन में "त्रिवेणी शर्मा 'सुधाकर' परामर्श के लिए धन्यवाद के पात्र हैं।[81] प्रश्न है कि कौम्युनिस्ट पार्टी स्वयं पूरी पुस्तक का प्रकाशन करवाने में क्यों अपने को मजबूर पा रही है ? इनके अभिप्राय और मंशा पर टिप्पणी बिना किये इतना तो कहा ही जा सकता है कि प्रतिक्रियावादी तत्त्व भी स्वामीजी के सम्बन्ध में कुछ लिखने लगे हैं जैसा कि इस संकलन में वर्णित कुछ निबंधों से स्पष्ट है; किन्तु वे भी **क्रांति और संयुक्त मोर्चा** को महत्वपूर्ण बनाने के पक्षधर नहीं प्रतीत होते हैं। चन्द्रभूषण का प्रकाशन भी इसके एक भाग को ही किसी कारणवश प्रकाशित कराने में सक्षम हो पाया है और उनके उद्देश्य भी इतिहास में उन्हें उचित स्थान दिलाने से ज्यादा निम्नलिखित हैं :[82]

"इसी कारण सहजानन्द का आन्दोलन एक उग्र अर्थवाद में फंसकर रह गया—विकसित होकर क्रान्तिकारी चरित्र प्राप्त किया मगर क्रान्तिकारी मार्ग नहीं पकड़ सका। हाँ अलवत्ते, इसने सामन्त विरोधी संघर्ष चलाकर साम्राज्यवाद के लिए असली चुनौती (गाँधी की तरह नकली नहीं) जरूर खड़ा किया, पेटी बुर्जुआ क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद को पनाह दिया, मार्क्सवादी पार्टी के गठन हेतु कैडर प्रदान किया, समकालीन साहित्य पर दखलकारी प्रभाव डाला। आन्दोलन ने एक-से-एक साहित्यकारों का सृजन किया और सहजानन्द ने सरल, सुबोध, स्पष्ट वेबाक भाषा और शैली का प्रयोग कर जनता को वर्ग संघर्ष से प्रशिक्षित किया। चुप्पी के षडंयन्त्र का घेरा तोड़ना और आज के खातिर क्रान्तिकारी मोर्चा की याद दिलाना इस पुस्तक के पुनः प्रकाशन का लक्ष्य है। यह पुस्तक उनके (किताबी,

बतफरोस, नौकर मार्क्सवादी) सीमित औकात को अवश्य ही और बौना कर जनता को दिखलायेगा ।"

इधर स्वामीजी की जन्म शताब्दी के अवसर पर विभिन्न उद्देश्यों से उन पर अनेक प्रकाशन आ रहे हैं या आने की योजना है, लेकिन सरकारी स्तर पर बिहार सरकार, उसके नौकरशाह एवं इतिहासकारों ने अपने को इससे अलग ही रखा है। यही स्थिति लगभग प्रतिक्रियावादी, सनातनी और राजसत्ता की कृपा पर आश्रित इतिहासकारों की है । कुछ लोग ऐसे मौके पर उन्हें याद भी कर रहे हैं तो इतिहास में उन्हें उचित स्थान देने के लिए नहीं अपितु निजी, जातीय और वर्गगत स्वार्थ की पूर्ति के लिए । इस उपेक्षा के कारण में स्वामीजी के धर्म की अंध-परंपरा विरोधी और किसान-पक्षी रूख भी हो सकते हैं। धर्म के सम्बन्ध में स्वामीजी ने स्वयं स्वीकार किया है :[83]

"धर्म में तर्क, दलील और विचार को स्थान नहीं है । यह उसका व्यावहारिक रूप है । पंडित, मौलवी और धर्माचार्य जो कहें, उसे आँख मूँदकर मानो नहीं तो तुम्हारे विरुद्ध फतवा निकल जायगा । ये धर्माचार्य, गुरू, पंडित वगैरह भी कैसे कि उन्हें अक्ल से ताल्लुक ही नहीं और ये चीजें पुश्तैनी हो जाने से उनके लिए पढ़ना-लिखना भी जरूरी नहीं । फलतः ये लोग प्रायः निरक्षर भट्टाचार्य ही होते हैं। मगर मंतर और दीक्षा देकर बैकुंठ भेजने का, बिहिश्त पहुँचाने का दावा जरूर रखते हैं। यहाँ तक कि सर्वाधिकार संरक्षित ! फलतः धर्म के नाम पर सबसे ज्यादा अंधेर खाता देखते हैं। वह व्यक्तिगत न होकर सामूहित हो गया है। भेड़ों की ही तरह हिन्दू, मुस्लिम, क्रिस्तान आदि के समूह होते हैं। इस प्रकार धर्म दिल की चीज न होकर बाहरी और दिखावटी वस्तु हो गई है। हम शिखा और दाढ़ी से ही प्रायः हिन्दू और मुसलमान का परिचय करते हैं। मगर मैं इस धर्म को कतई नहीं मानता। बल्कि कह सकते हैं कि मैं ऐसे धर्म को समाज, देश और मानवता का शत्रु मानता हूँ। यह हमारी आजादी का भी बंधक है। यदि बुद्धि ही कुंठित कर दी गई और विवेक का ही स्थान न रहा, तो सब फिर खत्म ही हो गया। मैं विवेक के ऊपर लगाम और जाब चढ़ाना बर्दाश्त नहीं कर सकता। और जो बात बुद्धि में न समाये, विवेक में न आये उसे धर्म के नाम पर मानने का मैं सख्त दुश्मन हूँ।"

वर्णित विचारधारा के लिए कोई भी व्यक्ति, किसी भी मजहब और फिरका में विश्वास रखने वाला स्वामीजी को उपेक्षित करने तथा तर्क पर आधारित उनकी विचारधारा को दबाने को उद्धत हो सकता है। स्वामीजी की तार्किक व्याख्या के लिए मात्र सामन्ती, साम्राज्यवादी, पूँजीवादी और अंधविश्वासी तत्त्वों के साथ-साथ भूमिहार और धर्मान्ध तत्त्व भी उन्हें अपना वर्ग दुश्मन मानने लगे और यह प्रवृत्ति आजतक भी मनोवादी लोगों में विद्यमान है जो उनके वस्तुपरक ऐतिहासिक मूल्यांकन में बाधक बना हुआ है। इसके अतिरिक्त इनका वर्ग-दृष्टिकोण इससे भी ज्यादा घातक सिद्ध हो रहा है। इन्होंने विदेशी शोषक से बढ़कर देशी शोषक को सामाजिक और आर्थिक उन्नति का दुश्मन माना है। उनकी निम्नलिखित मान्यता है :[84]

“गाँधी टोपी पर आफत आयी है। यह कुछ दिन पहले तक त्याग-बलिदान की प्रतीक मानी जाती थी जब तक मुल्क गुलाम था, आज वही टोपी चोर-बाजारी, घूसखोरी, टुकड़खोरी आदि का साधन बन गयी है। जिसने अंग्रेजी जमाने में इसे छुआ तक नहीं उसी के सर पर आज यह ज्यादातर दीखती है।···· यदि साधुनामधारियों ने कंठी, माला, तिलक-छाप को ठगी एवं प्रवंचना का साधन बना डाला था तो खादी और गाँधी टोपी के रूप में यह नये ढंग की कंठीमाला आ गयी है। जो लोग ईमानदारी और मर्दानगी के साथ कांग्रेस के लिए कटे-मरे, उसके झंडे को सदा ऊँचा किये रहे, मगर चापलूसी दरबारदारी से घृणा करते थे, न्याय चाहने वाले हैं, उनकी पूछ गद्दीधारी कांग्रेस में अब नहीं रही, उन्हें ये नये स्वराजी महन्त फूटी आँखों नहीं देख सकते।

“जो कुम्हार बर्तन बनाता है उसे घड़े और हाँडी का अकाल नहीं होता। जो कसेरा थाली-लोटा गढ़ता है उसे उन बर्तनों का टोटा नहीं रहता। अगर साल में हजारों मन गेहूँ, बासमती, घी, दूध पैदा करनेवाले किसान के बच्चे पैसे (पैले) भर दूध के लिए तरसते हैं।····उसे खेसारी, महुआ और मठ्ठे पर गुजर करनी पड़ती है। यह उल्टी गंगा बर्दास्त से बाहर है। इसे मिटाना ही सबसे बड़ा धर्म है, पूजा है, तपस्या है, आराधना है। देश की 90 प्रतिशत जनता के तन पर चिथड़े नहीं हैं, पेट में सुन्दर अन्न नहीं है। घर पर फूस की छप्पर नदारद है। रोगी होने पर दवा नहीं है, पढ़ने-लिखने का कोई सामान नहीं है। पैसे नहीं कि किताब खरीदें, फीस नहीं कि डाक्टरों को बुलाकर दवा करायें।

“मुझे और मेरे जैसे हजारों को अपना पुजारी बना लिया है-ये वही हैं···· अपने खून को पसीना कर शासन व्यवस्था के कामों और उन्हीं के आराम के लिए जो उन्हें अत्यन्त निर्दयतापूर्वक पैरों तले रौंदते हैं, राजमहल, किले और गृह-निर्माण करते हैं। सिर्फ एक ही श्रेणी के लोग किसान ही हैं जिनके अनन्त त्याग पर यह दुनिया टिकी है।

“यह सब इसलिए होता है कि यह कमानेवाली किसान-मजदूर जनता गूँगी है, चीख पुकार मचा नहीं सकती है। इसकी समस्त कमाई की जैसी निर्दय लूट विदेशी शासक शोषक करते थे वैसे ही स्वदेशी शोषक करते हैं। मूक जनता के तन में जबर्दस्ती नश्तर लगाकर इसका खून निरंतर निकाला जा रहा है। उसकी कमाई लूटी जा रही है, इसलिए यह सर्वात्मना क्षीण है, अशक्त है, दुर्बल है। ····दुनिया से वैषम्य मिटाना है और यहाँ समता लानी है, साम्यवाद चलाना है। सभी को····सर्वांग विकास का पूरा अवसर समान रूप से मिले यही करना है····”

वर्णित तथ्यों के आधार पर जो निष्कर्ष स्पष्ट तौर पर उभरते हैं वे निश्चित संकेत देते हैं कि वर्गयुक्त सामाजिक व्यवस्था में इतिहास-लेखन में किसी घटना, व्यक्ति या सामाजिक उथल-पुथल की प्रक्रिया की उपेक्षा या अपेक्षा राजनीतिक चढ़ाव-उतार की तरह होता है। पूँजीवादी व्यवस्था में राजनीति और अर्थ-व्यवस्था की तरह इतिहास-लेखन को भी बाजारू माल में सतत परिवर्तित करने का प्रयास चलता रहता है। जाति-वाद, सम्प्रदायवाद तथा इस तरह की अन्य

कुरीतियों के माध्यम से इसका भी ध्रुवीकरण किया जाता है जिससे इतिहास-लेखन को भी शोषक वर्ग की शोषणात्मक व्यवस्था के वर्ग-चाकर के रूप में स्थापित किया जा सके। इसलिए इतिहास में वर्ग संघर्ष की भूमिका को नगण्य करने का सतत् प्रयास पूँजीवादी इतिहासकार करते हैं। इसी क्रम में वे द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के महत्व को भी ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया से हटाने की चेष्टा करते हैं। इसलिए इतिहास-लेखन में वे वर्ग-हित में मिथ्याकरण का सहारा लेकर भूत की गलत तस्वीर पेश करते हैं जिससे वर्तमान और भविष्य में उनके पृष्ठपोषकों की विषम और शोषणात्मक सामाजिक व्यवस्था अक्षुण्ण रह सके। मूलतः इतिहास-लेखन को सामन्ती, साम्राज्यवादी और पूँजीवादी वर्ग-हित में व्यावहारिक प्रायोगिक विज्ञान बनाकर अपनी राजनीति को सफल बनाने की साजिश में इतिहासकार का भी इस्तेमाल किया जाता है। स्वामी सहजानन्द सरस्वती भी इसी तरह के राजनीतिक ध्रुवीकरण के कारण इतिहास में अब तक उपेक्षित रहे हैं।

इतिहास-लेखन के तीन मुख्य स्तम्भ होते हैं। राजनीतिज्ञ और राजसत्ता जो इस विज्ञान के प्रसार, प्रचार और विकास के लिए पैसा उपलब्ध कराते हैं, इतिहासकार जिसे इस विज्ञान का विशिष्ट ज्ञान होता है, किन्तु अपनी जीविका के लिए उन्हीं पर आश्रित होता है तथा नौकरशाह जो इसके वैज्ञानिक विकास के लिए प्रशासनिक छत्र-छाया और जोड़-तोड़ प्रदान करता है और इतिहासकार की तरह अपनी जीविका के लिए पूँजीवादी राजसत्ता पर आश्रित होता है। गौर करने की बात यह है कि वे सभी मुख्य तौर पर मध्यमवर्ग के होते हैं जिनके अवसरवादी, सुविधाभोगी, फासीवादी, सत्तापक्षी और ढुलमुले चरित्र का विश्लेषण इस निबन्ध में महात्मा गाँधी से स्वामीजी तक के निष्कर्ष के आधार पर विस्तार में किया जा चुका है। भूलना नहीं चाहिए कि इतिहास-लेखन के वर्णित प्रमुख तीनों स्तम्भ इस देश में पूँजीवादी राजसत्ता के चाकर हैं जिन्हें वस्तुनिष्ठ इतिहास-लेखन में कोई रूचि नहीं है। उनकी रूचि नियन्त्रित इतिहास-लेखन में है जो व्यावहारिक प्रायोगिक विज्ञान की हैसियत से उनके वर्ग-हित की हेतु-सिद्धि का सबल साधन बन सके। इसलिए मूल प्रश्न यह है कि बिहार की वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था में क्या इतिहास-लेखन के तीनों प्रमुख अंग राजसत्ता की वर्ग-चाकरी छोड़ कर तथा अपनी जीविका पर लात मार कर स्वामीजी को इतिहास में उचित स्थान दिलाने की हिम्मत कर सकते हैं जो अपने विचारों के कारण वर्तमान राजसत्ता तथा मध्यम वर्ग दोनों के वर्ग-शत्रु साबित हो चुके हैं?

कुछ अभिप्रेरित इतिहासकार तथा कुछ भोले-भाले "सर्वोदयी" इतिहासकारों का मत हो सकता है कि महाराजा लक्ष्मीश्वर सिंह सरीखे पुरुषों की उपेक्षा इतिहास में नहीं हो सकी, और यद्यपि 1959 में प्रकाशित **बिहार थ्रू दि एजेज** में वे कोई उचित स्थान न पा सके तथापि 1986 तक आते-आते उसी तरह के सरकारी प्रकाशन **हन्ड्रेड इअर्स ऑफ दि इन्डियन नेशनल कॉंग्रेस इन बिहार** में वे काफी महत्वपूर्ण स्थान पा चुके हैं। स्वामीजी का नाम तो कम-से-कम 1959 की पुस्तक में एक जगह पृ० 665 पर अंकित था। अतः धीरे-धीरे वे भी इन्हीं की तरह इतिहास में पुनर्स्थापित हो जायेंगे। वे भूल जाते हैं कि बिहार की राजनीति के जातीय, सामन्ती और पूँजीवादी ध्रुवीकरण ने उन्हें इतिहास में भ्रामक स्थान

दिलाया है, अतएव ऐसी कोई भी आशा स्वामीजी के सन्दर्भ में करना इतिहास को स्वयं झुठलाना होगा। महाराज साहब के लिए वर्णित ध्रुवीकरण के कारण राजसत्ता के डा० नागेन्द्र झा सरीखे राजनीतिज्ञ, डा० पी०एन० ओझा एवं श्री अरूण पाठक सरीखे नौकरशाह तथा डा० जटाशंकर झा एवं प्रो० जगदीश चन्द्र झा सरीखे इतिहासकार के संयुक्त मोर्चे ने मध्यमवर्गीय चारित्रिक दुर्गुणों के आधार पर व्यक्तिगत लाभ और समर्पण की भावना से फासीवादी तरीके से पूर्वाग्रही इतिहास तैयार कराया[86] तथा डा० नागेन्द्र झा ने अपने नेतृत्व में लगभग दो दशक तक सुनियोजित ढंग से राजसत्ता के लिए प्रशासनतंत्र की षडयन्त्रकारी मदद ली। उन्होंने सरेआम ऐलान किया था कि वे तव तक चैन की नींद नहीं लेंगे जव तक बिहार सरकार महाराजा साहब को अपने प्रकाशनों में असली काँग्रेसी और देशभक्त का दर्जा न वहाल कर दें।[87] ऐसा कोई आन्दोलन राजसत्ता और उसके समर्थक इतिहासकार, नौकरशाह और राजनीतिज्ञ की ओर से स्वानीजी के लिए आहूत नहीं हो सकता, क्योंकि वे उनके वर्ग-दुश्मन जो ठहरे! महाराजा साहब सामन्ती शोषक, साम्राज्यवादी पिट्ठू तथा साम्प्रदायिक नेता थे जो उन्हें वर्णित गिरोह के वर्ग-हित में प्रिय और लाभकर बनाता है और आदर्श भी, किन्तु स्वामीजी ठीक इसके विपरीत हिंसात्मक सर्वहारा क्रांति की अनिवार्यता को कबूल कर इस दिशा में प्रयत्नशील थे।

प्रश्न यह है कि इतिहास में स्वामीजी को उचित वस्तुगत मर्यादापूर्ण स्थान कौन दे सकता है? पूँजीवादी या साम्राज्यवादी या सोसलिस्ट या जनता या लोक दल जैसी राजसत्ता तथा उनके समर्थक राजनीतिज्ञ, नौकरशाह और इतिहासकार जो था सत्ता में रहें हैं या उसके इर्द-गिर्द रहें हैं? इसकी आशा करना ही निरर्थक है, क्योंकि स्वामीजी इन सभी के वर्ग-दुश्मन थे और पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, धार्मिक अन्ध विश्वास, सम्प्रदायवाद और जाति-पाति को सामाजिक विकास का सबसे बड़ा अवरोध मानकर उन्हें मिटाने को कटिबद्ध थे। काँग्रेसी, सोसलिस्ट तथा इस तरह के पूँजीवादी या मध्यमवर्गीय राजनैतिक संगठन एवं उनके अनुयायियों के सम्बन्ध में स्वामीजी की वैसी ही धारणा थी। इन्हें वे पूँजीवादी शोषणात्मक व्यवस्था के दलाल, प्रतिक्रांतिकारी, दकियानूसी तथा रूढ़ीवादी मानते थे। साम्यवाद तथा सर्वहारा हिंसात्मक क्रांति ने, जिनके प्रति वे समर्पित थे, उन्हें इनका वर्ग-दुश्मन बना दिया था। उनका अटूट विश्वास किसान और मजदूर वर्ग में था और सत्ता से बाहर होने के कारण इनको आर्थिक और बौद्धिक साधनों का अभाव रहा है। अतः वे स्वामीजी का वस्तुगत ऐतिहासिक मूल्यांकन कर या करा नहीं सकते।

इस सिलसिले में स्वामीजी की विचारधारा के अन्तर्विरोध को समझने की जरूरत है जो मूलतः उनके व्यक्तित्व का सही ऐतिहासिक मूल्यांकन में अवरोध पैदा कर रही है। स्वामीजी प्रारम्भ में भूमिहार नेता थे और भूमिहार महासभा को वनवाने में उन्होंने अहम् भूमिका निभाई। अगर स्वामीजी यहीं तक रह जाते तो सर गणेश दत्त सरीखे अन्य लोगों की तरह इतिहास में उन्हें भी बेजरूरत स्थान देकर उछाला जाता, किन्तु उन्होंने महसूस किया कि यह जातीय अस्त्र सामाजिक क्रांति का दुश्मन है और इसलिए उन्होंने भूमिहार महासभा को तोड़ने

में पेशकदमी ली। फलस्वरूप जातीयता से ग्रस्त भूमिहार भी इनका अंगीकरण करने से कतराते हैं। विडम्बना यह है कि आज के माहौल में जातिवादी भूमिहार विरोधी और समर्थक तथा पूँजीवादी वर्ग-दुश्मन इनके भूमिहार पक्ष को उजागर कर इन्हें जातीय नेता के रूप में भी चित्रित करना चाहते हैं। सही मामले में स्वामीजी एक वफादार काँग्रेसी थे, किन्तु काँग्रेसी प्रशासन, राजनीतिज्ञ और इतिहासकार महाराजा लक्ष्मीश्वर सिंह तक को भी इतिहास में देशभक्त और असली काँग्रेसी के रूप में उछालने से बाज नहीं आते पर इनकी उपेक्षा मात्र इस "अपराध" में कर देते हैं कि इन्होंने काँग्रेस या काँग्रेसी के पूँजीवादी, सामन्त-पक्षी और मध्यम वर्गीय चारित्रिक दुर्गुण को सही परिप्रेक्ष्य में चित्रित किया है। जय प्रकाश नारायण सरीखे सोसलिस्ट ने स्वामीजी से बहुत कुछ सीखने को स्वीकार किया है, किन्तु बिहार की साझी सरकार (1967) तथा सोसलिस्ट प्रशासन, राजनीतिज्ञ और इतिहासकार (प्रो० विमल प्रसाद) भी इतिहास में इन्हें उपेक्षित रखने पर आमादा हैं, क्योंकि इन्होंने सोसलिस्ट पार्टी तथा सोसलिस्ट के प्रतिक्रांतिकारी, दकियानूसी एवं पूँजीवाद-पक्षी चरित्र को उजागर किया है। इन्होंने मध्यम वर्ग और खासकर बुद्धिजीवी और इतिहासकार को क्रांति के पक्ष में रखने का कार्यक्रम पेश किया था जिससे उसका प्रगतिशील स्वास्थ्य विकसित हो, वह क्रांतिकारी सामाजिक परिवर्त्तन का महत्वपूर्ण अंग बन सके, किन्तु मध्यमवर्ग (खासकर इतिहासकार) उनको वर्ग-दुश्मन मान इतिहास में मात्र इस "कसूर" के लिए उपेक्षित रखता है कि उन्होंने मध्य वर्ग (खासकर बुद्धिजीवी वर्ग) के अवसरवादी, व्यक्तिगत लाभ से प्रेरित, सुविधाभोगी और प्रतिक्रांतिकारी चरित्र का सही मूल्यांकन किया है। वे एक समय संन्यासी तक हो गये थे, किन्तु समाज की हकीकत ने उन्हें बताया कि विकृत धर्म फरेब है जो क्रांतिकारी प्रगतिशील सामाजिक परिवर्त्तन के मार्ग का रोड़ा है। परिणामस्वरूप साधु और संन्यासी भी इन्हें तिरस्कृत रखने के पक्षधर हो गये, अन्यथा इतिहास में वे इन्हें अन्य ऋषि-मुनि की तरह वर्तमान महर्षि का उच्चतम स्थान दिलाने की कोशिश करते।

संक्षेप में इसका अर्थ यह हुआ कि स्वामीजी को इतिहास में उपेक्षित रखने का मुख्य कारण उनके वस्तुगत क्रांतिकारी विचार, उनके द्वारा आहूत किसान-मजदूर संघर्ष और सर्वहारा हिंसात्मक क्रांति में उनके अटूट विश्वास प्रतीत होते हैं। इसके लिए साम्राज्यवाद, सामन्तवाद, सम्प्रदायवाद, पूँजीवाद, धर्म और जाति के समर्थक मध्यवर्गीय चाकर राजनीतिज्ञ, नौकरशाह और बुद्धिजीवी इन्हें वर्ग-दुश्मन मान कर उपेक्षित करने की साजिश रच रहे हैं और काफी अंश तक सफल भी हो रहे हैं। इसका यह कदापि अर्थ नहीं लिया जाना चाहिए कि वर्तमान परिस्थिति में उनका उचित ऐतिहासिक मूल्यांकन सम्भव है ही नहीं। इस संकलन में बाधाओं की सम्भावनाओं एवं ताकत का विश्लेषण किया गया है। आखिर वर्तमान संकलन भी इसी सामाजिक व्यवस्था में संभव हुआ है। विभिन्न अध्यायों में किये गए शोध और सम्भावित योजनाओं का जिक्र किया जा चुका है[88]। दिल्ली विश्वविद्यालय से प्रकाशित तथा प्रो० राम लखन शुक्ल द्वारा संपादित विश्वविद्यालय पाठ्यक्रम की पुस्तक आधुनिक भारत का इतिहास का अट्ठारहवाँ अध्याय स्वामीजी के साम्राज्यवाद-विरोधी सिद्धांतों एवं संघर्षों को अति संक्षेप में प्रस्तुत करने का छोटा प्रयास है।

अब वर्तमान में वस्तुगत मूल्यांकन की संभावना की चर्चा की गयी है तो उसकी सीमा की भी चर्चा कर देना श्रेयस्कर होगा। विभिन्न प्रकाशनों की सीमाओं की चर्चा संक्षेप में पहले की जा चुकी है। यहाँ विभिन्न किस्मों के कम्युनिस्टों की चर्चा आवश्यक है। ज्ञातव्य है कि स्वामीजी के क्रांतिकारी विचार के प्रभाव में बहुतेरे लोग कम्युनिस्ट हो गये। इसलिए इस संभावना को तूल दिया जा सकता है कि कम्युनिस्ट तथा उनके समर्थक इतिहासकार तो उन्हें इतिहास में उचित स्थान देने से बाज नहीं आयेंगे और उनके पास प्रकाशन के लिए राशि और विशेषज्ञों का अभाव नहीं है। लेकिन यहाँ भी वे संकीर्ण मनोवृत्ति के शिकार बनाये गये हैं। वर्तमान राजनीति में उन्हें स्वामीजी की कुछ विचार-धारा असुविधाजनक लग रही है, भले ही वे कठोर सामाजिक और राजनैतिक सत्य हों। इसलिए इन लोगों ने स्वामीजी का **"मेरा जीवन संघर्ष"** प्रकाशित कराना मुनासिब समझा, लेकिन **क्रान्ति और संयुक्त मोर्चा** को नहीं या उन पर अलग से स्वतन्त्र पुस्तक को नहीं। सुधाकरजी की स्वतन्त्र पुस्तिका भी उन दुर्गुणों से ग्रस्त प्रतीत होती है। सम्भवतः नक्सलपंथियों ने उसके एक हिस्से को प्रकाशित अवश्य किया है, किन्तु पूर्ण पुस्तक को नहीं। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि वे स्वामीजी का इस्तेमाल अपनी-अपनी संकीर्ण राजनीति के लिए करना चाहते हैं। उनकी रूचि स्वामीजी के सही ऐतिहासिक मूल्यांकन में नहीं, बल्कि निजी स्वार्थ के लिए उपयोग करने में है जो मध्यमवर्गीय संकीर्ण चेतना का द्योतक हो सकता है, वस्तुगत इतिहास-लेखन की वैज्ञानिक परम्परा नहीं। यही इनकी सीमा प्रतीत होती है जैसा कि 'चन्द्रभूषण' ने अपनी प्रस्तावना में संकेत भी दिया है। जरूरत इन सीमाओं से ऊपर उठने की है जिसकी सम्भावना नजर आती है।

विगत कुछ वर्षों में इन सीमाओं से ऊपर उठकर स्वामीजी के सही ऐतिहासिक मूल्यांकन के लिए बल दिया जा रहा है और कुछ संघर्ष भी इस निमित्त चल रहे हैं। बिहार सरकार की एक ऐतिहासिक शोध योजना है—**बिहार का सामाजिक और आर्थिक इतिहास**। इसकी सलाहकार-मंडली सनातनी रूढ़िवादी इतिहासकारों से भरी पड़ी है। मंशा भी स्पष्ट है कि स्वामीजी जैसे व्यक्तियों तथा असली सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक विकास की प्रक्रिया और संघर्षों को नगण्य कर इसे तैयार कराया जाय, जैसा कि अबतक कराया जाता रहा है[89], किन्तु उनमें कुछ ऐसे इतिहासकार भी आ गए हैं जो वैज्ञानिक चिन्तन से प्रतिबद्ध प्रतीत होते हैं। इन लोगों ने जमकर इस साजिश का विरोध किया तथा प्रो० रामशरण शर्मा, प्रो० इरफान हबीब, डा० गिरीश मिश्र, डा० पापिया घोष, डा० सुमन्त नियोगी, डा० राजेन्द्र राम, डा० आर० एन० नन्दी, प्रो० राम लखन शुक्ल, प्रो० डी० एन० झा सरीखे लोगों को योजना से सम्बद्ध रखने की मांग 1985 की प्रथम बैठक ही में रखी। काफी गरमागरम बहस के बाद यह तय हुआ कि अगली बैठक शीघ्र बुलाई जाय तथा कुछ लोगों को सलाहकार-मंडली में रखा भी जाय। इस बीच भारतीय जनता पार्टी को छोड़कर बिहार विधान मण्डल के सभी राजनैतिक दलों के लोगों ने 1986 में राज्यपाल के यहाँ साक्ष्य सहित एक अभ्यावेदन दिया जिसमें अन्य चीजों के अलावे इतिहास—लेखन में इस तरह की उपेक्षापूर्ण नीति की भर्त्सना करते हुए सही दिशा-निर्देश की मांग की।[90] फिर बिहार के सभी विश्व-

विद्यालयों के शिक्षकगणों ने अपना स्मारपत्र राज्यपाल को देकर विधान मंडल के सदस्यों द्वारा दिए गए स्मारपत्र को अपना समर्थन दिया।[91] फलस्वरूप इतिहास-लेखन भी राजनीति की तरह वैज्ञानिक और मनोवादी चिन्तकों के खेमा में बँट गया और राजनीतिक मंच की तरह दोनों संघर्षरत हैं। चूँकि मनोवादी, सामन्तवादी और साम्राज्यवादी इतिहासकारों को राजसत्ता, नौकरशाह और राजनीतिज्ञों का समर्थन प्राप्त है—तर्क का नहीं, इसलिए वे लोग फासीवादी तरीके से उस योजना को अवरूद्ध किये हुए हैं और उसकी बैठक ही नहीं बुला रहे हैं। अधिनायकवादी फतवा दे दिया गया है कि अगर वैज्ञानिक चिन्तन से जुड़े इतिहासकार सलाहकार-मण्डल में सनातनी इतिहासकारों से सहमत नहीं होते तो इसकी बैठक ही नहीं बुलाई जायेगी और वर्णित शोध-योजना को कुड़ादान में छोड़ दिया जायेगा। साजिशपूर्ण और अबौद्धिक ढंग से इस योजना को अवरूद्ध कर दिया गया है जिससे स्वामीजी सरीखे महापुरुषों तथा जनता के जुझारू संघर्ष, किसान-मजदूर आन्दोलन, प्रगतिशील सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक आन्दोलनों की उपेक्षा कर सामन्ती, साम्राज्यवादी, सम्प्रदायवादी और पूँजीवादी रुझान वाला इतिहास तैयार कर उसे उनके वर्ग-स्वार्थ की चेरी के रूप में दर्शाया जा सके।[92] इस मोर्चे पर राजनीति की तरह अभी जंग जारी है जिसके परिणाम के सम्बन्ध में कुछ कहना मुश्किल है। ज्ञातव्य है कि इस योजना के कार्यक्रम के अनुरूप पुस्तक को अब तक प्रकाशित हो जानी थी।

इन्हीं विवादास्पद सम्भावनाओं एवं सीमाओं के घेरे में स्वामी सहजानन्द सरस्वती का वस्तुगत ऐतिहासिक मूल्यांकन फँसा हुआ है जिसकी सफलता तत्सम्बन्धी सशक्त आन्दोलन पर निर्भर करती है। इस जटिल परिस्थिति में तथा वर्गयुक्त सामाजिक व्यवस्था में भी कोई इतिहासकार कौशाम्बी के निर्देश के अनुकूल ओछी मध्यमवर्गीय चेतना से मुक्त हो तथा वर्गच्युत हो स्वामीजी के व्यक्तित्व, कृतित्व एवं संघर्षों का वैज्ञानिक मूल्यांकन कर सकता है बशर्ते उन्हें लोभ और लालच तथा दमन एवं दण्ड की परवाह किये बिना कार्यरत होना पड़ेगा—जो कहना आसान है किन्तु अमल म लाना कठिन। इस तरह के इतिहासकार को अपनी मध्यम वर्गीय क्षुद्र चेतना त्याग कर, राजसत्ता, पूँजीवादी व्यवस्था तथा राजनीतिज्ञ, नौकरशाह और इतिहासकार के एक गिरोह के खिलाफ लड़ कर लक्ष्य पर पहुँचने के लिए संघर्षरत होना पड़ेगा। विगत कुछ वर्षों से संघर्ष जारी है। स्वयं इस संकलन का प्रकाशन वर्णित संघर्ष के संयुक्त, व्यापक और सांगठनिक आधार पर आश्रित सशक्त बौद्धिक तथा सांगठनिक जुझारू संघर्ष की अभिव्यक्ति है। इस संकलन के युवा बुद्धिजीवीगण[93] संभवत: प्रसिद्ध कवि हरिवंश राय बच्चन की निम्नांकित पंक्तियों में रेखांकित आदर्श से ओत-प्रोत हो अपने दायित्वों के प्रति सजग हो उठे लगते है :

युग के युवा,
मत देख दाएँ,
और बाएँ और पीछे,
झाँक मत बगलें,
न अपनी आँख कर नीचे,
अगर कुछ देखना है,

देख अपने वे
बृषभ कंधे
जिन्हें देता निमन्त्रण
सामने तेरे पड़ा
युग का जुआ
युग के युवा!

संदर्भ-सूची :

1. इम्पीरियल हनीमून विथ इन्डियन एरिस्टोक्रेसी, के० पी० जायसवाल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, विहार सरकार, पटना, 1980.
2. शर्मा, चित्त रंजन (सं०), इतिहास लेखन में आंचलिकता, 1986, पृ० 38-66. यह सेंसर किये गये अंश का हिन्दी रूपान्तर है। अंग्रेजी के मूल अंश पर विहार सरकार का कापीराईट है। इसके प्रकाशन की अनुमति नहीं प्रदान की जा रही है। फलस्वरूप अंग्रेजी के मूल दस्तावेज अप्रकाशित हैं।
3. विस्तार के लिए मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, राहुल स्मारक लेखक सहयोग समिति, 1983, इतिहास-लेखन में आंचलिकता।
4. Lenin quoted in The Times of India, 22 मार्च, 1978.
5. मारूश्किन, वी० आई०, इतिहास और राजनीति, 1986, पृ० 236.
6. विलियम ए० विलियम्स, अमरीकी कूटनीति की विडम्बना, न्यूयार्क, पृ० 20.
7. Marx and Engels, *Ireland and the Irish Question*, Moscow, 1974, p. 211.
8. Chaudhary, V. C. P., *Secularism Versus Communalism*, Patna, 1977 and books stated in footnote No. 3.
9. *The American Historical Review*, John K. Ferebenk, Vol. 74, Part 3, Feb., 1969, pp. 861-63,
10. Miller, Richards, *Lessons in the context of Communism*, New York, 1966.
11. मारूश्किन, पृ० 1-3.
12. इण्डिया अण्डर डुरेस
13. देखें, इतिहास-लेखन में आंचलिकता, भारतीय इतिहास-लेखन आदि।
14. विचार-बोध, 15 सितंबर, 1986.
15. मारूश्किन, पृ० 1. वर्णित निष्कर्ष को इस संकलन के खंड 'ग' के सात निबंध संपुष्ट करते हैं।
16. Diwakar, R. R., *Bihar Through the Ages*, Datta, K.K. (ed.), *Comprehensive History of Bihar*, Vol.–III, Ojha, P. N. (ed.), *Hundred Years of the Indian National Congress in Bihar* (1885-1985), etc.
17. *The Searchlight*, August 8, 1984, Distortion of History, "There are several instances of misinterpretations and distortions of Indian history. This trend continues even today without much effort to discipline historians. Both Indian and foreign historians are guilty of misreprenesenting. What is unforgivable is that they set about writing and distorting history with fixed ideas and objectives....meant to misguide

readers. This is best illustrated by the visit of foreign scholars to Bihar State Archives to study history of the state from their own angles. A book on the peasant movement in Bihar has been published recently....He has in the process ignored the national sentiment and the fact that the peasant movement was essentially a part of the Indian freedom movement. This kind of distortion continues. Even Indian historians are tempted to forget their national moorings while writing history."

18. इतिहास-लेखन, जनशक्ति, 27 अगस्त, 1984.
19. सरस्वती, स्वामी सहजानन्द, क्रांति और संयुक्त मोर्चा, पृ० 172, पटना 1943.
20. वही, पृ० 35.
21. वही, पृ० 45-46, 423.
22. वही, पृ० 46-47.
23. वही, पृ० 52-53
24. वही, पृ० 54-55.
25. वही, पृ० 56.
26. वही, पृ० 57.
27. वही, पृ० 59-61.
28. वही, पृ० 67.
29. वही, पृ०102-4.
30. वही, पृ० 163-64..
31. वही, पृ० 171.
32. वही, पृ० 169-70
33. स्वामी सहजानन्द सरस्वती, क्रान्ति और संयुक्त मोर्चा, पटना 1943, पृ० 5.
34. वही, 1-7.
35. वही, 11-17.
36. वही, पृ० 123-24.
37. वही, 11-14, 161-62.
38. वही, पृ० 267.
39. वही, पृ० 326.
40. वही, पृ० 356-60.
41. वही.
42. वही, पृ० 278.
43. वही, पृ० 285, 394.
44. वही, पृ० 410-13, 418.
45. वही, पृ० 421-22,424.
46. वही, पृ० 434-36.

47. वही, पृ० ख.
48. वही; पृ० 395-98, 402, 409.
49. वही, पृ० 129.
50. वही, पृ० 67.
51. वही, पृ० 71.
52. वही, पृ० 242-45.
53. वही, पृ० 250-51.
54. वही; पृ० 206-7.
55. वही, 210-11.
56. वही, 173-75.
57. वही, 181-89, 193-94.
58. वही, पृ० 203.
59. वही, पृ० 221.
60. **क्रांति और संयुक्त मोर्चा**, द्वितीय संस्करण, भाग I, प्रकाशक, सहजानन्द शोध संस्थान, वाराणसी। भूमिका देखें।
61. त्रिवेणी शर्मा, "सुधाकर" **स्वामी सहजानन्द की विचारधारा**, प्रकाशक, ज्ञानगेह, गया, 1988। इसमें कुछ विस्तार में ये उद्धरण दिये गये हैं।
62. वही, पृष्ठ, 22-25.
63. विस्तार के लिए निम्नलिखित ग्रंथों को देखें जिनमें इन पहलुओं का कुछ विस्तृत सैद्धान्तिक और ऐतिहासिक विश्लेषण किया गया है : **मार्क्सवादी इतिहास-लेखन**, पटना, 1983, **इतिहास-लेखन में आंचलिकता, सेक्युलरिज्म वर्सेज कम्युनलिज्म**।
64. Tendulkar, D.G., *Mahatma Vol. VII.* p. 186, Bombay, 1953. "The intelligentsia is more anxious about personal aggrandisement than about India's independence."
65. Nehru, Jawaharlal, *An Autobiography*, p. 591, Oxford, 1980. "This nationalist middle class is a favourable field for the spread of fascist ideas....fascism would probably grow more rapidly supported as it would certainly be by the upper middle class and the vested interests."
66. History and Ideology, *The Searchlight*, 1 August 1984. ".... Congratulate *The Seachlight* for exposing the nefarious designs of the cover (acamedic) organisations-RSS and the CIA at this critical hour of our national history when communal and anti-national and foreign forces hostile to India are

creating grounds for balkanising and destablising our country. What is agonising is the development that these anti-national and hostile elements have been given key-posts in the government." For details of such historians see *Teachers on Forgery Charge*.

67. Kosmabi, D. D., *Exasperating Essays : Exercise in the Dialectical Method*, pp. 14, 24, 33, 44, 54, 55, 87, 98.

"The Indian middle class....firmly in the saddle (has) the principal characteristic (of) the ravening greed which is now so obvious in the blackmarket, in enormnous bribes spent in making still more enormous profits, in speculation in shares and an increasingly callous disregard for the misery and even the lives of their fellow Indians. peasant workers, factory labour and even the lower paid office workers and intellectuals afford a striking contrast with wealth that flows into the pockets of the upper middle class....the fact that the government is the biggest capitalist, the main banker, the greatest employer, and the ultimate refuge or ineffable solace for the bootlicking intelligentsia....(the) manifest (of) the concentrated opportunism, thoroughgoing superficiality and intolerable brag of the new middle-class Indian.... makes for only a formal superficial difference....

"....intellectuals were greatly worried about the question of scientific freedom, meaning thereby freedom for tne scientist to do what he liked while being paid by big business war departments and universities....did not seem to realise that "science" was no longer 'independent'....The scientist now is part of a far more closely integrated, tightly exploited social system; he lives much more comfortably than Faraday, but at the same time under the necessity of avoiding all dangerous social or philosophicial ideas.... where being called communist was far more dangerous than being caught red-handed in a fraud or robbery....The reason why the scientist in a capitalist society today feels hemmed and confined is that the class he serves fears the consequences of change....The position of the desirability of such change cannot be discussed dispassionately, cannot be approached in a scientific manner, by the supposedly free scientist....The individual scientist is openly and brutally enslaved for political reasons....In our own day and country how

many talk of India and its needs when they are really making a case for a little greater share of the spoils for themselves and their minute group ?"

68. D. D. Kosambi, op. cit., p. 4, "....The successful application of the theory needs the development of analytical power, the ability to pick out the essential factors in a given situation. This cannot be learned from books alone. The one way to learn it is by constant contact with the major sections of the people. For an intellectual, this means at least a few months spent in manual labour, to earn his livelihood as a member of the working class, not as a superior being nor as a reformist, nor as a sentimental "progresive" visitor to the slums. The experience gained from living with worker and peasants, as one of them, has then to be constantly refreshed and regularly evaluated in the light of one's reading .... "

69. *The Times of India*, 17 May 1988, CPI spurns NTR's Invitation.

70. परसाई, हरिशंकर, प्रतिनिधि व्यंग, पृ० 62, दिल्ली, 1983 तथा **जैसे उनके दिन फिरे**, पृ० 53-57, दिल्ली, 1982.

71. Lawrence, D. H., (रामधारी सिंह दिनकर द्वारा अनूदित), **आत्मा की आंखें**, मध्यम वर्ग पृ० 90-92, दिल्ली—1964.

72. *Teachers on Forgery charge, Bihar* Young Historians Group, Patna.

73. **इतिहास लेखन में आंचलिकता**, पटना, 1986.

74. **पाटलिपुत्र टाइम्स**, 14 जुलाई 1985.

75. **जनसत्ता**, 17 जुलाई. 1985.

76. शर्मा, चित्तरंजन, पृ० 190, 183.

77. त्रिवेणी शर्मा सुधाकर, **स्वामी सहजानन्द की बिचार धारा**, पृ० 2, 7.

78 सरस्वती, दंडी स्वामी विमलानन्द, **युग प्रवर्तक जननायक श्री स्वामी सहजानन्द सरस्वती**, पृ० 17, श्री राम चरित मानस-यज्ञ समिति, सिमरी, भोजपुर, 1981.

79. **मेरा जीवन सघर्ष**, पृ० 557.

80. चन्द्रभूषण (संपादक), **क्रांति और संयुक्त मोर्चा**, भाग, पृ० 5.

81. वही, पृ० च.

82 **चन्द्रभूषण**, पृ० ध-च.

83. वही, पृ० छ.

84. मेरा जीवन संघर्ष. पृ० 446-7.

85. सरस्वती, दंडी स्वामी विमलानन्द, पृ० 22-23.

86 विस्तृत विश्लेषण के लिए इतिहास-लेखन में आंचलिकता पढ़ें।

87. *The Searchlight*, 24 Sept., 1980 "Professor Nagendra Jha, Minister for Mines and Housing deplored that although Maharajah Lakshmihwars Singh made so much sacrifice for the cause of the nationalist movement and Indian National Congress, not even his name was mentioned in the state Government sponsored books like *Bihar through the Ages*....The Minister, however, assured that he would take up the matter with the State Government and would try to do needful."

88. सहजानन्द सामाजिक विकास और शोध संस्थान के अध्यक्ष रामविनय शर्मा को दिनांक 28 सितम्बर 1989 के अपने भेजे गये पत्र में वाल्टर हाउजर ने सूचित किया है कि 1990 में उनकी एक पुस्तक प्रकाशित होनेवाली है जिसमें स्वामीजी तथा बिहार के किसान आन्दोलन से सम्बद्ध शोध कृतियों का विस्तृत वर्णन होगा।

89. *The Hindustan Times*, 6,20 Oct, 1986. "The K. P. Jayaswal Research Institute has made no headway in recent years in the field of research and dissemination of knowledge........ no serious resharch work is done in the institute. Some of its (Indian National Congress in Bihar 1885-1995) chapters are substandard........However, a book published recently Biography of Kuer Singh and Amar Singh raised controversy (for the crime of academic piracy of authorship by the Director). The Institute has launched a scheme to publish socio-economic history and a district-wise history of freedom fighters of Bihar. The scheme was launched in 1984 but not a single meeting of project committee has been called so far........The personality of the Director is the main factor in enhancing the prestige of an institute. It is the bane of Bihar that here the directors of institute are appointed on the basis of political pairve. This is the main reason why all research institutes have been languishing." See also *The Times of India*, 6 Dec. 1987 etc.

90. For details see the relevant portions of the CDHEGAUT running into 246 pages submitted to the Governor of

Bihar by Bihar legislature of all political parties barring the BJP on 13 Nov., 1986.

91. *The Hindustan Times*, 20 Nov, 1986, *Janshakti*, 21 Nov, 86, *Vichar Bodh*, 22 sept., 1986 etc.

92. विस्तृत जानकारी के लिए देखें, योजना सम्बन्धी संचिका, उसकी कार्यंवाही का विवरण, कार्यंवाही में की गई जालसाजी के सम्बन्ध में उसी संचिका में सुरक्षित दस्तावेज, का० प्र० जा० शो० सं० संचिका सं०—विविध 6/ए/1/84, तत्संबंधी पत्राचार और योजना समिति के विभिन्न सदस्यों के लिखित मंतव्य।

93. इन तरुण बुद्धिजीवियों में से कुछ मेरे घनिष्ठ सम्पर्क में 1984 के एक चुनाव-दंगल में आए। वह कुछ चुनौती पूर्ण उत्तेजक था। उनके शिक्षक संघ के नेता उम्मीदवार थे और उनकी पार्टी के नेतृत्व के एक प्रभावकारी हिस्से के साथ-साथ बिहार के शिक्षा मंत्री उन्हें इस सीट पर उनकी हार को सुनिश्चित करने के लिए कटिबद्ध थे। स्वयं नेता ऐसी विषम साजिश-पूर्ण स्थिति में चुनाव-दंगल में शामिल होने से हिचक रहे थे किन्तु इन युवकों ने अपनी पूरी मदद का आश्वासन देकर उन्हें खड़ा किया। चुनाव-क्षेत्र के उस हिस्से में वे कार्यरत हुए जहाँ कोई खास मत उन्हें प्राप्त होने की आशा नहीं थी। इनलोगों के प्रयास से उनकी जीत हुई और उनकी जीत से वे लोग तिलमिला उठे जिन्होंने यह क्षेत्र उन्हें हारने की उम्मीद में आवंटित किया था। ज्ञातव्य है कि इस चुनाव-क्षेत्र में इन लोगों ने नेताजी को नहीं आकर अन्य हल्कों में प्रचार के लिए छोड़ दिया था, एक भी मोटर या टेम्पू का इस्तेमाल नहीं किया गया तथा एक भी पैसा उम्मीदवार, उनकी पार्टी या शिक्षक संघ की ओर से नहीं लिया गया। कुछ पैसे इन लोगों ने स्वयं अवश्य उनके चुनाव फंड में भेज दिया। उनके संकल्प, दृढ़ता और फौलादी हिम्मत ने हमको इनसे समीप कर दिया। इनमें से कुछ के पास बेसुमार बौद्धिक और सांगठनिक क्षमता थी जिसका एक ठोस प्रतिफल इस संकलन का प्रकाशन है।

□

खण्ड—'घ'

स्वामी सहजानन्द सरस्वती : उपेक्षा के शिकार

लेखक-परिचय :

32. **अंजना कुमारी**:—इतिहास में एम० ए० करने के बाद शोधरत हैं।

33. **महेश प्रसाद सिंह** :—बी० एम० डी० कालेज में इतिहास के रीडर एवं विभागाध्यक्ष हैं। **मार्क्सवादी** इतिहास-लेखन के सह-लेखन के साथ-साथ आपने **टीचर्स ऑन फॉर्जरी चार्ज** का संपादन किया हैं।

34. **पूनम ठाकुर** :—आप पटना विश्वविद्यालय से दर्शन शास्त्र में एम० ए० करने के बाद वहीं 'ए स्टडी ऑफ इमोटिव थ्योरीज' विषय पर शोधरत हैं और शीघ्र ही यह शोध-प्रबंध जमा होने वाला है।

35. **स्वामी शिवानन्द सरस्वती** :—आप स्वामी सहजानन्द सरस्वती के सहकर्मी तथा उनके ढेर सारे आन्दोलनों में साझेदार थे। आपकी कई छोटी-मोटी पुस्तिकाएँ प्रकाशित हैं। अभी हाल ही में देहावसान हुआ है।

36. **दिनेश नारायण मल्लिक** :—आप बीं० एम० ;डी० कालेज, दयालपुर, में राजनीति विज्ञान के व्याख्याता हैं। आपके कई शोधपूर्ण निबंध प्रकाशित हो चुके हैं। आप 'रोल ऑफ इण्डिया इन दी यू० एन० सेक्रेटेरिएट' विषयक शोध-प्रबंध शीघ्र ही बिहार विश्वविद्यालय में पी०एच०डी० डिग्री हेतु दाखिल करने वाले हैं।

37. **ब्रज नारायण झा** :—आप ल० ना० मिथिला विश्वविद्यालय के के० एस० आर० कालेज, सरायरंजन, में इतिहास विभाग में व्याख्याता तथा कालेज की परिचर्चा समिति के सदस्य हैं। कई शोधपूर्ण लेखों के प्रशंसित लेखक होने के साथ-साथ आप अखिल भारतीय इतिहास कांग्रेस जैसी संस्था के लिए भी शोध निबन्ध तैयार कर चुके हैं। आप 'इण्डियन हिस्टोरियोग्राफी एण्ड हिस्टोरियन्स' शीर्षक शोध-प्रबंध शीघ्र ही बिहार विश्वविद्यालय में पी० एच० डी० के लिए दाखिल करने वाले हैं।

38. **अजय कुमार झा** :—ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग में शोधरत हैं।

39. **ओंकार नाथ झा** :—इतिहास में एम० ए० करने के बाद शोधरत हैं।

40. **मनोज कुमार झा** :—आप मगध विश्वविद्यालय के कालेज ऑफ कॉमर्स, पटना, में राजनीति विज्ञान के व्याख्याता हैं। आपने राजनीति विज्ञान के अतिरिक्त प्राचीन भारतीय इतिहास तथा दर्शन शास्त्र में भी एम० ए० तथा बी० एड० भी किया है। आपके पी० एच० डी० शोध प्रबंध का शीर्षक था "The Congress splits in 1969 : The Indira Factor"। आप अनेक शोधपूर्ण निबंधों के प्रशंसित लेखक हैं।

41. **विजय चन्द्र प्रसाद चौधरी** :—काशी प्रसाद जायसवाल शोध संस्थान में शोध-सदस्य तथा जाने-माने इतिहासकार हैं। एकाध सौ शोध-निबन्धों तथा हिन्दी और अंग्रेजी में दर्जन से ज्यादा शोध पुस्तकों के लेखक हैं। स्वतंत्र भारत की यह बेमिसाल घटना 1977 की है कि हिस्ट्री काँग्रेस में इतिहास-लेखन विषय पर एक निबंध प्रस्तुत करने तथा उसी वर्ष 'सेक्यूलरिज्म वर्सेस कम्यूनलिज्म' पुस्तक लिखने के लिए सरकारी सेवा से आपको मुअत्तल किए जाने का निर्णय हुआ, किन्तु व्यापक विरोध के कारण वह निर्णय कार्यान्वित न हो सका, 'मात्र' स्थायी तौर पर दंडस्वरूप आप प्रोन्नति से वंचित हुए और कम वेतन के भागीदार भी बनाए गए।

परिशिष्ट—I

भूमिहार ब्राह्मण की उत्पत्ति और विकास : परम्परा और इतिहास

19 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से अद्य: पर्यन्त भूमिहार ब्राह्मण की उत्पत्ति तथा तत्संबंधी स्त्रोत-विश्लेषण बौद्धिक जगत में आलोड़न-प्रलोड़न का एक उद्वेलक एवं विवादास्पद विषय रहा है। कभी-कभी तो यह गंभीर परिचर्चा से हटकर छीछालेदर, विदूषण तथा विद्रूपिका तक में परिणत होता रहा है। आज भी यह विषय कभी-कभी किस तरह की भावुक संवेदनाओं में परिणत होता है, वह विश्वनाथ सिंह की पुस्तक 'मेरे गाँव-मेरे लोग' के वर्णित शब्दों में अभिव्यक्त है—"हम कौन थे, क्या हो गए और क्या होंगे अभी आओ मिलकर विचारें, ये समस्यायें हम सभी।" इन्हीं गम्भीर पहलुओं से अवगत हो सहजानन्द सरस्वती तत्संबंधी अनेक शोधपरक पुस्तकों एवं निबंधों के प्रणेता बने। इनके अतिरिक्त अन्य लोगों के विवरण जो हमें प्राप्त हैं, उन्हें नीचे उद्धृत किया जा रहा है :—

शेरे उल मुतखारीन, भाग—1, पृ० 350.

"मुगल राज्य के अन्त काल, (1750 ई० के लगभग) में जब अलवर्दी खाँ अजीमाबाद (पटना) से बंग विजय को चले तो प्रांत के कई जमींदारों ने उनका पीछा किया था। उनमें से एक थे मगह जिला के टिकारी के राजा सुन्दर सिंह, एक ब्राह्मण जमींदार।"

गाजीपुर डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, मि० नेविले.

"आईने अकबरी से जाहिर होता है कि ये जमीन्दार ब्राह्मण थे जिस नाम से भूमिहार जाने जाते हैं। मदन बनारस के जमीन्दार ब्राह्मण थे अर्थात् भूमिहार"

हैमिल्टन बुकानन. सर्वे रिपोर्ट, भागलपुर तथा पूर्णिया, 1812.

"ब्राह्मणों की एक अन्य जाति है जिन्हें पटना के निकट से आने के कारण मगही, पश्चिम से आने के कारण पश्चिमा एवं जमींदार इत्यादि कहा जाता है।"

हैमिल्टन बुकानन, हिस्ट्री ऑफ मोडर्न गया एंड पटना 1811-12.

"इस जिले के अत्यधिक ब्राह्मण, 80000 परिवार कृषि एवं युद्ध जीवी हैं।.... मेरी राय में ये निस्संदेह प्राचीन ब्राश्मनोई के वंशज हैं।"

हैमिल्टन बुकानन, सर्वे रिपोर्ट, शाहाबाद, 1812.

"18 वीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में काशी नरेश चेत सिंह एवं अवध के नवाब अली खाँ बनारस में कैद थे। नवाब के हुक्म से अंगरेज रेजीडेन्ट मि० चेरी को शहर ही में दिन दहाड़े मार दिया गया। हत्यारे को मृत्युदंड दिया गया। यह शाहाबाद जिले का बाभन था। अतएव उसकी ओर से यह बहस हुई कि ब्राह्मण होने के नाते वह अवध्य है। ...इस प्रश्न के लिए विद्वान पंडित लोग जूरी में बैटाये गये थे। उनका सर्वसम्मत मत था कि बाभन-ब्राह्मण एक ही जाति के भिन्न नाम हैं।"

सर रिचर्ड टेम्पल, इंडिया इन 1880, **पृ०** 111-17.

"लौकिक कर्म करने वाले ब्राह्मणों का स्थान उच्चतर है अपने उन भाइयों की अपेक्षा जो पुरोहित कर्म में लगे हैं।"

The Behar Times—28th January, 1898—Letters to the editor by A. P. S.—The Bhumihar Babhans :

'Of all classes of Hindoos, inhabiting the province of Behar, the most numerous are Brahmins, popularly known as the Babhans. They, as their name implies, are Brahmins owning lands. The legend is that when Parsuram, that great Brahmin warrior, had made this earth almost chhatriless, he distributed the lands amogst the ancestors of these men. So it is plain that these men have a respectable and historical origin. This being admitted, it follows that once these people were in the van of civilization and wealth, but by process of time, it has so turned out, that although possessing some wealth as of olden days, they have fallen much backward in education, civilization and enlightenment."

The Behar Herald, 20 th Sept., 1899—Who are the Babhans of Behar ?

"....The public has been much exercised of late to know who the Babhuns really are and how they came to Behar and it seems our contemporary *The Patrika* has given them umbrage by calling them "a low caste and altogether inferior people." "Low caste and inferior" they certainly are not, although their origin is much disputed. The Babhuns themselves claim to be Sarwaria Brahmins; Buchanan Hamilton makes them Sakahdwipos; elsewhere, as in Palamu, they claim to be Rajputs. Magrath thinks that they were a low Aryan race who were brought into close contact with the Rajputs, probably in some of their struggles for supremacy, and not being allowed to intermarry or form one people with them, have acquired a pseudo-respectability by pretending

that they are Brahmins. A Collector of Saran says that the most probable account of their origin is that they were the children of Brahmin girls and Rajput fathers. These theories will not stand criticism.....Dr. Rajendra Lal Mitra in his notice of the Bishan Talukdars of Oudh says that the Hutwa Rajas and these Talukdars are descended from the same progenitor i. e., from the same common Brahmin father, but from a mother of the Vaishya caste. But the evidence for this position is not given.

"The account given by the Babhuns themselves is that certain Brahmins deserted their legitimate duties of prayer, praise, and alms-taking for husbandry, and became the ancestors of the Babhuns or Zemindary Brahmins.

"The legendary account of their origin as currently given by others than Babhuns is that on one occasion, Jarasindhu, the famous king of Magadh, wishing to feed four lakhs of Brahmins found. after he had collected all, that they were quite unable to consume the food he had cooked. He therefore sent out and gathered together persons of all castes, and decorated them with the sacred thread. These he compelled to eat his supper as Brahmins, and the Babhun caste is said to be descended from these manufactured Brahmins. The legend, the authenticity of which is stoutly denied by the Babhuns, varies in different parts of Behar, though the different stories agree in the main The other account is, that, on one occasion, Jarasindhu, wishing to perform some religious ceremony, ordered his Dewan to collect a lakh of Brahmins. This task the Dewan was unable to accomplish; so he introduced a number of persons of other castes, who were invested with the sacred thread and placed before the king as genuine Branmins. From these spurious Brahmins the Babhuns are said to have descended.

"Now we have the following facts:- 1st that the Babhuns are only to be found in any numbers in the Maghadhdesh, the country of Buddhism, and every thing points to this being the place of their origin; 2nd, That the word Babhun is the Prakrit corruption of the word Brahmin, and is often used in contemptuous sense to signify degraded and low Brahmins, thus clearly indicating their connection with Buddha Goutama; and they themselves admit that they have forsaken the original duties of Brahmins, and betaken themselves to husbandry.

In other words that there has been a change in their faith, 4th, That the tradition shows that all the Brahmins of Behar became degraded and came to form a separate caste; first, by eating dinner of Jarasindhu, the foe of Krishna (a name which we may take, as set down in the legend, for the name one of the earliest Buddhistic kings of Maghadha) or by performing some religious ceremony for him; secondly by some early attempt on account of a change of religion, to do away with the Brahmanical system of caste; 5th, That all the pure Brahmins now to be found in Behar, came from Gour, Mithila, Kanauj, etc., and there are such Brahmins as Maghadha Brahmins. All these theories indicate that after the Brahmins had succeeded in expelling Buddhism, and re-establishing themselves in Behar, they came to regard the Brahmins of Maghadha, who had given in, to a certain extent, to the order of things established by Buddhism, and betaken themselves to secular pursuits, with a certain amount of contempt, and placed them in a lower order than their own by interdicting marriages and refusing to partake of their cooked food. Nor did these Babhuns, who appear to have been then, as they are now, the landed aristocracy of Behar, care very much for the recovery of their Brahminical dignity. Wherever, there was no such ready-yielding as among the Buddhist priests of Behar of the day, certain amount of sacerdotal influence came to be left. This was how, we believe, the Gyalis of Gya succeeded in retaining their power, until by a process of incorporation, they were invested with a certain amount of quasi—Brahminical authority by the Brahmins themselves. It appears to us, therefore, that the Babhuns are those Brahmins (with whom there possibly was a certain admixture of Rajputs) who were either converted to the Buddhist faith, or chose to live under the Buddhistic system with a changed status."

Tribes and Castes of Bengal: *Ethnographic Glossary*, Vol.-I, H.H. Risley, Calcutta, 1908, pp 28-34.

"Babhan, Bhumihar, Zamindar Brahmin, Girhasth Brahman, Pachhima Brahman, Magahya Brahman, Ajagyak Brahman, Zamindar, Chaudhriji, a large and influential caste which counts among its members some of the chief landholders of Behar. Regarding the origin of the Babhans, a variety of traditions are current. One story represents them as the descendants of the Brahman rulers whom Parasu Ram set up in the place of the Kshatriyas slain by him, and who in course of time abandoned their brahminical duties and took to the profession of landholding. Another tells how a certain king of Ayodhya, being childless, sought to remove his reproach by the sacrifice of a Brahman, and bought for this purpose the second son of the Rishi Jamadagni, the father of Parsu Ram. By the intervention of Viswamitra, the maternal uncle of the victim, the Raja was enabled to get a child without bloodshed; but the young Brahman was held to have been degraded by the sale, and was called upon to settle down on the land and become the forefather of the Babhan caste. A third legend, perhaps the best known of all, traces Babhans back to a sacrifice offered by Jarasandha, King of Magadha, at which a very large number of Brahmans, some say a lakh and a quarter, were required to be present.

"The last theory is at once refuted by the appearance and demeanour of the caste. "They are" says Mr. Beames, "a fine manly race, with the delicate Aryan type of feature in full perfection." This type, I may add, is singularly uniform and persistent among the Babhans, which would not be the case if they were descended from a crowd of low-caste men promoted by the exigencies of a particular occasion."

"....There remains the question—Are the Babhans Brahmans who have somehow been degraded and dropped out of the ranks of their original caste ? There seems to be no prima facie improbability in this theory.—

"An examination of the sections or exogamous groups into which the Babhans are divided appears, however, to tell strongly against the hypothesis that they are degraded Brahmans. These groups are usually the oldest and most durable element in the internal organizations of a caste or tribe, and may therefore be expected to offer the clearest indications as to its origin,.... It would follow that the Babhans are an offshoot, not from the Brahmans, but from the Rajputs.

"The considerations set forth above appear to me to render it highly probable that the Babhans are a branch of Rajputs. It must, however, be admitted that evidence in favour of a Brahminical origin is not wanting. Mr. Sherring lays stress on the fact that the Bhuinhars of Benaras "call themselves Brahmans; have

the gotras, titles, and family names of Brahmans." In Behar, though the claim to be Brahmans is not invariably put forward. Brahminical titles, such as Misr, Panre, and Tewari are used along with the Rajput titles of Singh, Rai, and Thakur.

"At the sraddh ceremony (of Babhans), as in all other acts of domestic worship for which the services of a purohit are required, Kanaujia Brahmans officiate without thereby incurring any degradation in comparison with the Brahmans who serve the higher castes. In some parts of Eastern Behar Maithil Brahmans are employed by the Babhans. These rank below Kanaujias, and are looked down upon by the Srotriya Brahmans, not because they serve in Babhans' houses but because their own origin is believed to be of doubtful purity.

"Owing probably to the controversy about their origin, the social standing of the Babhans is not altogether easy to determine precisely, and varies slightly in different parts, of the area they inhabit. (Moreover) Babhans themselves claim to observe a higher standard of ceremonial purity than Rajputs, in that they will not touch the handle of the plough, and that they use the full upanayan ritual when investing their children the Janco or sacred thread. In the matter of food they profess to take cooked food only with Brahmans, and sweetmeats, curd, parched rice, etc. (pakki), from Rajputs and the group of castes from whose hands a Brahman can take water."

डा० राम प्रसाद चन्दा, पुरातत्त्व विभाग के भूतपूर्व सुपरिण्टेडेन्ट, पूर्वी सर्किल, **आर्यन रेसेज**, पृ०-165.

"प्राचीन ब्राह्मणों के प्रतिनिधि के रूप में बिहार की एक जाति है बाभन या भूमिहार ब्राह्मण।"

सर एच० इलिएट, **मेम्वोयार्स ऑफ दि हिस्ट्री**, भाग—1, पृ० 21.

"भूमिहार शुरू में सरवरिया शाखा के ब्राह्मण थे। काशीराज से कसबार परगना का बन्दोबस्त लेकर वे कृषि कार्य में लग गये। उनका आदर-सत्कार बना हुआ है।"

मि० फिशर, आजमगढ़ गजेटियर्स, 1909, पृ० 86-87.

"जनता की दृष्टि में वे ब्राह्मण के समान ही वंदनीय हैं।"

रामावतार शर्मा, **प्रियदर्शी प्रशस्तियाँ**, 1916, पृ० 6, 14, 17, 38.

बाभन ब्राह्मण शब्द का उच्चार अपभ्रंश मात्र है। इस शब्द का उल्लेख तीसरी शताब्दी ई० पू० के सम्राट अशोक के शिलालेखों में भी पाया जाता है।

सातवाहन राजाओं के पहली तथा दूसरी शताब्दी के शिलालेखों में भी यह शब्द पाया जाता है। यथा—एको बाभनोहं।

भास (तीसरी शताब्दी)—उज्जयनीय बाभनो
पृथ्वीराज रासौ—बाभन होइ प्रधान सदा रखवाइ निश्चिन्तो
विद्यापति—तेसर वैरी भेला नारद बाभन, जौं घर आयत नारद बभना
कबीर—तू बाभन मैं काशी का जोलहा
भूषण—और बाभनन देखि कहत सुदामा सूधी
नन्ददास—बाभन को धन कुवल भिक्षा
सूरदास—कल्लर बाभन करन कसाई
तुलसीदास—ज्ञान मारसि गुरू बाभनगण

हिन्दी शब्द सागर, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 1925.

भूमिहार:—"जो हो पर इसमें संदेह नहीं कि इस जाति के ब्राह्मणों में भजन-याजन आदि कर्मों का नितान्त अभाव देखने में आता है और प्रायः क्षत्रियों की अनेक बातें इनमें पाई जाती हैं। ये लोग दान नहीं लेते और प्रायः खती-बारी या नौकरी करके अपना निर्वाह करते हैं।"

कान्यकुब्ज हितकारी, नवम्बर, 1826.

"कान्यकुब्ज और भूमिहारों में कोई अंतर नहीं है। दोनों शादी करते हैं और कान्यकुब्ज समाज इसे घृणित नहीं समझता।"

हिन्दी विश्वकोश, भाग-16, श्री नगेन्द्र नाथ बसु, 1828.

भूमिहार: "बिहार प्रदेश वासी एक श्रेणी के ब्राह्मण। ये लोग भूमिहार जमींदार, बाभन, मघहिया-ब्राह्मण, अयाचक ब्राह्मण और चौधरी नाम से जन-साधारण में प्रसिद्ध हैं।

"इस जाति की उत्पत्ति कथा से इनका नीच जातित्व कल्पित होने पर भी शारीरिक गठन और उदार प्रकृति देखने से इन्हें नीच वंशोद्भव नहीं कहा जा सकता।"

मानक हिन्दी कोश, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, 1966.

भूमिहार—"एक ब्राह्मण जाति जो प्रायः उत्तर प्रदेश और बिहार में बसती है और प्रायः खेती बारी से जीविका का निर्वाह करती है।"

Quoted from unpublished book of Rai Bahalur Hem Chandra Bose, Advocate :

"The late Dr. K. P. Jayaswal is reported to have held that the Bhumihar Brahmins are direct descendants of the Lichhavis of Vaishali. Mahamahopadhyay Dr. Haraprasad Shastri also held the view that the Bhumihar Brahmins have descended from people near about Vaishali and after the decline of Buddhism, spread over the different parts of India and were gradually absorbed into the fold of Hinduism. ·· (He) gives this opinion about the origin of Bhumihar Brahmins from Buddhist."

बिना बजाये डुगडुगी रावन के दरबार।
कान पकड़के निकाल दिया, नाम पड़ा भूमिहार।
रहत बजावत दुंदुभी, दसकंधर के द्वार।
आइ पड़ा मृतभुवन में, (आ कलियुग में आइ के) नाम पड़ा भूमिहार।
भाइ भतीजा भागिना भाट भाड़ भुइहार।
एते (तुलसी) षड्भकार ते, सदा रहो होसियार।
सरासर जो फिसल जाये उसे सलवार कहते हैं।
वक्त पर धोखा जो दे जाये उसे भूमिहार कहते हैं।
जो खाये, न खिलाये, उसे भूमिहार कहते हैं।

हिन्दी विश्वकोश, खण्ड—9, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 19.

"भूमिहार: उत्तर भारत की प्रसिद्ध जाति। पंजाब के महिपाल, मेरठ रहेलखंड के त्यागी तगा, महाराष्ट्र के चितपावन, गुजरात के अनावले देसाई, मगध के बाभन, मिथिला के पश्चिमा और प्रयाग के जमींदार इसी जाति वर्ग के कहे जाते हैं। ये प्राय: जमींदार और राजा-रईस रहे हैं।

"कान्यकुब्ज वंशावलियों से विदित होता है कि काँन्यकुब्ज प्रदेश स्थित मदरपुर अधिपति भूमिहार कहलाते थे। राजपुताना गजेटियर के अनुसार भूमिहार का अर्थ है जागीरदार, किन्तु पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में यह नाम एक विशेष वर्ग के लिए रूढ़ हो गया है।"

Profs. Girish Misra and Braj Kumar Pandey, *The Searchhight*, **7-8 November, 1969.**

बिहार में जातिवाद की सामाजिक-आर्थिक जड़—

The Socio- Economic Roots of Casteism in Bihar—

बाभन या भूमिहार बिहार में जमीन्दार थे।…भूमिहीन किसानों की संख्या इस जाति में बहुत कम थी। ….कुछ शिक्षित भूमिहारों ने उसे ब्राह्मण जाति की एक शाखा प्रमाणित करने का आन्दोलन शुरू किया। तब तक यह जाति बाभन नाम से ही प्रसिद्ध थी। पिछली शताब्दी के अंत तक किसी सरकारी कागज में भूमिहार या भूमिहार ब्राह्मण शब्द का उल्लेख नहीं है। सामाजिक प्रतिष्ठा सीढ़ी पर ऊपर उठने के आंदोलन के बाद ये अपने को ब्राह्मण या भूमिहार ब्राह्मण या भूमिहार कहने लगे (यह धारणा निर्मूल है)।

राम शरण शर्मा, इण्डियन फ्यूडलिज्म, 1970, पृ०–5.

"जमीन की जागीरदारी की प्रथा गुप्तकाल में बड़े पैमाने पर फैल चुकी थी। इसी प्रथा ने ब्राह्मण सामंतों की उन्नति का मार्ग प्रशस्त किया।….जागीरदाता का जो भी उद्देश्य रहा हो, परन्तु इन्हीं जागीरदारों ने एक मध्य वर्ग कायम किया जो सामन्त वर्ग कहलाए। इनके अनेक रूप एवं अनेक कार्यकलाप हुए। भूस्वामी ब्राह्मणों की संख्या इस प्रकार बढ़ने पर शनैः-शनैः ये पुरोहित कर्म त्याग कर भूमि के प्रबंध एवं व्यवसाय की ओर मुड़ गये। धार्मिक कृत्य से इन्होंने सांसारिक कृत्यों को ही प्रधानता देना श्रेयस्कर समझा।"

Profs. P. P. Sharma, R. P. Sharma and D. Tiwari; *The Searchlight*, 14 जनवरी, 16 मार्च तथा 19 मार्च, 1970.

Social Rise of Brahmanic Castes (सारांश) :
(ब्राह्मण जातियों का सामाजिक उत्थान)

"सृष्टि के प्रारंभ में ब्राह्मणों की स्वभावतः एक ही जाति थी। विशेष वेद पठन के अनुसार कालक्रम से उनकी चार शाखाएँ हुई। प्रत्येक वेद की शाखा या चरण के अनुयायी होने के नाते इन शाखाओं की भी प्रतिशाखाएँ हुईं। महाभारत के शांतिपर्व के अध्याय 169 तथा स्कंद पुराण के आदि-पूर्व माहात्म्य में—प्रतिग्राहक और अप्रतिग्राहक-दो शाखाओं का उल्लेख मिलता है। ··· हिन्दु समाज पर इस्लाम की चोट पड़ने के कारण समाज छिन्न-भिन्न होने लगा। ····शुरू-शुरू में आवास भूमि के अनुसार दस शाखाओं का निर्माण हुआ।····फिर जन्म भूमि, व्यवसाय-वृत्ति के अनुसार प्रशाखाएँ बनीं। इस प्रकार विभाजन का सिलसिला···· 1861 ई० की जनगना में 850 ब्राह्मण शाखाओं का उल्लेख हुआ। ····बाभन को संज्ञाहीनता सूचक मानना अज्ञानता है।"

The Hindustan Times, First Bhumihar, 20 August 1989.

On the subject of Bhumihars, I did not know that the Keralites were eternally indebted to them until a Bhumihar friend brought home the point to me. "Why talk of indebtedness only? Their very existerce is at our mercy," he said, and his voice had a ring of mock seriousness.

The friend had a mythological tale to buttress his claim. According to him, the first Bhumihar from whom the community is descended was Saint Parasuram, variously described as Rama with the axe and the Lord of Anger.

The story has it that after killing the Kshatriyas (Rajputs ?), Parasuram, whom many believe, was an incarnation of Vishnu, throw away his axe. The axe fell into the Arabian sea. The force with which it was thrown was so great that the water got displaced from where the axe fell and there emerged a new land which was called Kerala

"The moment the axe is taken out, the whole of Kerala will sink back into the sea," he said jokingly, adding, "You should, therefore, be careful when handling Bhumihars."

It was then that I learnt how much Kerala owed to the little community found in Bihar and some parts of Uttar Pradesh. Until then I had thought the greatest Bhumihar was the former Prime Minister, Mr. Morarji Desai. Although many Bhumihars claim him to be one of their caste, few have been able to explain how a Gujarati could be called a Bhumihar. My Bhumihar friend,

however, had an explanation for that too; "Morarji Desai has many Bhumihar characteristics. Are they not sufficient to declare him a Bhumihar ?"

As I delved deep into the subject, it became clear to me that Keralites were not alone in being indebted to Parasurama and his castemen. In fact, every Hindu is indebted to him. How come ?

Hinduism teaches that every person is in debt by nature to three persons, viz., his father, his mother and his guru. The first two debts had been paid off by Parasurama on behalf of entire humanity. How ? He had restored his mother Renuka to life after having cut off her head in obedience to his father, Jamadagni's order, thus paying off his debt to his mother.

When Parasurama's father was killed by Sahasrabahu, he avenged the killing by the slaughter of the Kshatriya race. Thus he paid off his debt to his father. But he could not pay off his debt to his guru, Mahadev, because he failed to protect His bow from Lord Rama who broke it at Sita's swayamvara.

Thus, it would be wrong to single out the Keralites for being indebted to Parasurama and his Bhumihar descendents for every Hindu finds himself in a similar position. Is there any doubt on this score ?

Aims and objects of the Pradhan Bhumihar Brahman Sabha :

1. Spread of Sanskrit education. Religious and moral traiining to students.

2. Spread of primary and high education. The Bhumihar Brahman college at Mozufferpore owes its existence to the Sabha.

3. Prohibition of marriage amongst boys before the age of 16 years.

4. Reforms in the marriage system. Discouraging litigation and settlement of disputes by panchayets.

5. Assistance to helptess widows and orphans. Help to poor Caste fellows who cannot afford to marry their daughters or perform the Upanayan (Sacred thread) ceremony of their boys.

6. Starting Agricultural Banks. opening shops and factories and encouraging people of the community who are wholly agriculturists to take to trade and commerce also. E.H. Berthoud, Magistrate of Patna to the Commissioner of Patna, No. M.-145-5-12, dated 21 May, 1912, Procds., Municipal Deptt., Govt. of Bihar.

परिशिष्ट-II

बिहार में पुनर्जागरण

The Behar Times, 1st January 1897.

The reform movement which was inaugurated among the Kayasthas of Behar has almost disappeared, the temperance movement in the Province appears to be without backing; even the Theosophical Society is languishing. Some racial discord was aroused during the year····at Ranchi and elsewhere by occasional tilts between the orthodox Hindus and the Arya Samajis. But the Arya Samaj is a plant of sickly growth in Behar, and even the numerous Hindu Sabhas which had sprung up in different parts of the province, give evidence of but a fitful existence.

The Behar Herald 28th Oct., 1899

A deputation of the Bhumihar Brahman Sabha, Muzaffarpore, waited on the Maharajah of Benares on the 18th October, "to request High Highness to patronise the Sabha in its efforts to improve the educational status of the Bhumihar Brahmins in general." He cordially received them and promised help. He also approved of holding a meeting of Bhumihar Brahmans at Benares under his presidentship. "An influential meeting of the Bhumihar Brahmans was held at Bhagwanpur under a large shamiana on the 24th with Vindeshwari Prasad Sinha alias Lalji Sharma of Subhai Gudh" and thanked the Benares Maharaja for cordially receiving the deputation.

The Behar Herald, 29 Jan., 1910.

The Maharaja of Benares presided over the Bhumihar Brahman Sabha at Muzaffarpore. It passed resolutions against the extravagant expenditures on marriages. The Maharaja said, "····But a merciful providence came to our rescue and sent to us a handful of white people from a far off isle across the seas, who offered us the hand of friendship, which our forefathers instinctively grasped with that tenacity with which a drowning man grasps at a raft. England came to our rescue and rescued us. It brought back to India peace and prosperity, and saved our existence being wiped away. If we were true Aryans, and if the blood of our sacred rishis still flows in our veins, we shall ever remain grateful to the English people............we can never repay them the heavy debt of gratitude we owe them........"

The Behar Times, 28th January, 1898, Letters to the Editor, The Bhumihar Babhans :

Three or four percent of the entire populataion of the Babhans are educated in Persian or Sanskrit The percentage of the English knowing Babhans is about. 0025. But it is a happy sign that some of the educated Babhans realizing the sad state of their race, have put their shoulders to the wheel to bring their clansman effectually in the fore-front of civilisation again. The old Bhumihar Brahman Sabha which was organised to ameliorate their backward condition has been set on a better footing. Babu Harihardhary singh of Bharatpura has generally subscribed Rs. 300 per annum for the maintenance of the Sabha, and others. The Sabha deserves such encouragement from the wealthy Babhans. The late worthy commissioner of Patna, C. C. Stevens has also exepressed his sympathy with the Sabha. These facts go to show unquestionably that it is worthy of encouragement. A. P. S.

The Behar Times, 24th March, 1899, Letters to the Editor, The Bhumihar's Association :

............it proposed to bring about a revolution in the social status of a class (Bhumihars) that hitherto had shown no tendency to find its way out of the crimmerean darkness in which it is groping for ages. Since then I regret to observe that the Association is silent as to what it is doing towards carrying out its end. Was it an outcome of the impulse of a score of collegians that led to the establishment of the Association, which, however, ended in smoke or is it really at work............

There is no questioning the fact that the Bhumihars are practically nowhere either in govt. or private service. But this is not all. Want of education is doing them unspeakable mischief even in the agricultural pursuits which they had with little or no improvement from time immemorial, forming, as they do the backbone of the province, strenuous efforts ought to be made to import them scientific methods of agriculture. The noble example set by the Kayastha Conference ought to give an impetus to the

Bhumihar community to follow in the wake of its more active and advanced brethren. A movement like this is by no means impossible and the community would, I trust, do well if only it chooses to put its shoulder to the wheel. X. Y. Z.

The Behar Times, 14th April, 1899, Letters to the editor, A Provincial Illustration : The Bhumihar Sabha and its Works:

............Let us see what a sitting the Bhumihar Sabha has done. It was a district meeting, but some provincial gentlemen also had come. A college proposal was agreed upon. And to-day we see a College well-nigh established. This is what calls a practical effect given to the enthusiasm of a community far behind in education when campared to the Kayastha community.

Being a Kayastha myself I feel no hesitation in criticising the short-sighted modus operandi of our community........As for the Bhumihar activity though much may be admitted on the other side , yet their recent performance speaks very enthusiastically of them.

The Behar Times, 14th April, 1899:

You call Bhumihar Brahmans as the most illiterate class which is not correct. The Bhumihars are pre-eminently zamindars by profession so much so that they are also called zamindar Brahmans ....The zamindari business connot be managed by illiterate people and it is a fact that Bhumihars are the most capable and successful zamindars. There are among Bhumihars many B. A. S, B. L. S also M. A.s, authors of books, poets, Sanskrit and Persian scholars and so forth, therefore the community cannot be properly called even as uneducated, not to speak of its being called illiterate.

The affiliation of the proposed college of Bhumihars has been sanctioned by the syndicate of the Calcutta University, though the managers of the Mukherjee's seminary had applied long before to raise that school to the status of a second grade College.

The Behar Times, 28th, April 1899.

Reply to Bhumihar Zamindar's letter.

His contention is that he published it to contradict that Bhumihars are "the most illiterate class.......and there was no question of the education of the community at issue. Illiterate those who do not know even how to write letters and consequently lower castes such as Kahar, Dhanuk and others are called illiterate........" You simply meant to say that it was highly creditable for a comparatively uneducated community like Bhumihar to start a college but unconsciously the, illiterate instead of uneducated was used hence I objected simply to the use of the word illiterate, and not to youa sentiment. I did not even say that Rajahs and Maharajas are educated but of course I meant to say that they are not illiterate which cannot be contradicted. I did state that an illiterate man cannot manage zamindari work but that does not mean that only an educated can do it. In the end I thank the gentleman (the Bhumihar Zamindar), for exposing my inexpervence....... and for informing us that among Bhumihars there are many 'with youthful and consequently influenceble mind; If such small difference cannot be discussed without the choice epithets quoted above then returns of the day of Manu must be far distant indeed who preached the return of blessing for a curse.

Governmenr of Bihar and Orissa Political Department special section B proceedings, January, 1925, Nos 8-44, भूमिहार-ब्राह्मण, कार्य विवरण 23 वीं भूमिहार ब्राह्मण महासभा, गया ता० 30 व 31 दिसम्बर, सन् 1922.

........अखिल भारतवर्षीय राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) के विशाल पण्डाल के सन्निकट 23 वीं भू० ब्रा० महासभा का संगठन अच्छे समारोह से साथ हुआ। प्रत्येक दिवस का कार्य विवरण इस प्रकार है।

प्रथम दिवस, शनिवार ता० 30 दिसम्बर का विवरण।

आज सभा का समय 12 बजे दिन से था, किन्तु वही समय कांग्रेस के अधिवेशन का होने के कारण पूर्व दिवस की विषय निर्वाचिनी समिति (सब्जेक्ट कमिटि) ने यह समय हटाकर 5 बजे सायंकाल का रखा है। तदनुसार 30 तारीख के प्रातःकाल ही से सारे शहर तथा स्वराज्यपुरी आदि भिन्न-भिन्न कैम्पों में ठहरे हुए स्वजातीय भाईयों को मुनादी द्वारा समय की सूचना दी गई।

कार्यारम्भ में श्री ब्रह्मचारी रामकृष्ण दास जी ने वेद मन्त्रों से ईश्वर की स्तुति की तथा श्री स्वामी पराङ्कुशाचार्य जी ने मंगलचरण किया। तदनन्तर स्वागतकारिणी सभा के सभापति बाबू भगवती शरण (आनापुर स्टेट) मकसूदपुर हाउस, गया में आए हुए सज्जनों का निम्नलिखित भाषण द्वारा स्वागत किया—

"उपस्थित सज्जनो !——पहले हमने मकसूदपुर हाउस में महासभा करने का निश्चय किया था जिसकी सूचना समाचार पत्र तथा विज्ञापनों द्वारा दे दी गई थी। परन्तु पीछे में यह जानकर कि हमारे भाई अधिक संख्या में स्वराज्यपुरी तथा उसी के निकटस्थ कैम्पों में ठहरे हुए हैं और उनका मकसूदपुर हाउस तक जाना

अधिक कष्टसाध्य होगा, हमें अपना पूर्व निश्चय बदलना पड़ा। और यह स्थान जिसे आप सब भाईयों ने अपने अपने शुभागमन से पवित्र किया है, उदासीन महामण्डल के अध्यक्ष महन्त जी की दया से मिल गया जिसके लिए हम उस महामण्डल के अत्यन्त आभारी हैं।………सज्जनो ! इस जाति में बड़े-बड़े राजा-महाराजा और धनवानों के रहते हुए भी जाति का यथोचित सुधार न हो सका। अन्य जातियों की अपेक्षा इस जाति में विद्या की कमी रही। इसलिए हमें विश्वास है कि जबतक आप लोग कटिबद्ध होकर जाति और समाज का कुछ कार्य अपने हाथ में न लेंगे तबतक इसका उद्धार होना असम्भव है।

बा० गणेश दत्त सिंह ने सभापति का आसन स्वीकार करते हुए कहा कि "भाईयो, महासभा ही एक ऐसा स्थान है जहाँ सब भाई छोटे-बड़े का विचार छोड़ कर परस्पर भाव से एक साथ एक आसन पर बैठ सकते हैं। इसलिए यह बिल्कुल अनुचित होगा कि हम इस कालीन पर बैठें। इसलिए उचित है कि यह कालीन हटा दी जाए।[2]'

सभापति की आज्ञा से कालीन उठा ली गई।………

पश्चात् प्रधान भू० ब्रा० सभा के मन्त्री राय साहब राम गोपाल सिंह चौधरी M. A., B L., M. L. C. वकील, हाईकोर्ट, पटना ने प्रधान सभा की निम्नलिखित वार्षिक रिपोर्ट पढ़कर सुनाई—

………आशा है हमारे जाति-हितैषी कामों का पूर्ण रूप से प्रचार होगा।

गत वर्षों में स्वजातीय सज्जनों में से एक सिवीलियन, तीन डिपटी मजिस्ट्रेट, दो मुनसिफ, एक डिपटी सुपरिन्टेडेन्ट पुलिस और दो सब रजिस्ट्रार नियुक्त हुए हैं। इनके अतिरिक्त बिहार कौन्सिल में 13 सज्जन मेम्बर चुने गए हैं जिनमें 12 मौजूद हैं और संयुक्त प्रान्त में तीन सज्जन मेम्बर निर्धारित हुए हैं।

बक्सर महासभा में स्वीकृत प्रस्ताव के अनुसार जो स्कूल स्थापित किया गया था वह अच्छे ढंग से चल रहा है।

श्रीमान हथुआ नरेश ने जो 1000 रु० वि० को० के निमित्त देने का बलिया महासभा में वचन दिया था वह अब मिल गया; तदर्थ धन्यवाद।

श्रीमती दुलहिन साहिबा सात आना टिकारी राज ने जो छात्रावास गया धाम में खोल रखा है वह बराबर चल रहा हैं।

बहुमत से मन्त्री की रिपोर्ट स्वीकृत हुई।

प्रस्ताव नं० 1 (ब्रह्मचर्य पालन)—"इसकी बड़ी आवश्यकता है कि भूमिहार ब्राह्मण बालकों में ब्रह्मचर्य पालन का विशेष प्रचार हो। इसके लिए उनका विवाह कम-से-कम 18 वर्ष की अवस्था से पूर्व कदापि न किया जाए।"

प्रस्तावक—बाबू रघुनन्दन प्रसाद सिंह, प्राइवेट सेक्रेटरी, महाराजा दरभंगा। आपने वीर्य की महिमा अनेक प्रमाणों एवं उदाहरणों द्वारा अच्छी तरह दर्शायी। आपने यह भी बतलाया कि वीर्य पुष्ट होने पर ही मनुष्य गृहस्थाश्रम सुखपूर्वक व्यतीत कर सकता है और उत्तम सन्तान भी उत्पन्न करने में समर्थ होता है। शारीरिक-मानसिक सभी शक्तियों को पुष्ट करने का काम एक मात्र सुगम उपाय वीर्य की नीयत काल तक रक्षा करना है।

यह प्रस्ताव बा० मथुरा प्रसाद सिंह, गया के अनुमोदन करने तथा पं० गणेश दीक्षित B.A., LL.B. सम्पादक 'किसान मित्र' के समर्थन करने पर सर्व–सम्मति के स्वीकृत हुआ।

द्वितीय दिवस रविवार ता० 31 दिसम्बर, 1922 प्रस्ताव नं० 4 (कृषि सुधार)

"यह परमावश्यक है कि कृषि सुधार तथा कृषि विषयक आधुनिक आविष्कारों का प्रचार किया जाए और उनके मुख्य साधन गो-सेवा तथा गो-रक्षा की जागृति में विशेष रूप से ध्यान दिया जाए।"

प्रस्तावक—बा० भगवती शरण सिंह, मकसूदपुर हाउस, गया।

अनुमोदक—श्री गणेश दीक्षित, B.A., LL.B., सम्पादक 'किसान मित्र' छपरा।

समर्थक—पं० यमुना प्रसाद कार्यी, सं० कलकत्ता समाचार, कलकत्ता।

सर्वसम्मति से प्रस्ताव स्वीकृत हुआ।

प्रस्ताव नं० 5 (विद्या प्रचार)

भूमिहार ब्राह्मण बालक और बालिकाओं की धार्मिक शिक्षा के साथ-साथ विविध विद्याओं के प्रचार के लिए इस बात की परमावश्यकता है कि विद्याकोष, स्कूल, पाठशाला एवं छात्रावास आदि उपयुक्त साधनों का निर्माण किया जाए।

प्रस्तावक--बा० लक्ष्मी नारायण सिंह, M.A., B.L., मुजफ्फरपुर।

आपने बतलाया कि अंग्रेजी शिक्षा से आरोग्यता, धर्माचरण एवं पारस्परिक प्रेम की न्यूनता होती है, बालकों में उच्छृंखलता बढ़ती है, अतः आश्रम और नए ढंग के ऐसे विद्यालय खोले जायें, जहाँ लड़कों की चाल-चलन, आरोग्यता तथा धर्माचार आदि की रक्षा का विशेष ध्यान रखा जाए।

अनुमोदक—पं० शिव प्रसाद पाण्डेय, वकील, बक्सर।

प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ।

तदन्तर पं० शिवनन्दन राय, B A., B.L., वकील हाईकोर्ट, पटना ने विद्याकोष की निम्नलिखित रिपोर्ट पढ़कर सुनाई—

भूमिहार ब्राह्मण विद्याकोष की रिपोर्ट—

यह कोष गत बलिया महासभा सन् 1914 ई० में जाति के निःसहाय पर योग्य छात्रों को विशेषतः उच्च कोटि की औद्योगिक (Technical) शिक्षा के लिए स्थापित हुआ था।........

श्रीमान महाराजा हथुआ नरेश ने जो 1200 रु० देने का वचन दिया था उसे आपने कृपया भेज दिया है और 100 रु० माननीय सभापति के नाम कोओपरेटिव बैंक के फिक्सड डिपौजिट में जमा है।........

धनाभाव से इन दिनों केवल दो छात्रों को बिहार स्कूल ऑफ इन्जीनियरिंग की छात्र-वृत्ति दी जाती है। दो विद्यार्थियों को सर्वव्यय, और फीस, पुस्तकादि की सामयिक सहायता दी जाती है।

इस समय इस कोष के एक मात्र स्तम्भ अमावाँ नरेश हैं जो इस समय तक नियमानुकूल 250 रु० वार्षिक सहायता जो उन्होंने दरभंगा सभा में देने का वचन दिया था देते आते हैं और इसकी वार्षिक आय एक मात्र यही द्रव्य है पर तो भी इस समय का व्यय 500 रु० सलाना है।

प्रस्ताव नं० 8 (स्वदेशी प्रचार)

"यह सभा स्वजातीय सज्जनों से सविनय प्रार्थना करती है कि देश की आर्थिक परिस्थित्ति के अनुकूल अपने-अपने परिवार में सभी सज्जन स्वदेशी का यथासाध्य प्रचार करने की कोशिश करें।

यह प्रस्ताव सभापति द्वारा स्वीकृत हुआ।

सन 1923 के लिए नए पदाधिकारियों तथा सदस्यों का निर्वाचन हुआ।

सभापति (प्रधान सभा) श्रीमान महाराज कुमार आनरेबिल कुँअर आदित्य नारायण सिंह, वहादुर रामनगर, बनारस स्टेट।

उपसभापति (प्रधान सभा)

1. श्रीमान महाराजा बहादुर गुरुदेव आश्रम प्रसाद शाही, हथुआ।

2. श्रीमान महाराजा बहादुर शिवराजनन्दन सिंह, शिवहर, मुजफ्फरपुर।

3. श्रीमान राजा बहादुर हरिहर प्रसाद नारायण सिंह, अमावाँ, पो० अस्थावाँ, जिला पटना।

4. श्रीमान राजा राघो प्रसाद नारायण सिंह, M.L.C., बराव स्टेट, पो० करछना, जिला इलाहाबाद।

5. श्रीमान राजा इन्द्रजीत प्रताप बहादुर शाही, M.L.C., तमकुही, जिला गोरखपुर।

6. श्रीमान राजा सिद्धेश्वरी प्रसाद नारायण सिंह, सलेमगढ़ राज्य, जिला गोरखपुर।

7. श्रीमान राजा चन्द्रेवश्वर प्रसाद नारायश सिंह, अध्यक्ष, रियासत, मकसूदपुर, जिला गया।

8. श्री बाबू विष्णु प्रसाद नारायण सिंह, जमीन्दार रियासत मधुवन, जिला चम्पारण।

मन्त्रीगण (प्रधान सभा)

1. श्री कर्नल विन्ध्येश्वरी प्रसाद सिंह, B.A. C.I.E., रामनगर फोर्ट, बनारस।

2. श्री राय साहब राम गोपाल सिंह चौधरी, B.A., B.L., M.L.C.

3. चौधरी रघुनन्दन प्रसाद सिंह, M.L.C., प्राइवेट सेक्रेटरी महाराजा दरभंगा सभापति का भाषण :

शिक्षा—शिक्षा का प्रबन्ध देहातों में बहुत न्यून है। इस पर हमलोगों को ध्यान देना बहुत आवश्यक है। यह कोई आवश्यक नहीं कि अंग्रेजी ही पढ़ा जाए। मातृभाषा हिन्दी की अनिवार्य शिक्षा की ओर आपलोगों को विशेष ध्यान देना

चाहिए। हर गाँव में एक लाइब्रेरी होना आवश्यक है। शिक्षा का क्रम इस प्रकार रखा जाए कि जिससे बालकों के सदाचार और धार्मिक भावों में वृद्धि हो। उनके आचार, विचार और व्यवहार प्रशंसनीय हो। हमारे असहयोगी भाईयों को उचित है कि वे केवल स्वदेशी कपड़े ही पर अपने को असहयोगी न समझे, वरन उनकी भाषा, भेष-भूषा आदि सभी स्वदेशी होनी चाहिए। जबतक हृदय स्वदेशी न होगा इस दिखावे से स्वदेशी नहीं कहे जा सकते।

□

परिशिष्ट III

ऐतहासिक संस्था : प्रगतिशीलता वनाम् अवसरवादिता

अखिल भारतीय इतिहास काँग्रेस, भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् आदि को लगभग आठ विश्वविद्यालयों के शिक्षकगण द्वारा 7 अक्टूबर, 1987 को भेजे गए पत्र का अंश :

"....During the whole period of colonial and post independence era there is a solitary example of a historian exclusively being penalised for participation in the deliberations of the IHC in 1977 --Dr. V. C. P. Chaudhary has been singularly singled out for the fascist torture....not a mean honour and sacrifice both for him and the IHC....We are at a loss to comprehend why IHC unlike other national aud state level organisations such as the A I F U C TO etc., is yet to take a categorical stand....and is yet to publish the R. S. Sharma Committee Report. The Indian History Congress was so vocal and committed to the defence of academic freedom and historians during the Janata regime, one may fail to undederstand the cessation of that fierce struggle during the Congress dispensation. The I H C can neither be pro-Janata nor the pro-Congress and has to remain firmly committed to its resolution....

"In Bihar, it is apprehended that the IHC may be disinformed by a section which is very much represented in its executive committee and has been defaming it on many counts even during its golden year celebration····through a public statement to rescue the communal historiography····'we do not intend to contest the government's right to decide whether secular or communalistic books are prescribed for the impressionable school boys.

"We do not intend to defame anybody but are forced to enclose herewith a booklet entitled *Teachers on Forgery* charge... The only only ground put up b y BJP Vice president in · Thakur's defence in the court (Patna High Court) is that he is the member of the executive committee of the IHC as if it is in itself a free passport to commit such unseemly licentious forgery....we have been forced to recount these in a casual manner, because he (the gang) has openly announced that (the gang) would manipulate in such a manner that the executive committee does not take any positive stand. This apprehension added by manipulating capacity forced us to forewarn you on the issue with a request that this letter along with its enclosure be circulated amongst the members of the executive cammittee and that it must be put on the agenda for its cotegorical decision...."

आशंका सच्ची निकली। यह न कार्यकारिणी के सदस्यों के बीच प्रसारित हुआ और न एजेन्डा पर विचारार्थ रखा गया।

□

परिशिष्ट—IV

उपेक्षा के पीछे गहरी चाल

इतिहासकारों का पत्र :

अव "इतिहास में स्वामीजी उपेक्षित क्यों ?" शीर्षक निबन्ध को ही लें। अनेक विशेषज्ञों को वह निवन्ध आपकी सम्मति के पश्चात् दिखाया गया है। उनका निश्चित, स्पष्ट, प्रामाणिक और तार्किक मत है कि आपकी आपत्तियाँ निराधार, अबौद्धिक, अभिप्रेरित और ज्ञानशून्य है। निबन्ध के आकार की आपकी अबौद्धिक और अभिप्रेरित आपत्ति के सिलसिले में उनका तर्क है कि आप प्रभावकारी ढंग से प्रज्ञा-भारती के साथ-साथ विहार रिसर्च सोसाइटी जर्नल से पदाधिकारी के रूप में जुड़े हुए हैं जिनमें इससे काफी बड़े-बड़े निबन्ध प्रकाशित हुए हैं। अनेक अन्य उदाहरणों के साथ-साथ वे आपका ध्यान इनमें प्रकाशित साम्राज्यवादी किपलिंग तथा सामन्तवाद, संप्रदायवाद और साम्राज्यवाद के घोर पक्षधर दरभंगा राज से संबंधित हिस्ट्री ऑफ दि दरभंगा राज शीर्षक निबंध की ओर आकृष्ट करते हैं जो आकार में स्वामी सहजानन्द सरस्वती से संबंधित इस निबंध से लगभग चौगुना बड़ा होगा। क्या भारतीय इतिहास-लेखन के विश्लेषणात्मक अध्ययन के लिए साम्राज्यवादी पिट्ठू दरभंगा राज परिवार असली कांग्रेसी, समाजवादी, समाज-सुधारक और देशभक्त स्वामीजी से ज्यादा महत्वपूर्ण हैं जिसके प्रशंसात्मक अध्ययन के लिए आकार पर कोई निरोध नहीं है ? इस तरह का अनेक उदाहरण उनलोगों ने आपसे जुड़ी पत्र-पत्रिकाओं से भी दिया है तथा कुछ मान्यता प्राप्त पत्र-

पत्रिकाओं से भी। परिणामतः वे आपकी इस आपत्ति को अभिप्रेरित, स्वामी सहजानन्द विरोधी और अबौद्धिक मानते हैं जिसका समुचित प्रामाणिक और तार्किक उत्तर आप अपने पक्ष में देने की शीघ्र कृपा करें। स्मरण रखने की कृपा करें कि वर्णित निबन्ध के टंकण की दूरी लंबी है और **प्रज्ञा-भारती** के आकार में मुद्रित रूप में वह निबंध 20-25 पृष्ठों से बड़ा नहीं होना चाहिए।

आपकी दूसरी आपत्ति पर कि "अनेक तथ्य विषयान्तर हैं", उनकी प्रतिक्रिया काफी तीव्र हैं। उनका मत है कि देश-विदेश के इतिहास-लेखन में स्वामीजी साम्राज्यवादी और सामन्ती साजिश के शिकार हुए हैं। आपकी आपत्ति उसी का अंग उनकी नजर में प्रतीत होता है। उनका निश्चित मत है कि इस निबंध में कहीं भी तथ्य और तर्क में कोई भी विषयान्तर नहीं है। और सच तो यह है कि स्वामीजी और भारतीय इतिहास-लेखन के ऐतिहासिक विश्लेषण के सन्दर्भ में यह निबंध एक आदर्श नमूने के रूप में लिया जा सकता है और वैज्ञानिक ऐतिहासिक अध्ययन में इन विषयों पर इन अद्यतन प्रवृत्तियों का स्वागत किया जाना चाहिए जैसा कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर किया भी जा रहा है। ऐसा नहीं करना नवोदित वैज्ञानिक भारतीय इतिहास-लेखन को रूढ़िवादी, सामन्ती और साम्राज्यवादी चंगुल में फँसाना होगा। वे चुनौती देते हैं कि क्या आप इस निबंध से एक भी ऐसा उदाहरण दे सकते हैं जिसमें तथ्य, तर्क तथा निष्कर्ष के मामले में "विषयान्तर" किया गया है? दुर्भाग्य से उनका यह तर्क भी सत्य प्रतीत होता है, क्योंकि महीनों निबंध को पढ़ने के पश्चात् भी आप अब तक एक भी उदाहरण और सबूत अपने निष्कर्ष के पक्ष में पेश करने में असमर्थ रहे हैं। क्या आप अभी भी एक उदाहरण अपने कथन की बौद्धिक पुष्टि के लिए दे सकते हैं? इतिहास और इतिहास-लेखन तथ्य और सबूत पर आश्रित होता है, कपोल कल्पना और मनोवादी रुझान पर नहीं। ऐसी स्थिति में उनका सुझाव है कि आप अपने निष्कर्ष के पक्ष में निबंध से कुछ ठोस सबूत देने की कृपा करें तथा संस्थान के तत्त्वावधन में एक विचार-गोष्ठी आयोजित करने की कृपा करें जिसमें उस निबंध को आधार मानकर आपके और उनके तर्क तथा तथ्य की समीक्षा की जा सके। इसके लिए हर क्षण वे लोग तैयार हैं। क्या आप तैयार हैं? अगर हों, तो अविलंब सबूत भी पेश करने की कृपा करें तथा विचार-गोष्ठी की निश्चित तिथि भी तय करने की कृपा करें। अगर किसी कारणवश इस माह में संभव न हो तो नवम्बर के लिए अवश्य गोष्ठी की तिथि तय कर दें। ऐसा न करने पर उनके तर्क को बल मिलेगा कि आपके पास कोई सबूत न है और आप स्वामीजी के विरुद्ध इतिहास-लेखन के सन्दर्भ में सामन्ती-साम्राज्यवादी साजिश के अंग के रूप में काम कर रहे हैं।

इस निष्कर्ष के पक्ष में आपकी तीसरी आपत्ति पर तूल दे रहे हैं, चूँकि आपने विहार सरकार के इतिहास की शोध-पत्रिका में स्वामीजी पर लेख प्रस्तुत करने को प्रतिबन्धित कर किसी "अन्य विषयक निबंध भेजने का कष्ट" के लिए आमंत्रित किया है। अगर आकार और विषयान्तर के लिए ऐसा किया गया होता तो उसी निबन्ध को छोटा कर तथा विषयान्तरित तथ्यों को हटाकर प्रस्तुत करने का आदेश होता, किसी अन्य विषय पर प्रस्तुत करने का नहीं। आखिर, बिहार के

सपूत, सच्चे कांग्रेसी और देशभक्त तथा महान क्रांतिकारी ऐतिहासिक पुरूष स्वामीजी का क्या कसूर है कि स्वतंत्र भारत के बिहार की कांग्रेसी सरकार के इतिहास की शोध-पत्रिका में उन पर वस्तुगत ऐतिहासिक विश्लेषण प्रस्तुत करना प्रतिबंधित है, किन्तु किपलिंग, दरभंगा राज जैसा साम्राज्यवादी पक्षधरों जैसे विषय पर आलेख प्रस्तुत करने पर कोई प्रतिबंध नहीं है ? हम अपनी स्थिति स्पष्ट कर देना मुनासिब समझते हैं कि हम इतिहास-लेखन तथा तत्संबंधी विषयों पर किसी तरह के दमन, प्रतिबंध, सेन्सर और प्रशासनिक डंडे के खिलाफ हैं। आपका यह कार्य स्वतंत्र भारत के संविधान में बौद्धिक आजादी और अभिव्यक्ति के सुरक्षित मूलभूत अधिकार के विपरीत है और उन पर घोर प्रहार है। आपके इस रूझान के पक्ष में वे अन्य सबूत पेश करते हैं—जैसे आपके संरक्षण में प्रस्तावित अनेक शोध-योजनायें, प्रकाशित बिहार कांग्रेस का इतिहास आदि। क्या आपके पास स्वामीजी के प्रति बरती गयी इस उपेक्षा के लिए कोई तार्किक आधार है ? अगर है तो आप बताने की कृपा करें जिससे हम उन अभियोगों का समुचित खंडन कर सकें।

इस सिलसिले में वे सभी राजनैतिक दलों के बिहार विधान मंडल के सदस्यों एवं बुद्धिजीवियों (भारतीय जनता पार्टी को छोड़कर) द्वारा राज्यपाल को 13 नवम्बर 1986 को आप जैसे लोगों के विरूद्ध समर्पित पत्र (246 पृष्ठों के साक्ष्य सहित) का जिक्र करते हैं जिसमें इसका विस्तृत वर्णन है तथा जिसके उचित जवाब देने में आपको असमर्थ बताया जाता है। आपकी साजिश-भरी नीति के संबंध में वे **इतिहास-लेखन में आंचलिकता** तथा **टीचर्स ऑन फौजंरी चार्ज** जैसी प्रामाणिक पुस्तकों से सबूत पेश करते हैं। आपकी विद्वता के पक्ष में अनेक सबूत भी हैं तथा आपकी आपत्तियों को गंभीरतापूर्वक बौद्धिक तौर पर आंकने का निवेदन करते हैं, किन्तु वे वर्णित तथ्यों की पृष्ठभूमि में आपके निम्नलिखित बौद्धिक योगदान को स्वीकार करने में भी हिचकते हैं :

आपने इतिहास में कुछ पुस्तकें लिखी हैं। बिहार में तो संभवतः आपसे बड़ा विद्वान आजतक हुआ ही नहीं जिन्हें एक बड़े इतिहासकार के साथ साथ पाली, प्राकृत, हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, परसियन, भोजपुरी, मैथिली, दक्षिण भारतीय भाषाओं आदि के बड़े विद्वान होने के नाते बिहार सरकार ने तत्सम्बन्धी शोध-संस्थानों का नेतृत्व करने की जवाबदेही भी दे रखी है तथा आश्चर्य यह है कि सरस्वती की सेवा के लिए मान-आपमान पर बिना विचारे निदेशक (ॐ० शि०) होते हुए भी आप इन विभिन्न छोटे-छोटे पदों का भार और जवाबदेही को लेकर भी संभवतः कुशलपूर्वक निभाने से नहीं हिचकते रहें हैं। इनलोगों को बताया गया है कि आप जिन छोटे-बड़े पदों पर आसीन हैं, उतने का तो नाम भी कुछ लोग स्मरण नहीं रख सकते, जवाबदेही निभाने और संभालने की तो बात ही दूर रहे ! सचमुच आप विद्वता, सादगी, कर्मठता, ईमानदारी और प्रशासनिक क्षमता के अद्भुद् नमूना हैं जो संभवतः कहीं भी मिलना दुर्लभ है। किन्तु वे सारे तर्कों को यह कह कर टाल देते हैं कि इतिहास-क्षेत्र में मात्र आपका एक ही योगदान है कि आधुनिक भारत खण्ड के विद्वान डा० के० के० दत्त के अन्दर 1957 में आपने मध्यकालीन भारत पर पी० एच० डी० की तथा उसके बाद आपने कोई भी उल्लेखनीय बौद्धिक कार्य

नहीं किया। आपके सारे प्रकाशन उसी पी० एच० डी० शोध-प्रबन्ध के कभी-कभी अक्षरशः और कुछ संक्षिप्त कर विभिन्न नामों से प्रकाशित हैं, कोई स्वतंत्र मौलिक रचना नहीं। उनका दावा है कि अन्य भाषाओं को कौन कहे, मध्यकालीन भारत के विशेषज्ञ होने पर भी आप एक शब्द परसियन तक नहीं जानते, अन्य भाषाओं की चर्चा करना ही बेतुकी बात है, इतने पदों पर आसीन होने के राज कुछ और बताते हैं, विद्वता, ईमानदारी और कर्मठता नहीं, इतिहास-लेखन और उसकी अद्यतन प्रवृत्तियों से आपको वे बिल्कुल अनभिज्ञ बताते हैं और सलाह देते हैं कि आपको वर्णित निबन्ध की प्रासंगिकता आंकने से पहले तो कम से कम उस निबन्ध की संदर्भ - ग्रन्थसूची, **भारतीय इतिहास-लेखन,** *History and Class Cnnsciousness, Social Stratification and Change, Modernisation of Indian Tradition, Social Change in Modern India, Social Background of Indian Nationalism.* सरीखे कुछ पुस्तकों का अध्ययन अवश्य ही कर लेना चाहिए जिससे विषय, तथ्य और विषयान्तर को आप समझ सकें अन्यथा इतिहास-लेखन की अद्यतन प्रवृत्ति को समझना कठिन है। इस पृष्ठभूमि में आपसे निवेदन है कि आप अपने निष्कर्ष के पक्ष में कोई ठोस सबूत पेश करने की कृपा करें, वर्णित विचार-गोष्ठी की तिथि तय करने की कृपा करें तथा प्रज्ञा भारती के लिए किसी निश्चित "अन्य विषयक निवन्ध" का शीर्षक प्रस्तावित करने की कृपा करें "जो शोध-पत्रिका के योग्य हो"। आशा है कि कार्य में विलंब नहीं करने की कृपा करेंगे जिससे बहुत सारी गलतफहमियाँ भी दूर हों तथा शोध - क्रम भी सुनियोजित रह सकें।

ज्ञातव्य है कि इन विशेषज्ञों का दावा है कि आप कोई भी साक्ष्य अपने पक्ष में नहीं प्रस्तुत कर सकते, क्योंकि उस निबन्ध का आकार भी ठीक है तथा उसमें कहीं तथ्यों का विषयान्तर नहीं है। उनका निश्चित मत है कि ठोस तथ्यों पर आधारित उस निबन्ध के निम्नलिखित सही निष्कर्ष से आप निरर्थक उत्तेजित हो उठे हैं जिसे निष्ठावान वस्तुगत इतिहासकार के नाते कोई बदल नहीं सकता और तर्क तथा साक्ष्य के अभाव में बिना अधिनायकवादी फासिस्ट प्रशासनिक डंडे के इस्तेमाल किये दबाया नहीं जा सकता :

'स्वामीजी जैसे पुरुष के विश्लेषण के क्रम में पूँजीवादी इतिहास-लेखन की कृतियाँ दो व्यवस्थाओं के विचारधारात्मक संघर्ष की बाहक बन जाती है। राजनीतिक विचारधारात्मक उद्देश्यों के लिए इतिहास का उपयोग करना खतरनाक है, फिर भी ऐसा किया अवश्य जा रहा हैं जैसा स्वामीजी के सन्दर्भ में आगे देखा जा सकता है।....पूँजीपति वर्ग हर चीज को माल में बदल देता है और इसलिए इतिहास के लेखन को भी। तमाम वस्तुओं का मिथ्याकरण करना उसके जीवन का अंग, उसके अस्तित्व का शर्त्त होता है....

"मध्यम वर्ग समाज का ऐसा अनुगृहीत अल्पमत परजीवी है जिसकी जीविका और पालन-पोषण अधिशेष मूल्यों तथा सरकारी कृपा पर पूर्णरूपेण आश्रित है।....इसलिए वह इतिहास-लेखन-पत्र में भी राजसत्ता की वर्ग-चेरी के रूप में विकसित होता है....इसके इस चरित्र को....महात्मा गाँधी को भी स्वीकार करना पड़ा था....

“विहार को राजनीति के जातीय, सामन्ती और पूँजीवादी ध्रूवीकरण ने उन्हें इतिहास में भ्रामक स्थान दिलाया है, ऐसी कोई भी आशा स्वामीजी के सन्दर्भ में करना स्वयं इतिहास को झुठलाना होगा। महाराजा साहब के लिए वर्णित ध्रूवीकरण के कारण राजसत्ता के डा० नागेन्द्र झा सरीखे राजनीतिज्ञ, डा० पी० एन० ओझा एवं श्री अरूण पाठक सरीखे नौकरशाह तथा डा० जटाशंकर झा सरीखे इतिहासकार के संयुक्त मोर्चे ने मध्यमवर्गीय चारित्रिक दुर्गुणों के आधार पर व्यक्तिगत लाभ और समर्पण की भावना से फासीवादी तरीके से पूर्वाग्रही इतिहास तैयार कराया, ऐसा कोई आन्दोलन राजसत्ता और उसके समर्थक इतिहासकार, नौकरशाह और राजनीतिज्ञ की ओर से स्वामीजी के लिए आहूत नहीं हो सकता, क्योंकि वे उनके वर्ग-दुश्मन जो ठहरे····किन्तु स्वामीजी ठीक इसके विपरीत हिंसात्मक सर्वहारा क्रांति की अनिवार्यता को कबूल कर इस दिशा में प्रयत्नशील थे····”

इन सारे निष्कर्षों के लिए मार्क्स, कौशाम्बी, नेहरू, गाँधी सरीखे विद्वानों के उद्धहरण और अतिरिक्त साक्ष्य प्रस्तुत किये गये हैं और निवन्ध इन ठोस प्रमाणों पर आधारित है। किसी वैज्ञानिक इतिहासकार के लिए इन निष्कर्षों को बदलना तबतक संभव नहीं है जबतक इसके विपरीत आप कोई साक्ष्य न दें। दमन या लोम या लाभ के लिए यह करना संभव नहीं है।

आप विहार की अद्वितीय विभूति हैं जैसा कि आपके पक्ष में वर्णित विशेषज्ञों ने सबूत सहित तर्क पेश किया है। आपका समय भी अत्यन्त ही अमूल्य है। आपके कंधों पर पूरे विहार की उच्चतर शिक्षा और शोध के नेतृत्व की जवावदेही इतिहास से लेकर देशी-विदेशी भाषाओं तक के मूर्धन्य विद्वान होने के नाते सरकार ने उनके विकास की जवाबदेही आपको सुपूर्द कर दिया है। ऐसी स्थिति में ऐसे-ऐसे बड़े पत्र लिखकर आपके समय को बर्बाद करना एक तरह से अक्षम्य अपराध है, किन्तु मजबूरी में यह पत्र लिखना पड़ रहा है। आशा है इस अपराध के लिए क्षमा करेंगे। 12-10-88.

□

परिशिष्ट V

सच का मुँह काला, झूठ का बोलबाला

टाइम्स ऑफ इण्डिया (दिनांक 22 मई, 1989) में प्रकाशित एक डिस्पैच पढ़ा तथा 24 घंटे के अन्दर ही दिनांक 23 मई, 1989 को उसी समाचार पत्र में उस संदर्भ में एक सरकारी वक्तव्य भी प्रकाशित हुआ। प्रकाशित सरकारी वक्तव्य ने यह सोचने को विबश कर दिया कि इतिहास-लेखन में महान् इतिहासकार स्वर्गीय काशी प्रसाद जायसवाल की वैभवपूर्ण गरिमा के अनुरूप इतिहास के उस शोध संस्थान के निदेशक की नियुक्ति के लिए विहार सरकार सम्भवतः किसी “ऐतिहासिक वर्ष” की प्रतीक्षा में थी, जिस “ऐतिहासिक वर्ष” के शुभमुहूर्त के लिए 1989 का साल उपयुक्त पाया गया। सहसा स्मरण हो आया कि वास्तव में

विश्व एवं भारत के इतिहास के लिए 1989 का वर्ष अत्यंत ही महत्वपूर्ण एवं संवेदनशील है। हमारा देश अपनी आजादी की चालीसवीं वर्ष गाँठ अभी-अभी मना चुका है, रूसी क्रांति की स्वर्ण जयन्ती मनायी जा चुकी है, फ्रांसीसी क्रान्ति की द्विशतवार्षिकी मनायी जा रही है, पंडित जवाहर लाल, मौलाना अबुल कलाम आजाद तथा बिहार के डा० श्री कृष्ण सिंह एवं स्वामी सहजानन्द जैसी विभूतियों की जन्म-शताब्दी मनायी जा रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी "ऐतिहासिक वर्ष" की प्रतीक्षा में बिहार सरकार इस पद को मार्च 1984 से नियम के विरुद्ध रिक्त रखी हुई थी। प्रथम दृष्टि में प्रकाशित सरकारी वक्तव्य निर्दोष और निश्छल प्रतीत हुआ, किन्तु इस पद के सम्बन्ध में अतीत में की गई साजिश और विवाद का स्मरण आते ही स्वाभाविक रूप से चौंका देने वाला यह प्रश्न मस्तिष्क में कौंधने लगा कि उपर्युक्त महान् ऐतिहासिक घटनाओं एवं व्यक्तियों के सम्मान में नहीं, अपितु आर० एस० एस० के संस्थापक डा० हेगडेवार की जन्म शताब्दी के उपलक्ष्य में क्या यह पद उपहार स्वरूप नियमों के विपरीत स्थायी रूप से उन्हीं के अनुयायी इतिहासकारों को देने का षडयंत्र तो नहीं है ?

वर्णित आशंका के कुछ ठोस प्रमाण भी मिलने लगे। देखें, इस पद की नियुक्ति के संबध में संचिका संख्या 2/ आ० 3-01/84 (बिहार शिक्षा विभाग) तथा नियमावली अधिसूचना संख्या बी०/ एम०—7-037/ 78 शि० 2755, दिनांक 12. 12. 79.

सैद्धान्तिक रूप में उपर्युक्त नियम का पालन भारत सरकार और बिहार सरकार के सभी विभागों में किया जा रहा है जिसके बेशुमार उदाहरण मौजूद हैं। वर्णित नियमों की पृष्ठभूमि में उस पद पर डा० विजयचन्द्र प्रसाद चौधरी को नियमानुकूल पदग्रहण करने में सारी औपचारिकताओं का निर्वाह करते हुए एक सप्ताह से अधिक समय नहीं लगना चाहिए, किन्तु 1 मार्च, 1984 से उन्हें अपने इस मौलिक अधिकार से वंचित रखा जा रहा है।

जहाँ तक डा० चौधरी की बौद्धिक क्षमता का प्रश्न है, यह पूर्ण विश्वास एवं जवाबदेही के साथ कहा जा सकता है कि भारतीय इतिहास के आधुनिक खण्ड के क्षेत्र में स्वर्गीय डा० के० के० दत्त एवं जीवित डा० बी० बी० मिश्रा को छोड़ कर राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बिहार के किसी भी दुसरे इतिहासकार को डा० चौधरी की तुलना में मान्यता अथवा प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त हो सकी है। देश एवं विदेश के हजारों इतिहासकारों तथा राष्ट्रीय स्तर के प्रतिष्ठित समाचार पत्रों द्वारा डा० चौधरी की बौद्धिक क्षमता के सम्बन्ध में दिए गए प्रशंसनीय मन्तव्य समाचार पत्रों में प्रकाशित हुए है तथा इसकी सूचना बिहार सरकार को भी दी गई है जो वर्णित 2 आर० 7-01/84 संचिका में उपलब्ध हैं। भारतीय मध्यम वर्ग, साम्राज्यवाद का चरित्र, पत्रकारिता, आधुनिक बिहार के जन्म और विकास, सामन्तवादी शोषण, इतिहास-लेखन की आधुनिक प्रवृत्तियाँ, साम्प्रदायिक इतिहास-लेखन के चरित्र जैसे विषयों पर उनके अनेक ऐतिहासक विश्लेषणों एवं निष्कर्ष को अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास-लेखन-जगत में मान्यता प्राप्त हुई है। इन विषयों पर उनके द्वारा दिए गए निष्कर्षों का कोई मान्य बौद्धिक प्रतिवाद सम्भव नहीं हो सका है।

शैक्षणिक योग्यता एवं कानूनी नियमितता की पृष्ठभूमि में डा० चौधरी को निदेशक का पद 1984 में ही मिल जाना चाहिए था, किन्तु हेडगेवार की जन्म शताब्दी माननेवाले साम्राज्यवादी एवं प्रतिक्रियावादी संरक्षण में अप्रजातांत्रिक तथा साम्प्रदायिक विषवमन करनेवाले तत्त्व बिहार सरकार में अपने राजनीतिक और नौकरशाही समर्थकों के सहयोग से उन्हें इस पद से वंचित रखने में सफल हो रहे हैं। यह कपोल कल्पित अथवा भावनात्मक नहीं है, अपितु ठोस प्रमाण पर आधारित हैं, जो वर्णित संचिकाओं के अतिरिक्त राज्यपाल, मुख्यमंत्री, मुख्य सचिव तथा शिक्षा आयुक्त को 346 पृष्ठों में भारतीय जनता पार्टी के विधायकों एवं उससे सम्बन्धित बुद्धिजीवियों को छोड़कर अन्य सभी राजनीतिक दलों एवं उदारवादी बुद्धिजीवियों द्वारा समर्पित अभियोग-पत्र (13 नवम्बर, 1986) तथा तत्सम्बंधी संचिकाओं से स्पष्ट है। वर्णित संचिकाओं से यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि इन कट्टरपंथियों ने "चेतावनी की सजा" (जो इन्हें इतिहास कांग्रेस के भुवनेश्वर अधिवेशन 1977 में पढ़ने तथा एक पुस्तक लिखने के लिए मिली है) और "चारित्री" के सम्बन्ध में मंत्रिमंडल सचिवालय के 18 अप्रैल 1981 के आदेश तथा नियमावली (शि० एस० 101-66-104 मंत्रिमंडल सचिवालय 24 मई, 1965 तथा 5 शि० ला० 204/77 का० 11952 दि० 9 जून, 1976) का निर्लज्जतापूर्वक जालसाजी कर उल्लंघन किया गया है, जिसका एक मात्र उद्देश्य डा० चौधरी को निदेशक के पद से वंचित रखना मालूम पड़ता हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि इन षड्यंत्रों में कुछ राजनीतिज्ञों के साथ-साथ बिहार के भूतपूर्व शिक्षा आयुक्त और मुख्य सचिव श्री अरूण पाठक एवं निदेशक उच्च शिक्षा जैसे वरिष्ठ अधिकारी भी संलग्न रहे हैं। साक्ष्य सहित इन षड्यंत्रों की चर्चा वर्णित अभियोग पत्र तथा अन्य अभ्यावेदनों में की जा चुकी है, जिन्हें आप अपने कार्यालय में प्राप्त कर अध्ययन करने की कृपा कर सकते हैं।

साजिश की आशंका **टाइम्स ऑफ इंडिया** में प्रकाशित इस समाचार से और बढ़ी कि उसमें सम्भावित निदेशकों की एक सूची (प्रोफेसर जगदीश चन्द्र झा सहित) पेश की गई थी। ज्ञातव्य है कि वर्णित सूची के सारे सदस्य इतिहास लेखन और व्यक्तिगत आचरण में जालसाजी और फरेबी आचरण के लिए कुख्यात है और स्वर्गीय डा० के० के० दत्त की पुस्तक के लेखकत्व की चोरी के सिलसिले में अदालत में अभियुक्त बनाए जा चुके हैं। आपके कार्यालय को इस सम्बन्ध में एक पुस्तिका "टीचर्स ऑन फोर्जरी चार्ज" पूर्व में अग्रसारित की जा चुकी है। इन लोगों ने संयुक्त रूप से डा० दत्त की पुस्तक "ए बायोग्राफी ऑफ कुँवर सिंह एण्ड अमर सिंह" के लेखकत्व की चोरी का समर्थन **इन्डियन नेशन** में फरेबी बयान प्रकाशित करवाकर किया तथा बिहार सरकार द्वारा बिहार कांग्रेस पर एक ऐसी पुस्तक प्रकाशित करायी जिसे एक ओर यदि बौद्धिक जगत ने इसे अबौद्धिक तथ्य एवं निष्कर्ष के लिए अस्वीकार कर दिया, तो दूसरी ओर बिहार विधान सभा एवं बिहार विधान परिषद के भवन इसके जन-विरोधी, आदिवासी विरोधी एवं हरिजन विरोधी रूख के कारण "शर्म शर्म" की ध्वनि से गुंजायमान हो उठी।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या बिहार सरकार हजारों बुद्धिजीवियों, उड़ीसा के वर्तमान राज्यपाल प्रोफेसर नूरूल हसन सहित सैकड़ो सांसदों एवं विधायकों,

दर्जनों केन्द्रीय एवं राज्य सरकार के मंत्रियों की अनुशंसाओं तथा नियमों के अनुरूप डा० चौधरी को वहाँ का निदेशक नियुक्त करने जा रही है या जनतांत्रिक मूल्यों, नियमों, परिपाटी एवं स्वच्छ तथा निष्पक्ष आचरण के विपरीत डा० हेगडेवार की जन्म -शताब्दी के उपलक्ष्य यह उनके अनुयायियों में से किसी एक को यह पद देने जा रही है ?

वर्णित पृष्ठभूमि में आपसे निम्नलिखित निवेदन है :—

आप अपनी अध्यक्षता में अविलम्ब एक ऐसी बैठक बुलाने की कृपा करें जिसमें उपर्युक्त सरकारी अधिकारियों के अतिरिक्त हमलोगों के एक प्रतिनिधि, डा० वी० सी० पी० चौधरी एवं हेडगेवार-पंथी के एक-एक प्रतिनिधि, सरकारी और डा० चौधरी के वकील, प्रोफेसर आर० एस० शर्मा, प्रोफेसर बी० बी० मिश्रा, तथा प्रोफेसर एस० एच० अस्करी में कम से कम एक इतिहासकार शामिल हों, ताकि पक्ष-विपक्ष के वक्तव्यों को सुनकर नियमों की अवहेलना करनेवाले व्यक्तियों के विरूद्ध अविलम्ब कार्रवाई की जा सके।

पूर्ण विश्वास है कि पत्र-प्राप्ति की सूचना, अभ्यावेदित बैठक की तिथि की सूचना तथा अभ्यावेदन के बिन्दुओं पर की गई कार्रवाई की सूचना उपर्युक्त पता पर देने की कृपा करेंगे (जिसकी सूचना समाचार पत्रों से मिली है कि हेगडेरवादी जगदीश चन्द्र झा उस पद पर चुनावी रणनीति के अनुकूल मनोनीत किए जा रहे हैं।) बिहार सरकार के मुख्य सचिव, शिक्षा आयुक्त आदि को 12-6-89 को समर्पित विभिन्न विश्वविद्यालयों के शिक्षकगण का संयुक्त पत्र।

□

परिशिष्ट – VI

बिहार की सामाजिक और आर्थिक इतिहास-योजना : देशी और विदेशी साजिश का शिकार

शिक्षा विभाग की संचिका संख्या 3/विविध—6 (R) 84 का कुछ अंश :

यह भी महसूस किया गया कि समुचित योजनाबद्ध तौर तरीका अपनाये जाने के अभाव में 6 मई को संस्थान की शोध-योजना बिहार का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास संबंधी हुई बैठक की कार्यवाही अब तक तैयार कर प्रसारित नहीं की गई है, न उस बैठक के निर्णय के अनुकूल अब तक उस योजना के सिनोपसीस को तैयार कर उस समिति के सदस्यों के बीच प्रसारित किया गया है तथा न उस दिन लिये गये निर्णय के अनुकूल अब तक उस दिन उस समिति के मनोनीत किये गये सदस्यों को भी कोई औपचारिक पत्र भेजकर ही सूचित किया गया हैं। ज्ञातव्य है कि समिति की बैठक में तय हुआ था कि इस शोध-योजना का सिनोपसिस, जिसे उस दिन की बैठक के पूर्व ही सदस्यों के बीच अध्ययन और चिंतन के लिए प्रसारित हो जाना चाहिए था, अविलम्ब संस्थान के

प्रभारी निदेशक तैयार कर सदस्यों के बीच प्रसारित कर दें तथा उसमें उस दिन प्रोफेसर सैयद हसन अस्करी, डॉ० क्यू० अहमद और अन्य द्वारा दिये गये योजना के संवंध में सारे सुझावों को भी डाल दें। साथ ही उस दिन प्रस्ताव पर इस संवंध में यह भी तय हुआ था कि प्रोफेसर जे० एन० सरकार, डा० कुमार सुरेश सिंह, प्रो० परमानन्द सिंह मदन, प्रो० सीताराम सिंह, प्रो० डी० एन० झा, प्रो० इर्फान हबीब, डा० गिरिश मिश्रा, प्रो० आर० एस० शर्मा तथा प्रो० आर० एल० शुक्ला को भी इस समिति में उनके श्लाघनीय शोध-कार्य को ध्यान में रख कर मनोनीत कर दिया जाय। प्रो० जे० सी० झा को अंतिम पाँच नामों पर इसलिए आपत्ति थी कि वे उनके बिहार सम्बन्धी शोध-कार्य से अवगत नहीं थे किन्तु उनके शोध-योगदान की तालिका पेश किये जाने के पश्चात् उन्होंने अपनी आपत्ति वापस कर ली और वे सभी समिति में सर्वसम्मति से चुन लिये गये। उस दिन की बैठक का निर्णय हुआ कि इन नये सदस्यों को आज की बैठक की कार्यवाही तथा सिनोपसिस अविलम्ब भेज दिया जाय, जिससे इस संवंध में वे अपना-अपना विद्वतापूर्ण सुझाव समय पर दे सकें तथा अगली बैठक अविलम्ब बुलायी जाय जिसके एक महीना पूर्व ही सभी सदस्यों को-नये और पुराने को-सिनोप्सिस की प्रतिलिपि अपनी सम्मति देने के लिए मिल जानी थी। 21-7-84 की टिप्पणी।

अखिल भारतीय विश्वविद्यालय एवं कॉलेज शिक्षक महासंघ के मंत्री तथा योजना समिति के सदस्य परमानन्द सिंह 'मदन' का पत्र : कुछ वष पूर्व इस योजना की समिति की सदस्यता प्रदान करने का पत्र मिला था, किन्तु लाख प्रयास के बावजूद इसकी बैठक होना सम्भव नहीं हुआ। मुझे खेदपूर्वक सूचित करना पड़ रहा है कि मैं उपस्थित नहीं रहूँगा। भविष्य के लिए निवेदन हैं कि ऐसी महत्त्वपूर्ण बैठकों की सूचना काफी पूर्व दी जानी चाहिये, इस बार की तरह बैठक से मात्र तीन दिन (5 मार्च 1987) पूर्व नहीं।

कहना न होगा कि यह योजना इतिहास-लेखन की दृष्टि से ही नहीं अपितु राष्ट्रनिर्माण की दृष्टि से भी काफी महत्त्वपूर्ण है। इस विश्लेषणात्मक अध्ययन से राष्ट्रीय पुर्ननिर्माण की आशा बंधी थी और इसलिए इस अध्ययन को अब तक अवश्य प्रकाशित हो जाना था, किन्तु अभी तक प्रकाशित तो नहीं ही हुआ है। योजना का कोई सीनोपसिस पत्र के साथ संलग्न नहीं था। इसलिए विधिवत् प्रभावकारी ढ़ंग से कोई सुझाव देना सम्भव नहीं है। तत्काल तदर्थ कुछ सुझाव निम्नलिखित है जिस पर बैठक में उपस्थित विद्वान को विचार करने की कृपा की जरूरत है :

इतिहास-लेखन एक ऐसा सामाजिक विज्ञान है जिसमें सम्पादक तथा लेखक का दृष्टिकोण महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता हैं। इस क्षेत्र में अब पुराना घिसा-पीटा तौर-तरीका प्रासांगिक नहीं रह गया है। अद्यतन वैज्ञानिक प्रवृति यह है कि इतिहास का विश्लेषणात्मक अध्ययन समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र और राजनीति विज्ञान से भी जुड़ा होना चाहिए। अतः मेरा सुझाव होगा कि सम्पादक मण्डल तथा लेखक मण्डली से वैसे ही लोग जुड़े हुए हों जो वर्णित मान-दण्ड को पूरा कर रहे हों। ऐसी ही स्थिति में संस्थान के सहायक निदेशक विजय कुमार की आशंका स्रोत एवं विश्लेषण के मामले में दूर की जा सकती है जिसकी

चर्चा उन्होंने अपनी पुस्तक ऑन दि ग्रेस होल्ड आफ प्रीमिन्स-हूड (पृष्ठ *xiv-xxii*) में की है। वैसी ही स्थिति में संस्थान से प्रकाशित पुस्तकें हिस्ट्री आफ इण्डियन नेशनल कांग्रेस इन बिहार 1885-1985, वायोग्राफी आफ कुँवर सिंह एण्ड अमर सिंह जैसी पुस्तकों में की गई अनर्थकारी गलतियाँ की पुनरावृत्ति नहीं होगी और तैयार शोध पुस्तक विश्लेषणात्मक बैज्ञानिक और समाज में मार्ग दर्शक के रूप में उपस्थित की जा सकेगी।

इस तरह सम्पादक मंडल के अन्य सदस्यों के मनोनयन में मापदण्ड वही होना चाहिये जिससे संस्थान की वर्णित प्रकाशित पुस्तकों की तरह आदिवासी, हरिजन और जनता विरोधी अध्ययन का अभियोग इस योजना पर नहीं आवे।

संस्थान के सभी अनुभवी शोध सदस्यों को शामिल किया जाना चाहिये, साथ ही बिहार और विहार से बाहर के वैसे इतिहासकारों को इस सुहृद मण्डली में शामिल किया जाना चाहियें जो अनुभवी और स्वस्थ बौद्धिक परम्परा के अनुयायी हों। इस सन्दर्भ में मैं निम्नलिखित व्यक्तियों के मनोनीत किये जाने का सुझाव देता हुँ जिस पर वैठक में विचार किया जाना चाहिए। " इनके अतिरिक्त अन्य विद्वानों पर भी विचार किया जाना चाहिए, लेकिन हर हालत में लेखक तथा सम्पादक की सुहृद मण्डली में वैसे किसी को भी शामिल नहीं किया जाना चाहिए जिनका बौद्धिक दृष्टिकोण वैज्ञानिक और स्वस्थ न हों।

संस्थान की दुर्दशा और दकियानुसी तथा विदेशी प्रभाव (सी. आई. ए.) की चर्चा संस्थान ही के सहायक निदेशक विजय कुमार ने 'इतिहास लेखन में आंचलिकता' नामक पुस्तक में की है। कृपया उस बैंठक में यह बताने की कृपा करेंगे कि इस योजना के कार्यान्वियन में वैसी कोई भी गड़बड़ी नहीं होगी। 6.3.1986.

दूसरा पत्र : 5-5-1987.

मेरे पत्र दिनांक 6 मार्च 1987 का कोई भी उत्तर प्राप्त नहीं हुआ है। वर्णित पत्र में उठाये गए मुद्दों खासकर खण्ड क के प्रथम अनुच्छेद एवं 'घ' की प्रासंगिकता (मेरे विदेश के तजुर्वे, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के भूतपूर्व अध्यक्ष प्रो० सतीश चन्द्र के निबन्ध, अन्य अद्यतन शोध संबद्ध बौद्धिक लेखनों तथा देश में वर्तमान साम्राज्यवादी साजिशों के देशी एवं विदेशी तत्वों की षड़यंत्रकारी भूमिका से संभवत: और सम्पुष्ट होती है। इसको निरर्थक पुनः दुहराने की जरूरत पड़ रही है कि सामाजिक और आर्थिक इतिहास की योजना, हमारे जैसे मुल्क के पुर्ननिमाण के लिए अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है और इललिए भी इस शोध अध्ययन का यथाशीघ्र सफल सम्पादन उस निमित्त तथा साम्राज्यवादी साजिश को विफल करने हेतु अत्यन्त आवश्यक है। इस संदर्भ में प्रो० सतीश चन्द्र के एक निबन्ध से आप तथा इस शोध योजना समिति के अन्य विद्वान इतिहासकार सदस्यगण अवश्य अवगत होंगे जिसमें इतिहास-लेखन-क्षेत्र में साम्राज्यवादी साजिश और हमारे देश में उनके चट्टे-बट्टे की भी करतूतों का विश्लेषण किया गया है।

जिस साजिश की ओर प्रो० सतीश चन्द्र संकेत करते हैं, खुद हमारे देश में ही उस तरह के प्रतिक्रियावादी, साम्राज्यवादी, सामंती तथा साम्प्रदायिक

इतिहासकार एजेंटों की कमी नहीं है जिसका एक संक्षिप्त तार्किक विश्लेषण भारत के प्रसिद्ध इतिहातकारों की कलम से **भारतीय इतिहास लेखनः एक अन्तराष्ट्रीय विवाद'** नामक पुस्तक में हुआ है जिसे आपने भी स्वयं 'सुलिखित एवं विद्वतापूर्ण' पायी है। बिहार के वैसे सुविधाभागी एजेंट इतिहासारों का कुछ विस्तृत वर्णन अन्य पुस्तकों में है जिसका जिक्र मैंने पूर्व के पत्र में किया था तथा जिससे इस शोध-योजना-समिति के सदस्यगण स्वयं भी परिचित हैं। वाबरी मस्जिद और रामजन्मभूमि के बर्त्तमान विवाद में इसी गिरोह के एक हिस्से ने साम्प्रदायिक उन्माद फैलाने का हथफन्डा इतिहास-लेखन को बना लिया है। इस मोर्चे पर भी वे साम्राज्यवादी तत्व देश को खण्डित और छिन्न-भिन्न करने कीं साजिश में तल्लीन हैं और इस निमित एक व्यापक मोर्चा, नापाक गठबन्धन वना चुके हैं जिसकी ओर हमारे प्रधानमंत्री भी संकेत कर चुके हैं। ऐसी विषम परिस्थिति में और राष्ट्र के लिए नाजुक घड़ी में हम इतिहासकारों का भी यह पुनीत कर्त्तव्य होता है कि राष्ट्रीय हित में तथा साम्राज्यवादी साजिश को विफल करने के लिए इस शोध-योजना का सफल सम्पादन आपातकालीन स्तर पर पूरा करें और वैसे इतिहासकार एजेंट को नहीं रखा जाए जिनके काले कारनामों की तरफ प्रो० सतीश घन्द्र सरीखे विद्वानों ने अपने लेख में संकेत किया है तथा **'भारतीय इतिहास लेखन, 'इतिहास-लेखन में आंचलिकता'** सरीखे इतिहास के शोध - ग्रन्थों में इनके काले कारनामों के संदर्भ में साक्ष्य प्रस्तुत किए गए हैं। स्मरण रखने की जरूरत है कि वर्णित इतिहासकारों में कुछ का खुल्लम-खुल्ला संवंध अमरीकी दूतावास, थाइलैंड, और सी० आई० ए० सरीखे विदेशी एजेंसियों से बताया गया है। ऐसे इतिहासरों का चरित्र-चित्रण हरिशंकर परसाई ने अपनी विभिन्न साहित्यिक रचनाओं में जीवित रुप से (1) **प्रतिनिधि व्यंय** (पृ० 62) दिल्ली-1983 (2) **जैसे उनके दिन फिरे** (पृ०-53-57) दिल्लों-1982 तथा प्रतिनिधि बुद्धिजीवी में जीवित रूप से लंका विजय के बानर सेना के रूप में चित्रित किया है। इन्हीं शव्दों के साथ हम अब आपका ध्यान अपने पूर्व के पत्र में उठाये गए प्रश्नों के संदर्भ में बिहार सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास संवंधी शोध-योजना की लेखन-प्रक्रिया के कुछ महत्वपूर्ण मुद्दों पर विचारने का निवेदन करते हैं तथा इस क्रम में शोध योजना समिति के सदस्यगण का ध्यान अभी-अभी हिन्दी में प्रकाशित **'भारती विवाह संस्थान का इतिहास'** नामक पुस्तक के मराठी संस्करण की प्रस्तावना की ओर आकृष्ट करते हैं जिसे विद्वान सदस्यों ने अवश्य पढ़ा होगा। यह पुस्तक सामाजिक और आर्थिक इतिहास-लेखन के संवंध में महत्वपूर्ण अद्यतन प्रवृत्तियों की संक्षिप्त व्याख्या और दिशा निर्देश देती हैं जो हमलोगों की इस शोध-योजना के लिए अतिप्रासंगिक और उपयोगी है। उसके तथा अन्य अध्ययनों के आधार पर मेरा तसंबंधी निम्नलिखित सुझाव है :

राष्ट्र के पुनर्निर्माण के लिए भारतीय समाज या बिहार राज्य की उसके पूर्व समाज की रचना कैसे हुई, इसका अध्ययन सम्पूर्ण मानव जाति के एकीकरण के ध्येय की पूर्त्ति के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इस तरह के और भी अनेक ऐतिहासिक प्रश्न हैं जो हमारे देश के इतिहासकारों के सम्मुख उपस्थित हैं। परन्तु उनके परस्पर संवंध स्पष्ट करने की पद्धति क्या हो, यही मुख्य समस्या हल नहीं हो पाई है। केवल राष्ट्रीयता की या एकता की खोखली गर्जना करने से वह हल

भी नहीं होगी। बिहार में राष्ट्रबाद, क्षेत्रीयतावाद, जातिवाद, सम्प्रदायवाद और नेताओं का परस्पर बाद-विवाद चलता आ रहा है। क्या उन सभी पर पर्दा डालकर एकता और राष्ट्रवाद का सुनहला दुसाला चढ़ाकर, वर्ग संघर्ष की प्रक्रिया को छिपा कर कोई सामाजिक और आर्थिक समस्या का निदान संभव है? अगर नहीं तो अपनी भाषा, रीति-रिवाजों, सामाजिक और ऐतिहासिक क्रिया-कलापों का, राज्यों, समाज परिबर्त्तन, भाषा परिवर्त्तन का, बिचार परिवर्तन का, वर्गबद्ध समाज गठन का इतिहास लिखने का प्रयास किया जाना चाहिए जिससे वर्त्तमान और भविष्य में पुनर्निर्माण की प्रक्रिया आसान और सम्भव हो। फलत: हमें आदिम बन्य अवस्था से आज की अवस्था तक कैसे पहुँचे, इसको स्पष्ट करने के लिए सभी उचित साधन, परीक्षण तथा सिद्धान्त का अंगीकरण करना चाहिए। यही मूल समस्या है जिसके सामाजिक, राजनीतिक, भाषाएँ, साधन तथा उपाय ढूढ़ने में इस योजना के सलाहकार, सम्पादक तथा लेखक इतिहासकारों को अविलम्ब लगना चाहिए, अभी तक की तरह इस योजना संबंधी प्रक्रिया को वर्षों से स्थगित कर राष्ट्रीय निर्माण की प्रक्रिया को अवरुद्ध नहीं की जानी चाहिए जो अत्यंत ही घातक सिद्ध हो रहा है।

हमारा इतिहास-लेखन जातीय, सामंती, साम्राज्यवादी एवं साम्प्रदायिक पूर्वाग्रहों से भरा पड़ा है। ऐतिहासिक भौतिकवाद के मूल तत्वों को ध्यान में रखकर हमारे समाज का इतिहास या उसकी रूपरेखा अभी तक तैयार नहीं है। इस योजना-समिति से जुड़े लोगों के लिए यह समझदारी आवश्यक है कि राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के मार्ग को प्रशस्त करने के लिए, इस तरह के इतिहास अत्यावश्यक हो गए हैं। यह सच है कि इस तरह के सम्पूर्ण इतिहास की रचना के लिए आवश्यक सामग्री और सुविधा और इतिहासकारों की कमी है किन्तु ये बिल्कुल उपलब्ध नहीं है, यह तर्क भी निराधार प्रतीत होता है। ऐसे इतिहास की रचना का कार्य कठिन अवश्य है किन्तु इस निमित्त एक सुविचारित समिति के गठन और उसकी सलाह से कार्य आसान हो सकता है जिस संबंध में मैंने अपने गत पत्र में कुछ ठोस सुझाव भी दिया था। ध्यान देने की जरूरत है कि अपने देश में विकृत विचार इतिहास-लेखन द्वारा फैलाए जा रहे हैं, उनको रोकने के लिए, इस तरह की समिति और योजना का अविलम्ब सफल सम्पादन अत्यावश्यक हो गया है। यह जरूरी नहीं कि यह इतिहास ग्रन्थज्ञान-कोष तथा हिस्ट्री ऑफ इण्डियन नेशनल कांग्रेस इन बिहार (1885-1985) जैसे वृहत, अप्रासंगिक, त्रुटिपूर्ण और सहस्र अनर्थकारी अशुद्धियों से भरपूर हों, तथा पुरानी अंग्रेजी पद्धति का ही इतिहास बनकर रह जाए। इसीलिए यह आवश्यक है कि इस योजना के सलाहकार, सम्पादक और लेखक, अन्य योजनाओं से भिन्न हों जिससे पूर्व की तरह इस ग्रन्थ के माध्यम से बिकृत-बिचार फैलाने की कोई गुंजाइश न रहे।

इसलिए यह आवश्यक है कि इस योजना से सम्बद्ध इतिहासकार केवल मस्जिदों, देवालयों, गिरजाघरों, गुरुद्वारों, राजे-रजबारों, तथा उनके दानपत्रों या भग्नावशेषों को देखकर अथवा भूदान या गोदान के अनुदान पत्रों को देखकर इतिहास-लेखन की प्रक्रिया सहसा प्रारम्भ और समाप्त कर निरर्थक भ्रम फैलाने की कुचेष्टा से परहेज रखें। ऐसी ही कुचेष्टा परिणाम-स्वरूप अभी रामजन्मभूमि और बाबरी मस्जिद के साम्प्रदायिक नेताओं के लिए इतिहास साम्प्रदायिक जहर फैलाने

के लिए एक आग्नेय अस्त्र बन गया है। मुस्लिम शासन के संबंध में मनचाही कल्पनाएँ फैला कर हम अपने लोगों में राष्ट्रीयता तथा एकता के विकास को संकुचित दिबारों में बन्द कर रहे हैं तथा भारत की समस्त जनता की एकता के लिए रुकावटें भी खड़ी कर रहे हैं। इस तरह के इतिहासकार भला क्या इतिहास लिखेंगे और पढ़ाऐंगे ? और यदि लिखेंगे और पढ़ायेंगे तो किस तरह ? क्या यह बताने में सक्षम हो सकेंगे कि सिकन्दर, अशोक या नेपोलियन से जो कार्य नहीं हो पाया वह केबल टोलीबद्ध समाज के लिए कैसे सम्भव हुआ या क्या वे बिहार के समाज और जनता का ऐतिहासिक परिपेक्ष्य में वस्तुगत चित्रण पेश कर सकेंगे ? इस योजना के माध्यम से हमारे प्रयासों का उद्देश्य यह होना है कि अग्रेज विद्वानों और उनके चट्टे-बट्टे तथा कथित विद्वानों के निकृष्ट ग्रन्थों एवं विकृत बिचारों को अलग हटाकर अपनी नयी पीढ़ी को अपने देश का, समाज का, विचारों का सत्य दर्शन कराया जाए और उनकी कुप्रवृतियों से रक्षा की जाए।

इस इतिहास-लेखन प्रक्रिया में हमें लेखन के स्रोत को अत्यधिक महत्व प्रदान करना है। इस सम्बन्ध में हमारी अनुशंसा होगी कि इसमें सम्बद्ध इतिहासकार खुद इसी संस्थान के प्रकाशन **के० पी० जायसवाल कौमोओरेशन वालुम-** (पृष्ठ 538-54) कैथेरीन स्मिथ द्वारा सम्पादित—**प्राइमरी प्रिन्टेड एण्ड मेनुसक्रीप्ट् सोर्सेज फौर सीक्सटीन्थ टु नाइनटीन्थ सेन्चुरी स्टडीज** (पृ० 211-20) सरीखे प्रकाशनों में बताए गए स्रोत तथा विश्लेषण की प्रक्रिया को अपनावें, जिससे संस्थान के अन्य प्रकाशनों की तरह, इस प्रकाशन के स्रोत, उसके विश्लेषण तथा निष्कर्ष के संबंध में त्रुटिपूर्ण मनोवादी, अवैज्ञानिक, साम्प्रदायिक और साम्राज्यवादी तौर तरीका अपनाने का अभियोग साबित न हो। कहने का तात्पर्य यह है कि इस प्रक्रिया से ऐतिहासिक दृष्टिकोण के विकास एवं तार्किक विश्लेषण में मदद मिले। विकसित ऐतिहासिक दृष्टिकोण के अभाव में चाटुकार इतिहासकार ऐसा इतिहास लिख डालते हैं जिससे समाज के विज्ञान का उचित ज्ञान न होने पर जनता नेताओं के इशारों पर चलने लगती है और संगठन दुर्बल हो जाता है। विकृत इतिहास-लेखन देश को दुर्बल करने का सबसे सवल अस्त्र है, ऐसी मेरी समझदारी समाज के ऐतिहासिक विकास के चढ़ाव और उतार के घटनाक्रम के परीक्षण से हुई है। इसका एक दूसरा कारण यह भी है कि हमारे कुछ इतिहासकार के आदर्श सिर्फ अंग्रेज, अमरीकी और जर्मन इतिहासकार हैं, भारतीय इतिहासकार नहीं। फलत: उनका लेखन समाज के विकास की वस्तुगत तस्वीर नहीं खींचकर ऐसा एक विकृत-स्वरूप पेश करता है— अपने देश का, समाज का, समझदारी का, विचारों और भावों का, भाषा और संस्कृति का सत्ता के विकास आदि का जो वस्तुगत विवरण न होकर परजीवियों और शोषकों का एक मोहक चिज पेश करता है जो वर्ग-संघर्ष जैसे अक्षुण्ण सत्य को नकार कर इतिहास को ईश्वरीय चक्र, दैवी दुर्घटना, नायकों का मनचाहा क्रीड़ा-स्थल के रूप में पेश करता है। शासन और धनबान उद्योगपतियों के अनुदान के रहते जो संस्थाएँ या व्यक्ति इस क्षेत्र में कार्यरत हैं, उनके द्वारा रचित ग्रंथों से प्रगति का मार्ग प्रशस्त होगा, ऐसी आशा कम है।

ऐसी संस्थाओं के नाम का उल्लेख करना यहाँ उचित नहीं किन्तु, इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि—पाठ्यक्रमों, विद्वानों की परिचर्चाओं में, या आये दिन

गाजे-बाजे के साथ होने वाले संगोष्ठियों में बिहार जैसे प्रांत में भी के० पी० जायसवाल, राहुल सांकृत्यायन, स्वामी सहजानन्द सरस्वती, डी० डी० कौशाम्बी, ताराचंद, एस० ए० डांगे, के० के० दत्त, रामधारी सिंह दिनकर, अल्टेकर आर० सी० दत्त, आर० पी० दत्त, मार्क्स तथा मॉरगॅन, हेजल सरीखे विद्वानों की कृतियों का स्रोत एवं विश्लेषण के लिए मदद नहीं लेकर बी० ए० स्मीथ, सी० एच० फिलीप्स, अनिल सील तथा ट्रांसफर ऑफ पावर जैसी कृतियों में ऐतिहासिक दृष्टिकोण के मार्गदर्शन का ढोंग रचा जा रहा है।

आप सहमत हों या नहीं लेकिन इस तथ्य को योजना के शीघ्र और सफल सम्पादन के लिए यहाँ रख देना मोनासिब होगा कि भौतिकवादी वैज्ञानिक दृष्टि से बिहार के सामाजिक और आर्थिक इतिहास का लिखना आवश्यक होगा जिसमें वर्ग-संघर्ष की उचित भूमिका का विश्लेषण भी होना है। इसे भूलना नहीं चाहिए कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र से, महात्मा गाँधी के चम्पारण सत्याग्रह तथा आज तक के विभिन्न भूमि-आंदोलनों तथा अन्य संघर्ष बिहार की सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था की एक अलग कहानी है जिसकी वर्ग-संघर्ष के परिपेक्ष्य में भौतिकवादी व्याख्या के आधार पर ही वस्तुगत तस्वीर खींची जा सकती है। अगर बिहार के अतीत के समाज की वर्णित ऐतिहासिक आधारशिला है तो यह कहने की संभवतः जरूरत नहीं है कि इस योजना से संवद्ध विद्वानों के ऐतिहासिक दृष्टिकोण का विकास ऊपर वर्णित स्वर्गीय इतिहासकारों की रचनाओं के अतिरिक्त प्रो० आर० एस० शर्मा, प्रो० नूरुल हसन, प्रो० सतीश चन्द्र, प्रो० हरवंश मुखिया, पो० इरफान हबीब, डा० कुमार सुरेश सिंह, खुद इसी संस्थान से संवद्ध प्रो० एस०एच० अस्करी, डा० भी० सी० पी० चौधरी जैसे लोगों तथा डा० बी० बी० मिश्र, पो० विपीन चंद्र आदि की रचनाओं तथा एंजेल्स की अन्य रचनाओं के साथ-साथ परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और राज्य सत्ता की उत्पत्ति सरीखे ऐतिहासिक लेखनों से ही इस योजना के लिए स्वस्थ ऐतिहासिक दृष्टिकोण का विकास हो सकता है। प्रो० डौडवेल प्रो० भी० ए० स्मिथ, मील, प्रो० फिलीप्स, आर० सी० मजुमदार, सरीखे लोगों की रचनाओं से कदापि नहीं। हर हालत में इस योजना के सन्दर्भ में इस बात का सख्ती से तो पालन करना ही पड़ेगा कि किसी भी रूप में ऐसे विद्वान का इससे सम्बन्ध न हो जिनका स्वस्थ ऐतिहासिक दृष्टिकोण नहीं तथा जो बौद्धिक जालसाजी, दूसरों की रचनाओं से चोरी कर अपनी पुस्तक लिखने, लेखक के नाम की चोरी जैसे जघन्य अपराध करने वाले तथा उनकी प्रशंसा करने वाले जैसे कार्यों के अपराधी हों। भला इस तरह के ऐतिहासिक दृष्टिकोण एवं जालसाजी करने वाले किस तरह की सलाह सम्पादन और लेखन के योगदान से बिहार के सामाजिक और आर्थिक विकास के इतिहास को कार्यान्वित करने में मदद कर सकते हैं? यह इसलिए कहने की जरूरत पड़ रही है कि आपके संस्थान के प्रकाशनों के सम्बन्ध में इस तरह की शिकायतें मात्र पत्र-पत्रिकाओं, विधान सभा, विधान परिषद आदि में ही नहीं होती रही है अपितु संस्थान ही के सहायक निदेशक श्री विजय कुमार ने भी अपने लेखनों में भी इन अक्षम्य बौद्धिक त्रुटियों की साहसपूर्वक खुलमखुल्ला भर्त्सना की है तथा निष्पक्ष जांच की माँग की है जिसका संकेत हमारे गत-पत्र में दिया जा चुका है। वर्त्तमान योजना बिहार के सामाजिक और आर्थिक इतिहास का है जिसके विश्लेषण से हमारे राष्ट्र और

प्रांत के सामाजिक राजनीतिक और आर्थिक विकास को प्रेरणा और मार्ग-दर्शन मिलना है, साम्राज्यवादी और सामंती तिकरम और शोषण की आधारशीला नहीं। वैज्ञानिक ऐतिहासिक दृष्टिकोण के आधार पर इस पुस्तक के अतीत में जनता के संघर्ष और उसके बहुमुखी क्रिया-कलापों की जीवित कहानी होनी है, हर वर्ग, हर समुदाय, और हर मजहब की वस्तुगत तस्वीर होनी है। परजीवियों, सामंती शोषकों, साम्राज्यवादी तिकरमों का स्तुतिगान या आदिवासी, हरिजन तथा आम जनता विरोधी गद्य संग्रह नहीं।

राष्ट्रीय विकास संकट, प्रतिक्रियावादी और साम्राज्यवादी तिकरमों की पृष्टभूमि में, देश की एकता और सुरक्षा के सम्बन्ध में टालमटोल की नीति को त्याग कर योजना समिति की अविलम्ब बैठक बुलाकर इस पर की गई प्रगति का विवरण भी दिया जाय तथा शोध प्रक्रिया को तीव्रतर किया जाए, जिससे वह जल्द तैयार होकर राष्ट्रीय एकता, सुरक्षा एवं विकास का एक महत्त्वपूर्ण कारक बने, संस्थान के अधिकांश प्रकाशनों की तरह पुस्तकालयों की आलमीरा पर मात्र एक बोझ नहीं।

चूँकि इस योजना का सम्बन्ध राष्ट्र और राज्य के सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक विकास से जुड़ा हुआ है, इसलिए इसका शीघ्र कुशल सम्पादन होना आवश्यक है तथा इससे मात्र वैसे ही लोगों को जुड़ा रहना है जो चारित्रिक और बौद्धिक दृष्टि से विश्वासी, कर्मठ और समर्थ हों। अगर इस सम्बन्ध में आपकी कोई कठिनाई हो और आप मेरी सेवा का उपयोग विद्वत् मण्डली एवं सरकारी कार्य क्षेत्र में चाहते हों तो उस सम्बन्ध में भी ठोस कार्य-क्रम को अविलंब अग्रसारित कर देने की कृपा करेंगे जिससे मैं इस योजना के शीघ्र सम्पादन के कार्य में अविलम्ब लग जाऊँ। हर हालत में इसकी अगली बैठक इस महीने में अवश्य हो जानी चाहिए। 5.5.87.

पत्रांक 3/वि० 6/ए84-2280 दिनांक 21-6-1987/के क्रम में तीसरा पत्र : वर्णित विषय पर मेरे दो पत्रों के बाद उत्तर स्वरूप जो पत्र प्राप्त हुआ है वह अपने-आप में अपूर्ण प्रतीत होता है। फलस्वरूय इस पत्र को लिखने की आवश्यकता आ पड़ी है तथा माँगी गई सूचनाएँ एवं कागजात अविलम्ब उपलब्ध कराने का निवेदन करना पड़ रहा है जिससे पत्र का समुचित उत्तर और सम्मतियाँ तुरत दी जा सके।

यह प्रसन्नता की बात है कि समिति की विधिवत मंडली ने मेरे पत्र दिनांक 7-3-87 पर विचार किया और कुछ अंशों पर सदस्यों की तीखी प्रतिक्रिया हुई।

इसे आवश्यक मानकर तुरत उत्तर देकर कृतार्थ करें जिससे मेरा उत्तर शीघ्र तैयार हो सके और राष्ट्रीय हित में यह महत्वपूर्ण योजना गतिशील हो सके। आपके इस तरह के सहयोग पर ही योजना, राज्य और राष्ट्र की स्वस्थ परम्परा कायम हो सकती है।

पत्र के द्वारा दो (ख) की यह बात समझना कठिन हो रहा है कि शोध के प्रकाशित निष्कर्ष का सम्बन्ध सरकारी नौकरी में होने या न होने से क्या है ?

इसका सीधा सम्बन्ध साक्ष्य और तथ्य से होता है, नौकरी से नहीं। मेरे पत्र में जो कुछ भी लिखा गया था वह ठोस प्रमाण और साक्ष्य पर आधारित है जिसे उस समिति के विद्वान सदस्यों ने भी मेरी तरह अवश्य ही पढ़ा और देखा होगा। अगर तत्काल उसे मान भी लिया जाय कि वे **इण्डियन नेशन** और विचार-बोध में बिना सरकारी नौकरी में रहे ही प्रकाशित हुए थे तो इससे उन शोध-निष्कर्षों में क्या फर्क पड़ेगा जिन्हें साक्ष्यों और तथ्यों पर आधारित होना है? क्या नौकरी में रहने से तथ्य एवं साक्ष्यजन्य निष्कर्ष को बदलने की कोई मजबूरी होती है? अतः निवेदन है कि **इण्डियन नेशन** और विचार-बोध में प्रकाशित तत्संबंधी निबन्धों की एक प्रतिलिपि अविलम्ब मुझे उपलब्ध कराते हुए इस अनुच्छेद के प्रश्नों के उत्तर के साथ-साथ यह भी स्पष्ट रूप से बताने की कृपा करें कि ऐसी कौन-सी चीजें वर्णित प्रकाशनों में नहीं है जिनका मैंने उल्लेख किया है? वैसे पुनः इसे चेक कर लिया है और मेरी ओर से कोई ऐसी गलती होने की सम्भावना नहीं प्रतीत होती है?

अध्याय-निर्धारण के सम्बन्ध में कुछ ठोस सुझाव देना है और तत्संबंधी एक टिप्पणी भी मैं तैयार कर रहा हूँ जो संस्थान द्वारा मांगे गये कागजात और सूचना नहीं भेजे जाने के कारण अधूरा है। अतः पुनः निवेदन है कि 7 मार्च एवं 5 मई 1987 तथा वर्तमान पत्र में माँगे गए कागजात तथा सूचनाएँ अविलम्ब मुझे उपलब्ध कराने की कृपा करें जिससे तत्संबन्धी टिप्पणी मैं शीघ्र पूरा कर संस्थान को अग्रसारित भी कर दूँ और संस्थान उस दस्तावेज को चक्रलिखित कराकर समिति के सदस्यों के बीच अगली बैठक से पूर्व प्रसारित कर दे जिससे बैठक में उस पर सार्थक बहस हो सके।

अन्त में निवेदन है कि इस पत्र के साथ-साथ मेरे लिखे दो पूर्व पत्रों को भी सदस्यों के बीच सम्मति के लिए प्रसारित करते हुए अबतक मेरे द्वारा विभिन्न पत्रों द्वारा माँगी गई सूचनाएँ, दस्तावेज तथा तत्संबंधी अन्य उपयुक्त दस्तावेज अविलम्ब उपलब्ध करा दिये जायँ जिससे मैं स्पष्ट एवं उपयुक्त दस्तावेज समिति के कुछ सदस्यों की आशंका दूर कर योजना हेतु शीघ्र पेश कर सकूँ। लोकहित में टालमटोल की नीति छोड़कर योजना तुरत चालू की जाय जिससे दो वर्षों के अन्दर तैयार होकर यह राष्ट्रीय निर्माण तथा देशद्रोही एवं साम्राज्यवादी तत्व की साजिश को विफल करने के लिए एक ऐसे जीवित और वैज्ञानिक दस्तावेज के रूप में प्रेरणात्मक स्रोत बने। अगली बैठक की तिथि अविलम्ब तय कर कम-से-कम हर सदस्य को एक माह पूर्व उसकी जानकारी मिल जाय जिससे गत बैठक की तरह मेरे साथ-साथ अन्य सदस्यों को भी पूर्व सूचना के अभाव में अगली बैठक से अनुपस्थित रहने की मजबूरी न हो जाय। किसी भी हालत में संस्थान के कुछ प्रकाशनों की तरह इसे जनता और वैज्ञानिक चिन्तन विरोधी, प्रतिक्रियावादी और प्रतिगामी ग्रंथ न होने देना है, साथ ही न तथ्य और भाषा सम्बन्धी अशुद्धियों का पुंज होने देना है। *12-2-87.*

योजना समिति के दूसरे सदस्य की टिप्पणी, 12.10.1988 :

पृष्ठभूमि—पता नहीं क्यों वर्णित महत्वपूर्ण शोध योजना जिसे राष्ट्रीय एवं प्रांतीय सामाजिक एवं आर्थिक विकास की एक मजबूत कड़ी होनी थी किसी षड्यंत्र का शिकार हो गया है। 6 मई 1984 को इस निमित्त गठित समिति की पहली बैठक हुई। उसी दिन कुछ नए सदस्यों को भी इस समिति में मनोनीत किया गया तथा कुछ बहस के बाद आपको समिति की ओर से कुछ निदेश भी दिए गए। (देखें 21 जुलाई, 1984 को संस्थान से शोध सदस्यों और आपको समर्पित मेरी टिप्पणी)। इस योजना को तैयार होकर अबतक प्रकाशित हो जाना चाहिए था किन्तु तीन वर्षों में उस बैठक की कार्यवाही तक भी तैयार कर अबतक सदस्यों को उपलब्ध नहीं कराई गई हैं। इस बीच समाचार पत्रों में इसके प्रति अवहेलनापूर्ण रूख की भत्सर्ना होती गई, सदस्यों ने निर्णयानुकूल इसकी अविलम्ब बैठक बुलानें का निवेदन किया, राज्यपाल तक इस निमित्त अभ्यावेदन पड़े। तब इस पृष्ठभूमि में इसकी दूसरी बैठक 8 मार्च, 1987 को किसी तरह बुलाई जा सकी जिसकी प्रसारित कार्यवाही ही बैठक की घटनाओं एवं निर्णयों के सम्बन्ध में गलत, निराधार और तथ्यहीन तस्वीर पेश करती है। घटना-क्रम को देखने से इस योजना के संचालक के लिए शर्म की बात है कि वे इसके माननीय सदस्य प्रो० विष्णु अनुग्रह नारायण को पहली बैठक की कार्यवाही तीन वर्षों में भी उपलब्ध न करा सके और वे स्वर्गीय हो गए।

निराशाजनक उपस्थिति—चाहे कारण जो हो, 8 मार्च, 87 को इस योजना की तीन वर्षों में दूसरी बैठक में सदस्यों की उपस्थिति अत्यन्त ही निराशाजनक थी जबकि 1984 की पहली बैठक में प्रो० सैयद हसन अस्करी सरीखे लोग भी उपस्थित थे। संस्थान से बाहर के मात्र दो सदस्य थे—प्रो० उपेन्द्र ठाकुर तथा प्रो० राजीव नयन प्रसाद जो किसी तरह यात्रा-भत्ता के भी हकदार होते हैं और एक और भी विशेष आमंत्रण पर बुलाए गए थे जिन्हें बाहरी होते भी संस्थान के बौद्धिक क्रियाकलापों में जालसाजी करने के आरोप में स्पष्टीकरण देना था। शेष सभी संस्थान के ही लोग थे। इस तरह 1984 की पहली बैठक में मनोनीत किए सदस्यों सहित संस्थान से बाहर के कुल लगभग 39 सदस्यों में मात्र दो उपस्थित थे, औरों ने (पटना के उपस्थित संस्थान से बाहर के सदस्यगण) भी इसमें शामिल होना मुनासिब नहीं समझा। ऐसा प्रतीत होता था कि संस्थान और इस योजना सम्बन्धी साजिरापूर्ण वातावरण को ध्यान में रखकर उनका इसके बहिष्कार का निर्णय हुआ है।

कार्यावली पर विचार-विमर्श के क्रम में प्रतिक्रियाएँ :

1. प्रारम्भ में अध्यक्ष ने लगभग तीन वर्षों के बाद इसकी बैठक विलम्ब से बुलाने के लिए तथा प्रथम बैठक के निर्णय के अनुकूल इस योजना के सिनोप्सिस को अपने द्वारा अबतक तैयार नहीं किए जाने के लिए जिन कारणों का जिक्र किया उन्हें अत्यन्त असंतोषजनक, निराशाजनक और साजिशपूर्ण पाया गया। आखिर इन तीन वर्षों में संस्थान में एकाध सौ बैठकें हुई है, एकाध लाख रुपये यात्रा-भत्ता, आतिथ्य सत्कार आदि में खर्च हुए है और हजारों पृष्ठों का सम्पादन प्रभारी निदेशक ने किया है किन्तु इस योजना की एक बैठक नहीं बुलाना और दो-चार

पृष्ठों में सिनोप्सिस नहीं तैयार करना सर्वथा निन्दनीय है और इसे संस्थान की 'स्वस्थ परम्परा के प्रतिकूल बतलाया गया'। समिति ने उन्हें अप्रील, 87 के प्रारंभ में सिनोप्सिस तैयार कर सभी सदस्यों के बीच प्रसारित करने तथा मई में इसकी तीसरी बैठक बुलाने का निर्देश दिया। भविष्य में अबतक की तरह अवहेलनापूर्ण रूख नहीं अपनाने की हिदायत भी दी गई। दुर्भाग्यपूर्ण है कि इसके बावजूद अभी तक प्रभारी निदेशक से सिनोप्सिस तैयार न हो सका और न अगली बैठक ही बुलाई जा सकी है।

2. **कार्यावली**—1984 की प्रथम बैठक की कार्यवाही की सम्पुष्टि नहीं की गई। रोचक स्थिति तब पैदा हुई जब एक संचिका से उस बैठक की कार्यवाही पढ़े जाने का नाटक किया जाने लगा और वैसी चीजें भी पढ़ीं गई जिनका जिक्र भी उस बैठक में नहीं हुआ था। संदेह के आधार पर उसे चुनौती दी गई और तब पाया गया कि वह संचिका तत्संबंधी है ही नहीं और न पढ़ी गई चीजें उस कागज पर हैं। जब इस जालसाजी का भंडाफोड़ हुआ, तो इस फरेब के लिए क्षमा याचना की गई और स्वीकार किया गया कि उसकी कार्यवाही विगत तीन वर्षों में तैयार नहीं की जा सकी है और संचिका भी तत्काल उपलब्ध नहीं है। अतः निर्देश दिया गया कि यादास्त तथा मेरी टिप्पणी (21 जुलाई 1984) के आधार पर कार्यवाही अविलम्ब तैयार कर अप्रैल 1987 में सदस्यों के बीच प्रसारित कर दी जाय जिससे सदस्यगण भी अपनी-अपनी यादास्त से बैठक में लिए गए निर्णयों को अंकित कर संस्थान को सूचित कर दें और इस तरह पूर्ण विस्तृत विश्वस्त कार्यवाही तैयार कर प्रभारी निदेशक अगली बैठक में सम्पुष्टि के लिए विचारार्थ रख सकें।

दुर्भाग्य है कि समिति के इस निर्णय का न अबतक पालन किया गया है और न इस कार्यवाही में की गई जालसाजी का जिक्र ही किया गया है।

3. **कार्यवली**—प्रो० परमानन्द सिंह 'मदन' का पत्र विचारार्थ एजेन्डा पर रखा गया था किन्तु प्रो० उपेन्द्र ठाकुर ने इसे एजेन्डा से हटा देने के लिए प्रस्ताव किया। उनका दावा था कि उस पत्र के माध्यम से उन्हें सी० आई० ए० का एजेन्ट बताया गया है। एजेन्डा से हटाने के पक्ष में उनको छोड़कर कोई नहीं थे। फलतः वह एजेन्डा का अभिन्न अंग बना रहा और जब वह पत्र पढ़ा गया तो समिति से संस्थान से बाहरी सदस्यों को छोड़कर अन्य सभी उपस्थित सदस्यों ने उस पत्र में दिए गए सभी सुझावों का अनुमोदन किया।

प्रसारित कार्यवाही कितनी गलत, भ्रामक और तथ्यों के विपरीत है, इसका अन्दाजा मात्र एक ही उदाहरण से लगाया जा सकता है कि संस्थान के विजय कुमार (शोध सदस्य-सह-सहायक निदेशक) के **इण्डियन नेशन** में किसी लेख के प्रकाशन तथा उसके 'कुछ अंश' के **विचार बोध** में प्रकाशन की चर्चा उन्हीं के हवाले से की गई है जबकि सत्य यह है कि उनका कोई लेख **इण्डियन नेशन** में प्रकाशित नहीं हुआ था और **विचार बोध** में उनका स्वतन्त्र लेख प्रकाशित हुआ था, उसका अंश नहीं। कुमार का बायोडाटा संस्थान, सरकार और बिहार लोक सेवा आयोग को उपलब्ध है। अतः कुमार ऐसा गलत बयान दे ही नहीं सकते हैं कि **इन्डियन नेशन** में प्रकाशित उनके निबन्ध का कोई अंश बाद में **विचार बोध** में

उन्होंने छपाया था। फिर भी यह उन्हीं के हवाले से कार्यवाही में कहलाया गया है।

सच्च तो यह है कि **इण्डियन नेशन** का जिक्र कुमार ने नहीं, प्रो० ठाकुर ने एक दूसरे सन्दर्भ में किया था। प्रो० ठाकुर ने उस बैठक में इसके लिए क्षमा-याचना माँगी कि 1985 में **इण्डियन नेशन** में एक संयुक्त बयान छपा था जिसमें संस्थान के प्रभारी निदेशक की भूरि-भूरि प्रशंसा इसके लिए भी की गई थी कि संस्थान से कुंवर सिह सम्बन्धी पुस्तक से उसके मूल लेखक डा० के० के० दत्त का नाम हटाकर अपना ही नाम मुख्य सम्पादक के रूप में डलवा दिया था जिस पर उनका दस्तखत जाली था। इससे संस्थान की प्रतिष्ठा गिरी है, बौद्धिक मर्यादा का शीलहरण हुआ है, इसके लिए वे क्षमाप्रार्थी हैं। इसी संदर्भ में **इन्डियन नेशन** का जिक्र हुआ था, किसी दूसरे संदर्भ में नहीं जैसा कि कार्यवाही में कहा गया है।

प्रो० मदन के इस प्रस्ताव को भी दो बाहरी सदस्यों को छोड़कर अन्य ने स्वीकार किया कि संदिग्ध बौद्धिक चरित्र वाले क्षदमवेशी वैसे इतिहासकारों को इस महत्वपूर्ण योजना से अलग रहना चाहिए जो वैज्ञानिक चिन्तन, हरिजन, जनता, आदिवासी विरोधी हैं और स्वर्गीय डा० के० के० दत्त की पुस्तक से लेखक के रूप में उनके नाम को चुराकर दूसरे के नाम को महत्वपूर्ण ढंग से प्रकाशित कराने तथा वैसे कुकर्मों की प्रशंसा जाली हस्ताक्षर के आधार पर प्रकाशित कराने के अपराधी हैं। उपस्थित सदस्यों में ही ऐसे सदस्य थे जिन्होंने मध्यकालीन विषय Some Aspects of North Indian Social Life 1556-1707 AD पर आधुनिक खण्ड के विद्वान डा० के० के० दत्त के अन्दर पी०एच०डी० तो अवश्य किया था किन्तु एक अपने उस थेसिस के पुनमुद्रण में डा० दत्ता के फोरवर्ड को हटाकर उसी को अलग-अलग नामों से अलग-अलग प्रकाशकों के माध्यम से प्रकाशित कराने जैसे जघन्य बौद्धिक अपराध के दोषी थे, फिर कुवर सिंह वाली पुस्तक से लेखक के रूप में उनके नाम को हटाने के भी दोषी थे, दूसरे ऐसे सदस्य थे जिन्होंने इन कुकर्मों को करने वालों की प्रशंसा के साथ-साथ स्वयं डा० के० के० दत्त की पुस्तक Text Book of Modern Indian History के अधिकांश अंशों को चुराकर एक स्वतन्त्र पुस्तक ही **मुगलकालीन भारत** लिख डाली तथा प्रचुर राशि भी इस जालसाजी और चोरी के माध्यम से उस पुस्तक से प्राप्त की। एक तीसरे सदस्य जो डा० दत्त को अपमानित करने वालों तथा उनके लेखन को चुराने वालों को खुला समर्थन देने तथा षड़यन्त्र तथा जालसाजी करने के अभियोग में फौजदारी दफा 465, 468, 469 तथा 471 के तहत अभियुक्त हैं। ज्ञातव्य है कि डा० दत्त इस संस्थान के निदेशक रह चुके थे और उनके इस तरह के अपमान से संस्थान के सदस्यगण अवश्य ही पीड़ित रहे होंगे। इन अपमानकर्त्ताओं एवं अपराधियों की उपस्थिति से वातावरण सम्भवतः उतेजक हो गया था। इसी पृष्ठभूमि में प्रो० मदन के इस प्रस्ताव को प्रो० उपेन्द्र ठाकुर के विरोध के बावजूद भी पारित कर दिया गया कि बौद्धिक जगत् के ऐसे अपराधियों को इस योजना से दूर ही रखा जाय जिससे कांग्रेस, कुंवर सिह जैसे संस्थान के प्रकाशनों वाली अनर्थकारी और अक्षम्य गलतियाँ दुहराई न जायें। ऐसा निर्णय करने के समय सम्भवतः संस्थान के शुभचिन्तक सदस्यों को यह भी ध्यान अवश्य रहा होगा कि इन अपराधियों के

कुकर्मों के कारण संस्थान की बौद्धिक प्रतिष्ठा विधान मण्डलों, बुद्धिजीवियों, समाचारपत्रों आदि में इतनी गिर गई कि इन अपराधियों में कुछ को समाचार-पत्रों ने कुत्तों से तुलना की, बुद्धिजीवियों ने निन्दा का प्रस्ताव पारित कर जाँच और दंड के लिए स्मार पत्र दिया, विधान परिषद् के अध्यक्ष ने इन लोगों के वर्णित कुकर्मों को आपत्तिजनक एक ध्यानाकर्षण प्रस्ताव के निर्णय के रूप में दिया तथा संस्थान के प्रभारी निदेशक को हटाने का आदेश दिया।

इसी पृष्ठभूमि में माननीय सदस्यों की तीखी प्रतिक्रिया हो रही थी तथा वर्णित अपराधियों को इस योजना से प्रो० ठाकुर के विरोध के बावजूद दूर रखने का निर्णय लिया गया था जिसका जिक्र तक भी इस कार्यवाही में नहीं किया गया है। क्या कभी भी इस समिति के सदस्यगण संस्थान और इसके भूतपूर्व निदेशक दत्त को अपमानित करने तथा इसकी बौद्धिक मर्यादा का शीलहरण करने वालों की इस महत्वपूर्ण योजना में शामिल करने के पक्षधर हो सकते हैं ?

4. **कार्यावली 3**—इसी उत्तेजक वातावरण में जब इस योजना की प्रस्तावित पुस्तक के अध्याय-निर्धारण और अध्याय-लेखक के चयन के हेतु उप-समिति के गठन में प्रभावी निदेशक, प्रो० उपेन्द्र ठाकुर तथा प्रो० राजीव नयन प्रसाद का नाम प्रस्तावित हुआ, तो आम सहमति के आधार पर इसे ठुकराते हुए यह निर्णय लिया गया कि इस सम्बन्ध में प्रो० मदन द्वारा प्रस्तावित मापदण्ड का पालन करना ही उचित होगा।

5. **दैठक के अन्य निर्णय**—साजिशपूर्ण वातावरण इससे और स्पष्ट हो जाता है कि वर्णित तथ्यों का जिक्र तक भी इस कार्यवाही में नहीं किया गया बल्कि अन्य निर्णयों एवं तथ्यों को भी इसी तरह भ्रामक और गलत ढ़ंग से पेश किया गया है। इस संदर्भ में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के भूतपूर्व अध्यक्ष एवं मध्यकालीन भारत के विख्यात इतिहासकार प्रो० सतीश चन्द्र के एक निबन्ध के इस महत्वपूर्ण अंश को स्मरण करने की जरूरत है कि साम्राज्यवादी तत्व अपने स्वार्थ में नवोदित स्वतन्त्र देशों के इतिहास-लेखन केन्द्रों पर एक साजिश के अन्दर नियन्त्रण अपने एजेन्टों के माध्यम से रखते हैं। इस विश्लेषणात्मक शोध निबन्ध में और भी कई महत्वपूर्ण तथ्य दिए गए हैं जिन्हें ससिति के माननीय सदस्यों ने अवश्य ही पढ़ा होगा। अगर इस पृष्ठभूमि में इस योजना के विलम्ब और कार्यवाही की समीक्षा की जाय तो तदर्थ निष्कर्ष भी भयावह नजर आते हैं। जहाँ सी० आई० ए० और ब्रिटिश साम्राज्यवादी तत्व इतिहासकारों के आवरण में यह सिद्ध करने पर तुले हुऐ है कि बिहार का किसान आन्दोलन और स्वामी सहजानन्द सरस्वती जैसे पूज्य नेता मात्र विशेष जाति के नेता थे और किसान आन्दोलन का नेतृत्व नहीं कर जाति विशेष के हित में आन्दोलन कर रहे थे, वर्ग विशेष का नहीं, भारतीय आजादी ब्रिटिश उदारता की देन थी (ट्रान्सफर आफ पावर), भारतीय जनता के जुझारू संघर्ष की देन नहीं, सामाजिक और आर्थिक विषमताओं को अक्षुण्ण रख कर देश को अस्थिर और टुकड़े-टुकड़े में विभक्त करने के लिए साम्राज्यवादी ऐतिहासिक शोध अध्ययन कराए जा रहे हैं, वहाँ इस महत्वपूर्ण योजना के सम्पादन में विलम्ब, तत्सम्बन्धी अन्य घटनाएँ तथा आदर्श के रूप में उन्हीं लखनों और लेखकों को (देखें प्रो० श्याम विहारी सिंह

तथा अन्य लोगों का संस्थान के लिए लिखे गए प्रकाशनों एवं निवन्धों को) संस्थान आदर्श माने, इस भयावह पहलू पर भी प्रो० सतीश चन्द्र के अध्ययन की पृष्ठभूमि में गम्भीरता से विचारने की जरूरत है।

अध्याय-निर्धारण का रहस्य :

अध्याय-निर्धारण के संबंध में 1984 की पहली बैठक में यह निर्णय हुआ था कि पहले प्रभारी निदेशक योजना का सिनोप्सिस तैयार कर बैठक में चुने गए विद्वानों के पास उन्हें भेजकर उनकी सहमति ले लें। तत्पश्चात् ही अध्याय-निर्धारण के कार्य को विधिवत तय कर लिया जाएगा। फिर कुछ लोगों को ऐसा करने के लिए कब और किस समिति ने अधिकृत किया ? फिर तीन वर्षों के विलम्ब करने के लिए उसे भी आधार बनाने की जवाबदेही किनकी है ? क्या यह अधिकार सौंपने वाले अधिकारी को इनकी बौद्धिक क्षमता के संबंध में लब्ध प्रतिष्ठत इतिहास की शोध पत्रिका **दि इन्डियन हिस्टोरिकल रिभिउ** भौलुम संख्या 1-2, पृ० 238-41 की राय नहीं मालूम थी जिसमें संस्थान से ही प्रकाशित दो पुस्तकों की समीक्षा भी उपलब्ध है तथा संस्थान ही के विजय कुमार ने जिस संबंध में अपनी पुस्तक में विश्लेषण प्रस्तुत किया है ? क्या उस अधिकारी को इसकी भी जानकारी नहीं थी कि दूसरे की पुस्तक से चोरी कर स्वतंत्र पुस्तक अपने नाम से छपवाने जैसे जघन्य बौद्धिक जालसाजी के वे अपराधी हैं ? क्या उनके पास कोई ऐसा सबूत है कि उनकी बौद्धिक क्षमता और जालसाजी की आदत में कोई मौलिक परिवर्त्तन हुआ है ? फिर बिना समिति की राय से ऐसा क्यों किया गया और तीन वर्षों के विलम्ब का क्या रहस्य है ?

मैं अध्याय-निर्धारण पर अपनी सम्मति आपसे इस पत्र के उत्तर के पश्चात् ही दूँगा और हर हालत में मैं स्वयं प्राचीन और मध्यकालीन युग का विशेषज्ञ भी नहीं हूँ। फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि कुछ अध्याय-निर्धारण के बदले में मात्र अपूर्ण अंग्रेजी के वाक्य मात्र प्रतीत होते हैं। क्या सामाजिक और आर्थिक इतिहास के विकास की प्रक्रिया राजनैतिक इतिहास की महत्वपूर्ण घटना और तारीख से ही शुरू होती है ? अगर नहीं तो उस मापदण्ड को अपनाने की क्या जरूरत थी ? मध्यमाल के अध्याय-निर्धारण तो लगभग शारीरिक तौर पर उसी 'ख्याति प्राप्त' विवादास्पद पी० एच० डी० थेसिस से उठा लिया गया प्रतीत होता है जो डा० के० के० दत्त के अन्दर लगभग तीस वर्ष पूर्व दाखिल हुआ था और मात्र फोरवर्ड को प्रथम संस्करण से हटाकर विभिन्न नामों से स्वतंत्र कृतियों के रूप में जालसाजी कर प्रकाशित कराए गए हैं। आधुनिक खण्ड को 1957-1984 माना गया है जैसा कि शीर्षक पर उद्धृत है किन्तु 1765 आदि तारीखों का भी जिक्र है। यह तुरत बताने की कृपा करें कि आधुनिक खण्ड को कब से शुरूआत मानी गई है ? 1957 से या 1765 से या....? क्या स्रोत पर कोई अध्याय की इस योजना में आवश्यकता है ही नहीं जिसकी आलोचना बिजय कुमार ने अपनी पुस्तक में की है और कुछ तत्संबंधी उन्होंने सुझाव भी दिया है ? भूलना न चाहिए कि शोध के सच्चे निष्कर्ष और विश्लेषण साक्ष्य पर आधारित होते हैं, उसी प्रक्रिया से वे बदलते और बदलते भी हैं, नौकरी में रहने या उससे बाहर रहने पर आधारित नहीं हो सकते। यह आदर्श दरबारी इतिहासकार का हो सकता है, वैज्ञानिक इतिहासकार का नहीं।

क्या सामाजिक और आर्थिक इतिहास विकास और काल-निर्धारण के मामले में राजनैतिक इतिहास की मात्र कार्बन कापी है जैसा कि वर्त्तमान अध्याय-निर्धारण की प्रसारित प्रतिलिपियों से प्रतीत होता है ?

इन जिज्ञासाओं का अविलम्ब उत्तर देने की कृपा करें जिससे तत्संबंधी मैं चिन्तन और अध्ययन कर अपनी राय तुरत प्रस्तुत कर सकूँ।

निष्कर्ष—(क) ऐसा प्रतीत होता है कि यह योजना और संस्थान संभवतः प्रो० सतीश चन्द्र के विश्लेषणात्मक अध्ययन के अनुकूल साम्राज्यवादी, साम्प्रदायिक और सामंती साजिश का शिकार हुआ प्रतीत होता है। ज्ञातव्य है कि इन विभिन्न तत्वों का कुछ हद तक इतिहास-लेखन में सामान्य वर्ग-स्वार्थ होता है। इन तत्वों के हावी होने का सबूत समाचार पत्रों, सांसदों, विधान मंडलों के सदस्यों, बुद्धिजीवियों और उनके संगठनों, खुद विधान परिषद के अध्यक्ष का सरकारी निवेदन पर नियमन साक्ष्य के आधार पर दिया गया है और वैसे तत्वों को उचित दण्ड देकर संस्थान के पदों से बर्खास्त करने की अनुशंसा की गई है। जिस संस्थान की योजनाओं को प्रो० अल्टेकर, प्रो० अस्करी सरीखे इतिहासकारों को चलाने की स्वस्थ और समृद्ध परम्परा रही है, वहाँ की वर्त्तमान स्थिति को ध्यान में रखते हुए वर्णित देशद्रोही और अवैज्ञानिक तत्वों के हावी होने और उसके प्रकाशनों में उनकी प्रचुर पुट होने, लेखक के नाम की चोरी-जालसाजी करने, एक ही पुस्तक को विभिन्न नामों से प्रकाशित कराने तथा दूसरे की पुस्तकों से चोरी कर अपने नाम से प्रकाशित कराने जैसे अपराधों के लिए दण्ड देने की सशक्त और साक्ष्यसहित मांग होने लगी है। क्या यह इस अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के संस्थान और इस योजना के लिए शर्म की बात नहीं है जैसा कि विभिन्न स्मारपत्रों में कहा गया है ?

(ख) जिस संस्थान की योजना के सिनोप्सिस और बैठक की कार्यवाही चार वर्षों में महज दो-चार पृष्ठों मे जान-बूझकर तैयार नहीं की जा रही है और तैयार कार्यवाही गलत और तथ्यों के विपरीत तैयार की जा रही है, जिनकी बौद्धिक कृतियों की समीक्षा तथ्यों के आधार पर नहीं अपितु नौकरी और अबौद्धिक कारण पर की जा रही है, जिनके प्रकाशनों में साम्राज्यवादी, साम्प्रदायिक और सामंती दवाब पर निष्कर्षों को लादने, अधिकारियों तथा लेखकों को चुनने जैसे साक्ष्य सहित अभियोग लगाए गए हैं, जिनके प्रकाशनों में डा० राजेन्द्र प्रसाद, पंडित नेहरू, गाँधी, स्वामी सहजानन्द, राहुलजी, जगजीवन राम, अब्दुल बारी सरीखे लोगों से ज्यादा महाराजा लक्ष्मीश्वर सिंह जैसे साम्राज्यवादी पीठू का महत्व दर्शाया जा रहा है, जिस योजना की तैयारी में स्रोत जैसे महत्वपूर्ण विषय को महत्वहीन बनाकर अध्याय से विलोपित किया जा रहा है, जहाँ अखिल भारतीय विश्वविद्यालय एवं कालेज शिक्षक महासंघ के इतिहासकार मंत्री प्रो० मदन के ओजस्वी एवं सारगर्भित सुझाव पत्र को कार्यवाही से हटाने तथा कार्यवाही में तत्संबंधी गलत निर्णय की चर्चा की जा रही है;

(ग) जहाँ इस योजना से कुछ सम्बद्ध लोग सी० आई० ए० और आर० एस० एस० के मुखौटा संगठनों से जुड़े हुए हैं, जहाँ इस योजना के संचालक पर बौद्धिक और प्रशासनिक अक्षमता के विरुद्ध बुद्धिजीवियों की साक्ष्य पर आधारित

तार्किक आलोचना और दंड की चर्चा पर मात्र अपने अधीनस्थ के ही लिपिकों का अपनी बौद्धिक क्षमता और विद्वता के प्रमाणपत्र के रूप में समर्थन का बयान छपवाया जाता है, जिस योजना की गत बैठक का लगभग सभी शीर्ष इतिहासकारों ने संभवत: वहिष्कार किया, जहाँ संचालक ने धमकी दी कि अगर उनके अनुकूल समिति कार्य नहीं करेगी तो योजना और समिति को ही पंगु बना दिया जायगा, क्या यह इस योजना और संस्थान के लिए शर्म और ग्लानि के दिन नहीं हैं और के० पी० जायसवाल-अल्टेकर-अस्करी की 'स्वस्थ परम्परा के प्रतिकूल नहीं है ? उस दिन की बैठक में निश्चित रूप से संस्थान के उपस्थित सदस्यों की मानसिकता में ये घटनाएँ नाच रही थीं और प्रो० मदन के पत्र ने तर्क और साक्ष्य के आधार पर जो सुझाव दिया था, उन्हें बाहरी सदस्यों की तीखी प्रतिक्रिया के बावजूद उन्होंने अपना पूर्ण समर्थन दिया जिन घटनाओं और निष्कर्षों का जिक्र तक भी इस प्रसारित कार्यवाही में नहीं किया गया हैं। क्या कोई भी देशप्रेमी, वैज्ञानिक चिन्तन के प्रति निष्ठावान और संस्थान का शुभ चिन्तक इस शर्मनाक कांड को अपनी स्वीकृति प्रदान कर सकते हैं ? और उनके तर्क को भी बौद्धिक जगत बड़ी उत्सुकता से सुनना चाहेगा ।

निवेदन—अत: आपसे निवेदन है कि आप वर्त्तमान प्रसारित कार्यवाही को वापस लेते हुए मेरी 1984 की टिप्पणी, इस पत्र तथा प्रो० मदन के वर्णित पत्र अविलम्ब चक्रलिखित करवाकर समिति के माननीय सदस्यों के बीच प्रसारित कर दें तथा उस बैठक की सही कार्यवाही प्रसारित करने की भी अविलम्ब कृपा करें। प्रो० मदन के पत्र की प्रतिलिपि भी मुझे अविलम्ब उपलब्ध कराने की कृपा करें। चक्रलेखन को प्रक्रिया में हम उन्हें देखना चाहेंगे जिससे इस पत्र की वर्त्तमान अशुद्धियों को दूर किया जा सके। साथ ही 1984 की प्रथम बैठक की कार्यवाही और आपके द्वारा तैयार सिनोप्सिस भी तुरत प्रसारित करने की कृपा करें।

(2) समिति की अगली बैठक तुरत बुलाकर कुछ ठोस निर्णय के आधार पर इस महत्वपूर्ण योजना का कार्य अविलम्ब प्रारम्भ कराने की पेशकदमी लेने की कृपा करें। विद्वानों को निवेदन किया जाय कि पूर्व की गलतियाँ इस योजना में नहीं दुहराई जायेंगी और वे समिति की बैठक और कार्यक्रम में शामिल होकर सहयोग देने की कृपा करें। तैयारी के लिए काफी पूर्व में बैठक की तिथि की जानकारी देने की कृपा करें।

[न अब तक इसमें वर्णित पत्रों का उत्तर ही दिया गया है और न योजना समिति की कोई बैठक ही विगत चार वर्षों में बुलाई गई है। इस संदर्भ में 13 Nov. 1986 को राज्यपाल को दिए गए 246 पृष्ठों के स्मारपत्र स्रोत के लिए काफी उपयोगी है जिन्हें शोध के लिए अवश्य अध्ययन किया जाना चाहिए।]

□

Select Bibliography

A. *Unpublished Private Papers* :

1. Stephen Papers, Cambridge.
2. Minto Papers, Edinburgh.
3. Lytton Papers, London.
4. Curzon Papers, London.
5. Temple Papers, London.

B. *Unpublished Records* :

1. A and B Proceedings of varions Departments, Govts. of Bengal, Bihar and Orissa.
2. A and B Files of the above mentioned Govts. and Departments.
3. A and B Proceedings of varions Departments, Govt. of India.
4. A and B Files of the above mentioned Departments, Govt. of India.
5. Proceedings of the Indian National Congress and other Political parties, Kisan Sabha, Cane Growers' Association, Bhumihar Mahasabha, etc.
6. Parliamentary Papers and Legislative Council Papers.

C *Periodical Literature* :

1. Reports on Vernacular Newspapers, Bombay, (Bengal Bihar and Orissa also), North Western Provinces (U. P.) and Madras.
2. Newspapers and Journals of various regions in numerous languages.

D. *Published Reports and Debates* :

1. Parliamentary debates (Hansard).
2. Proceedings of the Bengal, Bihar and Orissa Legislative Councils.

अनुक्रमणिका

अ

अकबर—19.
अखिलेश कुमार ठाकुर--144.
अच्युतानन्द सरस्वती—13, 29, 33.
अजयगढ़—19.
अजय कुमार झा—240.
अनुग्रह नारायण सिंह—26, 111, 158, 175.
अनुग्रहपुरी—156.
अम्बेदकर— 37, 52.
अमरेन्द्र कुमार ठाकुर—63.
अमरीका—2, 37, 49, 52, 91, 126 129, 173.
अमान सिंह—19.
अमावा - 3, 92.
अमृत राय—60.
अयोध्या—16, 27.
अरविंद कुमार चौधरी—64.
अरविंद घोष—118.
अरूण नेहरु—149.
अरूण कुमार राय—147.
अलका पांडेय—144.
अल्बेरुनी--18
अस्फाक अंजुम—64.
अहमदाबाद —14.
आजमगढ़—74.
आंध्र—18.
आर०एन० नन्दी—231.
आर० आर० दिवाकर—193.
आरा—155.
ओंकार नाथ झा—240.

इ

इटली—49.
इन्दुलाल याज्ञिक —26, 225.
इन्द्र —121
इरफान हबीब—150, 231.
इलाहाबाद—53.
इंगलैंड 49, 103, 118.
इंदिरा गाँधी—149, 150, 151, 175.

ई

ईश्वरचंद विद्यासागर—31, 118.

उ

उत्तर प्रदेश—30, 31.

ए

एन० जी० रंगा 85, 94, 172.
एम० एन० राय—103.
एंगेल्स —104, 200, 211, 213, 218.

क

कपिलदेव सिंह—160.
कबीर—100.
करांची— 109.
कलकत्ता—26, 28, 103, 118, 103.
कानपुर—53, 153.
कामाख्या नारायण सिंह—105, 177.
कार्नवालिस—91.
कार्यानंद शर्मा—112, 225.
कालि किंकर दत्त—184.
काल्बिन —117.
काशी—9, 13, 19, 26, 29.
काशी प्रसाद जायसवाल—83, 175.
कुरान—31, 73.
कुलदीप नारायण झड़प—63.
कुँवर सिंह—193.
केदार दास—170.
केशव प्रसाद शर्मा—28, 146.
कोमिल्ला—16, 21, 27.
कृष्ण चंद्र बेरी—28.
कृष्ण मेनन—219.
कृष्ण सिंह—26, 175, 193.

ग

गढ़पुरा—156.
गणेश दत्त—26, 229.
गणेश शंकर विद्यार्थी—147.
गया—48, 84, 87, 88, 160.
गाजीपुर—13, 20। 24, 25, 75, 146, 155.
गायत्री—117.
गिरीन्द्र मोहन मिश्र—98, 223.
गिरीश मिश्र—231.
गीता – 14, 54, 67.
ग्रीयर्सन—40.
गुजरात—18, 29, 65.
गुमान सिंह—19.
गोपाल तिवारी—19.

घ

घमौड़ा—18.
घोसैठ—96.

च

चन्द्रभूषण—146, 217, 225.
चम्पारण—88, 160.
चित्तरंजन शर्मा—184.

छ

छोटानागपुर—48.

ज

जगदीश चन्द्र झा—158, 182, 186.
जगन्नाथ मिश्र—129, 155.
जगन्नाथ सरकार—147.
जटा शंकर झा—182.
जयपाल सिंह—105.
जयप्रकाश नारायण—32, 103, 150, 172, 218, 230.
जर्मनी—14, 49, 103.
जवाहरलाल नेहरू—26, 48, 67, 71, 75. 92. 141, 142, 149, 150, 158, 173, 175, 186, 220.
जहानाबाद—155.
जी० के० राय—27.
जुजाहुती—18.
जुझौती—18.
जे० एल० होगसन—120.
जेजाकमुक्ति—18.

ट

टिकारी—3 92.
टंकारा—65.

ठ

ठाकुर राय—20.

ड

डी० एच० लारेंस—221.
डी० एन० झा 231.
डी० डी० कौशाम्बी—231.

ढ

ढकाइच—27.

त

तमसा—18.
तात्याटोपे—66.
तिलका मांझी—225.
तुलसीदास—29.
तेजनारायण सिंह—144.
तेलंगाना—169.

द

दधीचि—120; 201.
दयानन्द—21, 30, 65, 66, 67, 71, 106,118.
दरभंगा—3, 85, 88, 89, 112, 160
दानापुर—47.
दिनेश नारायण मल्लिक—240.
दिघवारा—163.
दिव्यानन्द—66.
दिल्ली—189.
दीप नारायण सिंह—110.
देवा—13, 20, 23, 25, 64, 156, 189.

देवीलाल—149.

न

नई दिल्ली—28.
नरसी मेहता—56.
नरेन्द्र—68.
नरेन्द्र देव—21.
नवरंग राय—20, 96.
नवल किशोर शर्मा—144.
नक्षत्र मालाकार—225.
नागपुर—14, 71, 82, 103, 223.
नागेन्द्र झा—151, 155, 182, 193, 229.
नारायण—33, 53.
नेपाल—92.
नुरुल हसन—181.

प

पटना—16, 31, 52, 76, 81, 103, 109, 112, 152, 160, 161.
पट्टाभि सीतारमैया—103.
पड़ना—18.
पन्ना—19, 81, 88.
परमेश्वर नारायण चौधरी—161, 162.
पापिया घोष—231.
पीरो—155.
पी० एन० ओझा—182, 193.
पीपुल्स बुक हाउस--225.
पुरुषोत्तम दास टंडन—26, 218.
पूनम ठाकुर—240.
पूर्णिया—88.
प्रेमचन्द—60.
पौलैण्ड—103.
पृथ्वी सिंह मेहता—66.

फ

फ्रांस—49, 91, 103, 211.
फ्रासिस वेकन—140.
फैजपुर—21, 45, 89, 111, 204.
फैजाबाद—15, 76.

ब

बक्सर—14, 27, 155.
बड़हिया—100.
बद्रीनाथ वर्मा—193.
वनारस—146.
बम्बई—102, 103, 106, 204.
बलदेव सहाय—89:
बलिया—13, 29, 160.
ब्रज नारायण झा—240.
वाल गंगाधर तिलक—118.
बिनोवा भावे—149.
बिमल प्रसाद—193.
बिरसा मुण्डा—225.
ब्रिटेन—103.
बिहटा—10, 15, 31, 53, 84, 155 156, 161, 163.
बी० बी० मिश्रा—193.
बुन्देलखंड—18 19
बेगुसराय—31.
बेतिया—3, 92.
वेनी राय—20.
बेरमो—27.
बैरकपुर—66.
वैद्यनाथ पाण्डेय—159.
बोकारो—156.
बोगरा—87.
बंगाल—87, 130.

भ

भरत शिवशंकर भारती—88.
भागलपुर - 88.
भागवत झा आजाद—193.
भूपेन्द्र नारायण सिंह—124.
भोजपुर—146.

म

मझियावां—100.
मदन मोहन मालवीय—19.
महेश प्रसाद सिंह—240.
मधुवनी—98.
मनोज कुमार झा—240.
मनोहर तिवारी—19.

महाचन्द्र प्रसाद सिंह—153, 217.
महात्मा गाँधी—10, 16, 21, 26, 31, 32, 66, 70, 75, 76, 81, 82, 83, 88, 89, 98, 103, 106, 110, 112, 149, 150, 220, 223.
महावीर प्रसाद द्विवेदी—84
महेश राय—144.
मान्टेसक्यू—72,
मार्क्स—11, 104, 166, 186, 200, 203, 210, 211, 212, 218, 220.
मार्टिन लूथर—66, 117.
मालवा—19.
मिथिला—29
मुचकुन्द शर्मा—16
मुजफ्फरपुर—16, 8४, 90, 110, 152, 156, 160.
मुहम्मद अली 14.
मुंगेर—88, 96, 99, 100.
मेनका गाँधी—149.
मैक्समूलर—14.
मोहनलाल गौतम—85.
मोहन सिंह—210.
मौलाना अबुल कलाम आजाद—105.
मौलाना मजहरुल हक—71.
मंगल पांडेय—66.

य

यदुनन्दन शर्मा—48, 84, 112
यमुना कार्यी—84, 161.
युगल किशोर सिंह—84.
यूरोप—117, 126, 169.

र

रघुवंश प्रसाद सिंह यादव—155.
रतनपुरा—27.
रमेन्द्र सुन्दर द्विवेदी—19.
रमेशचंद्र मजुमदार—182.
रामचन्द्र शर्मा—63.
राघव शरण शर्मा—27.
राजनाथ पांडेय—21.
राजाराम तिवारी—19.
राजाराम मोहन राय—21, 65, 66, 68, 118.
राजीव गाँधी—149, 150, 151.
राजेन्द्र नगर—156.
राजेन्द्र प्रसाद—26, 85, 89, 111, 218.
राजेन्द्र राम—231.
राजेन्द्र लाल मित्र—19, 82.
रामउचित शर्मा—164.
रामकृष्ण परमहंस—31, 68, 118.
रामकृष्ण चौधरी—182, 193.
रामगढ़—3, 16, 21, 27, 104, 105, 106, 177.
रामचंद्र ठाकुर—144.
रामचंद्र प्रसाद—64.
रामजन्म राय—25.
रामदेव सिंह—26
रामधारी सिंह दिनकर—64, 70. 214, 221
रामध्यान राय—24.
रामबृक्ष बेनीपुरी—189, 192.
राममनोहर लोहिया—150.
रामलखन शुक्ल—230, 231.
रामलखन सिंह यादव—155.
रामशरण शर्मा—150, 151, 181, 182, 193, 231.
रामानंद—21
रामेश्वर चौधरी—144.
रावलपिंडी—87.
राहुल सांकृत्यायन—106, 112, 116, 145, 177, 181, 189 192, 222.
राँची—156.
रिसले—40.
रूस—31, 44, 45, 93, 168, 203, 225.
रेउड़ा—180.

ल

लखनऊ—27, 85.

लक्ष्मी नारायण मिश्रा—76.

लक्ष्मीश्वर सिंह—151, 158, 182, 190, 193, 228, 240.

ललितेश्वर प्रसाद शाही—155.

लाहौर—87.

लिवरहम—120.

लेविन—11, 104, 167, 169, 195, 197, 203, 211, 212, 214, 218.

लैड्सडाउन—73.

व

वसुदेव वलवंत फड्के—225.

वारसलीगंज—27.

वाराणसी—23, 28, 75.

वाल्टर हाउजर—27, 173, 189.

विजयचंद्र प्रसाद चौधरी—149, 158, 172, 185.

विजयवाड़ा—21, 100.

विद्यापति तिवारी—19.

विंध्य-मेखला—18.

विमल प्रसाद—230.

विमलानंद सरस्वती—63, 146, 152

विवेकानंद—21, 31, 65, 67, 68, 69, 71, 97, 118.

विश्वनाथ प्रताप सिंह—149, 172.

वंखर्म देव—19.

वी० सी० जोशी—174.

श

शाहाबाद—76, 88, 112.

शिव—23.

शिवेन्द्र प्रसाद—63.

शीलभद्र याजी—103, 172.

श्रीकृष्ण नगर—156.

श्रीमद्भागवत—13.

श्रीमद्भगवद्गीता—20.

श्रीरामपुर—27.

श्रुतिदेव शास्त्री—23.

शेरघाटी—100,

शैलेन्द्रनाथ श्रीवास्तव—172, 177.

शैवाल गुप्ता—147, 151, 187.

शंकर राय—25.

स

सच्चिदानंद सिन्हा—193.

सतीशचंद्र—192.

सत्येन्द्र नारायण सिंह—155.

स्पूनर—120

स्वामी शिवानन्द सरस्वती—200.

समस्तीपुर—15, 27.

सारण—88, 112, 160.

सिकन्दर—18.

सिद्धू संथाल—225

सिंदरी—156.

सिमरी—155.

सिवान—112.

सिसरो—57.

सीतारामाश्रम—15, 26, 31, 84, 156, 873.

सीताराम सिंह—193.

सी० पी० एन० ठाकुर—153.

सी० पी० ठाकुर—178.

सी० राजेश्वर राव—94.

सुभाषचंद्र बोस—21, 27, 37, 52, 92, 103, 104, 105, 172, 177, 223.

सुमंत नियोगी—231.
सुरेन्द्रनाथ दीक्षित—63.
सुरेश पासवान—64.
सुरेश सिंह—174.
सुशील माधव—193.
सूरजगढ़ा—99.
सूरज नारायण—225.
सोनपुर—60, 88.
संजय गाँधी—175.
संजय नगर—156.
संजय सिन्हा—64.

ह

हजारीबाग—26, 75.
हथुआ—3, 92.
हम्मीपुर—18.
हरिनारायणानंद—13.
हरिपुरा—104.
हरिवंश राय बच्चन—232.
हरिशंकर परसाई—220.
हलधर—48.
हाजीपुर—16, 88, 100.
हिटलर—31, 220.
हिन्दुस्तान—45, 51.
ह्वेनसांग—18.
होमी जहाँगीर भाभा—175.

त्र

त्रिवेणी सुधाकर—48, 225.

□

इस संकलन के लेखकगणों की विशिष्टत
पर एक संक्षिप्त टिप्पणी आवश्यक है। हिन्
या अंग्रेजी में शायद ही ऐसी कोई शोध-कृ
हो जिसमें विज्ञान, कला एवं साहित्य
विभिन्न अनुशासनों से जुड़ा इतना बड़ा बौद्धि
समूह लेखक के रूप में एक मंच पर एकत्र हुअ
हो। इस लेखकमण्डली की दूसरी विशेषत
यह है कि इसमें से दो-चार को छोड़कर शे
सभी मुफस्सिल बौद्धिक केन्द्रों के होनहा
युवापीढ़ी के प्रतीक हैं। यह अपने आप
विभिन्न बौद्धिक संस्थाओं और राजनीति
मठाधीशों के लिये एक चुनौती है जो बौद्धि
प्रतिभा की खोज और अनुदान-वितरण में तथा
कथित मुख्यालय, पद-गाम्भीर्य तथा अपने-अपने
चापलूसों तक ही अपने ध्यान को सीमित रखते
हैं तथा मुफस्सिल केन्द्रों को हठतापूर्वक घृणास्पद
उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। वर्णित कारणों से
ही इस संकलन के प्रकाशन से हमें विशेष
उपलब्धि और आनन्द की अनुभूति हो रही है।

□□□

हमारे कुछ महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

इतिहास शोध-शृंखला :

(1)	मार्क्सवादी इतिहास-लेखन : एक बहस	5.00
(2)	भारतीय इतिहास-लेखन : एक अन्तर्राष्ट्रीय विवाद —डा॰ विजय चन्द्र प्रसाद चौधरी	65.00
(3)	ऑन द थ्रेसोल्ड ऑफ प्रोविन्सहुड (अंग्रेजी) —विजय कुमार	65.00
(4)	बिहार : कम्युनिस्ट पार्टी का जन्म और विकास —कृष्ण चन्द्र चौधरी	6.00
(5)	भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के साठ वर्ष (अंग्रेजी और हिन्दी) —नन्द किशोर गुप्ता	9.00
(6)	गांधी, नेहरू, इन्दिरा गांधी (अंग्रेजी और हिन्दी) —प्रो॰ आर॰ उल्यानोस्की, फिडल कैस्ट्रो	10.00
(7)	इतिहास-लेखन में आंचलिकता —चित्तरंजन शर्मा	100 00

आगामी प्रकाशन :

(9) अनक्लासिफाइड क्लास ऑप्रेशन अन्डर द क्राउन (अंग्रेजी)

सम्पादक—डा॰ विजय चन्द्र प्रसाद चौधरी
संयुक्त-सम्पादक – प्रभाकर प्रसाद सिंह

A. "........an absorbing study........authoritative and informative, ...extremely helpful to historians, anthropologists and sociologists alike........"

—Professor Sita Ram Singh

B. "... ...documents ....are revealing ....a significant contribution to the historical literature on the socio-economic condition of India........"

—Professor P. D. Tripathi
University of Lusaka, Zambia.

C. "The present work is ....a pioneer effort ....it has opened new vistas for our further research........and given new dimension to our further study."

—Professor P. V. Ranade
Marathawada University

(10) अन्डरप्ले ऑफ ए क्लास (अंग्रेजी) :

सम्पादक—डा॰ विजय चन्द्र प्रसाद चौधरी
संयुक्त-सम्पादक—डा॰ अमरेन्द्र कुमार ठाकुर

राहुल प्रेस
C/12 पत्रकार नगर
कंकड़बाग, पटना-20